दयाल का ललित निबन्ध यातना

न सिंह बनाम अध्यापक पूर्ण सिंह

संचेतना

सृजन, संवाद एवं विचार का माध्यम

लेखिका तारन गुजराल से
नी पाण्डेय की भेंटवार्ता

कैसी है यह चुनाव प्रणाली

त सिंह नारंग
सत्यपाल कपूर
सी. के. जैन
चिमन भाई मेहता
देवदत्त

प्रभा

गुरुबचन सिंह, भास्कर चंदनशिव, सैली बलजीत, आदर्श मदान की कहानियां
अजय प्रकाश, पारसनाथ, सावित्री शर्मा, सुशान्त सुप्रिय की कविताएं
नई पुस्तकों की समीक्षा, स्तम्भ तथा गतिविधियां

संचेतना

पूर्णांक 143, वर्ष 28, अंक 1

मार्च - 1997

संपादक
महीप सिंह

प्रबंध संपादक
जयदीप सिंह
संदीप सिंह

संयुक्त संपादक
कमलेश सचदेव
गुरचरण सिंह

कार्यालय सहयोगी
राजेश कुमार सिंह, मनजीत कौर, जय सिंह

कला
मनदीप डिम्पी

क्षेत्रीय प्रतिनिधि
कीर्ति केसर (जालन्धर)
कमलेश बख्शी (मुंबई)
जसबीर चावला (इंदौर)
सुभाष रस्तोगी (चंडीगढ़)

मूल्य :
एक प्रति : 10 रुपये
वार्षिक - (विशेषांक सहित) 50 रुपये,
आजीवन : 500 रुपये

सम्पर्क :
एच - 108, शिवाजी पार्क (पंजाबी बाग)
नई दिल्ली - 110026, फोन - 5191287

मुद्रक एवं प्रकाशक : संदीप सिंह द्वारा अमृत एंटरप्राइजेज, लारेंस रोड, दिल्ली - 110035 फोन - 7180701, में मुद्रित तथा एच - 108, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली - 110026 से प्रकाशित

बहस : कैसी है यह चुनाव प्रणाली?

आकलन

ललित निबन्ध

साक्षात्कार

कहानियां

कविताएं

पुस्तकें

रंगमंच

और और वृत्त

गतिविधियां

इसे देशव्यापी स्तर पर चलाया जाना चाहिए

वर्तमान सम्पूर्ण राजनीति की सोच का केन्द्रबिंदु चुनाव है। राजनीतिक दलों की सभी योजनाएं, सभी कार्य-कलाप और सभी पैंतरे चुनाव को ध्यान में ही रखकर बनाये जाते हैं। बड़ी-बड़ी उद्घोषणाओं-चाहे वे सांस्कृतिक जागरण और राष्ट्रवाद की हों, सामाजिक न्याय की हों, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के उत्थान की हों, अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के लिए हों, गरीबी हटाओं की हों- सभी के पीछे मन्तव्य एक ही होता है कि किस प्रकार असरदार वोट बैंक का विस्तार हो, किस प्रकार चुनाव में अधिक से अधिक मतदाता अपनी मत-पर्ची उसके पक्ष में भुगताएं और किस प्रकार सत्ता हथियाई जा सके।

चुनाव लोकतंत्र की अनिवार्य शर्त है। लोकतंत्र सामूहिक निर्णय-निर्धारण की एक पद्धति है। यह इस आदर्श को लेकर चलता है कि जिन निर्णयों से सारा समूह प्रभावित होता हो वे उस समूह के सभी घटकों की सहमति से होने चाहिए। लोकतंत्र के सिद्धान्त हर प्रकार के समूह के सामूहिक नर्णय की पद्धति पर लागू होते हैं।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आम जनता द्वारा अपने प्रतिनिधियों का चुनाव किया जाता है कि वे ऐसी शासन व्यवस्था बनाएं जिसमें सम्पूर्ण समाज की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति हो। यहीं से सत्ता के सुख, अधिकार, महत्व का आस्वाद हावी होने लगता है। जो लोग सेवा की कसमें खाकर चुने जाते हैं उनकी नज़रें मेवा कमाने पर केन्द्रित हो जाती हैं और सबसे पहले इसकी शिकार चुनाव प्रणाली बनती है।

संसार में लोकतंत्र और चुनाव को लेकर अनेक प्रयोग हुए हैं और लगातार हो रहे हैं। एक समय सोवियत संघ में सर्वहारा की सम्पूर्ण सत्ता की घोषणा की गई थी। पाकिस्तान में जनरल अयूब खान ने 'गाइडेड डेमोक्रेसी' के नाम से एक प्रयोग किया था। आज भी जर्मनी, स्विटज़रलैंड जैसे देशों की चुनाव प्रणाली हमसे भिन्न है। इस देश में बरतानवी ढंग की संसदीय प्रणाली को आधार बनाया गया और चुनाव के लिए बालिग मताधिकार का सिद्धान्त हमने स्वीकार कर लिया। लोकतंत्र का आधार यह है कि शासन वह दल संभाले जिसे बहुमत का समर्थन प्राप्त हो। किन्तु कैसी विडम्बना है कि 1952 से 1977 तक जिस कांग्रेस पार्टी ने इस देश की सत्ता की बागडोर को बिना किसी व्यवधान के संभाले रखा उसे कभी भी पड़े वोटों का 51 प्रतिशत भाग प्राप्त नहीं हुआ। पं. नेहरू और इन्दिरा गांधी के करिश्माई व्यक्तित्त्व के बावजूद कांग्रेस को मिलने वाले मतों की संख्या 40.9 प्रतिशत से लेकर 47.0 प्रतिशत तक रही किन्तु उसे लोकसभा में 75 प्रतिशत तक स्थान प्राप्त हुए। इसके विपरीत सभी विपक्षी दलों को उस दौरान 52.3 प्रतिशत से लेकर 59.1 प्रतिशत तक मत प्राप्त हुए किन्त वे लोकसभा में 25 से लेकर 45 प्रतिशत ही स्थान प्राप्त कर सके।

सबसे बड़ी विडम्बना यह रही कि पहले मतदाताओं और फिर मतदाताओं द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों की खरीद-फरोख्त का क्रम इस देश में ऐस बेहूदेपन से चला कि 'आया राम गया राम' हमारे लोकतंत्र का स्वीकृत मूल्य बन गया और फिर लोक सभा में अविश्वास प्रस्ताव से अपनी अल्पमत सरकार को बचाने के लिए करोड़ों रुपये देकर कुछ सांसदों की किस प्रकार खरीदारी हुई, आज हमारे सामने है।

जिस प्रकार की चुनाव प्रणाली अपनाकर हम अपने देश में लोकतंत्र चला रहे हैं, वह भ्रष्टता और नैतिक पतन की चरम सीमा तक पहुंच गया है। रुपये बांटकर, शराब पिलाकर, अन्य अनेक प्रकार के प्रलोभन देकर अपने पक्ष में अधिक मत बटोरने के प्रयासों को अब चुनावी रणनीति कहकर जायज़ ठहरा दिया जाता है। कल तक अपराधी तत्व राजनीतिकों के सहायक थे जिनकी सहायता से ये लोग चुनाव जीतते थे। आज अपराधी तत्व स्वयं राजनीति में पूरा दम-खम लेकर आ रहे हैं और सत्ता में सीधे-सीधे भागीदार बन कर सम्पूर्ण राजनीति पर से शराफत का मुखौटा उतार फेंकने को पूरी तरह तैयार हैं।

ऐसे समय में, लोकतंत्र के इस अनिवार्य अंग 'चुनाव' के सभी पहलुओं पर गंभीर विचार-विमर्श आवश्यक है, जिसे देश-व्यापी स्तर पर चलाया जाना चाहिए।

संचेतना का अंक इस दिशा में एक विनम्र प्रयास है।

संचेतना

पूर्णांक 144, वर्ष 28, अंक 2
जून — 1997

संपादक
महीप सिंह

प्रबंध संपादक
जयदीप सिंह
संदीप सिंह

संयुक्त संपादक
कमलेश सचदेव
गुरचरण सिंह

कार्यालय सहयोगी
राजेश कुमार सिंह, मनजीत कौर, जय सिंह

कला
मनदीप डिम्पी

क्षेत्रीय प्रतिनिधि
कीर्ति केसर (जालन्धर)
कमलेश बख्शी (मुंबई)
जसबीर चावला (इंदौर)
सुभाष रस्तोगी (चंडीगढ़)

मूल्य :
एक प्रति : 10 रुपये
वार्षिक — (विशेषांक सहित) 50 रुपये,
आजीवन : 500 रुपये

सम्पर्क :
एच - 108, शिवाजी पार्क (पंजाबी बाग)
नई दिल्ली - 110026, फोन - 5191287

मुद्रक एवं प्रकाशक : संदीप सिंह द्वारा अमृत एंटरप्राइजेज़, लारेंस रोड, दिल्ली - 110035
फोन - 7180701, में मुद्रित तथा
एच - 108, शिवाजी पार्क,
नई दिल्ली - 110026 से प्रकाशित

बहस : क्या है साम्प्रदायिकता?

समाज

आकलन

कहानियाँ

कविताएँ

पुस्तकें

और और वृत्त

गतिविधियाँ

साम्प्रदायिकता की जड़ें कहां हैं?

साम्प्रदायिकता को लेकर जिस प्रकार की समस्या हमारे देश में है, वैसी शायद ही संसार के किसी अन्य देश में हो। यह भी सच है कि इतनी विभिन्नताओं और विविधताओं से भरा दूसरा देश भी दुनिया में नहीं है। जाति दर जाति से निर्मित हमारे सामाजिक ढांचे को देखकर तो संसार के समाजशास्त्री अचंभित होते हैं। जाति प्रथा का सम्पूर्ण ढांचा ही सामाजिक दृष्टि से ऊंच-नीच की मानसिकता पर आधारित है। यह मानसिकता अपने आपको, अपनी जाति को, अपने रहन-सहन, रीति-नीति और विचार-पद्धति को दूसरे से श्रेष्ठ या निकृष्ट समझने की मानसिकता है। जहां ऐसी मानसिकता होगी वहां साम्प्रदायिकता (जातीय, धार्मिक, भाषाई या अन्य किसी प्रकार के वर्गहित के लिए) तात्कालिक कारण का सहारा लेकर पनपेगी। हमारे देश में इस काम के लिए उर्वर भूमि प्राचीन काल से ही उपलब्ध है। आज की सत्ता राजनीति ने तो इसे पनपाने के लिए नये से नये उर्वरक तैयार कर लिए हैं।

व्यापक स्तर पर जाति या मजहब-आधारित साम्प्रदायिक दंगे चाहे इस देश में नई बात हों, परन्तु इसके मूल में जो घृणा भाव काम करता है, वह नया नहीं है। जातियों/धर्मों को लेकर सदियों से हमारे देश में घृणामूलक लोकोक्तियां प्चलित हैं-

1. जिसका बनिया यार, उसे दुश्मन क्या दरकार
2. खत्री पुत्रम कभी न मित्रम जब मित्रम तब दगा-दगा
3. और जात शत्रू भली मित्र भला नहिं जाट
4. बामन, कुत्ता, हाथी, आपन जाति न साथी

इस प्रकार की लोकोक्तियों से देश की कोई भी जाति, कोई भी धार्मिक सम्प्रदाय, किसी भी भाषा को बोलने वाला, किसी भी प्रदेश का रहने वाला अछूता नहीं है। आज भी पढ़े-लिखे और प्रगतिशील कहलाने वाले लोग भी 'चमार' शब्द का प्रयोग किसी को गाली देने के लिए करते हैं, किसी की दुर्गति करनी हो तो उसे 'भंगी' बना देते हैं, किसी भी सिख के 'बारह बजा' देते हैं और किसी भी मुसलमान के लिए सहज भाव से कह देते हैं- यदि यह व्यक्ति पहले अपनी बांह तेल में डुबोए, फिर उसी बांह को तिल के ढेर में डाल कर बाहर निकाले और फिर बांह पर लगे हुए तिलों की गिनती के बराबर कसमें खाए तो भी विश्वास नहीं करना चाहिए।

अंग्रेजों के आने तक ये बातें हमें ज्यादा परेशान नहीं करती थीं। विभिन्न जातियों अथवा धर्म-मतों के लोग एक-दूसरे के प्रति अपशब्दों को प्रयोग कर लेते थे, ज़्यादा से ज़्यादा थोड़ी बहुत सिर- फोड़व्वल कर लेते थे। सत्ता राजनीति को इन सब बातों का दुरुपयोग करने की, इन्हें हथकंडा बनाने की बहुत ज़रूरत नहीं पड़ती थी, क्योंकि उसकी सत्ता को सबसे बड़ा सहारा उसकी सैनिक शक्ति से मिलता था, जो उसे पूरी तरह निरंकुश बना देती थी। सत्ता में आम जनता की कोई सीधी भागीदारी है, यह बात न शासक के मन में होती थी, न जनता के मन में। शासक यदि कुछ भलामानस हुआ तो वह प्रजा के विभिन्न वर्गों का ध्यान रखते हुए कभी गोवध पर प्रतिबंध लगा देता था (अकबर), कुरान शरीफ के प्रति सम्मान प्रदर्शित करता था (शिवाजी) अथवा दूसरे धर्म के पवित्र स्थानों को भरपूर दान-दक्षिणा दे देता था (रणजीत सिंह)। जो शासक ऐसा नहीं करता था उससे कोई जवाब-तलब नही कर सकता था।

सही अर्थों में भारतीय जन की इस विभिन्नता और उसकी मानसिकता में गहरी जड़ जमाए बैठी घृणा भावना का भरपूर फायदा उठाया अंग्रेज शासकों ने। इस देश में इससे पहले जितनी भी बाहर की जातियां-आर्यों से लेकर मुगलों तक- आई थीं, धीरे-धीरे सभी इसी धरती पर बस गयीं। अंग्रेज कई हज़ार मील दूर बैठा यहां शासन कर रहा था। वह अपने कुछ प्रतिनिधि और सैनिक यहां भेजता था पर मुख्यतः उसके लिए यहां का शासन यहीं के लोग चलाते थे। 1857 के सैनिक विद्रोह से उसने यह सबक तो लिया ही था कि यदि यहां के लोग, किसी भी कारण से, कुछ समय के लिए आपसी मतभेद और घृणा भावना पर विजय पाकर, इकट्ठे हो जाएं तो उसके लिए यहां शासन करना असंभव हो जाएगा।

अंग्रेजों ने किस प्रकार इस देश के लोगों के मतभेदों का लाभ उठाकर शासन किया, इसे दोहराने की ज़रूरत नहीं है। यह कहना मुझे गलत लगता है कि अंग्रेजों ने यहां के

पूर्णांक 144, वर्ष 28, अंक 3-4
सितम्बर-दिसम्बर 1997

प्रकाशित — मई 1998

संपादक
महीप सिंह

प्रबंध संपादक
जयदीप सिंह
संदीप सिंह

संयुक्त संपादक
कमलेश सचदेव
गुरचरण सिंह

कार्यालय सहयोगी
राजेश कुमार सिंह, मनजीत कौर, जय सिंह

कला
मनदीप डिम्पी

क्षेत्रीय प्रतिनिधि
कीर्ति केसर (जालन्धर)
कमलेश बख्शी (मुंबई)
जसवीर चावला (इंदौर)
सुभाष रस्तोगी (चंडीगढ़)

मूल्य
एक प्रति : 10 रुपये
वार्षिक : (विशेषांक सहित) 50 रुपये,
आजीवन : 500 रुपये

सम्पर्क
एच - 108, शिवाजी पार्क (पंजाबी बाग)
नई दिल्ली - 110026, फोन - 5191287

मुद्रक एवं प्रकाशक : संदीप सिंह द्वारा अमृत एंटरप्राइजेज़, लारेंस रोड, दिल्ली - 110035 फोन - 7180701, में मुद्रित तथा एच - 108, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली - 110026 से प्रकाशित

बहस : कैसी है संतों-महंतों की दुनिया?

राजभाषा

आकलन

संस्मरण

कहानियाँ

कविताएँ

समीक्षा

मैंने पढ़ा

और और वृत्त

रंगमंच

संकल्प कायम है....

संचेतना अपने जीवन के तीन दशक पूरे करने जा रही है। तीन दशक की यह यात्रा ऐसी वैचारिक और साहित्यिक उपलब्धियों से भरी हुई है कि कोई भी पत्रिका अपनी सार्थकता के प्रति आश्वस्ति अनुभव कर सकती है। संचेतना ने कभी बड़े-बड़े दावे नहीं किए किन्तु इस बात का दावा तो कर ही सकती है कि उसने चिंतकों, सृजनशील लेखकों और उभरते हुए आलोचकों/समीक्षकों को खुला मंच दिया। आज हिन्दी के साहित्यिक परिदृश्य में उन व्यक्तित्वों को सहज ही रेखांकित किया जा सकता है जिन्हें संचेतना का माध्यम प्राप्त हुआ, जिन्हें बनने और सँवरने के लिए इसकी छत सदैव उपलब्ध रही।

किन्तु किसी पत्रिका का प्रकाशन कैसी विकट कठिनाइयों से भरी डगर है इसे सिर्फ भुक्तभोगी ही जानते हैं। इस अवधि में कितनी ही पत्रिकाएँ निकलीं। उनकी चमक ने कुछ समय के लिए चकाचौंध भी किया किन्तु धीरे-धीरे सारी चमक मद्धिम होती चली गई और समय के घटाटोप में खो गई।

प्रारम्भ के 18 वर्ष तक संचेतना त्रैमासिक निकलती रही। इस अवधि में इसने ऐसे विशेषांक प्रकाशित किए जो हिन्दी की साहित्यिक यात्रा में मील के पत्थर बन गए। फिर देश में कुछ सत्तालोभी राजनीतिकों द्वारा ऐसा वातावरण बनाया गया कि असंख्य लोगों को अपने पैरों तले की ज़मीन दरकती हुई नज़र आई। यह संकट का समय था। दरकती जमीन पर फिसलते पैरों को कुछ ठहराव प्राप्त हो और सत्ता-लोलुप लोगों के चेहरे बेनकाब किए जा सकें, अनचाहे ही यह गुरुतर दायित्व संचेतना ने अपने कंधों पर ले लिया और उसने अपने आपको मासिक बना कर यह घोषित किया कि संचेतना उनकी आवाज़ है जिन्हें आवाज़ की ज़रूरत है।

इस आवाज़ को संचेतना ने पूरे पाँच वर्ष अपनी पूरी शक्ति से बुलन्द किया। तन्त्र का विकराल शिकन्जा, चारों ओर फैला भय का माहौल और साधनों के नितान्त अभाव में हमने हथेली पर रखे दिये को अपने रक्तिम स्नेह से जलाए रखा। इस प्रयास में संचेतना ने बहुत कुछ पाया और बहुत कुछ खो दिया। स्थिति ऐसी आ गई कि हमें संचेतना का प्रकाशन स्थगित करना पड़ा।

तीन वर्ष तक हम अपनी उखड़ी हुई साँसें इकट्ठी करते रहे। इस बीच हिन्दी के दृश्य पटल से वे पत्र-पत्रिकाएँ भी तिरोहित होने लगीं जिनके पीछे अरबों की पूँजी काम कर रही थी। मित्रों और सहयोगियों की इच्छा थी कि संचेतना को पुनर्जीवित किया जाए और उसे फिर से चिंतन और साहित्यिक संदर्भों से जोड़ा जाए। दुबारा इसे त्रैमासिक निकालने की योजना बनी, कार्यान्वित भी हुई किन्तु मासिक संचेतना के कारण कदम इतने डगमगा गये थे कि सारी कोशिशों के बावजूद हम उन्हें स्थिर नहीं कर पाए। मार्च 1994 से इसका पुनः प्रकाशन शुरू किया गया किन्तु चार वर्ष की अवधि में 16 अंक प्रकाशित करने की बजाए हम 10 अंक ही प्रकाशित कर सके।

हमने हिम्मत नहीं हारी है। शीघ्र ही संचेतना को नियमित करने के लिए हम प्रयत्नशील हैं। हमारे प्रयत्न सफलीभूत होंगे, हमें इसकी पूरी आशा है

संचेतना

आगामी अंक में

क्या साहित्य में भी माफिया सरगरम है?

हाल में ही राजस्थान के प्रमुख साहित्यकार विजयदान देथा ने अपने एक साक्षात्कार में कहा था कि हिन्दी साहित्य में एक शक्तिशाली माफिया सरगरम है। यही माफिया लेखकों को बड़ा और छोटा बनाता है, उन्हें बड़े-बड़े पुरस्कार दिलवाता है और उन्हें सभी प्रकार की सरकारी-गैर सरकारी सुविधाओं से सम्पन्न कराता है।

क्या स्थिति सचमुच ऐसी है?

आगामी अंक में इस संदर्भ में प्रमुख साहित्यकारों की प्रतिक्रियाएँ।

संचेतना

पूर्णांक 145, वर्ष 29, अंक 1-2
मार्च-जून 1998

संपादक
महीप सिंह

प्रबंध संपादक
जयदीप सिंह
संदीप सिंह

संयुक्त संपादक
कमलेश सचदेव
गुरचरण सिंह

कार्यालय सहयोगी
राजेश कुमार सिंह, मनजीत कौर, जय सिंह

कला
मनदीप डिम्पी

क्षेत्रीय प्रतिनिधि
कीर्ति केसर (जालन्धर)
कमलेश बख्शी (मुंबई)
जसबीर चावला (इंदौर)
सुभाष रस्तोगी (चंडीगढ़)
गोविंद अक्षय (हैदराबाद)

मूल्य
एक प्रति : 15 रुपये
वार्षिक : 50 रुपये
आजीवन : 500 रुपये

सम्पर्क
एन - 108, शिवाजी पार्क (पंजाबी बाग)
नई दिल्ली — 110026
फोन — 5191287, 5932888

मुद्रक एवं प्रकाशक
संदीप सिंह
अमृत एंटरप्राइजेज़,
लारेंस रोड, दिल्ली—110035
फोन — 7180701, में मुद्रित तथा
एन — 108, शिवाजी पार्क,
नई दिल्ली — 110026 से प्रकाशित

प्रचारक ग्रन्थावली परियोजना

पहली बार कबीर की सभी रचनाओं का एक साथ संग्रह

कबीर समग्र

मूल्य : 80 रुपये मात्र

डाक व्यय : 12 रुपये

पृष्ठ संख्या : 900

संपादक, लेखक : डा. युगेश्वर

महान् संत कबीर की समस्त रचनाओं के इस अनुपम संग्रह में करीब 900 पृष्ठ हैं। यह पहला अवसर है जबकि कबीर की प्राप्त सभी रचनाओं का एक साथ संग्रह और संपादन हुआ है। प्रायः सभी रचनाओं के सरल और बोधगम्य भाषा में अर्थ दिए गए हैं। साथ ही कठिन और पारिभाषिक शब्दों का अलग से अर्थ-निर्धारण किया गया है। रचनाओं को भलीभाँति समझाने के लिए टिप्पणियाँ दी गई हैं। कथा या अन्य विशेषताओं को इन टिप्पणियों के माध्यम से सुस्पष्ट किया गया है। स्थान-स्थान पर छंद, अलंकारों के भी उल्लेख हैं। आवश्यकतानुसार दूसरे लेखकों की रचनाओं और प्राचीन साहित्य के साथ तुलनात्मक उद्धरण-पंक्तियां भी हैं। इन उद्धरणों से पता लगता है कि संत कबीर विकसित भारतीय परम्परा और धर्मदर्शन साहित्य की महान् विभूति हैं। अक्षररहित होकर भी उन्होंने समस्त भारतीय साहित्य-चेतना का साक्षात्कार किया था। वेदांत, भक्तिसूत्र, योगादि की गूढ़ता को सरल, सुबोध भाषा में लोककंठ में उतारना संत कबीर की अन्यतम विशेषता है।

पुस्तक के अन्त में कबीर साहित्य के पारिभाषिक शब्दों का अर्थसहित संग्रह है। संख्यावाचक शब्दों की अलग सूची है। सबसे अंत में संपूर्ण रचनाओं की पद सूची है। आरम्भ के दो सौ पृष्ठों की भूमिका में कबीर साहित्य से सम्बन्धित अनेक विषयों का तार्किक विवेचन है। इस विवेचन में लेखक ने कबीर के बारे में अनेक नई स्थापनाएं की हैं। पहला अवसर है जबकि कबीर की रचनाओं के छंदांशों को शीर्षक बनाकर अनेक प्रभावोत्पादक निबन्ध एक साथ लिखे गए हैं। कबीर के दर्शन को व्याख्यायित करनेवाले इन निबंधों से कबीर सम्बन्धी नया साहित्य सृजित हुआ है।

श्रम और विद्वत्ता से आलोकित यह संग्रहणीय 'कबीर समग्र' मात्र 90 रु. में पाठकों को सुलभ है।

डा. युगेश्वर कृत अन्य साहित्य

राम एक जीवन	15-00
सीता एक जीवन	12-00
भरत एक जीवन	12-00
हनुमान एक जीवन	12-00
रावण एक जीवन	14-00
संत साहेब	12-00

हिन्दी प्रचारक संस्थान

पिशाचमोचन, वाराणसी-221010

• डा. अमरजीत सिंह नारंग

राजनीतिक इच्छा का अभाव

भारत को विश्व का सबसे बड़ा लोकतन्त्र होने का गर्व है। स्वतन्त्रता के पश्चात् संविधान-निर्माताओं ने आम नागरिक व लोकतान्त्रिक व्यवस्था में पूरी आस्था रखते हुए वयस्क मताधिकार का सिद्धांत अपनाया। उनका विश्वास था कि लोकतांत्रिक व्यवस्था की शुरुआत से आम नागरिक की जिंदगी सुधरेगी। संविधान निर्मात्री सभा के एक महत्वपूर्ण सदस्य के एम. पणिक्कर के शब्दों में अपनी लोकतांत्रिक महत्ता के अलावा वयस्क मताधिकार सामाजिक संकेत भी है। कई ऐसे सामाजिक समूह जो अभी तक अपनी ताकत से अनभिज्ञ थे और राजनीतिक परिवर्तनों से अछूते थे, एकाएक पहचानने लगे कि वे भी कुछ शक्ति रखते हैं।

किसी भी लोकतन्त्र को चलाने की सबसे महत्वपूर्ण प्रक्रिया चुनाव होते हैं। भारत जैसे देश में चुनाव निस्सन्देह कठिन कार्य है। ऐसा केवल इसलिए नहीं कि भारत एक बड़ा देश है और ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक तथा विकास की दृष्टि से अत्यधिक विविधतापूर्ण है, बल्कि इसलिए भी कि इसके नागरिक व नेता विकास एवं परिवर्तन के एक विस्मयकारी दौर से गुजर रहे हैं। पिछले ४७ वर्ष के अनुभव से दो बातें साफ उभर कर आती हैं। एक ओर भारतीय मतदाताओं ने चुनाव संबंधी ज्ञानप्राप्ति और मत-व्यवहार में काफी परिपक्वता दिखाई है। उनमें दल की पहचान का स्तर काफी ऊंचा है, लोकतांत्रिक व्यवस्था के आम ढांचे की समझदारी व स्वीकार्यता है और अपने आस-पास के राजनीतिक वातावरण का बोध भी है। परन्तु दूसरी ओर चुनाव-प्रक्रिया, चुनावों में राजनीतिक दलों का व्यवहार तथा चुनावों का प्रभावित करने वाले तत्व दिन-प्रतिदिन असंतोषजनक तथा गैर लोकतान्त्रिक होते जा रहे हैं।

इस बात में कोई सन्देह नहीं कि देश का कुल राजनीतिक वातावरण ही भ्रष्ट तथा मूल्यरहित हो गया है। परन्तु केवल यह कह कर न तो राजनैतिक अनैतिकता और न ही चुनाव-प्रक्रिया के अनुचित संचालन को स्वीकारा जा सकता है। सत्य तो यह है कि यदि चुनाव-प्रक्रिया सुधर जाए तो राजनीतिक प्रक्रिया में कई सुधार अपने आप ही हो जाएंगे। विडम्बना यह है कि राजनीतिक दल, लेखक, प्रेक्षक तथा मतदाता सभी इस बात से सहमत हैं परन्तु फिर भी प्रणाली और प्रक्रिया में सुधार नहीं हो रहा। इसका कारण क्या है और इसके लिए कौन उत्तरदायी है? चुनाव सुधारों के सबंध में अब तक के विकास से इस बारे में कुछ संकेत मिलते हैं।

चुनाव-प्रणाली और समस्या

भारत उन बहुत कम गिने-चुने देशों में से एक है जहां निष्पक्ष तथा स्वतन्त्र चुनावों के लिए स्वयं संविधान में ही व्यवस्था की गई है। साथ ही संविधान भारतीय संसद तथा राज्य विधान सभाओं को चुनाव-प्रक्रिया तथा संचालन सबंधी कानून बनाने का अधिकार देता है। भारतीय संसद ने 1950 और 1951 में चुनाव संचालन संबंधी कानून बनाए थे। वर्ष 1950-51 से अब तक संविधान में वर्णित प्रावधानों तथा 1951 के कानून के अन्तर्गत ही चुनाव होते आए हैं। आरम्भिक वर्षों से ही यह स्पष्ट होने लगा था कि भारतीय परिस्थितियों तथा विकसित हो रहे वातावरण में ये प्रावधान पर्याप्त तथा पूरी तरह से उपयुक्त नहीं हैं। परन्तु केन्द्र तथा लगभग सभी राज्यों में कांग्रेस की सार्वभौमिकता, विरोधी दलों की कमजोरी तथा नेहरू जैसे नेताओं के प्रभाव के कारण यह विशेष विवाद का विषय नहीं बने।

1967 के चौथे आम चुनाव तक आते-आते भारतीय चुनाव प्रणाली तथा संचालन की कई समस्याएं काफी हद तक सामने आईं। 1967 के चुनाव परिणामों ने इन्हें बहुत स्पष्ट कर दिया। लोकतन्त्र में चुनाव लड़ने वाले राजनीतिक दलों में आंतरिक लोकतन्त्र का अभाव, दलों के मत-प्रतिशत तथा जीते गए स्थानों के प्रतिशत में व्यापक असंतुलन, चुनाव लड़ने वाले

उम्मीदवारों की बहुत अधिक संख्या, चुनाव में खर्च किए जाने वाले धन की मात्रा और उसके स्रोत, भ्रष्टाचार, मतदाताओं पर अनुचित दबाव तथा राजनीतिक दलों के सामान्य व्यवहार में अनेक खामियां इत्यादि प्रश्नों ने साफ किया कि भारत में चुनाव संचालन तथा विधि में व्यापक सुधारों की आवश्यकता है। राजनीतिज्ञों, चुनाव आयोग तथा प्रेक्षकों सभी की ओर से इसकी आवश्यकता पर बल दिया जाने लगा।

सुधार के प्रयत्न

वर्ष 1969 में उस समय के भारतीय जनसंघ के लोक सभा सदस्य अटल बिहारी वाजपेयी ने संसद में यह सुझाव दिया कि इंग्लैंड की तरह भारत में भी एक ऐसी संस्थागत व्यवस्था की जानी चाहिए जो समय-समय पर चुनाव संबंधी कानूनों तथा नियमों का मूल्यांकन तथा अध्ययन करके उनमें आवश्यक सुधारों और परिवर्तनों की सिफारिशें करती रहे। वर्ष 1970 में संसद के दोनों सदनों की एक संयुक्त समिति का गठन कर उसे चुनाव कानूनों का अवलोकन कर आवश्यक संशोधनों के लिए सिफारिश करने का काम सौंपा गया। परन्तु दिसम्बर 1970 में लोक सभा के भंग होने से यह समिति भी भंग हो गई।

1971 में नई लोक सभा के गठन के पश्चात जुलाई 1971 में जगन्नाथ राव की अध्यक्षता में एक 21 सदस्यीय संयुक्त संसदीय समिति का पुनः गठन किया गया। तत्कालीन विधि मन्त्री एच. आर. गोखले भी इस समिति के सदस्य थे। इस समिति ने एक वर्ष के गहन अध्ययन और परिश्रम के पश्चात 1972 में दो भागों में एक व्यापक रिपोर्ट तैयार कर सुधारों के लिए कई महत्वपूर्ण सुझाव दिए। परन्तु इन पर कोई कार्यवाही नहीं की गई। इसके विपरीत इस समय तक नई कांग्रेस गैर लोकतान्त्रिक व्यवहार, सत्ता के केन्द्रीकरण तथा विरोधियों के दमन की ओर खुल कर अग्रसर होने लगी। इसी के विरोध में 1973 में जयप्रकाश नारायण का आन्दोलन आरम्भ हुआ था।

जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में 'संपूर्ण क्रान्ति' आन्दोलन का एक मुख्य मुद्दा चुनाव-प्रणाली में सुधार भी था। इस सन्दर्भ में जयप्रकाश नारायण ने लोकतन्त्र के लिए नागरिक संगठनों के आग्रह पर अवकाशप्राप्त न्यायाधीश श्री तारकुण्डे की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। गहन अध्ययन के पश्चात इस समिति ने चुनाव-सुधार संबंधी महत्वपूर्ण सुझाव दिए। 1975 में आपातकाल की घोषणा ने चुनाव-सुधार संबंधी प्रयत्नों को पूरी तरह से उलट दिया जब श्रीमती इंदिरा गांधी के व्यक्तिगत हितों को सुरक्षित रखने के लिए संविधान में ही संशोधन कर दिए गए।

1977 में आपातकाल की समाप्ति के पश्चात जनता पार्टी की सरकार ने लोकतन्त्र की पुनः स्थापना के अपने लक्ष्य के सन्दर्भ में सुधारों पर विचार आरम्भ किया और घोषणा की कि सरकार के स्तर पर इनके बारे में निर्णय हो गया है परन्तु इस संबंध में कानून बनाने से पहले वह विपक्ष के साथ सलाह-मशविरा करना चाहेगी। इससे पहले कि यह सलाह कोई रूप लेती, जनता पार्टी की सरकार गिर गई और बाद में लोक सभा भी भंग हो गई। व्यापक मांग को देखते हुए 1980 में श्रीमती गांधी ने एक मन्त्रिमण्डलीय उपसमिति का गठन किया कि वह अब तक प्राप्त अनेक सिफारिशों का अध्ययन कर इस बारे में सुझाव दे। परन्तु व्यवहार में 1984 तक इस संबंध में कुछ नहीं किया गया। राजीव गांधी सरकार ने चुनाव-सुधार के नाम पर मतदान की आयु 21 वर्ष से 18 वर्ष कर युवा वर्ग में लोकप्रियता प्राप्त करने का काम तो किया परन्तु सुधारों से संबंधित मूल विषयों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

गोस्वामी समिति रिपोर्ट

राष्ट्रीय मोर्चे ने अपने चुनाव घोषणा पत्र में चुनाव-सुधारों को प्राथमिकता देने का वायदा किया था। अतः दिसम्बर 1989 में वी.पी. सिंह सरकार के सत्ता में आने के तुरन्त बाद इस ओर कार्यवाही आरम्भ कर दी गई। 1990 के आरम्भ में ही एक सर्वदलीय बैठक हुई। इस बैठक में प्रधान मंत्री, कुछ अन्य मंत्री, मुख्य चुनाव आयुक्त तथा लगभग सभी राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। तत्कालीन विधि मन्त्री दिनेश गोस्वामी उसके संयोजक थे। इस बैठक में विचार-विमर्श के पश्चात 11 मामलों पर लगभग सभी दलों में सहमति थी। आनुपातिक प्रतिनिधित्व, चुनाव-प्रचार के लिए राज्य द्वारा आर्थिक सहायता इत्यादि मामलों पर भी बहस हुई परन्तु इन पर सहमति नहीं थी।

इस सर्वदलीय बैठक के आधार पर दिनेश गोस्वामी समिति ने एक विस्तृत रिपोर्ट तैयार की जिसमें चुनाव-सुधारों के लिए एक निश्चित प्रारूप प्रस्तुत किया गया। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार के पतन से इन सिफारिशों को कानूनी रूप नहीं दिया जा सका। 1991 से 1996 तक की कांग्रेस सरकार ने अपने पांच

वर्ष के कार्यकाल में इस दिशा में कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया। केवल चुनाव-प्रचार के समय को कम कर दिया गया तथा यह तय किया गया कि निर्दलीय उम्मीदवार की मृत्यु से चुनाव निलम्बित नहीं होंगे। नई राष्ट्रीय मोर्चा सरकार इस ओर बचनबद्ध होने के बावजूद क्या कर सकती है, यह आने वाला समय ही बतायेगा।

चुनाव आयोग

जहां राजनीतिक स्तर पर चुनाव सुधारों के लिए नारेबाजी, समिति-गठन एवं तथाकथित प्रयत्न होते रहे हैं वहां स्वयं चुनाव आयोग ने भी इस दिशा में अनेक सुझाव दिए हैं तथा प्रयत्न किए हैं। चुनाव आयोग ने समय-समय पर सरकार को सुझाव दिए हैं कि जन प्रतिनिधि कानून 1951 में संशोधन कर चुनाव-प्रक्रिया तथा प्रणाली में आए दोषों को समाप्त किया जाए। 1981 में उस समय के मुख्य चुनाव आयुक्त श्री एस.एच. शकधर तथा उनके बाद में मुख्य आयुक्त श्री आर.के. त्रिवेदी ने इस संदर्भ में सरकार को कई महत्वपूर्ण सुझाव दिए। श्री शकधर ने अपने कार्यकाल में मतदाता पहचान-पत्र जारी करने और चुनावों से पहले की जाने वाली नीति संबंधी घोषणाओं पर प्रतिबंध लगाने इत्यादि की प्रक्रिया आरम्भ की।

पिछले मुख्य चुनाव आयुक्त श्री टी.एन. शेषन ने इस दिशा में ठोस कार्य किया। राजनीतिक दलों के पंजीकरण, चुनाव-प्रचार के दौरान किये जाने वाले खर्च पर नियन्त्रण, मतदान-केन्द्रों पर जबरन कब्ज़े रोकना, मतदाता पहचान-पत्र जारी करना, उनके द्वारा उठाए गए कुछ विशेष कदम थे। नए मुख्य चुनाव आयुक्त श्री एम.एस. गिल इन कार्यों को आगे बढ़ाने में प्रयत्नशील हैं। वे राजनीतिक दलों की कार्यविधि पर विशेष ध्यान दे रहे हैं। इसी वर्ष मई के पहले सप्ताह में उन्होंने सर्वदलीय बैठक बुला कर सुधारों पर व्यापक सहमति प्राप्त करने का प्रयत्न किया। परन्तु कानून में संशोधन के बिना चुनाव आयोग केवल सीमित सुधार ही कर सकता है।

राजनीतिक इच्छा

पिछले अनुभव से स्पष्ट होता है कि भारत में चुनाव-व्यवस्था और चुनाव प्रणाली में व्यापक सुधारों की आवश्यकता को सभी मानते हैं। इन में विशेष मुद्दे भ्रष्टाचार, राजनीतिक दलों की कार्य-प्रणाली, चुनाव-प्रचार में व्यय, राज्य द्वारा आर्थिक सहायता, गैर ज़िम्मेदार निर्दलीय उम्मीदवारों को रोकना, चुनाव-प्रचार के लिए आचार - संहिता, प्रतिनिधित्व के आधार इत्यादि हैं। अधिकतर राजनीतिक दल किसी न किसी रूप में सुधारों के पक्ष में हैं, परन्तु इनमें से अधिकतर अपने उत्तरदायित्व से बचना चाहते हैं। इस संदर्भ में विशेष रूप से कांग्रेस की भूमिका काफी नकारात्मक रही है। शायद इसका एक कारण यह है कि चुनावों में सबसे अधिक धन यह दल व्यय करता रहा है और विशेष रूप से 1971 के पश्चात से दल में आन्तरिक लोकतन्त्र पूर्णतः समाप्त हो चुका है।

कांग्रेस के अतिरिक्त अनेक अन्य दलों में भी आन्तरिक लोकतन्त्र न के बराबर है। अनेक दल अपनी सफलता के लिए अपराधियों तथा जाति का व्यापक इस्तेमाल कर रहे हैं। दलों द्वारा अपने हिसाब-किताब रखने की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है। ऐसे में **सभी दल चुनाव-सुधार उसी सीमा तक चाहते हैं जहां तक इससे उनकी अपनी सफलता पर उनका प्रभाव न पड़े। समय-समय पर छोटे-छोटे सुधार तो होते रहे हैं परन्तु मूल प्रश्न तथा मुद्दे ज्यों के त्यों हैं। परिणामस्वरूप चुनावों में भ्रष्टाचार, राजनीतिक अस्थिरता, राजनीतिक दलों में धांधलेबाजी, सरकारी माध्यमों का दुरुपयोग इत्यादि कम होने के स्थान पर बढ़ रहे हैं। अन्ततः इन सब का प्रभाव यह हो रहा है कि साधारण नागरिक चुनाव और लोकतान्त्रिक व्यवस्था में ही विश्वास खोने लगा है।**

आज आम भारतीय यह मानने लग गया है कि लोकतन्त्र बेकार है, चुनाव अर्थहीन है और राजनीतिक दल स्वार्थी मात्र हैं। इस बढ़ते अविश्वास और असंतोष का परिणाम अत्यन्त गम्भीर हो सकता है। इस से पहले कि देश अराजकता, हिंसा और निरंकुशतावाद की ओर अग्रसर हो, आवश्यक है कि सभी राजनीतिक दल चुनाव सुधारों के महत्व और आवश्यकता को समझ कर अपने अल्पकालिक स्वार्थ त्याग कर देश के दीर्घकालिक हितों को समझें और एकमत हो कर शीघ्रातिशीघ्र व्यापक तथा मूलभूत सुधारों को कानूनी रूप प्रदान करें।

एसी 135 बी, शालीमार बाग, दिल्ली-110035

• मस्तराम कपूर

लोकसभा और विधान सभा के लिए एक साथ चुनाव हों

सम्यक चुनाव - प्रणाली लोकतंत्र की पहली शर्त है। लोकतंत्र में जनता की इच्छा सर्वोपरि है। राज्य का परमाधिकार केवल जनता के पास होता है और संविधान तथा उसके अंतर्गत बनी सभी संस्थाएं उसी से अधिकार प्राप्त करती हैं। लोकेच्छा की अभिव्यक्ति चुनावों में होती है।

जनता की इच्छा को जानने के लिए लोकतांत्रिक देशों में कई प्रकार की चुनाव प्रणालियां अपनाई जाती हैं जैसे- प्रत्यक्ष चुनाव, परोक्ष चुनाव, साधारण बहुमत प्रणाली, सूची प्रणाली, आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली, वैकल्पिक मत प्रणाली आदि। हमने लोकसभा और विधान सभाओं के लिए प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली को, और राज्य सभा, विधान परिषदों और राष्ट्रपति के चुनाव के लिए परोक्ष चुनाव प्रणाली को अपनाया है। हमने सर्वाधिक मत प्राप्त करने वाले को विजयी मानने की प्रणाली अपनाई है लेकिन जरूरत पढ़ने पर हम आनुपातिक और वैकल्पिक मत-प्रणाली को भी अपना सकते हैं।

चुनाव विधिवत हों और उनमें कोई धांधली न हो, इसके लिए बहुसदस्यीय निर्वाचन आयोग की व्यवस्था की गई है। चुनाव आयुक्तों को कार्यपालिका के हस्तक्षेप से मुक्त रखा गया है। बहुसदस्यीय आयोग में फैसले आम सहमति से या बहुमत से लिए जाते हैं।

किंतु हमारी चुनाव प्रणाली में अब भी कई खामियां मौजूद हैं। मतदान केन्द्र पर कब्जा करने, मतपेटियों को छीनने और जाली मत डलवाने की घटनाएं अब भी होती हैं। चुनावों का सिलसिला पूरे पांच साल चलता ही रहता है और उसमें बहुत समय तथा साधन नष्ट होते हैं। चुनाव में काले धन का खुल कर उपयोग होता है जिससे सारी प्रणाली दूषित हो जाती है। अवांछित तत्वों और अगंभीर उम्मीदवारों को चुनाव लड़ने से रोकने की कोई अच्छी व्यवस्था नहीं है।

चुनाव प्रणाली के सुधार की दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कदम यह हो सकता है कि लोक सभा, विधान सभाओं, स्थानीय संस्थाओं, पंचायतों और जिला परिषदों के चुनाव पांच साल में एक बार एक निश्चित समय पर, एक साथ कराए जाएं। उदाहरण के लिए फरवरी-मार्च या और किसी सुविधाजनक समय पर एक-दो सप्ताह की अवधि में सारे चुनाव एक साथ करा लिया जाएं। उपचुनाव पांच साल में शेष बची अवधि के लिए हों और शेष अवधि का समय छः महीने से कम हो तो उपचुनाव न कराए जाएं। एक व्यक्ति को एक समय में एक ही स्थान से एक ही पद के लिए चुनाव लड़ने दिया जाए। इससे चुनाव-खर्च में बचत होगी। यदि पार्टियों को सरकार की ओर से चुनाव-खर्च देने की व्यवस्था हो तो पार्टियों में व्यक्तिगत जागीरदारी की प्रथा खत्म हो, उनके भीतर लोकतांत्रिक प्रणाली को सुनिश्चित किया जाए, पार्टियों को मिलने वाले अवैध धन पर पूरी रोक लगे और उनके आय-व्यय पर नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की निगरानी रहे। यह भी सुनिश्चित किया जाए कि पार्टियों द्वारा उम्मीदवारों का चयन लोकतांत्रिक ढंग से हो और पार्टियां अपने संविधान के अनुसार काम न करें तो उनकी मान्यता समाप्त हो। चुनाव जीतने के बाद दलबदल करने वालों को दलबदल विरोधी कानून के अंतर्गत दंडित करने का अधिकार निर्वाचन आयोग के पास रहे और यह निर्णय न्यायिक समीक्षा के अधीन हो। बदबदल कानून में भी ऐसे संशोधन हों कि जनप्रतिनिधियों के असहमति के अधिकार पर रोक न लगे और दलबदलुओं को किसी भी लाभ के पद पर नियुक्त न किया जा सके। हमारी संविधान सभा ने साम्प्रदायिक दलों को चुनाव-प्रक्रिया से बाहर रखने के लिए अप्रैल, 1948 को (महात्मा गांधी की हत्या के बाद) एक प्रस्ताव श्री अनंतशयनम् आयंगार की पहल पर पास किया था। इस प्रस्ताव पर आज तक किसी भी सरकार ने अमल नहीं किया। चुनाव प्रणाली को साफ-सुथरा बनाने के लिए इस प्रस्ताव को अमल में लाना जरूरी है।

79 बी, पाकेट 3, मयूर विहार, फेस १ए, दिल्ली -

• सी.के.जैन
(पूर्व लोकसभा महासचिव)

लोकतंत्र की बुराइयों का इलाज और अधिक लोकतंत्र है

पिछले आम चुनाव में किसी भी एक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं हुआ जिससे कोई भी दल अपने बूते पर सरकार नहीं बना सका। उसके बाद घटनाओं ने कुछ ऐसे मोड़ लिए कि राजनीतिक पार्टियों को तत्काल चुनाव सुधारों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत हुआ। वर्तमान गठबंधन सरकार मतदाताओं का चुनाव नहीं बल्कि परिस्थितियों की उपज है।

यह तो अब दिन के उजाले की तरह स्पष्ट है कि हमारे संविधान-निर्माता लोकसभा तथा विधान सभाओं के लिए वयस्क मताधिकार का प्रावधान करते समय उन बुराइयों के बारे में नहीं सोच पाये जिनसे आज हमारा समाज ग्रस्त है। हालांकि इनमें से कुछ जैसे जाति-बिरादरीवाद के विषाणु तथा भाषा और क्षेत्र के पूर्वाग्रह तो आजादी के बाद नेहरू के जमाने में भी मौजूद थे। सभी जानते हैं कि तब भी पार्टियां चुनाव-क्षेत्र में बिरादरी, जाति या उपजाति के वर्चस्व के आधार पर ही अपने प्रत्याशी खड़े किया करती थीं। भाषा के आधार पर राज्यों के गठन को लेकर पैदा हुए क्रोध और उन्माद ने जिस तरह पूरे देश को अपनी गिरफ्त में ले लिया था और एकता और राष्ट्रीयता की भावना को जबरदस्त झटका दिया था, उसे याद करने पर आज भी मन गहन पीड़ा से भर उठता है। उम्मीदवारों के चयन में जाति-बिरादरी के खयाल और चुनाव-अभियान के दौरान जाति भावना के शोषण ने निश्चित रूप से जाति-बिरादरी की भावना को बढ़ावा दिया जिसने आगे चलकर विकराल रूप धारण कर लिया है। राजनीतिक परिदृश्य में स्वाधीनता-संग्राम के नायकों के न रहने और सत्ता एवं धन की लिप्सा के देशभक्ति एवं राष्ट्रीयता की भावना का स्थान ले लेने से यह प्रवृत्ति और भी उभर कर सामने आई। मूलतः परम्परावादी और व्यक्ति-पूजक होने के कारण भारतीय जनता ने योग्यता, सेवा एवं बलिदान की उच्चता को भी नजर-अंदाज कर दिया। यदि ऐसा न होता तो आचार्य नरेन्द्र देव, आचार्य कृपलानी और राममनोहर लोहिया जैसे नेताओं को चुनावों में हार का मुंह न देखना पड़ता। पार्टियों की वैचारिक भिन्नता का भारतीय मतदाता पर कुछ खास प्रभाव नहीं पड़ता।

राष्ट्रीय नेताओं के परिदृश्य से चले जाने और समाज में परम्परागत मूल्यों के क्षरण ने नकारात्मक शक्तियों को प्रोत्साहित किया। चुनाव-प्रक्रिया को अपने स्वार्थ के लिए प्रयोग करने की सामर्थ्य और संसाधनों से सम्पन्न व्यक्तियों ने व्यवस्था को इस कदर दूषित कर दिया कि चुनाव में स्वतंत्रता और निष्पक्षता कम से कम रह गई। राजनीति देश की सेवा का साधन होने की बजाय व्यवसाय बन गई और धनपिपासु एवं सिद्धांतहीन व्यक्तियों के लिए जल्दी से जल्दी दौलत इकट्ठा करने का एक आसान तरीका बनकर रह गई। जब केवल धन असीमित महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए अपर्याप्त प्रतीत हुआ तो इन विवेकहीन व्यक्तियों ने अपराधियों की सहारा लिया। इसीलिए आज हमें यह अपवित्र गठजोड़ दिखाई देता है जिसे राजनीति का अपराधीकरण या फिर कुछ लोग अपराध का राजनीतीकरण कहते हैं। सेवा एवं त्याग की वास्तविक भावना रखने वाले व्यक्ति सार्वजनिक जीवन में बने रहने के प्रति अनिच्छुक होते जा रहे हैं और यदि इस अनिच्छा और उदासीनता की प्रवृत्ति को रोका न गया तो हमारी लोकतांत्रिक संस्थाओं की बनावट और उनके चरित्र पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा। स्थिति पर नये सिरे से विचार करके मूलगामी परिवर्तन किया जाना जरूरी है ताकि सार्वजनिक जीवन की वांछित जानकारी और अनुभव तथा सेवा की पृष्ठभूमि रखने वाले व्यक्ति ही संसद तथा विधानसभाओं में प्रवेश कर सकें। सुधार किसी को भी अच्छे नहीं लगते। निहित स्वार्थ हमेशा सुधारों को रोकते रहेंगे। इस समय सम्बद्ध पक्षों को प्रबल राजनीतिक इच्छाशक्ति से काम लेने की आवश्यकता है। व्यापक राष्ट्रीय हितों के समक्ष संकीर्ण स्वार्थों को छोड़ना ही होगा। स्वाधीनता आन्दोलन के

महान नेता और गांधी जी के साथी सी. राजगोपालाचारी ने सन् 1922 में जो चेतावनी दी थी, आज भी उसे याद रखना जरूरी है। उन्होंने कहा था-

"जैसे ही हमें स्वतंत्रता दी जाएगी, अन्याय और धन की सत्ता एवं अत्याचार तथा प्रशासन की अकुशलता जीवन को नरक बना देंगे।"

कहा जाता है कि लोकतंत्र की बुराइयों का इलाज और अधिक लोकतंत्र है। हमारे यहां यदि निम्नलिखित विषयों में राष्ट्रीय सहमति बन जाए तो लोकतंत्र का भविष्य अधिक सुरक्षित हो सकता है:

(1) राजनीतिक दलों को इस बात पर सहमत होना चाहिए कि वे छात्रों तथा शैक्षणिक संस्थाओं को अपने दलीय हितों के संवर्धन के लिए इस्तेमाल नहीं करेंगे। विश्वविद्यालयों के परिसरों को राजनीति से मुक्त किया जाना आवश्यक है।

(2) मतदान की आयु फिर से 21 वर्ष की जानी चाहिए।

(3) पंचायती राज संस्थाओं तथा नगरपालिकाओं के चुनाव पार्टियों के लेबल के बिना होने चाहिए ताकि ये निकाय दलीय स्पर्धा से मुक्त होकर सभी वर्गों की सहायता से जनता की दक्षतापूर्वक एवं वास्तविक सेवा कर सकें। इससे सामाजिक समरसता बढ़ेगी और तेजी से विकास होगा। अंतिम लक्ष्य आम सहमति की राजनीति का विकास होना चाहिए जो कि भारत की युगों पुरानी प्रकृति के अनुरूप है और लोकतांत्रिक परंपराओं तथा संस्थाओं के भी।

(4) सार्वजनिक पदों पर बैठे व्यक्तियों को बिना किसी आडम्बर के अपने खर्च पर अपने धार्मिक विश्वासों का पालन करना चाहिए। इसके लिए सार्वजनिक कोष अथवा सरकारी तंत्र का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।

(५) स्त्रियां देश की जनसंख्या का आधा हिस्सा हैं। इस लिहाज़ से वे संसद, विधानसभाओं और स्थानीय निकायों में पचास प्रतिशत सीटों की हकदार हैं। स्त्रियों के लिए लोकसभा तथा विधान सभाओं में तैंतीस प्रतिशत आरक्षण पहला कदम ही हो सकता है। आशा है कि इसके बाद राज्य सभा और विधान परिषदों में भी उन्हें आरक्षण देने वाला व्यापक विधेयक शीघ्र ही आएगा। सभी दलों को स्त्रियों को राजनीति में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए और उन्हें बढ़ावा देना चाहिए। साथ ही उन्हें इस के लिए सौहार्दपूर्ण वातावरण बनाने का भी प्रयास करना चाहिए।

अनेक समितियों और प्रमुख व्यक्तियों, जिनमें न्यायविद्, संविधान-विशेषज्ञ तथा प्रशासन एवं सार्वजनिक जीवन का दीर्घ एवं समृद्ध अनुभव रखने वाले व्यक्ति शामिल हैं, ने चुनाव - सुधार के लिए कई सुझाव दिए हैं। इनमें से अधिकांश को अभी कार्यान्वित नहीं किया गया है। संयुक्त संसदीय समिति, तारकुंडे समिति तथा वी.आर. कृष्णा अय्यर समिति आदि के सुझावों पर विचार करने के बाद गोस्वामी समिति ने जो संस्तुतियां की थीं, उनसे विभिन्न राजनीतिक दलों की व्यापक सहमति थी। विभिन सुझावों और उन पर हुई बहस में न जाते हुए यह कहा जा सकता है कि चुनाव के मूल क्षेत्रों में निम्नलिखित सुधार विचार की अपेक्षा रखते हैं—

(1) चुनाव प्रणाली

लोकसभा एवं विधान सभाओं की पचास प्रतिशत सीटों (आरक्षित सीटों सहित) का चुनाव निर्वाचक मंडल (इलेक्टोरल कालेज)के द्वारा किया जाए जिस आयु वकील, अध्यापक, डाक्टर, पत्रकार एवं 50 वर्ष से अधिक में के नागरिक शामिल हों। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष चुनाव की मिश्रित प्रणाली से मतदान के पैटर्न में परिवर्तन आएगा जिससे लोकसभा तथा विधानसभाओं में प्रतिनिधित्व की गुणवत्ता सुनिश्चित हो सकेगी। ध्यान दिया जाना चाहिए कि भारत की प्राचीन परम्परा और प्रवृत्ति ही कुछ ऐसी रही है कि हमें बहुमत की बजाय आम सहमति से चुनाव करना बेहतर महसूस होता है। प्रत्यक्ष चुनाव में बेहिसाब श्रम, धन और समय खर्च होता है। पिछले पचास वर्षों के अनुभव से सिद्ध हो गया है कि प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली ने हमें वास्तविक प्रतिनिधि निकाय नहीं दिए हैं। इसके लिए कम मतदान, मतदाताओं का अन्य बातों से प्रभावित होना, फर्जी मतदान, बूथ कब्जे, मतदाताओं को डराना-धमकाना आदि अनेक कारणों को रेखांकित किया जा सकता है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व तथा सूची प्रणाली जैसी पद्धतियां हमारे लिए उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि एक तो हमारा देश बहुत बड़ा है ओर दूसरे हमारी बहुत बड़ी जनसंख्या अभी भी निरक्षर होने के कारण न तो इन जटिल पद्धतियों को समझ सकती है और न ही इनका उपयोग कर सकती है। हमारे देश के लिए चुनाव-प्रणाली आसान होनी चाहिए।

(2) चुनाव-खर्च

पार्टी के चुनाव-चिह्न पर चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशी के

लिए जमानत राशि को छोड़कर चुनाव का बाकी सारा खर्च पार्टी को उठाना चाहिए। जमानत की राशि प्रत्याशी अपनी जेब से दे। पार्टियां निगमित निकायों से चंदा स्वीकार करें या फिर पार्टियों को चन्दा देने वालों को और स्वयं पार्टियों को आयकर से मुक्त रखा जाए। लोकसभा के प्रत्याशी के लिए अधिकतम चुनाव खर्च सीमा 15 लाख रुपये और विधान सभा के लिए 5 लाख रुपये होनी चाहिए। चुनाव आयोग को समय-समय पर व्यय-सीमा को फिर से निर्धारित करने का अधिकार दिया जाना चाहिए। पार्टी द्वारा प्रत्येक प्रत्याशी के लिए किए गए चुनाव खर्च का अलग-अलग विवरण पार्टी के महासचिव, कोषाध्यक्ष एवं प्रत्याशी के विधिवत हस्ताक्षरों सहित प्रस्तुत किया जाना चाहिए। किसी प्रकार की गलतबयानी भ्रष्टाचार मानी जाएगी जिसके परिणामस्वरूप प्रत्याशी को अयोग्य घोषित किए जाने के साथ-साथ सभी हस्ताक्षरकर्ताओं को कारावास और आर्थिक दंड भुगतना पड़ेगा।

चुनाव आयोग को निर्धारित प्रतिमानों और प्रक्रियाओं के तहत मतदाता सूचियों आदि की प्रतियां निशुल्क उपलब्ध करानी चाहिए।

सरकार द्वारा किसी भी सूरत में चुनाव खर्च नहीं दिया जाना चाहिए।

उपर्युक्त प्रक्रिया से पारदर्शिता सुनिश्चित होगी और अगंभीर प्रत्याशियों की संख्या में भारी कमी आएगी।

(3) चुनाव प्रत्याशी

1. आयुः राज्य सभा और विधान परिषदों के लिए न्यूनतम आयु-सीमा 40 वर्ष और लोकसभा तथा विधान सभा के लिए 30 वर्ष कर दी जानी चाहिए।

2. योग्यताः

(1) हिन्दी पढ़ने और लिखने में निपुणता।

(2) मातृभाषा को पढ़ने और लिखने में निपुणता, और यदि मातृभाषा हिन्दी हो तो संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किसी भी एक अन्य भाषा को पढ़ने और लिखने में निपुणता।

(3) न्यूनतम दस वर्ष से समाज सेवा अथवा पंचायत या नगरपालिका और/ या किसी भी क्षेत्र में सार्वजनिक सेवा में रत संस्था की सदस्यता।

(4) लोकसभा प्रत्याशी के लिए 50 प्रस्तावक और 50 अनुमोदक तथा विधान सभा प्रत्याशी के 25-25 प्रस्तावक एवं अनुमोदक होने चाहिए।

(4) मतदान की आयु

मतदान की आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर देने से व्यवस्था को कुछ भी लाभ नहीं पहुंचा है। दरअसल इसने हमारे छात्रों को अध्ययन से दूर किया है और शैक्षणिक संस्थानों के वातावरण का राजनीतीकरण कर दिया है। राष्ट्र के हित में यही अच्छा होगा कि छात्रों को अध्ययन में और अपने व्यक्तित्व को एक जिम्मेदार नागरिक के रूप में विकसित करने में व्यस्त रहने दिया जाए। राजनीतिक दलों के बीच इस बात की आम सहमति की आवश्यकता है कि वे विश्वविद्यालयों के परिसरों से दूर रहेंगे और छात्र-संगठनों के चुनाव किसी भी राजनीतिक दल की संलिप्तता के बिना सम्पन्न होंगे।

(5) मतदाता सूचियां

कम मतदान और मतदाताओं की उदासीनता का एक कारण अधूरी और गलत मतदाता सूचियां भी हैं। घर-घर जाकर मतदाताओं की गिनती करने का काम अक्सर लापरवाही और आधे मन से किया जाता है। इस काम में क्षेत्र के प्रमुख नागरिकों की कमेटियों का सहयोग लिया जाना चाहिए और इनकी पहुंच मुख्य चुनाव अधिकारी अथवा उसके द्वारा इस उद्देश्य के लिए नियुक्त अन्य वरिष्ठ अधिकारी तक होनी चाहिए। मतदाता सूचियों को अद्यतन बनाने का काम वर्ष भर चलता रहना चाहिए।

(6) पहचान-पत्र

शुरू से ही गलत ढंग से तैयार की गई यह योजना अब चूंकि चालू हो चुकी है और लगभग इसका आधा काम हो चुका है, इसे सफल बनाने के लिए कदम उठाए जाने चाहिए वरना इस पर खर्च हुए करोड़ों रुपये बरबाद हो जाएंगे।

सरकारी खजाने पर बोझ कम करने के लिए विभिन्न सरकारी विभागों, प्राइवेट कम्पनियों तथा उद्योगों द्वारा जारी पहचान पत्रों को मतदाता की पहचान का प्रमाण मान लिया जाना चाहिए और अलग पहचान-पत्र की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।

(7) राजनीतिक दल

राजनीतिक दलों की मान्यता/पंजीकरण और उनके कामकाज को नियंत्रित करने के लिए एक कानून बनाए जाने की सख्त

जरूरत है। राजनीतिक दलों के इस कामकाज में उनके सदस्यों का पंजीकरण, उनके संविधानों के अनुसार निकायों और पदाधिकारियों का चुनाव, फंड इकट्ठा करना, चुनाव खर्च, बही खातों का रख-रखाव और लेखा-परीक्षण शामिल है। राजनीतिक दलों को स्वैच्छिक रूप से लोकसभा और विधानसभा चुनाव के प्रत्याशियों के चयन की ऐसी प्रक्रिया विकसित करनी चाहिए जिससे जाति, धर्म और बिरादरी के आधार पर उम्मीदवारों के चयन को हतोत्साहित किया जा सके, क्योंकि ये देश की एकता के लिए अनुकूल नहीं है।

(8) आदर्श आचार संहिता

आदर्श आचार संहिता को संविधान का समर्थन दिया जाना चाहिए।

(9) लोकसभा और विधान-सभाओं के एक साथ चुनाव

संभव हो तो लोकसभा और विधान सभाओं के चुनाव एक ही समय पर कराए जाने चाहिए। इससे चुनावों पर होने वाले खर्च में भी कमी आएगी।

अगर मध्यावधि चुनाव आवश्यक न हों तो काफी समय पहले ही आम चुनाव की अनुमानित समय-सारणी घोषित कर दी जानी चाहिए ताकि अनावश्यक आशंकाओं और गलत उद्देश्य थोपे जाने की संभावना को समाप्त किया जा सके।

(10) सरकारी मशीनरी का दुरुपयोग

निजी स्टाफ एवं वाहनों सहित सरकारी मशीनरी के दुरुपयोग को रोकने के लिए सरकारी पदों पर कार्यरत प्रत्याशियों को सरकारी कार्यक्रमों को अपने चुनाव-अभियान के साथ नहीं जोड़ना चाहिए। इसके उल्लंघन को भ्रष्ट आचरण माना जाए।

(11) लोकसभा एवं विधान सभा सदस्यों की लेखा देयता

प्रत्येक सदस्य के लिए लोकसभा अथवा विधान सभा के अध्यक्ष को निम्नलिखित जानकारी देना अनिवार्य होना चाहिए जो इस जानकारी को उस वर्ष के पूरे होने से दो महीने पहले सम्बद्ध सदन के सचिवालय द्वारा राज्यवार/चुनाव क्षेत्र वार संग्रहीत करवा कर संघ की सरकारी भाषाओं और सदस्य के राज्य की भाषा में सूचना पत्र के रूप में प्रकाशित करवाएगा।

(1) नामांकन की तारीख में उसके अपने नाम और परिवार के सदस्यों के नाम परिसम्पत्तियां और उसके बाद उनमें होने वाला कोई भी परिवर्तन।

(2) उसका अपना और उसके परिवारजनों का व्यवसाय एवं वार्षिक आय।

(3)सदन और उसकी कमेटियों की बैठकें और उनमें सदस्य की उपस्थिति।

(4)सरकारी संसदीय दौरे और चुनाव-क्षेत्र के दौरे।

(5)सदन और कमेटियों की कार्रवाई में भागीदारी।

(6)सरकारी और निजी विदेश दौरों की अलग-अलग संक्षिप्त रिपोर्ट जिसमें उन देशों का नाम, वहां ठहरने की अवधि और जाने का उद्देश्य, व्यय और उसके स्रोत की जानकारी शामिल हो।

(7) अन्य संसदीय कर्तव्य जो निभाए हों।

(12) लोकसभा या विधान सभा के सदस्य को वापस बुलाने का अधिकार

मतदाताओं को लोकसभा या विधान सभा के सदस्य को वापस बुलाने का अधिकार देने के लिए संविधान में उपयुक्त संशोधन किया जाना चाहिए। यदि सदस्य का व्यवहार भारत के संविधान के प्रति निष्ठा रखने की शपथ के विपरीत देखा जा रहा हो, या उसके द्वारा चुनाव घोषणा-पत्र में किए गए वायदों के विरुद्ध हो, या जनप्रतिनिधि के अपेक्षित स्तर के अनुरूप न हो तो उसके क्षेत्र के मतदाता उसे वापस बुला सकें। सदस्य को चुनाव में जितने मतों की बढ़त हासिल हुई हो, उसके आधे से अधिक मतदाता (जो मतदाता सूची में दर्ज हों) शपथ-पत्र पर हस्ताक्षर करके चुनाव-आयोग के समक्ष याचिका प्रस्तुत करें और चुनाव आयोग जांच के बाद सदस्य को मतदाताओं द्वारा लगाए आरोपों के लिए दोषी पाए तो आयोग उस सदस्य की सीट को रिक्त घोषित कर दे। चुनाव आयोग की आदेश की न्यायिक समीक्षा की जा सकेगी।

(13) दल-बदल विरोधी कानून

संविधान की दसवीं अनुसूची जिसमें दल-बदल विरोधी कानून शामिल है, को संशोधित करके उसमें यह प्रावधान किया जाना चाहिए कि किसी भी राजनीतिक दल के टिकट पर चुना गया कोई भी सदस्य कभी पार्टी बदलना चाहे तो सदन की सदस्यता से त्यागपत्र दे और अगर वह ऐसा नहीं करता है तो उसके पार्टी बदलने के दस दिन बाद उसकी सीट स्वतः रिक्त हो जाएगी। ऐसा सदस्य शेष अवधि के लिए किसी सरकारी पद अथवा राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति के लिए पात्र नहीं होगा।

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि साठ के दशक से दलबदल का यह विष हमारी राजनीति में पैठ गया है और काफी देर बाद 1987 में आधे-अधूरे मन से इसे रोकने का प्रयास किया गया लेकिन फिर भी बड़े पैमाने पर सिद्धान्तहीन दलबदल जारी है। इसके बावजूद कोई भी राजनीतिक पार्टी इस दोषपूर्ण कानून को हटाने के लिए आगे नहीं आई। कारण स्पष्ट है कि हर पार्टी को आशा है कि कभी न कभी इस दोषपूर्ण कानून के कारण उसे लाभ हो सकता है। यह रवैया हमारी मूल्यहीन राजनीति में अनायास आम सहमति का एक बढ़िया उदाहरण है।

(14) प्रमुख नागरिक मंच

जिन क्षेत्रों में ऐसे मंच नहीं हैं, उनमें प्रमुख नागरिकों के ये मंच बनाए जाने चाहिए। ये जनता में मतदान के महत्व के प्रति जागरूकता उत्पन्न करके, निष्पक्ष और स्वतंत्र चुनाव सम्पन्न कराने के लक्ष्य को पूरा करने में सहायक होने की भावना का विकास करके चुनाव आयोग की मदद कर सकते हैं। ये मंच मतदाताओं के पंजीकरण में और चुनाव में होने वाले गलत कामों को रोकने में भी सहायक होंगे।

(15) चुनाव आयोग

मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति राष्ट्रपति एक कमेटी की सिफारिशों के आधार पर करें जिसमें देश के उपराष्ट्रपति, प्रधान मंत्री, मुख्य न्यायाधीश, लोकसभा तथा राज्यसभा में विपक्षी दलों के नेता (मान्यता प्राप्त विपक्ष न होने की स्थिति में लोकसभा और राज्यसभा में सबसे बड़ी पार्टी के नेता) शामिल हों।

मुख्य चुनाव आयुक्त की ही भांति चुनाव आयुक्तों को पद से हटाए जाने के लिए भी सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश जैसी प्रक्रिया का प्रावधान हो। कार्यावधि पूरी होने के बाद मुख्य चुनाव आयुक्त और चुनाव आयुक्त कोई भी सरकारी या राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति किए जाने वाला पद न ग्रहण करें।

संविधान के अनुच्छेद 98 के तहत जिस प्रकार संसद के सदनों के सचिवालयों के सरकार के प्रभाव एवं नियंत्रण से मुक्त रहने का प्रावधान किया गया है, वैसा ही प्रावधान चुनाव आयोग के सचिवालय की स्वतंत्रता के लिए भी किया जाए।

(16) राज्य सभा

पिछले वर्षों से लगातार राज्यसभा अपना प्रवर सदन (हाउस आफ एल्डर्स) अथवा राज्यों की परिषद होने का चरित्र खोती जा रही है जबकि संविधान-निर्माताओं ने उसकी इसी रूप में कल्पना की थी। राजनीतिक पार्टियों को राज्यसभा के संविधान में निहित चरित्र को फिर से अर्जित करने के लिए प्रेरित करना होगा। राज्यसभा के प्रत्याशियों की न्यूनतम आयु 40 वर्ष की जानी चाहिए।

संविधान सभा के सदस्यों में से एक श्री के. संथानम ने इस विषय में सन् 1971 में कहा था-

"इस समय राज्य सभा का चुनाव विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य करते हैं। अगर विधान सभा सदस्यों द्वारा पार्टी व्हिप के बिना स्वतंत्रता से मतदान करने की परम्परा विकसित हो गई होती तो इससे राज्यसभा को अनुभवी सदस्य प्राप्त होते लेकिन व्यवहार में पार्टी के मुखियाओं द्वारा नामांकन का ही नियम ही बन गया है। इसी वजह से अमेरिका में सीनेट के लिए विधान सभाओं द्वारा किए जाने वाले चुनाव को प्रत्यक्ष मतदान में बदल दिया गया है। भारत में भी स्थिति ऐसी है कि नागरिक निकायों और पंचायती राज संस्थाओं द्वारा राज्यसभा के चुनाव किए जाने की हिमायत की जानी चाहिए। प्रत्याशी की न्यूनतम आयु 40 वर्ष निर्धारित की जाए और उसकी योग्यता होनी चाहिए विधान सभा या लोकसभा की पांच वर्ष की सदस्यता या किसी एक पेशे में पन्द्रह वर्ष का अनुभव या उद्योग, ट्रेड यूनियन आन्दोलन अथवा ऐसी ही किसी गतिविधि में इतना ही अनुभव।''

(17) स्थायी संसदीय समिति

दोनों सदनों की एक स्थायी संसदीय समिति बनाई जानी चाहिए जो चुनाव-सुधारों सहित संसदीय एवं संवैधानिक सुधारों की निरन्तर समीक्षा करके अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करती रहे।

कोई भी व्यवस्था, चाहे कितनी भी पूर्ण क्यों न हो, कारगर नहीं हो सकती अगर उसको कार्यान्वित करने के लिए जिम्मेदार व्यक्ति निष्कपट, ईमानदार और देश से प्रेम करने वाले न हों।

• चिमन भाई मेहता

प्रत्याशीरहित चुनाव हों

असल सवाल यह है कि बूथ कब्जे, जाली मतदान और सत्ता-राजनीति के साथ धन का गठजोड़ क्यों? जो गुंडे बूथ कब्जे करते हैं उनको वास्तव में जातिवाद, साम्प्रदायिकता और धन की ताकत से शक्ति मिलती है। यह इस मुद्दे का मर्म-बिन्दु है। मौजूदा चुनाव-प्रणाली इन सभी बुराइयों को बढ़ावा देती है। जातिवाद और साम्प्रदायिकता पर प्रहार करने वाले चुनाव-सुधारों के लिए वर्तमान चुनाव-प्रणाली को हटाना होगा। प्रत्याशियों के नामांकन के साथ ही जातिवाद और साम्प्रदायिकता पूरी तरह उभर आते हैं। इसलिए प्रत्याशीरहित, दूसरे शब्दों में व्यक्तिरहित, और मतप्राप्ति पर आधरित चुनाव-सुधारों को मौजूदा चुनाव-प्रणाली का स्थान लेना होगा। यदि ऐसा नहीं किया गया तो ऊपर बताई गई सामन्ती बुराइयां और अधिक मजबूत होंगी। चुनाव-सुधार की सारी बातें बेअसर होकर रह जाएंगी।

केवल दल के नाम पर प्रत्याशीरहित यानी व्यक्तिरहित चुनाव लड़ने वाले राजनीतिक दल विधान सभाओं में अपने जीती गई सीटों के आधार पर ही अपने प्रतिनिधि घोषित करेंगे। प्रत्याशीरहित चुनाव में केवल दल को ही विजेता घोषित किया जाएगा। लेकिन तब विधानसभाओं में जाने वाले प्रत्याशियों की घोषणा कैसे की जाएगी? चुनाव-प्रक्रिया शुरू होने के साथ ही पहले से क्रमवार प्रत्याशियों की सूचियां प्रकाशित कर दी जानी चाहिए ताकि मतदाताओं को मालूम हो कि पार्टी विभिन्न चुनाव-क्षेत्रों में चुनाव जीतने पर वरीयता क्रम से अपनी सूची में सम्मिलित प्रत्याशियों को सदन में भेजेगी। इससे राजनीतिक पार्टियों के मनमाने व्यवहार में कमी आएगी। उदाहरण के लिए, अगर दिल्ली में भाजपा ने एक ही सीट जीती हो तो घोषित सूचि में सबसे पहले नम्बर के प्रत्याशी को विजेता घोषित किया जाएगा। इसी तरह अगर कांग्रेस को दिल्ली में एक ही सीट मिल पाई हो तो उनकी चुनावी सूची में से भी सबसे पहले नम्बर पर दिए गए प्रत्याशी को जीता हुआ माना जाएगा। इस प्रकार पार्टियां इस बात का ध्यान रखेंगी कि उनके सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधियों के नाम सूची में सबसे पहले आएं। इसको कुछ देशों में प्रचलित आनुपातिक प्रतिनिधित्व और सूची पद्धति के साथ जोड़कर नहीं देखना चाहिए। आनुपातिक प्रतिनिधित्व में राजनीतिक पार्टियों को देश भर में मिले कुल मतों के अनुपात में सदन में सीटें बांट दी जाती हैं। आनुपातिक प्रतिनिधित्व भारत के लिए उपयुक्त नहीं है क्योंकि अगर यहां कानूनन आनुपातिक प्रतिनिधित्व की इजाजत दे दी गई तो कई धर्मों और जातियों की ऐसी राजनीतिक पार्टियां उभर सकती हैं जिनमें अन्य धर्मों और जातियों के व्यक्तियों को प्रवेश न मिले।

जाति के निरन्तर बढ़ते प्रभाव के कारण जाति के आधार पर चुनकर आने वाले राजनेताओं ने प्रशासन का महत्व कम किया है, संसदीय प्रतिभा के स्तर को गिराया है और देश के सामाजिक-राजनीतिक जीवन को दूषित किया है। और इन नेताओं के कार्यकलापों का उद्देश्य सत्ता पाना, सत्ता में बने रहना, पारिवारिक शासन और धन एकत्रित करना होता है। चुनाव सुधार जातिवाद और साम्प्रदायिकता को पूरी तरह मिटा नहीं सकते तो भी बहुत बड़ी हद तक उन पर अंकुश लगा सकते हैं। सुधारों को केवल बूथ कब्जे रोकने और राज्य द्वारा उम्मीदवारों का चुनाव-खर्च उठाने तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए।

अधिकांश राजनीतिक दलों में अराजकतापूर्ण व्यवहार हो रहा है। उनमें ऊपर से नेता थोपे जाते हैं और मनमाने ढंग से निर्णय लिए जाते हैं। चुनाव सुधारों के साथ ही राजनीतिक दलों के विषय में भी एक कानून बनाया जाना चाहिए जिसके अनुसार इन दलों में आंतरिक लोकतंत्र होना आवश्यक हो।

चुनाव कानून में यह प्रावधान भी होना चाहिए कि अगर अगले छह महीनों में आम चुनाव न होने वाले हों तो विधानसभाओं के रिक्त स्थान तीन महीने के अंदर भरे जाएं। •

• देवदत्त

चुनाव सुधार समाज की ताकत से ही संभव

हर चुनाव प्रणाली में अनुचित साधनों का प्रयोग तो अन्तर्निहित बुराई के रूप में बना ही रहता है। ऐसी बातों से मुक्त प्रणाली बनाना संभव ही नहीं है। मानवीय मूल्यों की आज की स्थिति में चुनाव प्रणाली सहित, हर प्रणाली का अधूरा होना स्वाभाविक है। लेकिन भारत में 1952 में संविधन के लागू होने के बाद 1952 के पहले चुनाव से अब तक चुनावों में गड़बड़ी हद से ज्यादा बढ़ गयी है। इस का सबसे दुखद पक्ष यह है कि सभी सत्तारूढ़ दल, ख़ास तौर से कांग्रेस, अपने निहित स्वार्थों के तहत इस बुराई को निरन्तर प्रश्रय देती रही है। यह दुखद तथ्य इस बात से भी साबित होता है कि बीस साल तक यानी 1967 से 1988 तक तमाम राजनीतिक दल इस बुराई को समाप्त करने के मामले में टाल-मटोल करते रहे। जब वे विपक्ष में रहते तो चुनाव सुधरों की मांग करते, जब सत्ता पा जाते तो इस मामले में ढिलाई करने लगते। पिछले दिनों जरूर सत्ताधारी दल ने चुनाव सुधरों का मामला उठाया, लेकिन ऐसा इसलिए किया गया कि इस दल के अन्दर ही चुनाव सम्बन्धी भ्रष्टाचार इतना हो गया था कि दल के अस्तित्व को ही खतरा पैदा हो गया था।

हमारा यह आरोप कि सत्तारूढ़ या अन्य दल चुनाव सुधारों का इस्तेमाल निहित स्वार्थों के लिए करते हैं, इस बात से भी सिद्ध होता है कि जब जनता के दबाव से चुनाव सुधारों पर काम शुरू होता भी है, तब भी प्रस्ताव इतने सतही होते हैं कि असली समस्या को छूते तक नहीं। उदाहरण के लिए, मतदान की आयु कम करना सुधार नहीं, महज चुनाव के क्षेत्र का विस्तार करने का प्रयास है। इलेक्ट्रानिक वोटिंग मशीनों का इस्तेमाल और मतदाताओं को बहु-उद्देश्यीय पहचान पत्र जारी करना किसी भी तरह सुधार नहीं कहे जा सकते। गंभीरता से चुनाव न लड़ रहे उम्मीदवारों को बाहर करना या समाप्त करना जरूर एक मामूली सुधार है। लेकिन क्या यह वाकई चुनावों में गड़बड़ी का महत्त्वपूर्ण मुद्दा है? चुनावों को गुन्डागर्दी, पैसे और सरकारी तन्त्र के दुरुपयोग तथा सामाजिक प्रभावों से मुक्त रखने के लिए कुछ भी नहीं किये जाने से यह साफ हो जाता है कि राजनीतिक दलों को सच्चे चुनाव-सुधारों से कुछ लेना-देना नहीं है।

सच्चाई तो यह है कि हम सामान्यत: जिन बातों को निर्विवाद रूप से 'चुनावों में अनुचित साधनों का उपयोग' मानते हैं, वे संविधान और 1950 और 1951 के जन-प्रतिनिधित्व अधिनियमों के तहत काम कर रही चुनाव प्रणाली की कमियां नहीं हैं। **चुनावों में गुन्डागर्दी, पैसे, सरकारी तन्त्र और प्रचार माध्यमों का दुरुपयोग उस सामाजिक माहौल की उपज है, जिसमें चुनाव कराए जाते हैं। इनका चुनाव प्रणाली से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्या चुनाव कानून बदलने से सामाजिक वातावरण बदल सकेगा?** चुनाव सुधारों पर हो रही सारी बहस मुख्य सवालों को नहीं उठा पा रही। समस्या तो यह है कि सामाजिक वातावरण चुनाव प्रक्रिया को दूषित कर रहा है। इसलिए जरूरत इस बात की है कि सामाजिक वातावरण पर ध्यान दिया जाए। 1951 में जिन सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों, आर्थिक स्थित्तियों और मान्यताओं के दौर में चुनाव कानून बनाए गए थे, उन मूल्यों, परिस्थितियों और मान्यताओं में गुणात्मक परिवर्तन आ चुके हैं। पैसे और प्रचार माध्यमों के दुरुपयोग और गुन्डागर्दी से भरतीय राजनीति में आई सड़न का पता चलता है। यह भ्रष्टाचार का ही नहीं, पतन और सड़न का प्रश्न है। यह पतन और सड़न राजनीति का सामान्य चरित्र बन गयी है। भ्रष्टाचार तो केवल विशेष समय या स्थान में सीमित बुराई है। इस सड़न ने चुनावों को दूषित कर दिया है। ऐसी सड़ी-गली व्यवस्था में सुधारों की

घुट्टी से समस्या बढ़ती है, कम नहीं होती क्योंकि सुधारों के पीछे यह मान लिया जाता है कि एक खास स्थिति तक सामाजिक व्यवस्था ठीक-ठीक है और किसी छोटी-सी बुराई के लिए सुधार लागू होने है।

आज सामाजिक वातावरण और चुनाव प्रणाली एक-दूसरी की विरोधी बन गयी हैं। कानूनी तरीके से बुराई की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ने वाली चुनाव प्रणाली इस वातावरण में निश्चय ही भ्रष्ट हो जाएगी और उसका दुरुपयोग होगा। यह बुराई इसलिए भी बढ़ेगी क्योंकि चुनाव प्रणाली सहित हमारी सामाजिक व्यवस्था तथा सत्ता और समाज के शिखर पर बैठे संभ्रान्तजन आज भी औपनिवेशिक प्रभाव के जहर से मुक्त नहीं हो पाए हैं। इसलिए अगर हम बेहतर विधानसभाएं, बेहतर संसद और बेहतर राजनीति चाहते हैं तो हमें कानूनों की बजाय समाज पर ध्यान देना होगा। सामाजिक शक्तियों पर जोर देने का मतलब केवल शिक्षा के स्तर और इसे बढ़ावा देने तक सीमित नहीं है। शिक्षा का चुनावों के बेहतर संचालन से सीधा सम्बन्ध नहीं है। अनुभव से यही साबित हुआ है कि उच्च-शिक्षित लोग भी चुनाव प्रणाली का सही उपयोग नहीं करते। उदाहरण के लिए, महाराष्ट्र में 1972 के विधान परिषद चुनावों में स्नातक क्षेत्र से 12,836 वोट गए, जिनमें 372 अवैध पाए गए। इसी परिषद के लिए शिक्षक क्षेत्र से, 1972 में ही, कुल 10,872 वोट डाले गए, जिनमें 361 अवैध पाए गए। विरोधाभास यह लगता है कि 1971 में एक क्षेत्र में लोकसभा चुनावों में पड़े साढ़े तीन लाख वोटों में केवल 6,485 वोट अवैध पाये गए।

मतदाताओं को शिक्षित करने के कार्यक्रम चलाकर भी यह समस्या नहीं सुलझेगी। इन कार्यक्रमों में भी यह पहले से मान लिया जाता है कि राजनीतिक प्रक्रिया में कुछ आदर्शों और मूल्यों का अभी सम्मान किया जाता है। हो सकता है कि उपर्युक्त व्यावहारिक कार्यक्रमों का कुछ लाभ भी हो लेकिन यह राज्य पर सामाजिक व्यवस्था के नियन्त्रण के उद्देश्य से चलाए जाने वाले आन्दोलन का विकल्प नहीं बन सकते। चुनाव सुधारों को महज आग बुझाने की दमकल सेवा माना जा सकता है, आग के मूल कारण पर इनका नियन्त्रण नहीं है। साठ या सत्तर के दशक तक चुनाव सुधारों से कुछ फर्क पड़ सकता था, लेकिन ऐसे उचित समय पर, कांग्रेस या विपक्षी दल, किसी ने भी सही कदम नहीं उठाया। उन्होंने बहुत अच्छा अवसर गंवा दिया। अस्सी और नब्बे के दशक में ये उपाय तभी सफल हो सकते हैं जब इन्हें समाज को ताकतवर बनाने के ज्यादा व्यापक और बुनियादी प्रयासों से जोड़ा जाए। तभी गुन्डागर्दी, पैसे, प्रचार माध्यमों और सत्ता के दुरुपयोग को रोका जा सकता है।

संचेतना के स्वामित्व तथा अन्य ब्यौरे के विषय में विज्ञप्ति

1. प्रकाशन का स्थान - दिल्ली
2. प्रकाशन की अवधि - त्रैमासिक
3. मुद्रक का नाम और राष्ट्रीयता
   संदीप सिंह, भारतीय
   एच-108 शिवा जी पार्क, दिल्ली - 26
4. प्रकाशक का नाम और राष्ट्रीयता
   संदीप सिंह, भारतीय
   एच - 108, शिवाजी पार्क, दिल्ली - 26
5. सम्पादक का नाम और राष्ट्रीयता।
   डा. महीप सिंह, भारतीय
   एच - 108, शिवाजी पार्क, दिल्ली - 26
6. उन व्यक्तियों के नाम और पते जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयर होल्डरों के नाम और पते, जो पंजी के एक प्रतिशत से अधिक शेयर रखते हों।
   श्रीमती एस. के. सिंह, भारतीय
   एच - 108, शिवाजी पार्क, दिल्ली - 26

मैं संदीप सिंह इसके द्वारा घोषित करता हूं कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिक से अधिक जानकारी में और मेरे विश्वास में सही है।

(ह.) संदीप सिंह

• महीप सिंह

प्रो. पूरन सिंह बनाम अध्यापक पूर्ण सिंह

हिन्दी की निबंधशैली के प्रणेता और पंजाबी नयी कविता के जनक

द्विवेदी युग की उपदेशात्मकता, इतिवृत्तात्मकता या नीरस निर्वैयक्तिकता उनकी रचनाओं में नहीं है। भावना और कल्पना का एक ऐसा संयोग उनकी रचनाओं में है, जो छायावाद की पूर्व भूमिका है। और विचारों की ऐसी गतिशीलता और गहनता है जो आगे चलकर गांधीवाद और प्रगतिवाद में विकसित होती है। यूरोप की मशीनी सभ्यता की जो प्रतिक्रिया टालस्टाय, रस्किन और बाद में गांधी जी की रचनाओं में दिखाई दी थी, वह पूर्ण सिंह के निबन्धों में बड़ी सघनता से प्राप्त है।

प्रो. पूरन सिंह को पंजाब का अलबेला कवि कहा जाता है। उन्होंने पंजाबी कविता को मुक्तछंद में ऐसा रंग रूप दिया जो समकालीन योरोपीय कविता का था। उनका अलबेलापन केवल पंजाबी कविता के क्षेत्र में ही नहीं, उनके हिन्दी निबन्धों और अंग्रेजी की रचनाओं में भी दिखाई देता है।

प्रो. पूरन सिंह की यह मस्तीभरी प्रकृति उनके सम्पूर्ण जीवन में भी दिखाई पड़ती है। उनका जन्म 17 फरवरी 1881 को ऐबटाबाद (पश्चिम पंजाब) में हुआ था। उनका देहान्त 31 मार्च 1939 को हुआ। उन्हें मात्र पचास वर्ष की आयु प्राप्त हुई। परन्तु इस अवधि में ही उन्होंने पंजाबी, अंग्रेजी और हिन्दी में जो साहित्य-सृजन किया उसकी गुणवत्ता का अनुमान तो इसी बात से लगाया जा सकता है कि हिन्दी में प्रकाशित उनके मात्र छह निबंधों ने उन्हें हिन्दी निबन्ध साहित्य में अमर स्थान का अधिकारी बना दिया है।

प्रो.पूरन सिंह का व्यक्तित्व एक अलबेला व्यक्तित्व था। उनके ऐसे व्यक्तित्व का साक्ष्य उनके हिन्दी निबंध देते हैं, परन्तु पंजाबी कविताओं में यह रंग बड़े अनूठे ढंग से उभरता है। वे मूलतः विज्ञान (रसायनशास्त्र) के विद्यार्थी थे। सन् 1900 में रसायनशास्त्र की उच्च शिक्षा लेने के लिए जापान गये। वहां जापानी जीवन-पद्धति और विचार-प्रणाली से गहरा तादात्म्य स्थापित किया। सन् 1902 में तोक्यो में स्वामी रामतीर्थ से भेंट हुई। उनसे इतने प्रभावित हुए कि संन्यास धारण कर लिया। सन् 1904 में भारत लौटे। कलकत्ता में देश की स्वतन्त्रता के लिए जोरदार भाषण दिया और गिरफ्तार कर लिये गये। उसी वर्ष के अंत में मरणासन्न बहन की अंतिम इच्छा की पूर्ति के लिए विवाह कर लिया। सन् 1912 में पंजाबी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार भाई वीर सिंह से भेंट हुई। उस सम्पर्क का प्रभाव यह हुआ कि सिख धर्म में वापस आ गये।

उनके अलबेले जीवन का दूसरा पहलू उनके जीविकोपार्जन से जुड़ा हुआ है। प्रो. पूरन सिंह ने अपने जीवन में अनेक नौकरियां और धंधे किये। परन्तु अपने स्वाभिमान और स्वतन्त्र प्रकृति के कारण कहीं टिक नहीं सके। विक्टोरिया डायमंड जुबली टेक्नीकल इन्स्टीट्यूट की प्रिंसिपली से लेकर ग्वालियर और जम्मू-कश्मीर के महाराजाओं के पास नौकरी की किन्तु स्वाभिमान को रत्ती भर भी चोट लगी कि नौकरी को लात मार दी। सन् 1928 में पंजाब के शेखूपूरा जिले में रोशा घास का एक फार्म लगाया। घास पांच-पांच फुट ऊंची हो गई। पूरन सिंह बड़े आनन्द और उल्लास से उसे देखते और अपने प्रयोग की सफलता पर प्रसन्न होते। परन्तु संयोग से ऐसी बाढ़ आयी कि सारी फसल नष्ट हो गयी। उन्होंने उस बाढ़ से केवल अपनी पांडुलिपियों की रक्षा की और फार्म के बीच बने अपने चौबारे पर बैठे, जलप्लावन का आनन्द लेते हुए बुल्लेशाह की काफी गाते रहे—

भला होया मेरा चरखा टुट्टा,
जिंद अजाबों छुट्टी।

(अच्छा हुआ मेरा चरखा टूट गया और जीवन पीड़ा से मुक्त हो गया।)

आसपास के गांवों के लोग ऊंटों पर चढ़कर उनके पास आये और बोले-"सरदार जी, आप हमारे गांव चले चलिए।''

पूरन सिंह ने अपने नौकर-चाकर भेज दिये और स्वयं गाने लगे-

हर आन में हर बात में हर ढंग में पहचान।
आशिक है तो दिलबर को हर इक रंग में पहचान।
तनहा न उसे जान, अपने दिल तंग में पहचान
हर बाग में हर दस्त में हर रंग में पहचान।।

प्रो. पूरन सिंह के जीवन के अंतिम दिन काफी कष्टमय थे। आर्थिक संकट के साथ ही साथ उन्हें तपेदिक का रोग भी हो गया। इसी रोग से उनका देहावसान हुआ।

प्रो. पूरन सिंह अप्रतिम प्रतिभा के स्वामी थे। वे रसायन विज्ञान की उच्च शिक्षा लेने जापान गये थे, परन्तु भारत की आज़ादी के दीवानों से मिलकर उन्होंने वहां से अंग्रेजी में एक अखबार निकाला-'थंडरिंग डान'। वहीं पर अंग्रेजी में एक उपन्यास लिखा था जिसमें अंग्रेज शासकों के अत्याचार तथा भारत की सामाजिक अवस्था का चित्रण था। यह उपन्यास जापान में ही छपा था, जिसकी कोई प्रति आज उपलब्ध नहीं है।

पंजाबी में उनके तीन संग्रह उपलब्ध हैं-खुल्हे मैदान, खुल्हे घुंड और खुल्हे असमानी रंग। जिस समय पूरन सिंह ने पंजाबी में लिखना प्रारम्भ किया, भाई वीर सिंह का प्रभाव सर्वत्र छाया हुआ था। भाई वीर सिंह ने पंजाबी कविता को महाकाव्य की गरिमा भी दी और रहस्यवादी प्रकृति-चित्रण से भरपूर ऐसी मुक्तक कविताएं भी दीं-जिन्होंने पंजाबी कविता को तत्कालीन भारतीय कविता के साथ ला खड़ा किया। परन्तु प्रो. पूरन सिंह ने उसे छंद के बंधन से मुक्त करके ऐसा मानवीय संस्पर्श दिया कि पंजाबी कविता को अपने मध्य पहली बार विश्व कविता का आभास हुआ। पूरन सिंह ने पश्चिमी साहित्य का गहन अध्ययन किया था। अमेरिकी कवि वाल्ट व्हिटमैन का उन पर बहुत प्रभाव था। हिन्दी में प्रकाशित उनके छः निबन्धों में एक निबन्ध इस कवि पर भी है-'अमेरिका का मस्त जोगी कवि वाल्ट व्हिटमैन।' पूरन सिंह की कविताओं में एक विचित्र-सी मस्तीभरी सरलता दिखाई देती है, परन्तु उस सरलता के नीचे सघन मानवीय अनुभूति संचरित होती है। 'हनुमान' शीर्षक से लिखी उनकी एक कविता का हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है-

दहकती एक माला लालों की
हनुमान को लंका के राजा ने भेंट की,
लाखों करोड़ों की वह माला
जब दमकता कहर कमाल से मनका मनका
कैसी चमकती डोरी,
पर हनुमान को तो खाने का स्वाद था
तोड़-तोड़ देखता, इनमें कोई गिरी?
गिरी न निकली कोई
तोड़-तोड़ देखता
यह क्या? इसका दिल नहीं?
चेहरे इनके कितने दमकते थे।
अंदर इनके कहीं राम नाम नहीं?
यह लाली कैसी चढ़ी थी।
दंग हो कर तोड़ता और फेंकता
माणिक् निर्जीव थे।
('खुल्हे मैदान' से)

धन की निरर्थकता पर कैसा सहज मानवीय व्यंग्य है।अंग्रेजी में पूरन सिंह ने बुक ऑफ टेन मास्टर्स, सिस्टर्स आफ दि स्पिनिंग व्हील, नरगिस, सेवन बास्केट्स आफ फ्लावर्स, स्पिरिट आफ ओरिएन्टल पोयट्री, स्टोरी आफ स्वामी राम आदि अनेक पुस्तकें लिखीं।

हिन्दी संसार प्रो. पूरन सिंह को 'अध्यापक पूर्ण सिंह' के रूप में जानता है। हिन्दी का कौन-सा विद्यार्थी है जिसने अपने पाठ्यक्रम में अध्यापक पूर्णसिंह का कोई न कोई

निबंध न पढ़ा हो। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा था-

'सरस्वती' के पुराने पाठकों में से बहुतों को अध्यापक पूर्ण सिंह के लेखों का स्मरण होगा। उनके तीन-चार निबन्ध ही उक्त पत्रिका में निकले। उनमें विचारों और भावों को अनूठे ढंग से मिश्रित करने वाली एक नई शैली मिलती है। उनकी लाक्षणिकता हिन्दी गद्य साहित्य में एक नई चीज़ थी। भाषा की बहुत कुछ उड़ान, उसकी बहुत कुछ शक्ति 'लाक्षणिकता' में देखी जाती है। भाषा और भाव की एक नई विभूति उन्होंने सामने रखी। (पृष्ठ 500)

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में अध्यापक पूर्ण सिंह के लिखे तीन निबन्धों का उल्लेख किया है- 'मज़दूरी और प्रेम', 'सच्ची वीरता' और 'आचरण की सभ्यता'। इनके अतिरिक्त उनके तीन निबन्ध और हैं- 'कन्यादान',' पवित्रता' और 'अमेरिका का मस्त जोगी वाल्ट व्हिटमैन'। इनमें से अधिकांश निबंध सन् 1909 से 1912 के दौरान प्रकाशित हुए। बीसवीं शती के इन प्रारंभिक वर्षों में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में साााहित्य की नवीन विधाएं पश्चिमी साहित्य की प्रेरणा और प्रभाव से विकसित हो रही थीं। निबंध भी एक ऐसी ही विधा थी। हिन्दी में 'निबंध' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'एस्से' (essay) शब्द के समानार्थी के रूप में प्रारम्भ हुआ। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध निबंधकार जानसन ने निबंध की परिभाषा करते हुए कहा था, "मुक्त मन की मौज, अनियमित, अपरिपक्व रचना, न कि नियमबद्ध और व्यवस्थित कृति"। निबंध के लक्षणों में स्वच्छन्दता, सरलता, आडम्बरहीनता, घनिष्ठता और आत्मीयता के साथ लेखक के वैयक्तिक आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण का भी उल्लेख किया जाता है। परन्तु यह बात भी सभी साहित्य-पारखी जानते हैं कि निबंध-लेखक की अनियमितता में भी एक नियम होता है और हर लेखक अपनी राह स्वयं बनाता है।

जब निबंध साहित्य की इस प्रकार की परिभाषाएं बन रही थीं, जब अभी हिन्दी निबंध का कोई स्वरूप निर्मित नहीं हुआ था, पूर्ण सिंह नितान्त अपनी शैली, अपना विषय और अपना रंग लेकर आये और उन्होंने अपने गिनेचुने निबंधों से सभी को चमत्कृत कर दिया। पूर्ण सिंह की चर्चा एक श्रेष्ठ आत्मव्यंजक निबंधकार के रूप में की जाती है। वे द्विवेदी काल के लेखक थे। परन्तु द्विवेदी युग की उपदेशात्मकता, इतिवृत्तात्मकता या नीरस निर्वैयक्तिकता उनकी रचनाओं में नहीं है। भावना और कल्पना का एक ऐसा संयोग उनकी रचनाओं में है, जो छायावाद की पूर्व भूमिका है। और विचारों की ऐसी गतिशीलता और गहनता है जो आगे चलकर गांधीवाद और प्रगतिवाद में विकसित होती है। यूरोप की मशीनी सभ्यता की जो प्रतिक्रिया टालस्टाय, रस्किन और बाद में गांधी जी की रचनाओं में दिखाई दी थी, वह पूर्ण सिंह के निबन्धों में बड़ी सघनता से प्राप्त है। यह अपने आप में कम महत्वपूर्ण बात नहीं है कि गांधी जी से पहले पूर्ण सिंह ने चरखे और हस्त-उद्योग की मशीनी उत्पादन से होती हुई टकराहट को अनुभव किया और अपनी लेखनी द्वारा उसे सशक्त ढंग से रूपायित किया। पूंजीवाद के उभरते युग में उन्होंने श्रम और श्रमिक के महत्व को रेखांकित किया। पूंजीवादी व्यवस्था में हर वस्तु पैसे से तौली जाती है। परन्तु पूर्ण सिंह उस आध्यात्मिक समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें मशीन का नहीं, मनुष्य का मूल्य है। 'मज़दूरी और प्रेम' में वे कहते हैं—

"आदमियों की तिज़ारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाफ की कलों का दाम तो हज़ारों रुपया है, परन्तु मनुष्य कौड़ी के सौ-सौ बिकते हैं। सोने और चांदी की प्राप्ति से जीवन का आनन्द नहीं मिल सकता। सच्चा आनन्द तो मुझे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाए तो फिर स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा नहीं, मनुष्य पूजा ही सच्ची ईश्वर पूजा है...... मज़दूर और मज़दूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। बिना काम,बिना मज़दूरी,बिना हाथ के कला-कौशल के विचार और चिंतन किस काम के। सभी देशों के इतिहास से सिद्ध है कि निकम्मे पादड़ियों, मौलवियों, पंडितों और साधुओं का दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर चिन्तन, अंत में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और मुंह पर मज़दूरी की धूल नहीं पड़ने पाती वे धर्म और कला कौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते।"

पूर्ण सिंह के निबंधों में व्यक्त विचार अपने समय से बहुत आगे के विचार थे। रूढ़ियों और परम्पराओं में जकड़े हुए लोगों के लिए उन विचारों को समझना और आत्मसात

करना उस समय बहुत कठिन था, आज भी सरल नहीं है। हमारे देश में प्राचीन काल से ही साधु-संन्यासियों का जीवन श्रमहीन और परजीवी जीवन बन कर रहा है। ऐसे साधु -संन्यासी, संत और फकीर दूसरों की कमाई पर जीकर अपने लिए सभी प्रकार की भौतिक सुविधाएं और सम्मान अर्जित करते हैं। पूर्ण सिंह ने ऐसे परजीवियों के लिए कहा–

"बिना मज़दूरी किये फ़कीरी का उच्च भाव शिथिल हो जाता है, फकीरी भी अपने आसन से गिर जाती है, बुद्धि बासी पड़ जाती है। बासी चीज़ें अच्छी नहीं होतीं। कितने ही उम्र भर बासी बुद्धि और बासी फकीरी में मग्न रहते हैं। परन्तु इस तरह मग्न होना किस काम का.......निकम्मे बैठे हुए चिन्तन करते रहना,अथवा बिना काम किये शुद्ध विचार का दावा करना मानो सोते-सोते खर्राटे मारना है। जब तक जीवन के आरम्भ में पादड़ी, मौलवी, पंडित और साधु -संन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लेकर मज़दूरी न करेंगे तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं, तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि अनन्त काल बीत जाने तक मलिन, नानसिक जुआ खेलती ही रहेगी। उनका चिंतन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनका लेख बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है।"

हमारे देश में मेहनत, मजदूरी, श्रम, सेवा करने वाले लोगों को आम तौर पर कभी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा गया। सामाजिक स्तर पर उन्हें निम्न श्रेणी का व्यक्ति समझा जाता रहा और धार्मिक स्तर पर उन्हें शूद्र कहकर उनसे वे सभी मानवीय अधिकार छीन लिये गये जिनके कारण उन्हें अपने जीवन की कुछ सार्थकता का अहसास हो सकता था। श्रमजीवी व्यक्ति की इस विडम्बना पर अपना गहरा सरोकार व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा था—

"जब हमारे यहां के मजदूर, चित्रकार तथा लकड़ी और पत्थर पर काम करने वाले भूखों मरते हैं तब हमारे मंदिरों की मूर्तियां कैसे सुन्दर हो सकती हैं? ऐसे कारीगर तो यहां शूद्र के नाम से पुकारे जाते हैं। याद रखिए बिना शूद्र-पूजा के मूर्ति-पूजा, किंवा, कृष्ण और शालिग्राम की पूजा होना असंभव है। सच तो यह है कि हमारे धर्म बासी ब्राह्मणत्व के छिछोरेपन से दरिद्रता को प्राप्त हो रहे हैं। यही कारण है कि जो आज हम जातीय दरिद्रता से पीड़ित हैं।"

इस लेख में पूर्ण सिंह ने गुरु नानक के जीवन से सम्बन्धित भाई लालो और मलिक भागो वाले प्रसंग का उल्लेख किया है। श्रमिक भाई लालो की सूखी रोटी से दूध और धनवान मलिक भागो के पकवान से खून निकलने की जनश्रुति की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है–

"भागो का हलवा-पूरी उन्होंने एक हाथ में और भाई लालो की रोटी दूसरे हाथ में लेकर दोनों को जो दबाया तो एक से लहू टपका और दूसरे से दूध की धारा निकली। बाबा नानक का यही उपदेश हुआ जो धारा भाई लालो की रोटी से निकली थी वही समाज का पालन करने वाली दूध की धारा है, यही धारा शिव की जटा से और यही धारा मज़दूरों की उंगलियों से निकलती है।"

पूर्ण सिंह के भावात्मक कहे जाने वाले निबन्धों में गहन प्रगतिशील दृष्टि प्रतिबिंबित होती है। उद्योगों के विशाल पैमाने पर किए जाने वाले मशीनीकरण के उत्तर में गांधी ने कुटीर उद्योगों पर बल दिया था। भारत जैसे बहुसंख्यक किन्तु निर्धन देश के लिए किस प्रकार की अर्थव्यवस्था उपयोगी हो सकती है, इस ओर पूर्ण सिंह ने भारतीय राजनीति के दृश्य पटल पर गांधी जी के आगमन से पूर्व (सन् 1912 में) ये विचार व्यक्त किये थे—

"एक तरफ दरिद्रता का अखंड राज्य है, दूसरी तरफ अमीरी का चरम दृश्य। परन्तु अमीरी भी मानसिक दुःखों से विमर्दित है। मशीनें बनाई तो गयी थीं मनुष्यों का पेट भरने लिए- मज़दूरों को सुख देने के लिए, परन्तु वह काली-काली मशीनें ही काली बनकर उन्हीं मनुष्यों का भक्षण कर जाने के लिए मुख खोल रही हैं......... भारत जैसे दरिद्र देश में मनुष्यों के हाथों की मज़दूरी के बदले कलों से काम लेना काल का डंका बजाना होगा।" (मज़दूरी और प्रेम)

पूर्ण सिंह ने अपने निबंधों के माध्यम से हिन्दी को एक नयी भाषा और शैली दी। बाद में लिखे जाने वाले अधिकांश हिन्दी निबन्ध दुरूह और दुर्बोध भाषा का सहारा लेकर लेखक की विद्वत्ता का रोब डालने में तो अवश्य सफल हुए किन्तु बहुत कम निबंधकारों के निबंध पाठ्य पुस्तकों की सीमा से बाहर निकलकर हिन्दी पाठक के साथ अपना जीवंत संवाद स्थापित कर सके। अपने समय के ड्राइंगरूम वीरों का जो व्यंग्यपूर्ण चित्र पूर्ण सिंह ने अपने एक निबंध में खींचा है, वह

आज और अधिक सार्थक दिखाई देता है-

"आजकल भारत में परोपकार करने का बुखार फैल रहा है। जिसको 105 डिग्री का बुखार चढ़ा वह आज कल के भारतवर्ष का ऋषि हो गया। आजकल भारतवर्ष में अखबारों की टकसाल में गढ़े हुए वीर दर्जनों मिलते हैं। जहां किसी ने एक-दो काम किए और आगे बढ़कर छाती दिखाई वहां हिन्दुस्तान के सारे अखबारों ने 'हीरो' की पुकार मचाई। बस एक नया वीर तैयार हो गया। यह तो पागलपन की लहरें हैं। अखबार लिखने वाले मामूली सिक्के के मनुष्य होते हैं। उनकी स्तुति और निंदा पर क्यों मरे जाते हो? अपने जीवन को अखबारों के छोटे-छोटे पैराग्राफों के ऊपर क्यों लटका रहे हो? क्या सच नहीं कि हमारे आजकल के वीरों की जानें अखबारों के लेखों में हैं? जो इन्होंने रंग बदला तो हमारे वीरों के रंग बदले, ओठ खुश्क हुए और वीरता की आशाएं टूट पड़ीं।'' (सच्ची वीरता)

पूर्ण सिंह एक जागरूक और अध्ययनशील व्यक्ति थे। उन्हें प्राचीन भारतीय संस्कृति, आधुनिक पश्चिमी विचार पद्धति और जापानी जीवन बोध का गहरा अध्ययन था। योरोप में मशीनीकरण से उत्पन्न सांस्कृतिक संकट को उन्होंने पहचाना था और उस पर अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। भारतीय जीवन के अन्तर्विरोधों पर तीखे कटाक्ष उन्होंने अपने दो निबन्धों- 'पवित्रता' और 'आचरण की सभ्यता' में किये है। रूढ़िग्रस्त मानसिकता, अर्थहीन मान्यताओं और संदर्भ-च्युत जीवन-मूल्यों के सम्बन्ध में उनकी बेलाग टिप्पणियां है। 'ब्रह्मचर्य' की बात ही लीजिए। अपने देश में इस विषय पर कितना कुछ कहा जाता है और उपदेशामृत के रूप में पिलाया जाता है। परन्तु इस बात की विश्व-परिप्रेक्ष्य में कभी व्याख्या नहीं की गयी। पूर्ण सिंह कहते हैं-

> अध्यापक पूर्ण सिंह का हिन्दी साहित्य को योगदान इतना ही नहीं है कि उन्होंने हिन्दी निबंध के विकास के उन प्रारंभिक वर्षों में निबंध के स्वरूप की रचना की और भाषा तथा शैली का उत्कृष्ट उदाहरण सामने रखा। यह योगदान, इस दृष्टि से भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि उन्होंने रूढ़िग्रस्त निरर्थक विश्वासों से चिपटे हुए अतीत के स्वर्णिम स्वप्नों में जीते हुए, और परम्परा की निर्धारित लकीरों पर आंखें बंद करके चलते हुए समाज को अपने विचारों, अपनी प्रगतिशील दृष्टि और अपनी बेबाक अभिव्यक्ति से झकझोर कर जगाने का प्रयत्न किया।

"ब्रह्मचर्य का उपदेश इस देश में प्राचीन काल से चला आया है और आजकल कोई शायद ही समाज हो, मंदिर हो, सभा हो, सत्संग हो, जहां इस देश में ब्रह्मचर्य के पालन के ऊपर उत्तम से उत्तम व्याख्यान और उपदेश न होते हों। परन्तु अपने दैनिक जीवन को देखो। ....अफ्रीका के वहशी जिनको ब्रह्मचर्य का आदर्श कभी स्वप्न में भी न आया,वे हमसे लम्बे, हमसे चौड़े और हमसे अधिक पराक्रमी हैं। इंगलैंड में जहां इस पर कभी भी इतना जोर न दिया गया, वहां के आजकल के लड़के भी हमसे अधिक लम्बे, चौड़े, बलवान, तेजवान, ज्ञानवान, विद्वान, सम्पत्तिमान, बुद्धिमान हैं। हमारी कन्याएं दुर्बल, पीले रंग की, जवानी में भी बुड्ढी के समान और उस देश की माताएं और कन्याएं 6-6 फुट ऊंची, सुर्ख और बल-तेज की हंसी लिए हुए अकेली सारे जगत को प्रात:काल चलकर घूमघाम कर शाम को घर पहुंच जाएं।···· कौन सी प्रलय आ गई कि हमारे देश में ब्रह्मचर्य का आदर्श अमली तौर पर बिल्कुल नष्ट-भ्रष्ट हो गया। नजर ही नहीं आता, मुझको देखो, इसको देखो, उसको देखो, सब जले भुने सड़े सड़ाए चेहरे लिए हुए आर्यऋषियों का नाम ले रहे हैं। बस महाराज ब्रह्मचर्य के इस विचित्र उपदेश को बंद करो जिसमें तुमने स्त्री जाति का तिरस्कार किया।'' (पवित्रता)

धार्मिक पाखंड, अज्ञान, अंधविश्वास और प्रगल्भता आदि बातों पर पूर्ण सिंह जैसा मस्त मौला, निर्भीक और सूझवान व्यक्ति ही इतने बेलाग ढंग से लिख सकता था। 'आचरण की सभ्यता' निबंध में पूर्ण सिंह ने मानवीय आचरण पर नितांत नये ढंग से विचार किया है। धर्मग्रंथों द्वारा मनुष्य को अच्छे आचरण की प्राप्ति होती है या अच्छे आचरण द्वारा धर्म बनता है और धर्मग्रंथों की रचना होती है?.....यहीं वे जीवन से जूझते और जीवन में रचे-बसे कर्मशील व्यक्ति में से आचरण को प्रत्यक्ष हुआ देखते हैं-

"सच्चा आचरण--प्रभावशील, अचल-स्थिति-संयुक्त आचरण--न तो साहित्य के लम्बे व्याख्यानों से गढ़ा जा सकता है: न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से, न अंजील से, न कुरान से, न धर्मचर्चा से, न सत्संग से। जीवन के अरण्य में घुसे हुए पुरुष के हृदय पर प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यत्न से सुनार के छोटे हथौड़े की मंद मंद चोटों की तरह, आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है।'' (आचरण की सभ्यता)

इसी निबंध में पूर्ण सिंह आचरण और धर्म के अन्त: सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए कहते हैं–

"वह आचरण जो धर्म-सम्प्रदायों के अनुच्चारित शब्दों को सुनता है, हममें कहां? जब वही नहीं तब फिर क्यों न ये सम्प्रदाय हमारे मानसिक महाभारतों के कुरुक्षेत्र बनें? क्यों न अप्रेम, अपवित्रता, हत्या और अत्याचार इन सम्प्रदायों के नाम से हमारा खून करें। कोई भी धर्म-सम्प्रदाय आचरण रहित पुरुषों के लिए कल्याणकारक नहीं हो सकता और आचरण वाले पुरुषों के लिए सभी धर्म-सम्प्रदाय कल्याण कारक हैं। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नहीं करता।'' (आचरण की सभ्यता)

अध्यापक पूर्ण सिंह का हिन्दी साहित्य को योगदान इतना ही नहीं है कि उन्होंने हिन्दी निबंध के विकास के उन प्रारंभिक वर्षों में निबंध के स्वरूप की रचना की और भाषा तथा शैली का उत्कृष्ट उदाहरण सामने रखा। यह योगदान, इस दृष्टि से भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि उन्होंने रूढ़िग्रस्त निरर्थक विश्वासों से चिपटे हुए, अतीत के स्वर्णिम स्वप्नों में जीते हुए और परम्परा की निर्धारित लकीरों पर आंखें बंद करके चलते हुए समाज को अपने विचारों, अपनी प्रगतिशील दृष्टि और अपनी बेबाक़ अभिव्यक्ति से झकझोर कर जगाने का प्रयत्न किया। पूर्ण सिंह से लेकर आज तक हिन्दी निबंध साहित्य ने अपनी विकास यात्रा के कितने पड़ाव पार किये हैं, परन्तु पूर्ण सिंह का रंग आज भी उनका अपना रंग है। हिन्दी निबंध के पंडिताऊ (और उबाऊ) वातावरण और अपाच्य अभिव्यक्ति में केवल आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबधों में ही पूर्ण सिंह की बेलाग शैली और विषय का सही विकास प्राप्त होता है।

एच-108, शिवाजी पार्क,
नयी दिल्ली - 110026

• डा. हरदयाल

यातना

महानगर की भीड़ और भागदौड़ बहुत तनाव देती है जिसका असर मन पर ही नहीं, तन पर भी पड़ता है। ऐसे-ऐसे रोग आकर ग्रस लेते हैं कि कुछ मत पूछिए। उनका इलाज करने चलिए तो डाक्टर,अस्पताल,नर्सिंग होम दिगम्बर बनाकर छोड़ देते हैं। लोभ इतना बढ़ गया है कि मुर्दे का इलाज करके भी डाक्टर कमाना चाहते हैं। जान-पहचान और मेल-मुरव्वत का कोई महत्त्व नहीं है। सीधा-सा उत्तर है- अगर घोड़ा घास से दोस्ती करेगा तो खायेगा क्या!

मुझे अपना गांव बहुत याद आता है। गांव से शहर आने वाले हर व्यक्ति को अपना गांव अक्सर याद आता है। कृष्ण ब्रज से मथुरा आकर राजा बन गये थे। फिर भी वे ब्रज को भुला नहीं पाते हैं-ऊधो! मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं। यमुना मथुरा में भी थी, लेकिन उन्हें ब्रज की यमुना का सुन्दर किनारा याद आता है। शायद उन दिनों भी शहर ने यमुना को प्रदूषित कर दिया था। मैं पहली बार जब आगरा आया था और बेलनगंज में ठहरा था तब सुबह-सुबह यमुना में नहाने-तैरने के इरादे से उसके किनारे पहुंचा था और काले-कीट जल को देखकर उल्टे पैरों लौट आया था। यमुना का जल काला-कीट गोपियों के विरह-ताप के कारण नहीं हुआ था, अपितु शहर की गन्दगी के कारण हुआ था। छह वर्ष आगरा में और पिछले तीन दशकों से दिल्ली में रहने पर भी यमुना में मैंने केवल एक बार तीस वर्ष पहले स्नान किया था- शहर में बहती यमुना में नहीं, ठेठ देहात में बहती यमुना में। अब तो गांवों में बहती यमुना का जल भी निर्मल नहीं है। कृष्ण को ब्रज की यमुना के किनारे के कुंज याद आते हैं। गायें, उनके बछड़े, गोशाला में उनका दुहा जाना याद आता है। ग्वालबालों का कोलाहल और परस्पर बाहें पकड़कर उनका नाचना याद आता है। मणि-मुक्ताओं से भरपूर कंचन की नगरी मथुरा में राज करते हुए भी ब्रज के सुख की याद जब उन्हें आती है तब उनका जी उमग आता है और तन की सुध नहीं रहती। उन्होंने ब्रज में तरह-तरह की शरारतें कीं जिन्हें नंद-यशोदा ने निबाहा लेकिन मथुरा में न शरारतें करने का अवसर है और न कोई उन्हें निबाहने वाला है? वे पछताते हैं और मौन हो रहते है।

कृष्ण की तरह मैं अपने गांव से दिल्ली आकर राजा नहीं बन गया हूं। किसी शासक की तरह मैं न तरह-तरह के बन्धनों में बंध गया हूं और न उसकी तरह असहज जीवन जीने लग गया हूं। फिर भी मुझे अपना गांव याद आता है। गांव का कच्चा घर याद आता है। शीतल-निर्मल जल देने वाला गहरा कुंआ याद आता है। बाग-बगीचे, ताल-तलैया याद आते हैं। विभिन्न ऋतुएं और उन ऋतुओं की विभिन्न फसलें और फल याद आते हैं। खण्डहर हो रहे मन्दिर याद आते हैं, जिनकी सांध्य सभाओं में प्रसाद के रूप में मिलने वाले मिष्ठान्न के प्रलोभन में महाभारत, रामायण,रामचरितमानस, श्रीमद्भागवत और विभिन्न पुराण सुने थे। पन्द्रह दिन चलने वाली रामलीला याद आती है। रामलीला के अवसर पर राम की वानर-सेना में वानर बनना याद आता है। रात को खेले जाने वाले राधेश्याम कथावाचक के नाटक याद आते हैं। नौटंकी, रासलीलाएं और भांड़ों के तमाशे याद आते हैं। सप्ताह में दो बार लगने वाली पैंठ याद आती है। उस पैंठ में तरबूज, खरबूज, आम और अमरूद के ढेर याद आते हैं। जामुन तो किसी के भी बाग में जाकर मुफ्त में तोड़ कर लाये जा सकते थे और भर-पेट खाये जा सकते थे। अपने गांव की होली याद आती है और होली पर निकलने वाली चौपई याद आती है। दिवाली याद आती है और दिवाली के खील-खिलौने याद आते हैं। अपने गांव के धूल-भरे गलियारे याद आते हैं, जिनकी न जाने कितने मिट्टी अपनी इस काया में लिप्त है। ऊपर नहीं दिखाई देती, लेकिन अन्तस में वह चन्दन की

तरह महक रही है। और भी न जाने क्या-क्या याद आता है!

आप कहेंगे कि दिल्ली में बस कर गांव को याद करना नस्ताल्जिया है। दिल्ली में गांव से अच्छा और सुखकर जीवन जी रहा हूं। पक्का मकान है। बिजली है। पानी है। पक्की सड़कें हैं। साफ-सुथरा पहनता हूं और गांव से अच्छा खाता-पीता हूं। किसी से कभी भी बात कर सकता हूं। घर में टेलीफोन लगा हुआ है। जानता हूं, इस सबके बीच गांव याद करना नस्ताल्जिया है। मैं चाहूं तो सब छोड़-छाड़कर अब भी गांव जा सकता हूं। किसने रोका है? लेकिन मैं जानता हूं कि गांव लौटना सम्भव नहीं है। गांव अब पहले जैसे नहीं रह गये हैं। वहां भी सम्पन्नता आयी है; राजनीति आयी है; आधुनिक जीवन की सुविधाएं भी आयी हैं; लेकिन इनके साथ-साथ अपराध भी बढ़े हैं। फिरौती के लिए खूब अपहरण होते हैं। सम्पन्न लोगों को खूब लूटा जाता है। दिन-दहाड़े हत्याएं हो जाती हैं और पुलिस हत्यारों का पता नहीं लगा पाती। अगर आपकी लाठी में दम नहीं है और आपकी बन्दूक में गोली नहीं है तो न आप सुरक्षित हैं; न आपकी इज्जत सुरक्षित है और न आपकी सम्पत्ति सुरक्षित है। फिर भी मुझे अपना गांव अक्सर याद आता है, बहुत याद आता है।

मुझे अपना गांव इसलिए नहीं याद आता है कि वह स्वर्ग है और दिल्ली जैसा शहर नरक है। यद्यपि अंग्रेज कवि पी. बी. शैले को लगा था कि नरक लन्दन जैसा ही होगा-

Hell is city much like London-
populous and a smoky city.

दिल्ली मुझे नरक जैसी तो नहीं लगती,लेकिन वह जनसंकुल और धुएं के धरहरे जैसी अवश्य है। जरा सुबह-शाम दिल्ली की बसों में यात्रा कीजिए, आपको नानी याद आ जायेगी। वायु इतनी धुएं से भरी हुई और प्रदूषित है कि न आप ठीक से सांस ले सकते हैं और न साफ-सुथरे आकाश, उजली धूप तथा निर्मल चांदनी के ही दर्शन कर सकते हैं लेकिन दिल्ली में रहते-रहते इस सबके हम इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि दिल्ली के सिवा और कहीं मन ही नहीं लगता। जो दिल्ली में ही पैदा हुए हैं; उनकी तो बात ही और है। मीर की तरह वे तो दिल्ली की गलियां छोड़ने की बात भी नहीं सोच सकते। विलियम वर्ड्सवर्थ को वैस्टमिन्स्टर ब्रिज से शहर अत्यन्त स्पृहणीय दीखा था-

Earth has not anything to show more fair:
Dull would be he of soul who could pass by
A sight so touching in its majesty.
This city now doth, like a garment, wear
The beauty of the morning; silent, bare,
Ships, towers, domes, theatres, and temples lie
Open unto the fields, and to the sky;
All bright and glittering in the smokeless air.

कभी दिल्ली भी ऐसी रही होगी; लेकिन आज तो किसी भी पुल पर से दिल्ली इतनी मार्मिक, इतनी भव्य,इतनी सुन्दर नहीं दिखाई देती। आज तो दिल्ली यातनादायक बन गयी है।

दिल्ली में मुझे शारीरिक सुख की अनेक सुविधाएं सुलभ हैं; लेकिन मानसिक सुख की नहीं। शारीरिक दुख तो पीड़ा मात्र होता है, लेकिन मानसिक दुख तो यातना है। असली सुख शारीरिक कम होता है, मानसिक अधिक। इसीलिए शरीर के लिए तमाम सुख-सुविधाओं के सुलभ रहने पर भी मन से दुखी रहने वाले तमाम लोग मिल जायेंगे-'तन के सौ सुख, सौ सुविधा में मेरा मन बनवास दिया-सा।' गांव से आकर किसी बड़े शहर में बसना बनवास जैसा ही अनुभव देता है। इस बनवास में वन तो है-मनुष्यों का वन; लेकिन उस वन में अपना कोई नहीं है। मनुष्यों की अकूत भीड़ में सब अपरिचित; मेरे प्रति जैसे सब उदासीन हैं। कुछ परिचित और मित्र हैं भी तो वे इतनी-इतनी दूर जा पड़े हैं कि साल-के-साल निकल जाते हैं और मिलना नहीं होता, फुर्सत से बैठकर सुख-दुख की बात नहीं की जा सकती-गप नहीं लड़ाई जा सकती है। जिसने फुर्सत से गप लड़ाने का सुख नहीं जाना वह इसे नहीं जान पायेगा। ऐसे में मन बहुत अकेला-अकेला अनुभव करता है। लगता है, यहां कोई अपना नहीं है। चारों ओर जन-समुद्र लहरा रहा है। इस जन-समुद्र में और-तो-और अपनी सन्तानें भी बहकर न जाने कहां चली जा रही हैं। मन-पंछी किनारा पाने के लिए उड़ान

भरता है और दूर-दूर तक पर मारकर हताश वहीं लौट आता है जहां से उड़ान भरी थी-'जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पर आवै।' यह अकेलापन बहुत यातनादायक है।

महानगर की भीड़ और भागदौड़ बहुत तनाव देती है जिसका असर मन पर ही नहीं, तन पर भी पड़ता है। ऐसे-ऐसे रोग आकर ग्रस लेते हैं कि कुछ मत पूछिए। उनका इलाज करने चलिए तो डाक्टर,अस्पताल,नर्सिंग होम दिगम्बर बनाकर छोड़ देते हैं। लोभ इतना बढ़ गया है कि मुर्दे का इलाज करके भी डाक्टर कमाना चाहते हैं। जान-पहचान और मेल-मुरव्वत का कोई महत्त्व नहीं है। सीधा-सा उत्तर है- अगर घोड़ा घास से दोस्ती करेगा तो खायेगा क्या !

दिल्ली जैसे महानगर में क्या आप ऐसा अनुभव नहीं करते कि आप पूर्णतः पराधीन हैं। आपके जीवन का रेशा-रेशा दूसरों के द्वारा नियन्त्रित है। बिजली आपको दूसरों से मिलती है। वह कब आयेगी, कब जायेगी-आपकी आवश्यकता या मर्जी पर यह निर्भर नहीं है। आपको बिजली उस समय नहीं मिलती, जब आपको उसकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है। और आपको उसकी आदत ऐसी पड़ गयी है कि उसका न आना यातनादायक बन जाता है। फिर आपकी बिजली कभी भी काटी जा सकती है। आपके पास बिल नहीं पहुंचा और आप पैसे जमा नहीं कर पाये तो बिना किसी चेतावनी के बिजली काट दी जाएगी। अब आप यहां-से-वहां दौड़ते फिरिये। सुनने वाला नहीं है। जब तक मुट्ठी गर्म नहीं करेंगे, आपके यहां बिजली नहीं आयेगी। मीटर-रीडर आपको बार-बार टोकेगा कि आपका मीटर खराब है। यह टोका-टोकी तब तक चलती रहेगी जब तक उसे आप चढ़ावा नहीं चढ़ा देते। या फिर ज्यादा अकड़ेंगे तो इसी बहाने आप निर्विद्युत बना दिये जायेंगे। नगर-निगम आपको पानी देगा, लेकिन कब और कितना देगा, यह उसकी मर्जी! आप जिस मकान में रह रहे हैं, नगर-निगम उस पर गृहकर लगायेगा। कितना गृहकर लगेगा, इसका निर्णय अधिकारी करेंगे। कर-निर्धारण में अधिकारी आपके तर्क और तथ्य स्वीकार नहीं करेगा। यदि आप मध्यवर्गीय व्यक्ति हैं और आपकी बंधी हुई आमदनी है तो आपको अनिवार्यतः आयकर देना होगा। आयकर अधिकारी आपको जरा-जरा-सी बात पर परेशान कर देगा। खाना पकाने के लिए गैस या मिट्टी का तेल चाहिए। ये दुर्लभ वस्तुएं हैं। अगर गैस खत्म हो गयी, घर में मिट्टी का तेल भी नहीं है और बिजली भी नहीं आ रही है तो खाना नहीं पक सकता। उपवास कीजिए। स्वास्थ्य अच्छा रहेगा! इन चीजों की कीमत कभी भी बढ़ सकती है और आपकी पहुंच से बाहर हो सकती है। दाल-आटा, फल-सब्जी आदि के लिए आप परनिर्भर हैं। फिर कभी भी कोई भी हड़ताल कर सकता है और सारा काम ठप्प ! बसों ने, टैक्सियों ने, तिपहियों ने हड़ताल कर दी और आप जंगम से जड़ हो गये। न काम पर जा सकते हैं न और कहीं। घर बैठे रहिए या मुहल्ले का चक्कर काट लीजिए। ट्रक वालों ने हड़ताल कर दी और आवश्यक चीज़ें दुर्लभ ! और अगर हां, आपने टेलीफोन लगवा लिया तो एक और सिर-दर्द मोल ले लिया। वह कभी भी मर सकता है। उसे जीवित करने के लिए खाक छानते फिरिए ! ये महानगरीय जीवन की कुछ परवशताएं हैं जो आपके जीवन को नियन्त्रित करती हैं। परवशताएं और भी हैं। और इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि 'पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं !'

शहर में व्यक्ति के जीवन में कानून की दखलंदाजी बहुत है। और कानून भी ऐसे, जो इकतरफा हैं। सारे अधिकार सरकार के, सरकारी कर्मचारियों के और सारे कर्तव्य नागरिकों के। कोई भी सरकारी कर्मचारी किसी भी नागरिक को कभी भी, बिना बात के भी परेशान कर सकता है। जब तक सरकारी कर्मचारी कुर्सी पर होता है, बादशाह होता है और वह अपनी बादशाहत को दिखाने से चूकता नहीं है। इसलिए या तो हम उसके हाथों यातना सहते रहते हैं या रिश्वत देकर अपनी जान बचाते रहते हैं। ईमानदार और कानून का पालन करने वाले नागरिकों को न केवल बेईमान समझा जाता है बल्कि संचार माध्यमों के विज्ञापनों, अनावश्यक नोटिसों आदि के द्वारा उन्हें भयभीत भी किया जाता है। मैं समझता हूं कि ऐसे नागरिकों की संख्या नगण्य है जो कर नहीं देना चाहते। लेकिन अगर वे कर नहीं देते हैं तो इसलिए कि वे कर भी देने और परेशान भी होने की दोहरी पीड़ा से बचना चाहते हैं। हमारे देश की केन्द्रीय और राज्य सरकारों

के जिन विभागों से जनता का काम पड़ता है, उन विभागों के अधिकारियों और कर्मचारियों में ईमानदार और निष्ठावान व्यक्ति तो अपवाद-स्वरूप मिलेगा। हमारी प्रशासनिक व्यवस्था और कानून-व्यवस्था प्रशासकों और नागरिकों दोनों को बेईमान और भ्रष्ट बनाती है; क्योंकि उसका मूल चरित्र उपनिवेशीय है। अंग्रेजों से स्वाधीन होने पर हमने जो प्रशासन और कानून उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया, उसके चरित्र को हमने बदला नहीं है। यदि उसमें कोई संशोधन किया है तो उसे और अधिक जटिल और जनविरोधी बना दिया है। एक बार यदि आप कोर्ट-कचहरी के चक्कर में फंस गये तो जन्म-जन्मान्तर तक आप उससे मुक्त नहीं हो सकते। मुकद्दमा लड़ते-लड़ते कितनों के घर-बार बिक जाते हैं, कितने अगले जन्म में मुकद्दमे का फैसला सुनने की उम्मीद में दिवंगत हो जाते हैं। बेचारे लक्खू भाई पाठक मर ही गये!

हमारे तमाम कानून ऐसे हैं जिनके विरुद्ध सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाने की आवश्यकता है। नागरिक सचेत रूप से तो नहीं लेकिन अचेत रूप से कानूनों की अवज्ञा कर ही रहे हैं। कानून का भय केवल उन्हें है जो 'भले और बेचारे' हैं, वरना स्थिति यह है कि आप खुलेआम कानून तोड़िये और मजे लूटिये। अगर आप में साहस है तो सड़क पर महल खड़ा कर लीजिए, कोई आपका बाल बांका नहीं कर सकता; लेकिन आप बाकायदा मकान बनाने के नियमों का पालन करते हुए एक छोटा-सा मकान बनाना चाहते हैं तो आप कभी कृतकार्य नहीं हो सकते। इसीलिए दिल्ली में सड़कों, पार्कों और हरित पट्टियों पर मुहल्ले-के-मुहल्ले बस गये हैं और शहर के नियोजित विकास को अंगूठा दिखाते हुए दिखाते हुए नियमित हो गये हैं। दहेज-विरोधी कानून बनाकर क्या सरकार दहेज का लेना-देना रोक पायी है? जिन राज्यों ने मद्यनिषेध कानून बनाया और लागू किया, क्या वहां लोगों ने मद्यपान बन्द कर दिया? दिल्ली सरकार ने धूम्रपान-निषेध-कानून लागू किया है, लेकिन आप कहीं भी लोगों को सिगरेट-बीड़ी पीते हुए देख सकते हैं। समर्थ हिन्दू दो-दो विवाह कर लेते हैं, लेकिन हिन्दू विवाह-विधि उनका क्या बिगाड़ पाती है? इसका अर्थ तो यही हुआ कि 'समरथ को नहिं दोस गुसाईं।' ऐसे समर्थों के सामने मुझे जब अपनी असमर्थता का बोध होता है तो बड़ी मानसिक पीड़ा होती है। मैं आत्मग्लानि से जमीन में गड़ जाता हूं।

ऐसे में मुझे अपना गांव याद आता है। ऐसा नहीं है कि वहां कानून का राज्य नहीं है, लेकिन व्यक्तिगत जीवन में कानून की दखलंदाजी नगण्य है। गांव आज भी अनेक दृष्टियों से स्वायत्त, स्वाधीन और आत्मनिर्भर हैं। आप वहां अकेले नहीं हैं। परिवार और सगे-सम्बन्धी तो हैं ही, पूरा गांव है, जो आप के सुख-दुख में शामिल होने के लिए तैयार है। हर आदमी हर आदमी को जानता है। यह पहचान हर आदमी की आंखों में, कंठ में और शरीर के अन्य अंगों में बराबर प्रतिबिम्बित होती है। वहां बड़ी फुर्सत है। आपके साथ गांव के हर आदमी का कोई-न-कोई सम्बन्ध है। मित्रता का नहीं तो शत्रुता का सम्बन्ध अवश्य है। वहां शत्रुता भी कोई स्थायी चीज नहीं है। ये सम्बन्ध बदलते रहते हैं बच्चों की शत्रुता-मित्रता की तरह; लेकिन सम्बन्धहीनता की स्थिति कभी नहीं आती! आप गांव विशेष के निवासी हैं, यह सिद्ध करने के लिए आपको किसी राशनकार्ड या परिचयपत्र की आवश्यकता नहीं पड़ती। दिल्ली में अगर आपके पास राशनकार्ड नहीं है तो आपके लिए यह सिद्ध करना मुश्किल हो जायेगा कि आप भारतवासी हैं। इस शहर में तमाम सरकारी विभाग पहचानपत्र देने के लिए तैयार हैं। आप जिस संस्था में काम करते हैं वह संस्था आपको पहचानपत्र देती है। चुनाव आयोग आपको पहचानपत्र देता है। यदि आप आयकर देते हैं तो आयकर-विभाग आपको पहचानपत्र देता है। यही स्थिति रही तो एक दिन आप अगणित पहचानपत्रों के स्वामी बन जायेंगे। फिर भी न आपकी कोई पहचान बनेगी और न आपको कोई पहचानेगा। असंख्य लोगों की भीड़ में आप अजनबी ही बने रहेंगे। क्या यह बेपहचान और अजनबी बना रहना यातनादायक नहीं है?

दिल्ली में रहते हुए मुझे अपना गांव इसलिए भी बहुत याद आता है कि मेरे गांव में पशु तो हैं, लेकिन धन-पशु नगण्य हैं। धन-पशुओं के बीच में रहना कितना यातनादायक होता है, इसे वही जान पाता है जो उनके बीच रहता है। इन धन-पशुओं के बीच रहते हुए मुझे ऐसा ही लगता है जैसे

ब्राह्मणों के बीच रहने वाले किसी अछूत को लगता है। इस यातना से बचने के लिए मेरे एक पड़ोसी वकील तो अपना मकान ही बेचकर चले गये और उसमें आकर एक और धन-पशु बस गया। ये धन-पशु धन कमाने की तो सभी कलाएं जानते हैं, लेकिन उनके अतिरिक्त अन्य कलाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। उनके धन का बहुत-सा हिस्सा काला होता है। उस काले धन को फूंक कर वे ऐसा चकाचौंध पैदा करते हैं कि उन्हें लगता है कि सब जगमग हो गया, लेकिन हमारी आंखें तो चौंधिया जाती हैं, सब अंधकारमय हो जाता है। यह चकाचौंध वे आलीशान मकान बनाकर पैदा करते हैं, शादी-ब्याह पर अन्धाधुन्ध पैसा खर्च करके करते हैं, अफसरों और राजनेताओं को पंचतारा होटलों में बड़ी-बड़ी दावतें देकर करते हैं, घर में कीमती विदेशी सामान भरकर करते हैं और तरह-तरह के मंहगे वाहनों पर चलकर करते हैं। सब प्रदर्शन है, इसे वे भी जानते हैं और हम भी; लेकिन यह प्रदर्शन किये बिना वे रह नहीं सकते। यह उनकी विवशता है। अन्दर की रिक्तता बाहर के भराव से ही ढकी जा सकती है। ये धन-पशु जिस तरह से धन कमाते हैं, उससे ये पापबोध से भी ग्रस्त होते हैं। इस पापबोध से बचने के लिए ये तरह-तरह के धार्मिक कर्मकाण्डों में लिप्त होते हैं। अगर पापबोध छोटा है तो देवी-जागरण, रामचरितमानस के अखण्ड पाठ, सत्यनारायण कथा आदि से ही काम चल जायेगा। अगर पापबोध बहुत बड़ा हुआ तो मन्दिर बनवायेंगे, मस्जिद और गुरुद्वारा खड़ा करेंगे। जरा सोचिये कि मध्यकाल में मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे, चर्च किसने बनवाये और आज कौन बनवाता है? धर्म और उसके प्रतीक, उसके कर्मकाण्ड जनसाधारण के लिए आस्था की चीजें हैं, अभावों से जूझते हुए जीने के सहारे हैं, लेकिन अमीरों के लिए पापबोध को हल्काने, अहं को तृप्त करने और आत्मप्रतिष्ठा के साधन हैं। कोई सेठ किसी मन्दिर में किसी देवी-देवता की मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा नहीं करता, अपितु उसके बहाने स्वयं को प्रतिष्ठित करता है। इन धन-पशुओं के बीच रहकर जिस यातना से हम गुजरते हैं, उससे बचने का रास्ता क्या है?

सोचता हूं कि शहरी जीवन की यातना से बचने के लिए गांव की ओर चल ही पड़ूं। जो होगा सो देखा जायेगा। गांव में रहकर गांव की याद तो नहीं आयेगी!

एच-50, पश्चिमी ज्योतिनगर, दिल्ली - 110094

लेखनी में बहुत ताकत होती है

पंजाबी लेखिका तारन गुजराल से डा. सरोजनी पांडेय की भेंटवार्ता

आदिकाल से ही स्त्री - पुरुष दोनों ने समान रूप से साहित्य-रचना की है; किन्तु सम्भवत: जीवन के समान ही साहित्य-क्षेत्र में भी पुरुष उस पर आच्छादित रहना चाहता था, अत: उसके साहित्यिक योगदान को वह अंधकार में ही रखने के लिए सचेष्ट रहा। विक्टोरियन या उसके प्रतिरूप आर्यसमाजी नैतिक वर्जनाओं में साहित्य पुरुषों की बपौती रहा है। स्त्रियों की परिधि जनानखानों तक सीमित थी। अपनी इस सीमा में कैद वे चिलमनों के पीछे से ताक-झांक चाहे जितनी कर लें, मगर मर्दानी बैठकों में आने की इजाज़त उन्हें बिल्कुल नहीं थी। यूरोप और इंग्लैण्ड तक में उन्हें पुरुष बनकर ही साहित्य में स्वीकृति मिल सकती थी- ऑरारे दूपां को 'जार्ज सैंड' और मेरी एन ईवान को 'जार्ज इलियट' बन कर ही साहित्य में प्रवेश करना पड़ा। उर्दू की प्रथम उपन्यास-लेखिका अकबरी बेगम को भी अपना पहला उपन्यास मर्दाना नाम 'अब्बास मुर्तजा' नाम से लिखना पड़ा। पालिभाषा की 'थेरीगाथा' की थेरियां भी इस तथ्य का प्रमाण हैं कि तत्युगीन समाज में नारी को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी। सामाजिक व्यवस्था से पीड़ित होकर ही उन्होंने बुद्ध की शरण ली, भिक्षुणियां बनीं।

नारी के लेखन के प्रति पुरुष-समाज के इतने विरोध एवं उपेक्षापूर्ण रवैये के बावजूद ऋग्वेद-काल से लेकर आज तक सभी भारतीय भाषाओं के साहित्यिक विकास में नारी का निरंतर योगदान रहा है। सच तो यह है कि किसी भी भाषा के साहित्यकारों की समीक्षा करते समय पुरुष लेखकों की रचनाओं को ही अलम् मानना नारी के प्रति अन्याय करना है। किसी भी भाषा के साहित्य के अध्ययन की सम्पूर्णता तो तभी है जब पुरुष के कृतित्व के साथ-साथ महिला रचनाकारों के योगदान का भी सम्यक् मूल्यांकन किया जाये। साहित्येतिहासकार इस दिशा में भले ही प्राय: उपेक्षा-दृष्टि अपनाये रहा है पर आज की विशिष्ट साहित्यिक पत्रिकाओं ने अपने इस उत्तरदायित्व को खूब पहचाना है और 'भेंटवार्ता' के अन्तर्गत पुरुष साहित्यकारों के साथ-साथ विभिन्न भाषाओं की महिला रचनाकारों से भी पाठकों को परिचित कराने का प्रयास किया है। इसी संदर्भ में पत्रिका के इस अंक में प्रस्तुत है पंजाबी लेखिका तारन गुजराल से एक भेंटवार्ता:-

-आपने कब लिखना प्रारम्भ किया?

-मुझे बचपन से ही कहानी लिखने और तुकबंदी करके गाने का शौक था। पिता (सरदार ईश्वर सिंह चोपड़ा)ने मुझे और उत्साहित किया। वे कालेज में प्रिंसिपल थे, उदार विचारों के थे और स्वयं भी लिखते थे। लेखन और गायन में मेरी रुचि देखकर वे मुझे अध्ययन-हेतु शांतिनिकेतन भेजना चाहते थे, पर मां दूर भेजने को तैयार नहीं हुई। तब पिता ने मुझे 'प्रीतनगर' भेजा। प्रीतनगर की स्थापना पंजाबी के सर्वश्रेष्ठ निबंधकार,गद्यकार एवं पत्रकार (प्रीतलड़ी मासिक पत्र के सम्पादक)गुरबख्श सिंह ने पंजाबी साहित्यकारों के सहयोग से 1938 ई. में की थी। यहीं पर मैंने पूरी शिक्षा प्राप्त की और लेखन की दिशा में आगे बढ़ी।

-साहित्य की किन-किन विधाओं में आपने लिखा?

-यद्यपि प्रमुख रूप से मैंने कहानियां ही लिखी हैं पर साथ ही संगीत और गायन में भी मेरी गहरी रुचि है। मैं गीत लिखती भी हूं और गाती भी। दिल्ली के लाल किले में गणतंत्र दिवस (26 जनवरी) के पूर्व तीन दिन का जो जश्न मनाया जाता है, इसमें 24 जनवरी को होने वाले पंजाबी कवि-दरबार में मैं अपने लिखे गीत गाती हूं। यह क्रम पिछले अनेक वर्षों से चला आ रहा है। गीत लेखन-गायन के साथ-साथ मैं कविताएं भी लिखती हूं। 'इक तों इक' (एक से बढ़कर एक) काव्य-संग्रह में मेरी अनेक कविताएं संकलित होकर प्रकाशित हुई हैं।

-अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में कुछ बताइए।

-रचना-प्रक्रिया के दौरान बाहर से अंदर और अंदर से बाहर आती-जाती आहटों को सुनना-समझना बहुत जरूरी होता है। मात्र मनचाही कल्पना की उड़ान से आप किसी घटना या पात्र को जिन्दा नहीं कर सकते। मैं अपने आसपास घटित हो रही चीजों को देखने-परखने की आदी हूं। मैं जब

किसी घटना से प्रभावित होकर लिखती हूं तो घटित हुई घटनाओं से जैसे मेरा तादात्म्य हो जाता है। वे मेरी रचना में जीवंत हो उठती हैं। मैं अपनी बात को और स्पष्ट करने के लिए एक घटना बताती हूं। वैसे मैंने प्रेम-कहानियां बहुत कम लिखी हैं पर यह घटना प्रेम-कथा से ही सम्बन्धित है-

पंजाबी का एक गांव है बोदल। यहां दिलबाग सिंह और गुलबाग सिंह दो भाई रहते थे, जो अच्छे गायक थे। गीत-संगीत से लगाव होने के कारण एक बार इनके गांव मैं इनका गाना सुनने गयी। वहां मैंने भी अपने लिखे गीत गाये। पूरा गांव एकत्र हो गया मुझे देखने और सुनने के लिए। वहां एक वृद्ध भी आया जो सफेद कपड़े पहने था, सफेद दाढ़ी थी और उसके हाथों में भी सफेद पट्टी बंधी थी। वह चुपचाप गीत-संगीत और सभी बातें सुनता रहा। दूसरे दिन वह फिर आया। जब मैं गांव से वापस चलने लगी, वह मेरे पास आकर खड़ा हो गया। मैंने पूछा कि कल से तुम यहां हो, पर इतना चुप क्यों हो? उसने जेब से एक फोटो निकालकर दिखाई जिसमें उसके बाल चारों ओर बिखरे हुए थे। वह बोला, यह मेरी दीवानगी की फोटो है। उसके साथ के लोगों ने बताया कि इसका एक लड़की से इश्क था जिसमें यह दीवाना हो गया था। यह आजादी की लड़ाई में भगत सिंह का साथी था। बम बनाते समय इसके हाथ उड़ गये थे। हाथ न होने के कारण लड़की के माता-पिता विवाह के लिए तैयार न हुए। इसने मुंह में ब्रश लेकर पेंटिंग शुरू की और सबसे पहले उसी लड़की की पेंटिंग बनायी। लड़की के माता-पिता ने उसकी शादी दूसरी जगह तय कर दी। लड़की ने एक शर्त रखी कि मेरी शादी में मंत्र यही पढ़ेगा। इसने जाकर शादी के मंत्र पढ़े। फेरे लेने के बाद लड़की ने उसके गले में बाहें डालीं और कहा कि ये मेरा बुत लेकर जा रहे हैं। मेरी आत्मा तुम्हारे पास है। इस प्रेम-कथा को लेकर मैंने 'बोदल का कैस' शीर्षक कहानी लिखी। इसमें मैंने जो घटनाएं डालीं, बाद में दिलबाग सिंह और गुलबाग सिंह ने उन्हें सुनने पर कहा- ये घटनाएं तो बिल्कुल वैसी ही हैं जैसी घटी थीं। पर ये तो आपको बतायी नहीं गयी थीं, फिर आपने कैसी लिखीं?

-पात्रों का चयन आप कैसे करती हैं?

-मैं पात्रों का चयन अपने आसपास के परिवेश से ही करती हूं। कभी-कभी तो कोई-कोई पात्र मेरे मन पर इतना हावी हो जाता है कि मुझे लिखने के लिए विवश कर देता है, जैसे 'नयी झांझरें' की जानकी, 'दूध का तखत' की मासी और 'तूं-ते-तेरे' के टिप्सी और लच्छो। 'नयी झांझरें' कहानी की नायिका मेरे घर में काम करने वाली महरी जानकी है। इसके माध्यम से मजदूरों के घरों का, उनके परिवेश का,साथ ही उनके मनोभावों का चित्रांकन इस कहानी में हुआ है। जानकी एक-एक पैसा जोड़कर खूब घुंघरू-जड़ी पायलें खरीदती है। उसका शराबी पति उसकी एक पायल चुराकर उसे बेचकर शराब में पैसे उड़ा देता है। होली के त्योहार पर जब वह पायल गायब मिलती है तो दोनों में झगड़ा होता है। पति उसे मारता-पीटता है। पुलिस उसे ले जाकर थाने में बंद कर देती है तब जानकी स्वयं ही अपनी दूसरी पायल भी बेचकर उसे छुड़ा कर लाती है। तभी उसे अनुभव होता है कि वह अपने पैरों में खूब घुंघरू-जड़ी बड़ी-बड़ी पायलें पहने हुए है। यही अनुभूतिजन्य पायलें ही उसकी 'नयी झांझरें' हैं।

'दूध का तखत' कहानी की नायिका 'मासी' स्त्रियों के उस वर्ग विशेष की प्रतीक है जिसकी दृष्टि अपने पर कम और दूसरों के घर की तरफ अधिक रहती है और जिसका मन दूसरों के नुक्स निकालने में,चुगली करने में अधिक रमता है। 'तूं-ते-तेरे' कहानी एक पालतू कुत्ते (टिप्सी) और एक आवारा कुतिया (लच्छो) के इश्क पर आधारित है। इन पात्रों ने मुझे इतना विवश किया कि ये तीनों कहानियां मैंने एक साथ लिखनी प्रारम्भ कीं। तीन दिनों में ये तीनों कहानियां एक साथ ही पूरी हुईं और तीनों की गणना मेरी श्रेष्ठ कहानियों के अंतर्गत हुई। 'तूं-ते-तेरे' तो भाषा-विभाग पंजाब द्वारा पटियाला में आयोजित कहानी-प्रतियोगिता में प्रथम रही।

-आपका रचना-क्रम कैसा है? लिखने के पूर्व ही बातें तय कर लेती हैं या लिखते वक्त अपने आप रास्ते खुलते जाते है?

-जब कोई पात्र और घटना मुझे प्रभावित करते हैं तो सबसे पहले मैं उन्हें लेकर कहानी का शीर्षक सोच लेती हूं, जैसे बोदल में उस वृद्ध द्वारा अपने दीवानेपन की फोटो दिखाये जाने पर उसी क्षण मैंने अपनी कहानी का नामकरण कर लिया था-- 'बोदल का कैस'। शीर्षक सोच लेने के बाद फिर मुझे कुछ तय नहीं करना पड़ता। पात्र और घटना से

मेरा इतना तादात्म्य स्थापित हो जाता है कि लिखते [illegible] अपने आप रास्ते खुलते जाते हैं।

–जैसा अभी आपने बताया कि 'तूं-ते-तेरे' यह एक कुत्ते और कुतिया की प्रेम कहानी है। पशु-पक्षी जगत् को लेकर कम ही कहानियां लिखी गयी हैं। आपको इस कहानी की प्रेरणा कैसे मिली?

–असल में मेरे घर पर एक कुत्ता पला था, जो गली की एक आवारा कुतिया को पसंद करने लगा था। हम लोग उसे उससे मिलने में बाधा पहुंचाते, उसे रोकने की बहुत कोशिश करते पर वह नहीं मानता। उन दोनों के मूक प्रणय ने, उनकी आंखों के मूक भावों ने तथा उनके क्रिया-कलापों ने मुझे इस कहानी को लिखने के लिए प्रेरित किया। कहानी में एक पालतू कुत्ता है,नाम है टिप्सी। वह गली की आवारा कुतिया लच्छो से प्यार करने लगता है। घर वाले टिप्सी को लच्छो से मिलने नहीं देते, पर वह मालिक की यह आज्ञा नहीं मानता। कहानी का अंत बड़ा ही मार्मिक है–टिप्सी को मार पड़ती है क्योंकि उसने होली के अवसर पर मालकिन द्वारा बनाकर धूप में डाले गये पापड़ अपनी प्रेमिका लच्छो और उसके बच्चों के लिए लान में खोद कर छिपा दिए हैं। सभी की खूब पिटाई होती है। एक बच्चा मार नहीं सह पाता और बीमार हो जाता है। लच्छो बच्चे को लेकर टिप्सी के पास आती है कि शायद वह कुछ कर सके। बच्चा मर जाता है। वह बहुत दुःखी हो उठती है और टिप्सी से कहती है, 'छोड़ो इन इंसानों के परिवार को। हमें कितनी जरूरत है? हम लोगों से मांगकर गुजारा कर लेंगे। तुम्हें शरम आती है तो मैं मांग लूगी। मैं तो गली की हूं।' टिप्सी गेट के अंदर है और वह गेट के बाहर। वह आगे कहती है–'चलो, यहां से कहीं दूर चलो। सच में मेरा मन भर गया है इन इंसानों से। ये समझते क्यों नहीं कि ये मौज से घूमते हैं और सोते हैं और हम इनकी, इनके घर की रखवाली करते हैं, आगे हमारे बच्चे भी करेंगे। ये बच्चे तुम्हारे हैं। दो तुम उठा लो और दो मैं और यहां से चलो।' पर टिप्सी कहता है कि आज डैडी (मालिक) घर पर नहीं हैं, मम्मी (मालकिन) अकेले हैं, कहीं कुछ हो न जाये। फिर चलेंगे। इतना कहकर वह सो जाता है पर लच्छो पहरा देती रहती है। रात भर जागकर रखवाली करती है मालिक के घर की। और वह आवारा [illegible] कि सभी लोग उससे नफरत करते हैं।

–साहित्यकार के सामाजिक दायित्व पर आपका दृष्टिकोण क्या है?

–पुराना अच्छा भी है और सड़ा हुआ भी। जो सड़-गल चुका है, उसे हम अपने शब्दों के हथियारों से काटकर फेंक दें। और पुराने में जो अच्छी चीजें हैं किन्तु आज जिनका विनाश हो रहा है, उनकी रक्षा करें, उन्हें और उभारें। अपने साहित्य के माध्यम से और अच्छा बनाएं जिससे समाज का हित हो। हम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की ओर बढ़ सकें।

यदि हम अपने जीवनकाल में एक भी इंसान को जीने की प्रेरणा दे सकें तो हमारी लेखनी सफल है और हमारा जीवन भी। इसे मैं केवल कहती ही नहीं, अपने जीवन में चरितार्थ करने की कोशिश भी करती हूं। 21 वर्ष का एक नवयुवक आशीष दीक्षित, जो बी.टेक. का द्वितीय वर्ष का छात्र था, ट्रेन पर चढ़ते समय उसके पैर कट गये। अपंगता ने उसकी जीने की इच्छा ही समाप्त कर दी। मैं लाला लाजपत राय हास्पिटल जाकर उससे मिली। सबको कमरे से बाहर कर उससे बातचीत की। ममता-भरा हाथ फेरा, उसमें जीने की इच्छा पैदा की। थोड़ा-सा आर्थिक सहयोग और उससे भी अधिक मेरी सच्ची ममता को पाकर आज वह नकली पैर लगवा कर जीवन की राह पर प्रबल इच्छाशक्ति और साहस से बढ़ चला है। अब वह कविताएं, लेख आदि भी लिखने लगा है जो दैनिक पत्रों में यदा-कदा प्रकाशित होते रहते हैं। मुझे हार्दिक खुशी है कि मैं एक जिंदगी बचा सकी, उसमें जीने की प्रेरणा भर सकी।

–जीवन विविध घटनाओं का संजाल है। अपने जीवन की किस घटना ने आपको सर्वाधिक प्रभावित किया है?

–बहुत पहले जब मैं संगीत सीखने जाया करती थी, वह घटना तब की है। मैं कौशलपुरी से संगीत-विद्यालय (बड़ा चौराहा) रिक्शे से जाया करती थी। एक बार की बात है कि गरमी के दिन थे। मैंने एक रिक्शे वाले से बड़ा चौराहा तक का किराया पूछा। उसने तीन रुपये मांगे पर मैंने दो कहे। वह चलने के लिए राजी हो गया। तभी रिक्शे के पास मुझे एक दस का नोट पड़ा मिला। मैंने उठा तो लिया, पर फिर सोचने लगी कि इस पर मेरा हक नहीं है। यह नोट उसे

दे देना चाहिए जो इसका वस्तुतः हकदार हो। गरमी के कारण रिक्शावाला पसीने से सराबोर हो रहा था, उसके कपड़े भी फटे हुए थे, मुझे लगा कि यही इसका असली हकदार है। गंतव्य स्थान पर पहुंचकर उसकी हथेली पर वह दस का नोट और किराये के दो रुपये रखकर बिना कुछ कहे मैं तेजी से गेट के अंदर चली गयी। जीने से ऊपर चढ़ने के पहले, उसके खुशी के मनोभावों को देखने के लिए मैंने पलटकर उसे देखा तो पाया कि वह कुछ गुस्से से मेरी ओर ही ताक रहा है। फिर वह मेरी ओर आने लगा। मैं बिना रुके सीढ़ियां चढ़कर ऊपर आ गयी कि देखा वह भी ऊपर आ गया है। उसने मेरे सामने सीढ़ी पर वह नोट फेंकते हुए कहा कि मेहनत की खाता हूं, हराम की नहीं, और चला गया। मेरे तमाचा-सा पड़ा, अवाक् खड़ी रह गयी। मैं इसे क्या समझ रही थी और यह क्या निकला? मैं उसे यह दस का नोट देकर उस पर दया दिखा रही थी, पर वह तो मेरी ही आंखें खोल गया। और इसी घटना ने 'हम लोग वो लोग' शीर्षक कहानी को जन्म दिया।

–आप पंजाबी की लेखिका हैं। आपके पाठक पंजाबी में हैं। भाषा की समस्या रचना और रचनाकार की लोकप्रियता में बाधक बन जाती है। हर भाषा का साहित्यकार प्रायः अपनी भाषा के पाठकों के बीच ही लोकप्रिय हो पाता है। आप इस संदर्भ में कैसा महसूस करती हैं?

–भाषाओं के बीच की खाई को पाटने के लिए अनुवाद एक सहारा है। यद्यपि विभिन्न भाषाओं की सभी श्रेष्ठ रचनाओं के अनुवाद सुलभ हो सकें, अभी अनुवाद का माध्यम इतना सशक्त नहीं बन पाया है। इस दिशा में सार्थक कदम उठाने की आवश्यकता है। प्रकाशन भी आज एक बहुत बड़ी समस्या है। फिर भी प्रत्येक भाषा की कुछ रचनाओं का अनुवाद तो आज सुलभ है ही। पत्र-पत्रिकाएं भी इस दिशा में विशेष सहयोग दे रही हैं। मेरी भी कुछ कहानियों के हिन्दी अनुवाद पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं तथा कुछ कहानियां हिन्दी के कहानी-संग्रहों में संकलित हुई हैं। अमरीक सिंह दीप ने मेरी कई कहानियों का हिन्दी अनुवाद किया है जो दैनिक जागरण, आज, अमर उजाला, स्वतंत्र-भारत दैनिक पत्रों में प्रकाशित हुई हैं। हरभजन सिंह मेहरोत्रा द्वारा संकलित 'सफर के साथी' और प्रेम गुप्ता मानी द्वारा संग्रहीत 'यथार्थ' में मेरी कहानियों को स्थान मिला है। 'दूध का तख्त' कहानी का तो कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। अनुवाद के कारण भाषा रचनाकार की लोकप्रियता में बाधक नहीं रह जाती। इस प्रकार रचनाकार अन्य भाषाओं के पाठकों के बीच भी लोकप्रिय हो जाता है।

–दूसरों को जलाकर स्वयं भी द्वेष-दाह में दग्ध होता हुआ मानव आज भी उसी पुरानी बर्बर राह पर चला जा रहा है। वही पारस्परिक जातिगत भेदभाव आज भी व्याप्त है। कबीर, जायसी, गुरु नानक, गांधी आदि मानवता के पुजारी महापुरुषों ने जातिगत खाई को पाटने में थोड़ी-सी सफलता प्राप्त की थी, वह खाई आज पुनः चौड़ी हो गयी है। इसे पाटने के लिए हमें क्या करना चाहिए?

–मेरे बचपन ने तो स्वतन्त्रता के आनंद के साथ ही साम्प्रदायिक दुर्घटनाओं के दुर्भाग्यपूर्ण दिन भी देखे हैं, अतः जब-जब देश साम्प्रदायिक दंगों की आग में झुलसता है, मुझे बहुत पीड़ा होती है। सन् 1984 के दंगों ने भी मुझे बहुत आहत किया था। इस संदर्भ में मैंने उस समय कई रिपोर्टें भी लिखी थीं। उस दंगे की याद आज भी मुझे दर्द से भर देती है। उदारवादी पिता के प्रभाव और सांस्कृतिक केन्द्र 'प्रीतनगर' में शिक्षा-प्राप्ति के सुअवसर के कारण मेरा दृष्टिकोण बचपन से ही बहुत उदार रहा है। वैसे भी सिख धर्म कभी संकीर्ण नहीं रहा है। सिख पंथ के संस्थापक गुरु नानक का धर्म विषयक दृष्टिकोण बहुत व्यापक था। हिन्दू-मुस्लिम संतों की बिखरी बहुमूल्य वाणियों को व्यवस्थित रूप में संग्रहीत कर गुरु अर्जुन देव ने जिस 'आदिग्रंथ' का सम्पादन किया, उसने भारतीयों को पंथगत संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं से ऊपर उठाकर मानव मात्र के कल्याण के पथ पर अग्रसर किया। खालसा-पंथ के संस्थापक गुरु गोविंद सिंह मानवता के पुजारी थे। हिन्दुओं ने उन्हें छोड़ दिया कि वे सिखों के गुरु हैं और सिखों ने उन्हें गुरुद्वारों में कैद कर दिया जबकि वे पूरे हिन्दुस्तान के गुरु थे। वे पूरी मानवता के लिए जूझे हैं, जिये हैं। वे सच्चे मानव थे, स्वतंत्रता सेनानी थे; उन्हें इसी रूप में देखा जाना चाहिए था, पर ऐसा नहीं हुआ। हमारी संकीर्ण दृष्टि ने उन्हें संकीर्णता के दायरे में कैद कर दिया। वस्तुतः 'सिख' का शब्दिक अर्थ है सीखने वाला अर्थात शिष्य। पर धीरे-धीरे यह शब्द (सिख) धर्म के साथ जुड़ गया। गुरु

नानक ने स्पष्ट कहा था, "न हम हिन्दू न मुसलमान, अल्लाह जियो के पिंड परान।''

आज जो जातिगत वैमनस्य पनप रहा है, वह पीड़ादायक है, दुर्भाग्यपूर्ण है। साहित्यकार की लेखनी में बहुत बड़ी शक्ति होती है। उसे अपनी लेखनी का उपयोग मानव-मानव के बीच प्रेम स्थापित करने के लिए करना होगा, लोगों के मन में साम्प्रदायिक सद्भावना जगानी होगी। क्षुद्र स्वार्थ-भावना, मानसिक कालुष्य एवं श्वान-प्रवृत्ति-सी युद्ध-लोलुप लिप्सा को मिटाकर संघर्षरहित विश्व-समाज की स्थापना करनी होगी। किन्तु यह कर पाना इतना आसान नहीं है क्योंकि आज कथनी और करनी में बहुत अंतर आ गया है। सरकारी तंत्र,नेता आदि सभी के सिद्धांत और व्यवहार में भारी अंतर दिखाई देता है। जब-तब दंगे होते रहते हैं और हमें सहनशीलता का पाठ पढ़ाया जाने लगता है। जैसा कि मैं पहले भी कह चुकी हूं कि मैं गीत और कविता भी लिखती हूं। इसी संदर्भ में लिखी गयी मेरी एक व्यंग्यात्मक कविता है जिसका शीर्षक है 'सहनशीलता'। मैंने इसे पंजाबी में ही लिखा है पर आपको हिन्दी में अनुवाद करके सुनाती हूं।

सन् 1947 के संदर्भ में-

"तब भी तुमने
खुली जटाएं और फैली जुल्फें
गले में डाले,
घर-घर,गली-गली व शहर-शहर
किये थे विलाप।
अभी कल की ही तो है बात-
जब घरों में होते हैं बटवारे
तो ऐसे ही झगड़े पड़ते हैं।
बर्तन-भांडे, जमीन-जायदाद की विरासत;
आत्मसम्मान, भाषा, हुलास, उमंग और चाव
इनका भी जब साथ होता है बटवारा
तो आंखें फेर लेती हैं एक-दूसरे की ओर पीठ
तो यूं होता है बटवारा।।
बम-गोलों की तरफ ध्यान मत करो,
ये तो मताबी और पटाखों की तरह चलते ही हैं सब
चाहे वह सच का सूर्य छाता ही क्यों न हो;
और चाहे उसके सड़े छेदों में से
दिखा करे नंगा सत्य आसमान की तरह।।

नवम्बर 1984 के संदर्भ में

अभी उस दिन सरदी के मौसम में
आग-आग का खेल हुआ
आग जब खेल बन जाय, यूं होता ही है।
किन्तु आपने कहा, वृक्ष गिरे
तो टहनियां टूटती ही हैं।
हजारों निर्दोष पक्षी और प्राणी
जो भी उसकी जद में आ जाएं
मरते, जलते, उजड़ते और तड़पते ही हैं।।
उस समय के टूटे तारों का
तुम अब तक जीती रही हो संताप।
और करती रहीं
घर-घर, गली-गली शहर-शहर विलाप।।
अब ये फसल फतवों की खूब पनपी और लहलहायी है।
इन किसानों ने इसमें
कई कमीशनों और लारे-लप्पों की
आधुनिक तकनीकी खाद डाली है।।
क्या कमाल की बात है रे लोगो!
कि मंच में तो होती है बात एकता की।
और गलियों में छिड़ जाती है बात फसादों की।।
तो भी / बापू के तीन बंदरों की तरह
न बुरा देखो; / न बुरा सुनो; / न बुरा बोलो।
आंखें मींच, होंठ भींच
कानों में डालो शून्य का निवाला।
और शांत हो समाधि लगा
करो सहनशीलता का दिखावा।।

इस प्रकार सन् 1947 से लेकर आज तक देश दंगा-फसाद की आग में निरंतर झुलस रहा है। हमें आज जनसाधारण में इसके विरुद्ध चेतना जगानी होगी; आपस में सद्भाव से, प्रेम से, भाईचारे से रहना सिखाना होगा।

141-ए ब्लाक, पानी की टंकी गली,
यशोदा नगर, कानपुर-21

• गुरुबचन सिंह

लक्ष्मी

उस दिन लड़के ने तैश में आकर गरीब लक्ष्मी की पीठ पर दो-चार डंडे बरसा दिये थे। लक्ष्मी की पीठ पर निशान पड़ गए थे। वह बड़ी भयभीत और घबराई थी। जो भी उसके पास जाता, वह सिर हिला उसे मारने की कोशिश करती या फिर उछलती-कूदती और गले की रस्सी तुड़वा कर खूंटे से आजाद होने का प्रयास करती।

करामत अली इधर दो-चार दिनों से अस्वस्थ था। कमर के दर्द के कारण उसके लिए चारपाई छोड़ना या घर से बाहर निकलना बंद था। लेकिन जब उसने यह सुना कि रहमान ने गाय की पीठ पर डंडे बरसाये हैं, तो उसे बड़ा दुःख हुआ। उससे रहा नहीं गया और वह किसी प्रकार चारपाई से उठ कर, धीरे-धीरे चलकर बथान में आया।

लक्ष्मी ने पहले तो उसे फटी-फटी आंखों से, जिन से दुख और पीड़ा झलकती थी, देखा। उसके नथुनों से हल्की-सी फुंकार निकली। मुंह से लार टपक कर नीचे गिरी, फिर वह आश्चर्यमिश्रित स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखने लगी।

करामत अली ने आगे बढ़कर उसके माथे पर हाथ फेरा, पुचकारा और हौले-से उसकी पीठ पर हाथ फेरा। लक्ष्मी के शरीर में एक सिहरन-सी दौड़ गई।

"ओह! कम्बख्त ने कितनी बेदर्दी से पीटा है।''

उसकी बीबी रमजानी, जो उसके पीछे-पीछे चली आई थी, उसकी तरफ एक शीशी बढ़ाती हुई बोली- "लो, चोट की जगह पर यह रोगन लगा दो। बेचारी को आराम मिलेगा।''

करामत अली गुस्से में बोला- "क्या अच्छा हो, अगर इसी लाठी से तुम्हारे रहमान के दोनों हाथ तोड़ दिए जाएं। कसाई कहीं का। क्या जानवर को इस तरह पीटा जाता है?''

रमजानी बोली- "लक्ष्मी ने आज भी दूध नहीं दिया।''

"तो इसकी सजा इसे लाठियों से दी गई। जब इसके थनों में दूध उतरता ही नहीं, तो कहां से देगी?''

"रहमान से गलती हो गई। इसे वह भी कबूलता है। चलो परे हटो, मैं लक्ष्मी की पीठ पर रोगन लगा देती हूं।'' कहती हुई रमजानी एक कदम आगे बढ़ी।

लक्ष्मी ने अपने सिर को जुंबिश दी। जैसे उसे रमजानी का निकट आना अच्छा नहीं लग रहा था।

करामत मियां बोले- "परे हटो, नहीं तो सींग मारेगी। तुम जाओ अपना काम करो। मैं रोगन लगा देता हूं।'' उसने रोगन की शीशी रमजानी के हाथ से ले ली।

रमजानी कुछ क्षण वहां खड़ी रही, फिर वहां से हटती हुई बोली- "देखो, अपना ख्याल रखो। पांव इधर-उधर पड़ गया तो कमर सिंकवाते रहोगे।''

करामत अली ने फिर प्यार से लक्ष्मी की पीठ सहलाई। मुंह ही मुंह में बड़बड़ाया- माफ कर लक्ष्मी, रहमान बड़ा मूरख है। उसके दिमाग में भूसा भरा हुआ है। उसके दिल में रहम नहीं। उसने तुम्हें बड़ी बेदर्दी से पीटा है। जब तेरे थनों में दूध होगा ही नहीं तो मार-कुटाई से फायदा? इसमें तेरा क्या कसूर है। उम्र के साथ तू भी बुढ़ा गई है। अब न तू पाल खाएगी, न बच्चा जनेगी, मां नहीं बनेगी तो दूध तेरे थनों में कैसे उतरेगा? दूध तो खुदा की नेमत है। डेयरीफार्म के डाक्टर ने तो पिछली बार ही कह दिया था, यह तेरा आखिरी बरस है। तेरी बेटी जवान हो रही है लक्ष्मी, हम उसकी सेवा करेंगे और आगे चलकर उसका दूध हासिल करेंगे।

उसने पुचकारते हुए फिर हौले-हौले लक्ष्मी की पीठ सहलाई और जहां-जहां नसें उभर आई थीं, रोगन लगाने लगा।

लक्ष्मी शांत खड़ी अपने जख्मों पर तेल लगवाती रही।

लक्ष्मी करामत अली की अपनी पोसी हुई गाय नहीं थी। वह उसके मित्र ज्ञान सिंह की निशानी थी।

ज्ञान सिंह और करामत अली एक दूसरे के पड़ोसी तो थे ही, वे कारखाने में भी एक ही डिपार्टमेन्ट में काम करते थे। संयोगवश उनकी ड्यूटी का समय भी एक ही था। प्रायः एक साथ ड्यूटी पर जाते और एक साथ ही वापस

लौटते। ज्ञान सिंह के कोई औलाद नहीं थी, इसलिए वह और उसकी श्रीमती आस-पड़ोस के बच्चों से स्नेह रखते। उन में मियां करामत अली के घर के लोग विशेष रूप से शामिल थे।

ज्ञान सिंह को मवेशी पालने का बहुत शौक था। प्राय: उसके घर के दरवाजे पर भैंस या गाय बंधी रहती। तीन बरस पहले उसने एक जर्सी गाय खरीदी थी। उसका नाम उसने लक्ष्मी रखा था। अधेड़ उम्र लक्ष्मी इतना दूध दे देती थी, जिससे घर की जरूरत पूरी हो जाने के बाद बाकी दूध गली के कुछ घरों में चला जाता। दूध बेचना ज्ञान सिंह का धंधा नहीं था। केवल गाय को चारा और दर्रा आदि देने के लिए कुछ पैसे जुटा लेता। वह गाय को अच्छी मुनासिब खुराक देता। अपने हाथ से उसकी सानी करता और उसे खिलाता। कभी वह खुद और कभी उसकी श्रीमती अपने हाथों से दूध दुहती।

ज्ञान सिंह लगभग पैंतीस वर्ष कम्पनी की सर्विस कर चुका था। इस दौरान उस गली में, जहां कि वह रहता था, काफी परिवर्तन आ गए थे। बच्चे न केवल जवान हुए, बल्कि स्वयं कुछ बच्चों के बाप बन गए थे। जवान बूढ़े हो गए। कई लोग गली छोड़कर कहीं और जा बसे। कई यहीं मर-खप गए। गली की अपनी दास्तान है। करामत अली और ज्ञान सिंह गली के पुराने बाशिंदे थे। इसकी गवाही बरगद और पीपल के वे पेड़ देते थे, जिन्हें इन्होंने बीस-पच्चीस वर्ष पहले अपने क्वार्टरों के सामने लगाया था। आज वे पेड़ ऊंची हवाओं में सांसें लेते हैं और हवा के झोंकों से झूलते हुए रात के समय शायद गली के भोले-भाले लोगों की चर्चा करते रहते हैं।

नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के बाद ज्ञान सिंह को कम्पनी का वह क्वार्टर खाली करना ही था, जिसमें वह एक समय से रहता चला आया था। गली से जाने का एहसास उसे अस्थिर कर देता। पैंतीस वर्षों में उस घर में रहकर उसने बहुत कुछ बनाया था। यह सब कुछ तो वह अपने साथ नहीं ले जा सकता था। इसलिए ऐसी वस्तुएं जो वह निकाल सकता था, उनमें से कुछ तो उसने आस-पड़ोस और जान-पहचान के लोगों में बांट दी थीं तथा कुछ बेच दी थीं। समस्या थी तो लक्ष्मी की। वह लक्ष्मी को किसी हालत में भी नहीं बेच सकता था। उसे अपने साथ ले जाना भी संभव नहीं था। जब अवकाश ग्रहण करने में दस-पन्द्रह दिन ही रह गए थे तो उसने करामत अली से कहा-"मियां! अगर लक्ष्मी को तुम्हें सौंप दूं तो क्या तुम उसे कबूल करोगे......?''

मियां करामत अली ने कहा था- "नेकी और पूछ पूछ.....। भला इस से बड़ी खुशनसीबी मेरे लिए और क्या हो सकती है कि तुम अपनी चहेती गाय मुझे सौंप रहे हो।''

"तुम तो जानते हो, हम ने इसे बड़े प्यार से पाला है। ठीक उसी तरह जैसे कोई अपने बच्चे को पालता है। यह छ:-सात बार ब्याई जा चुकी है। अब अधेड़ उम्र की हो चुकी है। तुम्हारे यहां शायद एक आध मरतबा मां बन जाए। और फिर.....।''

"फिर क्या,'' करामत अली बीच में बोला-"बच्चे नहीं जनेगी तो यह फिर भी हमारे पास ही रहेगी। हम इसकी सेवा करेंगे। अभी लक्ष्मी को बुढ़ाने में देर है। इसकी चिंता मत करो।''

पिछले कुछ वर्षों में अनेक ऐसे अवसर आए थे, जब ज्ञान सिंह को घर पर ताला लगाकर छुट्टी पर जाना पड़ा था। तब भी लक्ष्मी की सारी जिम्मेवारी करामत अली को कबूल करनी पड़ती थी। उसने कोई शिकायत का अवसर नहीं दिया था। इस बार जबकि वह एक समाप्त न होने वाली लम्बी छुट्टी पर जा रहा था तो उसे विश्वास करना पड़ रहा था, वह लक्ष्मी के गले की रस्सी सही हाथों में पकड़ा कर जा रहा है।

क्वार्टर छोड़ने से कुछ दिन पहले ही ज्ञान सिंह ने अपने हाथ से एक खूंटा करामत अली के क्वार्टर के सामने गाड़ दिया था और फिर लक्ष्मी के गले की रस्सी करामत अली की मदद से उस खूंटे के साथ बांध दी थी।

करामत अली पिछले एक वर्ष से उस गाय की सेवा करता चला आ रहा था। गाय की देखभाल में उसने कोई कसर नहीं उठा रखी थी। उसे समय पर ठीक उसी प्रकार सानी और चारा आदि देता, जिस प्रकार कि ज्ञान सिंह दिया करता था। समय पर दूध दुहता। जरूरतमंद हमेशा की तरह दूध लेने के लिए दरवाजे पर आ खड़े होते।

करामत अली को लक्ष्मी की पीठ पर रोगन मलने के बाद भी इत्मीनान नहीं हुआ। वह उसके सिर पर हाथ फेरता

रहा। "पुच पुच'' करता उसे पुचकारता रहा। लक्ष्मी स्थिर खड़ी उसकी ओर जिज्ञासापूर्ण दृष्टि से देखती रही। करामत अली को लगा जैसे लक्ष्मी कहना चाहती हो-"मालिक, मैं बच्चे जनती और दूध देती-देती अब थक गई हूं। मेरे थनों में अब दूध कहां मुझे मारने-पीटने से क्या मैं जवान हो जाऊंगी? क्या फिर से बच्चे जनूंगी, फिर से दूध दूंगी? यदि मैं तुम्हारे काम की नहीं हूं तो मुझे आजाद कर दो। मैं यह घर छोड़कर कहीं चली जाऊंगी।''

करामत अली शायद उसकी आंखों की भाषा पढ़ सकता था। लक्ष्मी की पीड़ा को समझना उसके लिए कठिन नहीं था।

आस-पड़ोस के घरों से अब दूध का खरीदार एक - आध ही रह गया था। उस शाम तिलंगिन सरोज अम्मा अपने बीमार बच्चे के लिए दूध लेने आई तो बी रमजानी ने सरोज से कहा- "अम्मा, आज से दूध बंद। लक्ष्मी ने दूध देना बंद कर दिया है।''

सरोज निराश होकर चली गई। उसके बच्चे को लक्ष्मी का दूध बहुत अच्छा लगता था।

करामत अली रात के समय ड्यूटी पर जाने की तैयारी में था। तभी रमजानी बोली- "रहमान के मियां, अगर लक्ष्मी दूध नहीं देगी तो हम इसका क्या करेंगे? क्या खूंटे से बांध कर हम इसे खिलाते-पिलाते रहेंगे...?''

"जानवर है। खूंटे से बंधा है तो इसे खिलाना-पिलाना तो पड़ेगा ही।''

"जानते हो, इस मंहगाई के जमाने में सिर्फ सादा चारा देने ही में तो तीन साढ़े तीन सौ महीने का खर्चा है।''

"सो तो है।'' कहते हुए करामत अली आगे कुछ नहीं बोला, घर से निकल कर कारखाने की तरफ हो लिया। रास्ते में वह रमजानी की बात पर विचार कर रहा था, लक्ष्मी अगर दूध नहीं देगी तो इसका क्या करेंगे। यह ख्याल तो उसके जहन में आया ही नहीं था कि एक समय ऐसा भी आ सकता है कि गाय को घर के सामने खूंटे से बांध कर मुफ्त में उसे खिलाना भी पड़ सकता है।

ड्यूटी पर उसके साथी नईम ने उसे कुछ परेशान देखा तो पूछा—"करामत मियां, क्या बात है, बड़े परेशान नजर आते हो? खैरियत है?

"ऐसी कोई खास बात नहीं है।''

"कुछ तो होगा।''

"अब क्या बताऊं। गाय ने दूध देना बंद कर दिया है। बुढ़ा गई है। उसे बैठाकर खिलाना पड़ेगा और इस जमाने में गाय-भैंस पालने का खर्चा....।''

"इसमें परेशान होने की क्या जरूरत है? गाय बेच दो....।''

करामत अली ने हौका भरते हुए कहा, "हां, परेशानी

से छुटकारा पाया जा सकता है। बहुत आसान तरीका है। लक्ष्मी को बेच दिया जाए।'' वह नईम के पास से हटकर अपने काम में जुट गया।

करामत अली रात का गया सवेरे कारखाने से घर लौटा। रात की ड्यूटी से घर लौटने पर ही वह प्रायः लक्ष्मी को दुहता था। उस दिन उसने देखा, लक्ष्मी खूंटे से बंधी भूखी आंखों से घर के दरवाजे की तरफ देख रही थी। उसकी हौदी

खाली पड़ी थी। उसे सवेरे सानी नहीं दी गई थी। यह देखकर उसे बड़ा दुख हुआ। घर में घुसते ही उसने रमजानी से पूछा-"क्या लक्ष्मी को अभी तक चारा नहीं दिया?"

रमजानी बोली-"रहमान से कहा तो था।"

"तुम दोनों की मरजी होती तो गाय को अब तक चारा मिल चुका होता। अगर वह दूध नहीं दे रही है तो क्या उसे भूखा रखोगे?" कहते हुए करामत ने ड्यूटी के कपड़े बदले और कटा हुआ पुआल, खली और दर्रा आदि ले जाकर लक्ष्मी के लिए सानी तैयार करने लगा।

लक्ष्मी उतावली-सी तैयार हो रही सानी में मुंह मारने लगी।

गाय को सानी देकर करामत अली उसकी पीठ देखने लगा। रोगन ने अच्छा काम किया था। दाग कुछ हल्के पड़ गये थे।

सानी खाते-खाते लक्ष्मी प्रायः एक बार डकारा करती थी। तब करामत या रहमान, उनमें से कोई एक बाल्टी लेकर उसका दूध दुहने बैठ जाता था। उस दिन भी सानी खाते-खाते उसने हुंकारा। करामत अली के अन्दर एक हलचल-सी मच गई। नीचे बैठकर उसने उसके थन सहलाए। लक्ष्मी 'पछाड़' मार कर एक ओर हो गई।

करामत अली खड़ा होकर उसकी तरफ निराशा-भरी दृष्टि से देखने से लगा। फिर मुस्कुराते हुए वह उसकी पीठ पर हाथ फेरता हुआ वहां से हट गया। उसने महसूस किया, उसके हाथ फेरते ही लक्ष्मी के शरीर में एक कंपन दौड़ गया था।

दस-पन्द्रह दिनों से यों ही चल रहा था। लक्ष्मी को नियमित रूप से चारा मिल रहा था। उसे भूखा नहीं रखा जा रहा था। वह खाती थी पर दूध नहीं देती थी। करामत अली के डर से घर में कोई कुछ बोलता नहीं था। एक दिन जब करामत अली ने पुआल लाने के लिए रमजानी से पैसे मांगे तो वह बोली, "मैं कहां से पैसे दूं? पहले तो दूध की बिक्री के पैसे मेरे पास जमा रहते थे। उन में से दे देती थी। अब कहां से दूं?"

"पैसों के बगैर तो टाल से पुआल मिलेगा नहीं।"

"लो, यह राशन के लिए कुछ रुपए रखे थे।" कहते हुए रमजानी ने संदूकची में से बीस का एक नोट निकाल कर उसे थमाते हुए कहा- "इससे लक्ष्मी का राशन ले आओ।"

"ठीक है। इससे लक्ष्मी के दो-चार दिन निकल जाएंगे।"

"आखिर इस तरह कब तक चलेगा?" रमजानी दुखी स्वरों में बोली।

"गोरू का पेट तो भरना ही पड़ेगा। लोग तो अपनी गाय-भैंसों को चरने के लिए खुला छोड़ देते हैं। लेकिन हमारी लक्ष्मी को चरने में झिझक होगी। इसे इधर-उधर मुंह मारने की आदत नहीं है।"

"तुम इसे खुला छोड़कर, आजमा कर तो देखो।"

"कहते हो तो ऐसा करके देख लेंगे।"

दूसरे दिन रहमान सवेरे आठ-नौ बजे के करीब लक्ष्मी को खदेड़ता हुआ इलाके से बाहर जहां नाला बहता है, जहां झाड़-झंखाड़ और कहीं दूब के कारण जमीन हरी नजर आती है, छोड़ आया ताकि वह घास इत्यादि खाकर अपना कुछ पेट भर ले। करामत सवेरे पांच बजे के करीब ड्यूटी चला गया था। रहमान ने सोच रखा था, अब्बा ढाई-तीन बजे तक ड्यूटी से घर लौट आएंगे। तब तक लक्ष्मी भी घास चर कर घर लौट आएगी। लेकिन मां-बेटे को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि लक्ष्मी एक-डेढ़ घंटे बाद ही दस-ग्यारह के बीच घर के सामने खड़ी थी। उसके गले में रस्सी थी। एक व्यक्ति उसी रस्सी को हाथ मे थामे कह रहा था—"यह गाय क्या आप लोगों की है?"

रमजानी ने कहा—"हां।"

"यह हमारी गाय का सब चारा खा गई है। इसे आप लोग बांधकर रखें। नहीं तो कांजी हाउस में चली जाएगी।"

उसने लक्ष्मी को पीटा भी था। उसकी टांग पर ताजा जख्म नजर आ रहा था।

रमजानी चुप खड़ी आगन्तुक की बातें सुनती रही। करामत अली होता तो उससे तकरार कर बैठता।

दोपहर बाद जब करामत अली ड्यूटी से लौटा और नहा-धोकर कुछ नाश्ते के लिए बैठा तो रमजानी उससे बोली- "रहमान के अब्बा, अब तो नौबत तकरार और झगड़े तक पहुंच रही है। अगर रहमान ने सबर से काम न लिया होता तो पंडित की बकवास का जवाब वह घूंसे के रूप में दे

ही देता। झगड़ा होकर ही रहता। यह लक्ष्मी किसी दिन कुछ करवा कर ही रहेगी। मेरी मानो तो इसे बेच दो।''

"फिर बेचने की बात करती हो.....? कौन खरीदेगा इस बुढ़िया को।''

"रहमान क्या तो कह रहा था, नीची पट्टी के ग्वाले इसे खरीद लेंगे। उसने किसी से कहा भी है। शाम को वह तुमसे

मिलने भी आएगा।''

करामत अली सुनकर खामोश रह गया। उसे लग रहा था, सब कुछ उसकी इच्छा के विरुद्ध जा रहा है। शायद जिस पर उसका कोई वश नहीं। ड्यूटी से थका-मांदा आया था। नाश्ते के बाद वह लेट गया। लेटते ही आंख लग गई। आंख तब खुली जबकि गाय के रंभाने की आवाज उसके कानों में पड़ी। दिन ढल चुका था और बस्ती की धूलभरी फिजा में संध्या और गहरी और उदास नजर आ रही थी। रहमान घर में नहीं था और रमजानी घर के आंगन में रात का खाना तैयार करने के लिए अंगीठी सुलगा रही थी। अंगीठी में से पत्थर के कोयले का निकलता हुआ सफेद धुआं ऊपर उठता हुआ पीपल की शाखाओं को छूने का प्रयत्न कर रहा था।

करामत अली यह अनुभव करते हुए कि लक्ष्मी की चिंता अब किसी को नहीं है, खामोश रहा। उठा और घर में जो सूखा चारा पड़ा था, उसके सामने डाल दिया।

लक्ष्मी ने चारे को सूंघा और फिर उसकी तरफ निराशापूर्ण आंखों से देखने लगी। जैसे कहना चाहती हो, मालिक यह क्या? आज क्या मेरे फांकने को यह सूखा चारा ही है, दर्रा-खली कुछ नहीं।

करामत अली उसके पास से उठकर मुंह-हाथ धोने के लिए गली के नुक्कड़ पर, नल की ओर चला गया।

सात-आठ बजे के करीब रहमान एक व्यक्ति को अपने साथ लाया। वह ग्वालपाड़ा का ग्वाला था। करामत अली उसे पहचानता था। इसके पहले कि उससे कुछ औपचारिक बातें हों, करामत अली ने पूछा,

"क्या तुम गाय खरीदने आए हो?''

उसने जवाब में कहा- "हां।''

"बूढ़ी गाय है, दूध-ऊध नहीं देती।''

"तो क्या हुआ......?''

"तुम इसे लेकर क्या करोगे....?''

"मैं कहीं और बेच दूंगा।''

"यह तुम्हारा पुराना धंधा है। मैं जानता हूं। मुझे तुम्हें गाय नहीं बेचनी।'' करामत मियां ने उसे कोरा जवाब दे दिया।

ग्वाले ने रहमान के मुंह की ओर देखा और खिसियाना-सा उनके पास से उठकर चला गया। कुछ क्षण पश्चात् रहमान भी वहां से खिसक गया।

रमजानी करामत के चेहरे के भाव भांपती हुई बोली- "क्या यह भी कोई तरीका है, आने वाले को खड़े-खड़े दुत्कार कर भगा दो।''

"तुम जानती हो वह कौन है....।'' करामत मियां ने कटु स्वरों में कहा।

"गद्दी मोहल्ले का ग्वाला है और कौन है।''

"हां, वह लक्ष्मी को ले जाकर वहां बेच आएगा जहां यह टुकड़े-टुकड़े होकर बिक जाएगी। ज्ञान सिंह मेरे दोस्त

को इसका पता चल गया तो वह मेरे बारे में क्या सोचेगा।''

"ठीक है, बुढ़िया को खूंटे से बांधे रखो और इसका पेट भरते रहो।''

"ठीक है, कल से मैं ही अपना एक वक्त का खाना बंद कर देता हूं। घर का खर्च कम हो जाएगा। मैं आज रात का खाना नहीं खाऊंगा।'' कहता हुआ करामत अली घर से बाहर चला गया।

वह गली से निकल कर बाहर सड़क की पुलिया पर जा बैठा। उसकी समझ में नहीं आ रहा था, वह क्या करे। रमजानी को तो वह डांट-डपट कर खामोश कर आया था पर इससे समस्या का समाधान होने का नहीं था। उसके एक वक्त का खाना न खाने से लक्ष्मी के चारे का खर्च पूरा होने का नहीं। तब वह क्या करे?

जिस सड़क पर वह बैठा हुआ था, वह उभरती हुई रात के साथ धीरे-धीरे सूनी पड़ने लगी थी। वह पुलिया से उठा और घर की ओर हो लिया।

रमजानी उसके इन्तजार में थी। ज्यों ही वह घर पहुंचा, उसने पूछा-- "कहां चले गए थे?''

"जहन्नुम में!'' करामत अली कठोर स्वरों में बोला- "लगता है तुम मां-बेटा मुझे पागल कर दोगे।''

"अए लो, मैंने ऐसा क्या कह दिया। जो मरजी में आए करो। मैं रोकने वाली कौन? चलो हाथ-मुंह धोओ और खाना खाओ।''

"नहीं, रहने दो। भूख नहीं है। मुझे अकेला छोड़ दो।'' वह आंगन में बिछी चारपाई पर लेट गया।

उसके दिन करामत अली बिना कुछ खाए-पीए रात को बिना बिस्तर की चारपाई पर पड़ा रहा। नींद उसकी आंखों से कोसों दूर थी।

रात काफी निकल चुकी थी। गली-मोहल्ले में खामोशी थी। इस खामोशी को कुत्तों के भूंकने का स्वर झिंझोड़ने लगता था। वह चारपाई पर से उठा। आंगन का दरवाजा खोला और लक्ष्मी के पास गया। लक्ष्मी खड़ी-खड़ी जुगाली कर रही थी। उसे देखकर वह हौले-से डकारी। करामत अली ने उसकी पीठ पर हाथ फेरा। उस पर उसे बड़ी दया आ रही थी।

वह काफी देर तक उसकी पीठ, उसका सिर पुचकार-पुचकार कर सहलाता रहा। फिर वह अपनी चारपाई पर आ गया।

सवेरे देर तक वह लेटा ही रह गया।

रमजानी ने उसे जगाने की कोशिश करते हुए पूछा, 'रहमान के अब्बा, उठो, ड्यूटी पर नहीं जाना है क्या?''

करामत अली ने जवाब दिया-"नहीं, आज मैं ड्यूटी पर नहीं जाऊंगा।''

"नागा हो जाएगा, सो....?''

"नागा होता है तो होता रहे। मेरी बला से।''

कुछ देर बाद करामत अली ने चारपाई छोड़ी। मुंह-हाथ धो घर से बाहर निकल गया। लक्ष्मी के गले से बंधी हुई रस्सी खूंटी से खोली और उसे गली से बाहर ले जाने लगा।

रमजानी, जो दरवाजे पर खड़ी यह सब देख रही थी, बोली--"इसे कहां ले चले?''

करामत अली ने कहा--"जहां इसकी किस्मत में लिखा है।''

वह लक्ष्मी को सड़क पर ले आया। लक्ष्मी बिना किसी रुकावट या हुज्जत के उसके पीछे-पीछे चली जा रही थी। वह उसकी रस्सी पकड़े उसे सड़क पर आगे की ओर खींचता चला गया। चलते-चलते कुछ क्षण रुककर वह बोला--"लक्ष्मी, चल, अरे गऊशाला यहां से दो किलोमीटर दूर है। तुझे गऊशाला में भरती करा दूंगा। वहां इत्मीनान से रहना। वहां तू हमारे घर की बनिस्बत मजे में रहेगी। वहां तुझे भूखा नहीं रहना पड़ेगा। कोई तुम्हारा दूध हासिल करने के लिए तुम्हें मारे-पीटेगा नहीं। भले ही मैं वहां न रहूं पर जो लोग भी होंगे, मेरे ख्याल में तुम्हारे लिए अच्छे ही होंगे। मैं कभी-कभी तुम्हें देख आया करूंगा। तब तू मुझे पहचानेगी भी या नहीं, खुदा जाने।'' कहते हुए करामत अली का गला भर आया। आंखों में आंसू उतर आए।

"चल, लक्ष्मी चल। जल्दी-जल्दी पैर बढ़ा।'' और वह खुद किसी थके-मांदे बूढ़े बैल की तरह, भारी कदमों से आगे बढ़ने लगा।

9/ ए, पंजाबी लाइन
रामदास भट्टा, जमशेदपुर-831001

• भास्कर चंदनशिव

पानी

ऐन दोपहर। चिलचिलाती धूप। झुलसते हुए कोमल वृद्ध पेड़। कमर से टूटे हुए सूखी लकड़ियों के गट्ठर से द्वीप. ... कहीं-कहीं बालू के पेट में सड़ांध मारनेवाला हरा पानी. .....मरते-सड़ते हुए मेंढक, मछली और केकड़े ...

सात-आठ दलित कंधे पर कुदाल-फावड़े लेकर पानी का मार्ग खोजते फिरते हैं ...पर पानी वाली जगह कहीं नहीं मिलती। यहां खोदें कि वहां खोदें...कहां खोदें?.....पानी चाहिए...। गांववाले कुएं का पानी नहीं देते। नहीं....कब तक मांगते बैठें।

"अण्णा, दो बाल्टी पानी इस मटके में डाल दो ...।"

"बाईसाहबां, क्या एकाध बाल्टी पानी देते हो....?"

आप अपना झरना खोद लें नदी में ....इस विचार से दलित लोग जगह खोज रहे थे। कहीं तो गहरी जगह देख कर पुरुष डेढ़ पुरुष गहरा गड्ढा खोद लें.....पर अब तक जगह तो नहीं मिल रही थी....सतत खोज चल रही थी।

"सदान्ना, यहां होगा .....बालू भी गीली है...." ज्योती कुदाल से कुरेदते हुए बोला....

"पर क्या यह गड्ढा गांववालों से सहन होगा...?

"क्यों?"

"...."

"हां तो, लेकिन क्यों बाधा डालेंगे..."

और सभी नंगे बदन से गड्ढा खोदने लगे.....ऊपर से धूप।

....

पेट के गड्ढे में भूख की आग.....पर पानी। पानी चाहिए न.....भूखे पेट में लगी हुई अग्नि को रोकने के लिए दलित रुक-रुककर खोद रहे थे। नंगी पीठें झुलस रही थीं। पसीना बह रहा था...।

"लड़को, थोड़ा-सा विश्राम लो.....बैठो......."

"सदान्ना, अब कैसा विश्राम.....विश्राम एक ही बार मिलेगा ऊपर जाने पर .....।"

"बाबा रे। सब इतना खोद कर फिर पत्थर कूटने जाना है......"

"दोस्तो, तुम खोदो.....मैं पलभर बैठता हूं .....इन सात-आठ दिनों में छाती में पीड़ा होती है..."

सदान्ना तंबाकू मलते हुए बैठ गया .....लड़के खोद रहे थे.....। जैसे-जैसे नमी लग रही थी, वैसे-वैसे जोश आ रहा था। सदान्ना पसीने से तर उनके शरीर देख रहा था....। और यूं ही मन संदेह से घबरा गया था। लड़कों से कुछ कहना मुश्किल था। वे ही क्रोध प्रकट करते हुए बोले....

"सदान्ना खुद भी नहीं करता....और दूसरों को भी खुले मन से कोई भी काम करने नहीं देता....।" बोले कि न बोले इस दुविधा में सदा बैठा था।

इतने में दाम्या ही पुकार कर बोल उठा-

"अरे, वह देख पानी...।" और नाचते-हंसते हुए ऊपर आया। सभी एकत्र होकर कौतूहल से पानी की ओर देख रहे थे...। तालियां बजाकर हंस रहे थे...।

"अरे, सदान्ना, पगले जैसे क्यों बैठा है? भागो, भागो। नारियल, गुलाल ले आ। भागो, भागो।" पर सदा वैसे ही बैठा रहा। वैसे ही देखता रहा...।

"अरे ऐ सदा, अरे उठो, अरे, यह पानी तो देख लो.. ...पानी पानी।"

"लड़को, भगवान देता है पर करम आड़े आते हैं...। उसे क्या करेंगे.....।" गड्ढे के तट पर जड़ पैरों से आया। पानी की ओर देखा। मन भरभर आया...। पर यह पानी टिकेगा कैसे? क्या पीने के लिए मिलेगा?.....आंखें सतत पानी पर तैरती हैं और भीतर की आंखों में होनेवाला पानी देखती हैं.....भरकर आया हुआ.......क्षणभर सदा वैसे ही देखते खड़ा रहा......स्तंभ जैसा ..... आंखें शांत हो रही थीं.... संतोष से। भरी हुई आंखें सदा ने पोंछ डालीं.....पानी की ओर थोड़ा-सा देखकर हंसा ....हंसते हुए निकल पड़ा.....आसपास कोई नहीं ....और निर्जन चलती नदी के पास में उसकी हंसी उसे सुनाई दे रही थी ......अकेलेपन से सदा होश में आया। गहरे गड्ढे में उतरकर पानी के किनारे पर बैठ गया....अधीरता से पेट भर-भर कर पानी पिया.....संतोष से डकारें देते हुए ऊपर आया....गांव की पगडंडी पर चलने लगा। गांव की पगडंडी की

गरम धूप नंगे पैर को झुलसा रही थी....और सदा चल रहा था.....धूप की परवाह किये बिना। शरीर पसीने से तर हुआ ......पेट में ठंडा पानी उत्साह दे रहा था। पर मन न जाने क्या-क्या कहकर पीड़ा दे रहा था...... ।

"........मैंने तो बहुत बार लड़कों से कहा- लड़कों, यहां गड्ढा मत खोदो .... । अब निचले भाग में गांववालों का गड्ढा है, यह क्या लड़कों को मालूम नहीं था... । कल गांववाले क्षुब्ध हो उठे और कहने लगे कि तुमने जानबूझकर ऊपर के भाग में गड्ढा खोदकर पानी निकाला .....हमारा पानी अपवित्र करने के लिए तुमने यह काम किया, तो कौन-से मुंह से उन्हें उत्तर दूंगा? अरे, वैसे कैसे कहेंगे, उससे कैसे पानी अपवित्र बनता है?.......? पर यह उन्हें पसंद होना चाहिए न.....?'' सदा अपने मन में बोल रहा था। घर के पास के नीम के पेड़ के नीचे आ बैठा। लम्बी सांस छोड़ते हुए, फटे हुए रूमाल से मुंह पर से बहने वाला पसीना पोंछ डाला......खंखारकर गला गीला किया......नजर थी पगडंडी की ओर .....सतत।

"सदान्ना कब आया नदी पर से?'' गांव में से नारियल, गुलाल लेकर आया संता पास आकर बोल उठा.....सदा होश में आया, "अभी आकर बैठा .....बैठो तो पलभर.... ।''

"सदान्ना, तुम्हारी बात मुझे पसंद आयी थी, पर दस लोगों के विरोध में कैसे जाना?.....इसलिए चुप रहा......'' संता पैरों से मिट्टी फटकते हुए बैठ गया।

".......'' सदा केवल हंसा।

"........अरे, अभी गांव में गया था। नारियल, गुलाल लाने के लिए......तो भगा बनिया क्षुब्ध हो उठा ....''

"क्या कहा...?'' सदा ने घबड़ाते हुए पूछा।

"गड्ढा खोदकर आये हो.... भरो, कैसे पानी भरते हो। हमारा पानी अपवित्र बनाने के लिए ऊपर की तरफ गड्ढा खोदा होगा......ऐसा बोलते-बोलते दांत पीसने लगा.... ।''

"संत्या, यह मेरे भी मन में आया था। चोख्या से भी कहा था, पर वह भी मुझे डांटने लगा....कहा कि कुछ भी करो। युवा खून हुआ तो क्या हुआ?''

दोनों पलभर चुपचाप। सभी कुछ शांत .... । कोई कुछ नहीं बोला। संता बैठे-बैठे नारियल के रेशे तोड़ रहा था.... ...और सदा एकटक नारियल की ओर देखता रहा......सतत एकटक ... । इतने में कहीं से अकेला कौआ कांव-कांव करते हुए आया और सदा की आंखों के सामने नीम की लटकती टहनी पर बैठ गया.......सदा की नजर नारियल पर से हटकर कौए की ओर गयी। वह अपने आप से बोल उठा- "कौओं ने [illegible] तुम्हारा शाप सच साबित हुआ। अब और कौन-सा शाप देने के लिए आये हो? .....अरे, जितने जानवर थे मर गये। अरे, क्या रहा? इस बचे-खुचे पानी को भी शाप दे दो ... ।'' सदा की इस बात पर संता रुआंसी हंसी हंसा। क्या कहता? .....फिर दोनों बारी-बारी से एक दूसरे का मुंह देखने लगे...पलभर ऐसा ही होता रहा.... ।

"संता जाओ, नारियल फोड़ आओ।'' लंबी सांस छोड़कर सदा बोल उठा।

सूर्यास्त हुआ, अस्पष्ट अंधकार फैला। दीप जले, चूल्हे जले......बड़े आदमी खाना खाकर बोलने लगे। यों ही निर्जन रास्ते एक ही भाषा बोलने लगे.....

"उन्होंने जान-बूझकर ऊपर की ओर गड्ढा खोद डाला।''

"चलो, सभी मिलकर जायेंगे.... ।''

"लो पाटील को आगे.... ।

"बुलाओ सरपंच को.... ।

"अरे, हम खुद उनकी ओर क्यों जाएं......''

"बुलाओ, बुलाओ,'' एक ही शोर...... ।

रामा येसकर निकल पड़ा ....उसका खरगोश-सा मन घबरा उठा ......सदान्ना, संताजी चचेरे भाई, संभा भाई, चोखा चचेरा भाई.....सभी रिश्तेदार.....जात-पांत के ....क्या करें? कैसे बुलाऊं ...? क्या कहूं? गांव क्षुब्ध हो उठेगा.....घबराया हुआ मन.....रामा को चलते-चलते पसीना आ गया...... ।

"रामा, कहां जा रहा है.....गुनाहगार को बुलाने? तुम कौन हो...? तुझे पानी नहीं चाहिए....? मरने पर कंधा कौन देगा? गांववाले देंगे? फिर ....? फिर ....? '' रामा आया। पल भर वहां के चौक में हड़बड़ाया-सा खड़ा रहा, दुविधा में पड़ गया।

"कौन खड़ा है, रामा दादा, अंधेरे में अकेले क्यों खड़े हो......?'' संभा नजदीक आया.... ।

"संभा, गांव क्षुब्ध हो उठा तुम पर। तुम सभी को चौपाल पर बुलाया है,'' रामा धीरे-धीरे पर धैर्य से बोल उठा।

"क्या कहते हैं पाटील?'' संभा बड़बड़ाया..... ।

"क्या कहते हैं, अपने गड्ढे को पानी लगा और-उनका गड्ढा सूखने लगाा...?''

"पर, वह गड्ढा तो पहले ही सूख गया था.... ।''

"हां, जाओ आगे, आते हैं, कह दो, जाओ..... ।''

रामा वापस लौटा। और संभा सदान्ना की ओर निकल पड़ा ...... ।''

देर रात में बैठक हुई। एक तरफ गांववाले और दूसरी तरफ दलित। बीच में पेट्रोमेक्स जलती है। गुट-गुट में बातचीत हुई। और थोड़ी देर बाद सरपंच ऊंची आवाज में बोलने लगा।

"अरे ऐ सदा, क्या किया यह... लड़कों को अच्छी राह बता कर देखते रहने की उम्र है तुम्हारी कि उनके सिर में गोबर मिलाने की ...?''

"क्या गड्ढे की बात करते हैं?'' सदा आगे सरका।

"गड्ढे की नहीं, हमारी शादी की बात है.... ।'' पाटील बांकेपन से बोल उठा और सभी खिलखिलाकर हंस पड़े .... सदा लज्जित हुआ.....संभा के ओंठ दांत के नीचे दब रहे थे। कानों की लौ तप्त हो रही थी।

"किसने कहा यह गड्ढा खोदने के लिए......? नदी क्या बाप की जायदाद है.... । कल सरकार हमारी छाती पर बैठी तो.....?''

"अब तुम ही बताओ हम कहां का पानी पियें.....? नदी में गड्ढा खोदा, नदी हम बांध नहीं लाए.... । गांववाले बड़े-बड़े पेड़ तोड़ ले गए तब सरकार नहीं आयी। और अब ही..... ।'' संभा मुश्किल से मन समेटकर बोला।

"सरपंच, उनकी शिकवा-शिकायत तुम दूर नहीं करोगे तो फिर कौन करेगा?''

पाटील के बोलने पर फिर हंसी .....पिशाच जैसी।

"सद्या, अब तू ही बता दे, ऊपर के गड्ढे का बढ़ा हुआ पानी रिसकर नीचे हमारे गड्ढे में नहीं आयेगा। फिर यह झूठापन जानबूझकर किया कि नहीं.....?'' भगा बनिया क्षुब्ध होकर बोला।

पलभर सभी चुपचाप। कान मुंह को......मुंह कान को लगा। पैट्रोमेक्स की "सूं सूं'' आवाज बड़ी होकर एक ही स्वर में प्रकट हुई। पाटील ने एक-दो की ओर देखकर आंखें घुमाईं .... । वे झट से उठकर चले गए । पल भर में भगा बनिया उठ गया......लोग कुलबुलाये .... । पाटील खंखारकर बोला-

"क्या सरपंच, मुंह सिल गए क्या उनके ..... भगा का कहना क्या झूठ है? जान-बूझकर ऊपर की ओर गड्ढा खोदा कि नहीं उन्होंने.....?''

इतनी देर तक मुट्ठी भींचे बैठा संभा क्षुब्ध होकर बोल उठा -

"यह सरासर झूठ है...... । ऐसी नीचता.....हमारे सपने में भी नहीं थी..... ।'' क्षुब्ध हुए संभा को जोर से खींचकर सदान्ना नम्रता से बोला-

"पाटील, इस लड़के की बात मन पर न लेना.... । अपने समय की बात अब नहीं रही। नहीं तो क्या हम इस चौपाल के फर्श पर बैठ सकते हैं?'' बोलते-बोलते सदान्ना ने संभा की चुटकी ली..... । और संभा के पास बैठा रामचंद्र गुस्से से बोल उठा-

"अब पानी की तरह यह राह इस फर्श की राह से रिसकर जाती होगी.... ।''

चार लड़के मुंह दबाकर हंसे.... । पेट्रोमेक्स की ओट में गर्दन छिपाने लगे।

"अरे, हमारा मजाक उड़ा रहे हो? क्या समझते हो? उठो उठो... । सरपंच, सुन लो उनकी बात।'' फेंटा झटकते हुए पाटील उठा। दांठ भींच कर निकल गया.....और सब घबड़ाकर देखने लगे.... । मन दब गए। मुंह कान को और कान मुंह को ... । भय बोलने लगा। सभी के दिल धड़कने लगे।

रात ढल चली । ठंडी हवा ने दलित बस्ती में प्रवेश किया... । आकाश निरभ्र होने लगा। झोंपड़ी-झोंपड़ी हिलने लगी......बोलने लगी......दड़बे खुल गये .....और स्त्रियां मटके लेकर पगडंडी पर निकल पड़ीं......ताजा पानी। अधिकार का पानी। मन नाचने लगे। पेट के गड्ढे...चलो, पानी ही सही-मानो बोलने लगीं।

हर एक स्त्री ....पगडंडी पर कतार लग गई।

सभी जानेवाली। वापसी का मटका नज़र ही नहीं आता। स्त्रियां, लड़के और आदमी..... सब के सब बर्तन लेकर भागदौड़ में शामिल .... ।

पर सभी लोग नदी में ...... अस्पष्ट धुंधले प्रकाश में .....गड्ढा खोजते हैं......कोई नीचे ......कोई ऊपर ... दक्षिण की ओर, उत्तर की ओर...पर गड्ढा....? पर गड्ढा कहां छिप गया? कहां ....गया? कहां गया पानी का गड्ढा?

एक ही जगह पर रखे हुए......मटके.....आकाश की ओर भूखे मुंह खोलकर पड़े हुए.....गर्दन से गर्दन मिलाए ......पानी .....पानी ....कहते हुए।

अनुवाद: के. जी. कदम, मु. पो. मोडनिंब -413301
तहसील-माढा, जिला-शोलापुर

• सैली बलजीत

हिस्सेदार

इन दिनों की प्रतीक्षा उसे पूरा साल भर रहती है। इस बार भी चैत्र का महीना उसके लिए खूब खुशियां लेकर आया है। इसी माह में तो सारे लड़कों के पेपर शुरू होते हैं।अपने स्कूल के अतिरिक्त शहर के दूसरे प्राइवेट स्कूलों के बच्चे भी तो होते हैं।

सवेरे ही रंग-बिरंगी वर्दियों में सजे-धजे लड़के, हाथों में गत्ते, पेन्सिलें, पेन समेटे हुए, स्कूल के मेन गेट के बाहर इकट्ठा होने लगे थे। नौ बजते-बजते पूरा बाजार लड़कों की भीड़ से भर-सा गया था। मेन गेट के बाहर पुलिस कर्मचारी भी वर्दियों में सजे हुए विराजमान हो गए थे। लड़कों को छोड़ने आए उनके भाई-बाप अपने-अपने स्कूटरों-साइकिलों को सुरक्षित जगह पर पार्क करने लगे थे।

वह सब गेट के भीतर खड़े ही देखने लगा था। स्कूल के हैडमास्टर ने उसे मेन गेट खोलने का आदेश दिया तो एक साथ लड़कों का रेला भीतर आ गया। भीतर आकर सभी लड़के अपने-अपने अभिभावकों को खोजने लगे। कई जने तो पहले ही से भीतर ड्यूटी करने वाले टीचरों से मिल आए थे, कई मौके पर ही परिचय प्राप्त कर रहे थे। उसने सभी लड़कों को अपने-अपने रोल नं. अनुसार कमरों में बैठने का आदेश दिया तो सभी भागते हुए अपने रोल नं. दीवार पर लगे नोटिस बोर्ड पर देखने के लिए लपके।

पेपर शुरू हो गया था। पुलिसकर्मी डण्डे लहराते हुए मेन गेट पर तैनात रहे। थोड़ी ही देर के बाद पेपर 'आउट' होना स्वाभविक था, ऐसा ही हुआ। पेपर लेकर वही तो आता है बाहर। वह स्कूल का चपड़ासी है। उसे बाहर आने-जाने में कोई पाबन्दी नहीं है, तभी तो वह सलीके से एक लड़के का पेपर लेकर बाहर आता है। इत्ते से काम के लिए उसे पचास रुपए मिल जाते हैं, फिर उसका क्या जाता है। वह पेपर थमा जाता है एक जने को। सिर पर अंगोछा बांधते हुए वह बाहर खड़े किसी आदमी से कहता है। 'फटाफट कर लो अब ..ऐसे करो, इसकी फोटो कापी क्यों नही करवा लेते ? 'अभी हाथ से उतार लेते हैं...हैं कितने सवाल...' बाहर खड़े लोगों में से कोई कहता है। 'भाई साब चालीस सवाल उतारते-उतारते दोपहर हो जाएगी......तो भीतर सवालों के उत्तर क्या खाक भेजोगे?' वह उन्हें मशविरा देने लगा था।

'अभी भिजवाते हैं फोटो कापी के लिए...'

'आठ-दस कापियां करवा लाना...बार-बार मेरा सिर मत खाना... मेरा सिर खाओगे तो मेरी फीस याद है ना... पचास रुपए...भाई साब तुम्हारे भले के लिए कैता हूं।'

'लो अभी भिजवाते हैं छोकरे को...बस, गया और आया....पास ही तो है दूकान।' किसी ने पेपर पकड़ते हुए कहा था। कोई दूसरा जना बोला था, 'पर्चियां अंदर पहुंचा दोगे ना?'

उसने शातिर जवाब दिया था, 'ज़रूर पहुंचाऊंगा जी....अपनी फीस है बस! '

'बता दो, क्या फीस है?'

'बताई है सब्बी को ...कोई नई बात थोड़े है।'

'क्यों बनियों की सी बातें करता है माधोशाह, अब बता भी, क्या लेगा?'

'एक पर्ची के बीस रुपए ...बोलो है मंजूर?'

'ठीक है....अब्बी तैयार करते हैं पर्चियां ...तुम भीतर से हो आओ।'

'तो मैं आता हूं अंदर का चक्कर लगाकर ...' वह इतना कहते ही मेन गेट तक आ गया। पुलिसकर्मी वहीं तैनात हैं, उसका बार-बार अंदर-बाहर जाना पुलिस वाले भी झेल रहे हैं। उसको पता है, पेपर के बाद रुपयों की गिनती करते हुए उसकी आंखों में चमक आ जाती है। इन दिनों तो वह अंग्रेजी दारू पीता है। शाम को पूरा आऊट हो जाता है। वह मन ही मन हिसाब बैठाता है,अभी तो पेपर शुरू ही हुए हैं, पहला ही दिन है आज। लोग उसके पीछे-पीछे घूम रहे हैं, जैसे वह कोई बहुत ही खास अदमी

हो गया हो। कमरों के अंदर वह बेबाक हुआ सा चक्कर लगा आता है। हैडमास्टर से लेकर स्कूल के तमाम टीचर उसकी रंगीन तबीयत से वाकिफ हैं।

वह ठीक पन्द्रह मिनटों के बाद, मेन गेट से बाहर आता है। लोग उसे देखते ही खिल उठे हैं। उसने बाहर आकर, सबसे पहले बीड़ी सुलगाई है। दो-एक सुट्टे लगाते हुए, वह टहलने लगा है। लोगों ने उसे लगभग घेर-सा लिया है।

'पर्चियां तैयार हो गई हैं ना?' वह आते ही पूछता है, उसका सभी जनों से एक साथ पूछने का अपना ही स्टाइल है।

'बस हो रही हैं ...लड़के लगे हुए हैं गाइडों से कापी करने, बस एकाध मिनट की बात है।'

'इतना टेम नहीं मेरे पास। मैं अंदर चला गया तो फिर बाहर आते-आते आधा घण्टा तो लग ही जाएगा।'

'अब्बी हो गईं समझो....बस एक सैकिंड रुको भाई, हद्द हो गई माधो शाह...खुश कर देंगे ...' कोई जना ठहाका लेता है।

तभी एक साथ सभी ने उसे घेर लिया था। सभी ने हाथों में अपने-अपने लड़कों को नकल के लिए भिजवाई जाने वाली पर्चियां पकड़ रखी थीं।

'एक-एक करके दो ना? क्यों भीड़ कर रहे हो... बारी-बारी आते जाओ...'

ये लोग चैन ही नहीं करते..... बारी-बारी आते जाओ भई। सभी की पर्चियां जाएगी अंदर...जब माधो शाह जैसा शेर आदमी है....' किसी ने मसका लगाते हुए कहा था।

'यह बात हुई ना? पर्ची पर रोल नं. लिख दिया है...?'

'नईं तो....'

'तो फिर पर्ची कैसे पहुंचेगी मेरे भाई, मैंने कौन सी हर लड़के की फोटो खींच रखी है...पर्ची पर रोल नं. लिख बाऊ फटाफट...और फीस रख दी है ना?'

'खोल कर देख लो....'

'मजाक करता है....? हद्द हो गई....दस रुपए ? बाऊ दस रुपए में क्या आता है....फिर पूरे पांच सवाल हैं पर्ची में ....लड़के के लिए दस रुपए और देते जान क्यों निकलती है ....उठाओ इसे...' उसने पर्ची और उसके भीतर रखा दस का नोट ज़मीन पर पटक दिया था। गुस्से से लाला पीला हो आया था वह।

'यह लो दस रुपए और...अब तो खुश है ना...?'

'बहुत टैम खराब कर दिया बाऊ.... मेरे पास इतना टैम नहीं....और बोलो कोई है??' उसने इधर-उधर देखा था।

कई जनों ने एक साथ, उसे पर्चियां थमा दी थीं। उसने एक काम तुरंत कर लिया था कि पर्चियों में से बीस रुपए अलग से निकालते हुए, सिर पर बंधे साफे में खोंस लिया था। हर पर्ची में से बीस-बीस रुपए निकालते वक्त उसका चेहरा खिल गया था। उसने मन ही मन अंदाजा लगाया कि कम से कम पचास पर्चियां उसके पास जमा हो गई थीं। उसके द न्धे में ईमानदारी है, ऐसा सभी ने महसूस किया है। कई जने तो उससे तकरार करने लगते हैं कि वह पर्चियां अंदर संबंधि त लड़कों तक पहुंचाता नहीं है। तब ऐसे में वह जल-भुन जाता हैं। उसे प्रत्येक लड़के के पास जाकर पूछना पड़ता है कि उसका रोल नं. क्या है। उसने पुराने ज़माने की पांच जमातें पढ़ी है, तभी तो वह पर्चियों पर लिखे रोल नं. पढ़ पाता है। इन दिनों वह लगभग पन्द्रह-बीस हजार कमा लेता है।अभी तो पहला ही दिन है। पेपर भी फिर आसान सा है-हिन्दी का। उसे मालूम है, अंग्रेजी और हिसाब के पेपरों वाले दिनों में लोग उसे हर पर्ची पर पचास-पचास देने से भी गुरेज नहीं करते। उसी दिन तो वह जमकर कमाई करता है, वरना पूरा साल भर मिलने वाली दो-अढाई हजार की तन्खाह से क्या बनता है। बच्चों की रोटी ही मुश्किल से चलती है। उसकी बीवी भी इन दिनों की खूब प्रतीक्षा करती है। उसने अपनी बीवी को भी कभी नाराज नहीं किया। हर साल उसे बढ़िया सिल्क का सूट सिलवा कर देता है। यही तो है उसकी दीवाली। लोग दीवाली पर नया सामान खरीदते हैं तो वह इन्हीं दिनों को दीवाली समझता है। वह पर्चियां सभी लड़कों तक पहुंचा कर ही दम लेता है।

वह बाहर आकर देखता है, भीड़ में खड़े लोग उससे परिचित हैं। वह मन ही मन अंदाजा लगाता है। उस इलाके का पटवारी भी वहीं खड़ा है पर्चियां देने वालों में। कई और लोग भी हैं.....डिपू वाला लाला, बिजली विभाग के कई

कर्मचारी, कई दूसरे दूकानदार, बाई पास वाले शराब के ठेकेदार का कारिंदा, बैंक में काम करने वाले....और भी कई लोग...जिन्हें वह सिर्फ शकल ही से पहचानता है। लेकिन, इस वक़्त वह अपने को इस तरह व्यस्त रखता है कि कोई उसे अपनी पहचान दे भी तो वह अनसुना-सा कर देता है। वह किसी का लिहाज नहीं करेगा, किसी भी सूरत में नहीं।

'क्या हाल हैं माधो शाह? पहचाना मुझे?' उसके कानों में किसी का स्वर पड़ा तो वह चौंक गया।
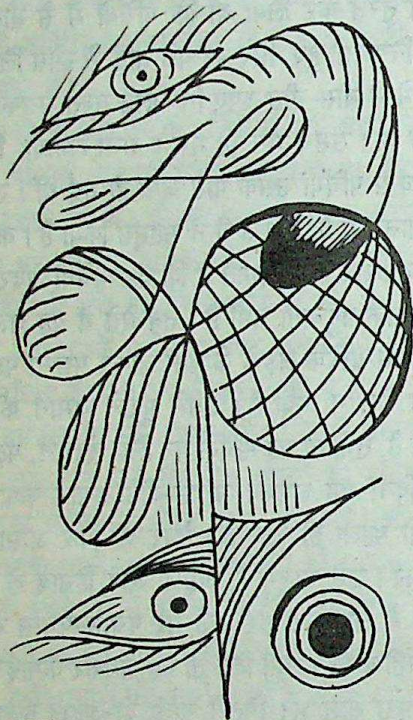
'क्या काम है? पर्ची पहुंचानी है? लाओ निकालो फटाफट बीस का एक नोट...मेरे पास टैम नहीं।'

'मुझे नहीं पहचाना? तुम्हारे इलाके का पटवारी हूं भई ...उस दिन तुम आए थे ना किसी काम से...'

'कैता हूं ना, टैम खराब ना कर मेरा...पर्ची देनी है तो निकालो बीस का नोट....मैं जा रहा हूं अंदर....बोलो है मर्जी?'

'हद्द हो गई...' पटवारी गुस्से में आ गया था।

'तो बोल, उस दिन मेरा लिहाज किया था? सौ-सौ के दो नोट लिए थे ना? बोल लिए थे ना? अब बोलता क्यों नहीं?'

सभी लेते हैं....मैंने ले लिए तो क्या हुआ?' पटवारी ने गुस्से में कहा और इधर ताकने लगा।

'तो मैं कौन-सा गुनाह कर रहा हूं?'

'पर तेरा काम भी तो कर दिया था ना?'

'एहसान कर दिया फिर?' उसने समस्त जमा हुआ गुस्सा लावे– सा उगल दिया था।

'अब बीस रुपए लेगा?' पटवारी बौखलाया था।

'बिलकुल लूंगा...इस वक्त कोई लिहाज नहीं, तुमने लिहाज नहीं किया तो मैं लिहाज क्यों करूं?' उसने सपाट लफ्जों में पटवारी को समझा दिया था।

'यह लो....' पटवारी ने जलते-भुनते हुए पर्ची में बीस का नोट रख दिया था।

'तुम भी लाओ लाला...' उसने अपने सामने खड़े डिपू वाले लाला से कहा था।

'क्यों शर्मिन्दा करता है माधो?' लाला चिहुंका था।

'तुम भी फोकट में पर्ची देने आए हो लाला?'

'क्या फर्क पड़ता है माधो शाह.....आज शाम को आ जाना....मिट्टी का तेल आया है....चीनी भी आ गई है..... जितनी चाहे ले जाना...'

'उस दिन क्या हुआ था...? टरखा दिया था ना?

'क्यों इस वक़्त धन्धे की बात कर रहा है?'

'तो बोल क्या करूं? तुम भी तो धन्धा करते हो...मुझे भी धन्धा करने दो....'

'देख ले माधो, मुझसे भिड़ेगा तो नुकसान उठाएगा....'

'तो क्या कर लेगा..? मिट्टी का तेल नहीं देगा, यही ना? पर लाला, इनकार नहीं कर सकता तू...देख लेना...मैं आऊंगा डिपू पर...देखता हूं कैसे इनकार करेगा?' वह भी गुस्से में आ गया था।

'तू तो आज ऐसे अकड़ रहा है, जैसे स्कूल तेरे बाप का हो.....'

'अकड़ता हूं जा, जो करना है कर ले... पर्ची भेजनी है तो बीस का नोट निकाल फटाफट ...मेरे पास टैम नहीं।' उसने अपनी दो टूक बात कह दी थी।

'क्यों झगड़ता है लाला...बेचारे गरीब की दिहाड़ी बनती है तो बनने दे ना।' किसी ने उसकी तरफदारी की, तो वह

मन ही मन खुश हो गया। उसने देखा था, लोग आसपास वाले घरों के थड़ों पर पसरे हुए, गाइडों में से फटाफट पर्चियां बनाने में व्यस्त हैं। उसने फिलहाल वहीं रुकने का फैसला किया। पुलिस वाले भी पास आ गए थे उसके। उसने सोचा कि सच ही पुलिस वाले कितने भले आदमी हैं, जो सब देख कर भी आंखें मूंदे हुए खड़े हैं गेट पर। एक पुलिस वाला उसके पास आते ही बोला था—

'दिहाड़ी तो खूब बन गई आज तेरी, माधो?'

'आपकी मेहरबानी है जनाब!' वह खिसयानी हंसी हंस दिया था,

'कितने बन जाते हैं?'

'कभी हिसाब नहीं किया...... पर आप क्यों चिन्ता करते हैं..... आज शाम का खर्चा मेरी तरफ रहा...चले चलेंगे 'चक्की' वाले हिमाचल के ठेके में.... फिर आप लोग भी तो साथ होंगे...... मुझे क्या चिन्ता.....और सस्ते में मिल जाएगा माल....'

'हमारी चिन्ता छोड़ ओए...अपनी सुना?'

'बढ़िया चल निकलता है इन दिनों...एक साल के बाद तो आते हैं ये दिन....'

'लोगों से क्यों झगड़ रहा था?'

'स्साले फोकट में तंग करते हैं, ऊपर से आंखें तरेरते हैं।'

'शाम का पक्का रहा ना?'

'हद्द हो गई जी, क्यों शर्मिंदा करते हैं....' वह मुस्कुरा दिया था।

'बोल....लगा दें चार उसको...हुक्म तो कर माधो... पुलिस के हाथ नहीं देखे कम्बख्तों ने....'

'चलो छोड़ो जी...क्यों फोकट में पंगा लें....अपना क्या जाता है...मैं परवाह थोड़े करता हूं किसी की?'

'कितना टेम रह गया है पेपर खत्म होने में?'

'बस रह गया है आधा घण्टा...मैं अंदर जाकर फिर आता हूं... 'लास्ट राऊण्ड' में तो दिहाड़ी बनती है।' इतना कहकर वह अंदर चला गया था।

उसने मन ही मन सोचा कि सच ही इन दिनों सभी उसके पीछे पूंछ हिलाते हुए ऐसे घूमते हैं, जैसे वह कोई बहुत ही खास आदमी हो गया हो। वह और अकड़ गया था। उसके सामने पटवारी और राशन वाले लाले के चेहरे मंडरा रहे थे जिनसे वह फिजूल में ही झगड़ा कर बैठा। फिर वे लोग उसका लिहाज नहीं करते तो वह क्यों करे। उसे कभी भी इन लोगों से डर नहीं लगा। वह क्यों डरने लगा इन लोगों से। उसे एक बात का क्षोभ होता है कि जिस ढंग से वह इन दिनों खूब बदनाम हुए से, पैसे कमाता है, उसका उपयोग वह सही ढंग से कभी भी नहीं कर पाता। शराब में बहा देता है वह इन पैसों को, वरना उसके पास भी अपना मकान होता आज। आज से चार साल पहले खरीदे हुए प्लाट में वह आज तक नींवें भी नहीं खड़ी कर सका। उसकी बीवी सदा ही उसे इस बात को लेकर कोसती रही है।

बारह बजने में लगभग बीस मिनट रह गए हैं, वह घड़ी देखता है। मेन गेट के छोटे दरवाजे से वह सिर नीचे किए बाहर आ गया है।

'है कोई पर्ची वाला? सिर्फ बीस रुपये में.... आ जाओ फटाफट....' वह बाहर लोगों के पास आकर किसी हॉकर की तरह पुकारने लगा है।

'दस में नहीं चलेगा?' कोई तकरार करता है।

'तू क्या याद करेगा... ला निकाल फटाफट....पर्ची तैयार है ना?'

'लो भई....अब पहुंचा देगा ना?'

'बिलकुल पहुंचेगी पर्ची तेरी.... पूछ लेना अपने लड़के से....सब्बी पर्चियां पहुंचीं कि नहीं... बाऊ... माधो में यही तो एक खास चीज़ है... तब्बी तो लोग पचास देते हुए भी नहीं झिझकते।'

'मान गए..अब निकल लो.... पन्द्रह मिनट रह गए हैं... लड़के के और थोड़े नम्बर आ जाएंगे....'

'क्यों नहीं आएंगे...बिलकुल आएंगे....मैं जाता हूं अब... कोई और है??' वह पीछे मुड़कर कर पूछता है।

'अब जाओ भी .....वक्त तो दस मिनट रह गए हैं... .फिर कल सही....अब और कोई नहीं है पर्ची वाला....' कोई जना खीझ उठता है।

'तू क्यों परेशान होता है बाऊ... मैं तो पूछ रहा था कि आखिरी राउण्ड है....कोई रह ना जाए....माधो फिर थोड़े आएगा?'

'अब निकल ले मेरे बाप...हाथ जोड़ता हूं।' वह आदमी उसे धकिया देता है।

सभी उसे भीतर जाते हुए देखते है। सभी की बांछें खिल उठी हैं कि पेपर बढ़िया हो गया लड़कों का, जैसे किसी ज़िम्मेवारी के बोझ से मुक्त हो गए हों। लगभग सभी घड़ियां देखने लगे हैं। सभी को बारह बजने का इन्ज़ार है। सभी के चेहरों पर सवेरे से उकरी खौफ़ की लकीरें लगभग हटती हुई दीखी हैं।

लड़कों का रेला बाहर की तरफ निकलने लगा है।

वह भी पीछे-पीछे धीमी चाल से बाहर आ रहा हैं। गेट पर खड़े पुलिस वालों ने पूरा गेट खोल दिया है।

वह बाहर आकर कुछ ख़ास जान-पहचान वालों से बतियाने लगा है।

'क्यों बाऊ, झूठ कहा था क्या? पूछ लो अपने मुण्डे को-पर्चियां बराबर पहुंची थीं ना?'

'मैंने कुछ कहा हैं तुमें? क्यों खामखाह हमें शर्मिन्दा करता है?'

'आज़मा लिया ना? कल सवेरे मिलना यहीं गेट पर .....मैं यहीं हूंगा।' इतना कहते हुए वह आगे निकल गया था।

स्कूल के दूसरे टीचर तथा हैडमास्टर भी अपने स्कूटर स्टार्ट करने लगे थे। पीछे से स्कूटर का हार्न कानों में पड़ा तो वह चौंक गया। देखा तो हैडमास्टर साब थे। वह वहीं खड़ा होकर, एक तरफ होने लगा तो हैडमास्टर साब बोल उठे, 'तू आदमी नहीं बनेगा....क्यों गन्द डाल रखा है तूने...कुछ शर्म कर माधो...?'

'आप ही के सिर पर चार दिन ऐश में निकल रहे हैं। हैडमास्टर साब.....दुआएं दूंगा हुजूर...' वह दाव लगाने से नहीं चूका था।

'पर इस तरह तो पूरे स्कूल की बदनामी होती है, कभी सोचा है?'

'क्यों दिमाग पर बोझ डालूं.....सोचना आपके कहने पर शुरू करूंगा, स्साब...आप क्यों फिक्र करते हैं ...दिल दिलेर रखो...कुछ नहीं होगा.....'

'बकबक ही करेगा अब..? मैं जो कहता हूं, उसका असर है तुझ पर?'

'हुक्म कीजिए...'

'कल से तेरी कोई शिकायत ना आए , समझा? इस तरह सरेआम थोड़ा किया जाता है.....कोई लिमिट तो होती है ....बोल, होती है ना?'

'कल से आप फिक्र ना करें...'

'कल फ्लाइंग स्क्वैड वाले भी आएंगे, उनके सामने ऐसा करता पकड़ा गया तो पूरा सेन्टर बदनाम हो गया ना फिर ?'

'समझ गया जी...बिलकुल समझ गया जी...'

'कल से मुझे पता चला कि तू सरेआम पैसे लेकर पर्चियां लेकर जाता है...अंदर कमरों में,तो तेरी ख़बर लूंगा मैं...'

'स्साब आप ही ने बचाना है मुझे.... आपका बच्चा हूं ....बच्चों से गलती हो जाए तो क्या बाप माफ़ नहीं करता...?'

उसकी इस बात से सभी ठहाकों में लीन हो गए थे, क्योंकि हैडमास्टर की उम्र, उसकी उम्र से लगभग आधी होगी।

'तो स्साब, माफ कर दिया न पुत्तर को?'

'कम्बख़्त, अब फूट यहां से...कल फ्लाइंग स्क्वैड से बचकर रहना, कोई नया चन्न ना चढ़ा बैठना...फिर मैं कुछ नहीं कर पाऊंगा।' इतना कहते ही हैडमास्टर ने स्कूटर को स्टार्ट कर दिया था।

वह इधर-उधर देखने लगा था। उसने इत्मीनान की सांस ली थी। उसने अपनी पैन्ट की दोनों जेबों को बाहर से ही टटोला था, जो रुपयों से खूब फूली हुई प्रतीत हुई थीं। उसे जल्दी-जल्दी घर जाने की तलब हो आई थी। उसके कन्धों पर किसी ने जोर से धौल लगाई तो पीछे मुड़ते हुए चौंका, 'तो आप हैं, मैं तो डर ही गया था...अब कहां चलना है? ' उसने पुलिस वालों को दखते ही कहा।

'जाना कहां है, शाम तक तुम्हारी राह कौन देखे? अब्बी निपटा लो?'

'जैसी आपकी इच्छा ....मैं भला कहां भागा हूं ....हद्द हो गई...' इतना कहते हुए वह उन पुलिस वालों के पीछे-पीछे चलने लगा था।

वे सभी सामने वाले ढाबे में आ गए थे।

पी-10, पावर कॉलोनी, ढांगू रोड, पठानकोट (पंजाब)

• आदर्श मदान

पूतों वाली

"यूं ही आशीर्वाद दिया करते थे वडेरे, दूधों नहाओ पूतों फलो। अरे कोई मुझसे पूछे पूतों वाली के दुखड़े..." बेबे हमेशा की तरह खुद से ही बड़बड़ा रही थीं। जैसे ही उन्होंने देखा कि मैं चुपके से खड़ी उनकी बातें सुन रही हूं, खंखारते हुए चुप हो गई। मैंने बेबे को छेड़ा-"एक दिन आपकी आवाज का टेप भर लूंगी और सब को सुनाऊंगी।" बेबे एकदम उदास हो गई। कहने लगीं, "इस तरह किसी के मन की बातें सुनना कोई अच्छी बात है?" मैं तो बेबे को छेड़ने के लिए बोली थी। उनका दिल दुखाना मेरा उद्देश्य नहीं था। मैंने बेबे के गले में बाहें डाल कर उन्हें मनाने के अन्दाज़ से कहा, "अच्छा बाबा, नहीं करूंगी टेप, पर आपके अन्दर जो दुख है, आप जो अकेले में अपने आप से बोलती रहती हैं, कभी मुझसे बांट लोगी तो मन को शान्ति ही मिलेगी।"

"अच्छा-अच्छा, तू जा अपना कम्म कर...." बेबे ने गुस्सा दिखाते हुए कहा।

मैं जानती थी, बेबे अपना दर्द मुझसे नहीं कहेंगी। हालांकि मैं उनकी सबसे छोटी लाड़ली बेटी थी। पांच भाइयों की इकलौती बहन। एक ही बेटी होने के नाते तो बेबे को मुझे ही अपने दुख का राज़दार बनाने में सबसे ज़्यादा सुभीता होगा। कहते भी हैं न कि बड़ी होकर बेटी मां की सहेली हो जाती है। पर बेबे मुझे अपनी सहेली कभी नहीं मान पाई। एक तो उम्र का फ़र्क ज़्यादा था, दूसरा बेबे को आदत ही नहीं थी मेरे भाइयों की निन्दा करने की। उनके मुंह से कभी भी अपने 'पूतों' बल्कि यूं कहूं 'सपूतों' और बहुओं के खिलाफ एक शब्द भी नहीं निकला था। वे कहतीं, "बहुएं तो खैर पराये घर से आई हैं। पर बेटों को तो मैंने ही जना है अपनी कोख से। अब अपने सिक्के को कोई खोटा कैसे बता सकता है।"

मुझे याद है, बचपन में भी वो मलाई छुपा कर एक-एक भाई को बारी-बारी खिला देती थीं। दूध-मलाई तो मुझे भी देती थीं पर यह कह कर— पराए घर जाणा है धीए, मैं तो जितना तेरा लाड कर सकूंगी, कर लूंगी, आगे तेरी किस्मत। मैं कभी-कभी सोचती भी थी, मां तो मां ही होती है। अपने शरीर के हर अंग की तरह हर बच्चे को देखना-संभालना उसे स्वतः ही उपजता था। कभी कोई बीमार होता तो वह सब कुछ भूल कर उसी की सेवा में दिन-रात एक कर देती थी। कभी-कभी मैं कहती भी थी— बेबे, किसी को कुछ हो जाए तो आप बाकी सब को भूल जाते हो। बेबे बड़ी चिन्ताकुल मुद्रा में जवाब देती, " पिण्डे के जिस हिस्से में दर्द हो, सारा ध्यान उधर होना वाजिब है धीए। जब तू मां बणेगी तब तैनूं सब समझ आ जाएगा।"

आज मां के वही अंग सब अपने-अपने हाल में मस्त हैं और मां अंग-कटे लोथ-सी तड़पती रहती है।

अब पिछले साल की ही तो बात है जब सबसे वड्डे भापाजी के घर बेबे बड़ी आस ले कर गई थीं। उन्होंने उनसे कहा भी, " देख वे हंसया, तू सब तों वड्डा एं। मैं तेरे कोल मरांगी ते तैनूं शोभा मिलेगी।"

अब सबसे बड़े बेटे होने के नाते उस समय तो वे कुछ नहीं बोले पर मन ही मन गणित लगाने लगे। तीन कमरे हैं और पांच बच्चे। बेबे की खटिया कहां लगाएं? एक कमरे में, जिसमें सामान पड़ा रहता है, दोनों मियां-बीवी सोते हैं। कभी-कभी बहनों से लड़ाई हो जाए तो निक्की भी मां के साथ सोना पहला हक समझती है। एक कमरा तो मरा आज के चलन के हिसाब से ड्राइंग रूम बन कर बुक हो गया। न वहां कोई सो सकता है, न खाना खा सकता है। और फिर बेबे के तो कई चक्कर हैं-कहीं दुपट्टा सूख रहा है, कहीं थूक की तगारी पड़ी है। अपनी छोटी संदूकची भी उन्हें अपनी खटिया के नीचे ही चाहिए। तकिए के पास एक थैली में माला। फिर हफ्ते में दो-चार दिन तो— आज वीरवार है, आज संग्रांद है, हुण निराते ने, कह कर वो साबुन से ही नहीं नहातीं। अजीब सी हमक आती रहती है उनमें से। बच्चे तो उन्हें अपने कमरे में रहने ही नहीं देंगे।

वड्डे की चिन्तायुक्त मुद्रा देख कर वह सब समझ गईं। आखिर मां ही तो थीं। खुद ही बोलीं, "मेरी खटिया की तूं फिकर ना कर। रसोई के बाहर वरांडे में डाल दे। सर्दियों में सामने चद्दर बांध देना। मेरा क्या है मौज ही मौज है। गर्मियों में हवा आएगी। सर्दियों में धूप। और रसोई से मेरी नूंह राणी के हाथ के खानों की खुशबू।'' अपनी बात पर खुद ही मुस्कराते हुए बोलीं। उन्हें लगा, यह मजाक सुन कर वड्डे को भी हंसी आ आएगी। पर उसने तो मुंह मसोसते हुए कहा, "और जो तुम दिन भर खांसती और थूकती हो, रसोई के बाहर अच्छा लगेगा।'' फिर खुद ही अपनी बेअदबी दबाते हुए बोले, "हच्छा खैर। अभी तो वहीं लगाओ।''

"कोई नई, तू दवाई दिला देना। खांसी कौण-सी दपदिक की है।'' बेबे ने फिर माहौल को हल्का करने की कोशिश की।

महीना-दो महीने तो सबने जैसे-तैसे निकाले। तीसरे चौथे महीने तो दादी को सुना कर बच्चे भी मां पर भुनभुनाते, "मां, हमारे दोस्त-सहेली आते हैं तो हमें अच्छा नहीं लगता। दादी खांसती रहती हैं और बार-बार हमसे कुछ न कुछ ला देने के लिए आवाज़ देती हैं। बाथरूम वगैरह जाने को हमारा रास्ता रुकता है।'' पांचवें महीने तो बच्चे बिल्कुल बग़ावत पर आ गए। अड़ ही गए कि हमारे एग्ज़ाम होने वाले हैं। हमें डिस्टरबैंस होती है।

वड्डे भापाजी मजबूर हो गए। वहीं उसी शहर में छोटे भाई देसराज से कहा, "कुछ महीने अब तू रख। मां तो आख़िर सब की हैं।'' बड़े भाई का लिहाज़, मां की बेचारगी ओर कर्तव्यबोध ने सिर झुका कर हां करने पर मजबूर कर दिया। सुयोग से बड़े दोनों भाई एक ही कस्बे में रहते थे। उसी कस्बे में हमारा खानदान पाकिस्तान से आने के बाद बस गया था। बेबे ने बड़ी सधरों से घर का मकान बनवाया तो पांचो बेटों का सोच उसने नाम रखा पंचवटी। तब यह सोचा था, पांच पांडवों की तरह ये बेटे उसका साथ अन्त तक निभाएंगे। वह महारानी कुन्ती की तरह आदर पाएगी। तब यह नहीं सोचा था कि पांडवों को भी तो बनवास मिला था। और पंचवटी से राम-लक्ष्मण को भी तो जाना पड़ा था। जब छोटे तीनों बेटे पढ़-लिख कर अपनी-अपनी नौकरियों पर चले गए तो दोनों बड़े भाइयों ने अपनी पत्नियों की रोज़-रोज़ की खटपट से बचने के लिए बंटवारा कर लिया। दूकान बड़े के हिस्से आई और मकान छोटे के हिस्से। उन्होंने अपने दूसरे बेटे को समझाया, "वे देस्या, तुम दो ही तो भाई एक जगह हो। मैं यहां मरी तो कम से कम अपने मकान की छत के नीचे मरूंगी। मन में सुर्खरू हो कर मरूंगी। तेरे सब भाई-भतीजे आएंगे तो उन्हें लगेगा दादी के घर आए हैं। और फिर वड्डा भी तो है तेरे सिर पर।'' छोटे भापाजी ने सिर हिलाते हुए बेबे की संदूकची उठाई। बेबे सोच रही थी, वड्डे के घर रिक्शे पर चढ़ाते टाइम सब कितने खुश थे। खुशी-खुशी सबने पैरी पौना किया। जिसके घर मैं आई हूं उसके सिर पर मानो पहाड़ टूट पड़ा हो। अपनी बूढ़ी आंखों सब देख-समझ कर भी वे चुप रह जाना जानती थीं। अन्दर जा कर छोटे भापाजी बेबे की सन्दूकची उसकी खटिया के नीचे सरकाते हुए बोले, "बिबे, पिछली बार जब आप गए थे तब तो सन्दूकची भारी थी। इस बार हल्की लग रही है। क्या बात है इसका वज़न भी आपकी तरह घटता ही जा रहा है।''

"हमारे तो अब वज़न घटने के दिन हैं बेटा,'' बेबे ने धीमे स्वर में कहा, "मैंने सोचा, इसका वज़न भी कम कर दूं। कहां लादे-लादे फिरें। मैंने सारी चांदी वड्डे को दे दी है, मैंने कहा, दादी की तरफ से भारी-सा चांदी का मुकुट बना ले। मेरे जिस पोते की शादी हो, वही मुकुट पहनाना।''

" बेड़ा गरक कीता ई। गई चांदी खत्ते में। केहड़ा मुकुट बणान वाला है। आजकल पालिश वाले गिलट के मुकुट आम किराए पर मिलते हैं। पुराणे ज़माने की बातें अब कहा?'' छोटे बेटे ने राज़ की बात समझाते हुए कहा, " इससे तो बेच कर सबको बांट देतीं।''

"अब बांट लेना मैं मरूं तो ये सोने की चूड़ियां, बालियां और अंगूठी।'' बेबे ने टालते हुए कहा।

अभी चार-पांच महीने ही बीते कि बेबे के तीसरे बेटे की चिट्ठी आई। छोटे भापाजी ने हुमक कर बताया-उन्होंने आपको याद किया है। बेबे ने बहुत कहा-- मेरा आशीर्वाद लिख देना। मुझसे अब सफर नहीं होता। तुम चाहो तो ही आओ। पर छोटे भापाजी का तो मकसद ही इस बहाने बेबे को वहां छोड़कर आना था। हर बेटा यह मान कर चलता था कि उसकी बारी तो बस चार-पांच महीने की है।

आख़िर मां तो सबकी सांझी है न। बेबे यही सोचती रहती— मैंने विधवा होकर इन पांचो को ऐसा पाला, पढ़ाया-लिखाया कि बाप की कमी महसूस नहीं हो पाई। और ये ऐसे घर से निकालते हैं मानो इनका सांस लेना दूभर हो रहा हो। एक

तरफ पड़ी-पड़ी तो रोटी भी जल जाती है, उसे भी पलटना और फेरना पड़ता है। चलो ठीक है, मैं भी घूम आऊंगी। गहरी सांस लेते हुए बेबे ने फिर अपनी पोटलियां बांधनी शुरू कीं। चलते-चलते एक अंगूठी छोटे भापाजी को पकड़ा दी और बोलीं, "रख ले, क्या पता बाद में क्या हिस्सा मिले।"

तीसरे नम्बर का बेटा वैसे तो सम्पन्न था। मियां-बीवी दोनों कमाते थे। पर उनके दोनों लड़के बहुत ऊत थे। मम्मी-पापा जैसे ही नौकरी पर जाएं उन्हें नई-नई शैतानियां सूझती थीं। बेबे को वैसे भी उन्होंने परछत्ती वाला कमरा दिया था। उसकी एक दीवार सीढ़ियों की तरफ जालियों वाली थी। कहने को तो कहा गया कि आते-जाते घर वाले दिखते रहेंगे तो मन लगा रहेगा, अकेलापन नहीं लगेगा। पर वही दीवार दुखड़े का कारण बन गई। लड़के कभी सफेद चादर ओढ़ कर भूत बन कर डराते, कभी दो टार्च रख कर काली चादर से ढक कर कभी उसे जलाते, कभी बुझाते। बेबे बहुत डरती पर उसे अन्दर के सेट कमरों में कौन सुलाए। नीचे एक सिख परिवार भी किराए पर रहता था। उनके जवान लहीम-शहीम तीन बेटे थे। बेबे को जालियों में से वे दाढ़ी-मूंछ और पगड़ी वाले गभरू जवान दिखते तो उन्हें हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बंटवारे के दंगे और धाड़े याद आ जाते। वे चीखने लगतीं और पुरानी बातें याद करके बड़बड़ाने लगतीं। और उनके पोते अनिल और सुनील उनकी बातों को टेप कर टी.वी. हॉरर शो की तरह सबको सुनाते, खूब हंसते और मज़ाक बनाते। बेबे की अपने आप बड़बड़ाने की आदत तब से ही पड़ी थी। बेबे की दिमाग़ी हालत बिगड़ती गई। एक समझदार पढ़ा-लिखा बेटा होने के नाते उनके तीसरे बेटे ने यह अपना फ़र्ज समझा कि सब भाइयों को उनका यह हाल लिखे। इस बदहवासी में बेबे की एक कान की बाली न जाने कहां गिर गई। दूसरी भी उसने बहू को दे दी-अपने लिए एक अंगूठी बनवा लेना, मैं अब कहां जोखिम उठाए फिरूं।

भाई का ख़त पा चौथे बेटे का दायित्व-बोध जाग्रत हुआ। वे मां को देखने आए तो सारी बात समझ गए। उनके मन में हमदर्दी जागी। उन्होंने यह बीड़ा उठाया कि वे प्यार से और अपनी जागरूक देखभाल से बेबे की घबराहट दूर कर उन्हें सामान्य कर देंगे। मां अपने बेटे से लिपट कर बहुत रोई। बेटा उन्हें लगभग गोद में उठा कर गाड़ी पर अपने शहर ले गया। जैसा उसने सोचा वैसा फ़र्क पड़ा भी। बेबे के मन को धीरज मिला। डाक्टर के कहने से उन्हें नींद की एक गोली रोज़ रात को दी जाती ताकि अच्छी नींद आने से उनका दिन सामान्य बीते। नींद की गोलियां खाने से उनमें एक विचित्र परिवर्तन आया। चूंकि वे सफर भी करके आईं थीं, उन्हें लगा वे अपने गांव वापिस आ गई हैं। वे जब-तब उत्साह में आ कर तैयार हो जातीं और घर से चल पड़तीं। अगर कोई पूछता, 'बेबे कहां जा रहे हो?'' तो उनका यही जवाब होता-- "ज़रा छोटे के घर जा रही हूं।'' या "वड्डे के घर हो कर आती हूं।'' वे अपनी कल्पना में उस शहर को अपना गांव समझ कर आत्मविश्वास से निकल पड़तीं। अब बहुत मुश्किल हो गई। वे मियां-बीवी दोनों नौकरी वाले हैं। एक ही लड़की, वह भी स्कूल जाती है। बेबे कहीं निकल गई और किसी मोटर या बस के नीचे आ गई तो उनका मुंह काला हो जाएगा। और कहीं गुम हो गईं तो? बेटे का माथा

घूम गया। याद आए उसे वे इश्तिहार जो कई बूढ़े लोगों की फोटो के साथ अखबारों में छपते थे-- और उनके नीचे लिखा होता था— मानसिक विक्षिप्तता की स्थिति में गुमशुदा। उन्होंने बहुत मनोवैज्ञानिक तरीके से बेबे को समझाया, " बेबे, सबसे छोटा क्रिशन काफी बड़ा होने तक तेरा पल्ला पकड़ के घूमता था। आज बड़ा ओहदेदार है तो क्या, है तो तेरा लाडला। मलाई नहीं तो खुरचन तो सब उसी की है। तूने तो जान-बूझकर उसे गांव की बहू दिलाई थी कि बुढ़ापे में सेवा करेगी। वह तो नौकरी भी नहीं करती। दिन भर तेरे साथ गप्पें मारेगी तो तरा मन भी लगा रहेगा और इधर-उधर नहीं भटकेगा।''

बेबे ने सोचा, चलो उसे भी आज़मा लें। इस बहाने देख भी लूंगी। वैसे भी किसी संन्यासी ने बताया था मैं किसी नदी किनारे मरूंगी। शायद मेरी मिट्टी ही मुझे वहां बुला रही हो। सबसे छोटे के घर पहुंच बेबे ने गहरी सांस ली। आखिर वही हुआ जो सोचा था। कम पढ़ी-लिखी गांव की बहू ही काम आई। कभी-कभी बेबे उसे कहती, "केसर दा टिक्का तेरे भाग में ही लिखा है।'' बेबे की सबसे छोटी बहू भी बिटर-बिटर देखती रहती, "पता नहीं कौन-सा केसर का टिक्का मिल जाएगा? एक तो लड़की वन्दो मन्दबुद्धि है। दूसरी औलादें भी कौन-सी सहारा बनी हैं? एक क्लास में पास हों, तब आगे बढ़ें, तब कुछ बनें न। इतने सालों से बी.ए. ही पास नहीं हो रहा। पढ़ाई के खर्च और उस आधी पागल लड़की की दवाइयों के खर्चे। किस-किस से निबटें। बाप को तो टूर से फुर्सत नहीं है। मैं ही कभी झाड़ फूंक, कभी अस्पताल। इन चक्करों में सास की हारी-बिमारी में सेवा-चाकरी! खैर, जितनी बन पड़े उतनी तो करूं।'' जब देखो, वन्दो खाती रहती थी या चीखती रहती थी। अब जब से दादी आई है, उसके बिस्तर में घुसी रहती है। पता नहीं, कौन-सी प्यास उन दोनों को इतना करीब ले आई है। पर अब जब बेबे से खुद की टट्टी-पेशाब ही नहीं संभलती, वन्दो कहां लियड़ी पड़ी रहती। समस्याओं से घिरे क्रिशन और उसकी बहू ने यही सोचा, दादी के पल्ले से उसका हरदम बंधे रहना ठीक नहीं। इसे ठीक करना है तो दवाई के साथ थोड़ी सख्ती और अनुशासन भी ज़रूरी है। उन्होंने सारी दिक्कत बेबे को बताई। बेबे सब समझ गई-जो कहा वह भी, जो नहीं कहा वह भी। बेबे ने एक-एक करके पांचो बेटों के घर अपना अन्तिम समय बिताने की इच्छा व्यक्त की। सबकी मजबूरियां देख कर उन्होंने साचा, "ओहो अम्ब मिट्ठा जेहड़ा चूप ना डिट्ठा। (वही आम मीठा है जिसे अभी चूस कर नहीं देखा।) चलो, अब कुछ दिन बेटी के पास रह कर परिक्रमा तो पूरी कर लूं। फिर नए सिरे से एक मौका और दूंगी। पता नहीं, कितनी उमर बाकी है। मेरी मिट्टी कहां लिखी है।'' चलते-चलते अपनी चूड़ियां क्रिशन के हाथों में देते हुए बोली, "वन्दो ठीक हो जाए और उसकी शादी करो तो ये चूड़ियां दादी की तरफ से दे देना। पता नहीं, मैं अपनी आंखों से देख पाऊं या नहीं। छुटकी भैन को चिट्ठी लिख दे, कुछ दिन मैं उसकी घर-गिरस्ती देखना चाहती हूं।''

बड़े भारी मन से बेबे हमारे घर रहने आ गई। यहां मैं बेबे के आस-पास घूमती रहूं तो भी बेबे खुश नहीं होती थीं। मैं बहुत कोशिश करती बेबे की उदासी की वजह जानने की। उनसे तरह-तरह से पूछती पर वह कभी अपना दुख नहीं बताती थीं।

" बेबे, आप यहां खुश क्यों नहीं रहतीं?'' एक दिन मैंने बहुत मजबूर करके पूछा। बेबे का गला भर आया, फिर बोलीं, " मैं हर बेटे के दरवाज़े पर अपनी मौत की दुआ मांगती रही कि मेरी मिट्टी यहां से उठे। पर तेरे पास तो मैं अपनी मौत भी नहीं मांग सकती। अपनी सब टूमें (जेवर) भी मैंने बेटों को बांट दीं। तेरे पास तो पर नोचे हुए पंखेरू की तरह आ पड़ी हूं। यहां मर गई तो लोग कहेंगे, पांच-पांच पूतों वाली बेटी के घर मरी।''

"बस, बेबे बस...'' मैंने बेबे के मुंह पर हाथ रख दिया। बेबे फुक्का फाड़ कर रो पड़ी। मैं बोली, "अब मैं कहीं जाने ही नहीं दूंगी तुम्हें।''

आंसू रोकने की कोशिश में बेबे ने मेरे सिर पर हाथ फेरा। भीगी आंखों के साथ उसके मुस्कराने की कोशिश ऐसे लग रही थी मानो बरसात में धूप खिल उठी हो।

आदर्श निकुंज
डा. क्षेत्रपाल क्लीनिक के पीछे,
कचहरी रोड, अजमेर- 305001

सुशान्त सुप्रिय की दो कविताएं

नंगे शब्दों का इंकार

'नंगे शब्दों में
सच को सच
झूठ को झूठ
मत कहो'–
श्री सफल दुनियावी ने कहा।
वे दुनियावी थे
और सफल भी।
लोग उनसे प्रभावित थे।
उन्होंने कहा–
'अंधे को सूरदास कहो
पगले को मनोरोगी कहो
विकलांग को विशेष व्यक्ति कहो
आतंकवादी को गुमराह युवक कहो।'
वे दुनियावी थे
और सफल भी।
लोग उनसे प्रभावित थे।
उन्होंने कहा–
'यदि तुम ऐसा नहीं कहोगे
तो पीटे जाओगे
मार डाले जाओगे
क्योंकि नंगे शब्द
हमें हमारे नंगेपन का
अहसास दिलाते हैं
और हममें से कोई भी
सर्वजनिक रूप से
नंगा नहीं होना चाहता।'
पर सच और झूठ के बीच
जो थोड़ी-सी युधिष्ठिरी खाली जगह
हमेशा बनी रहती है,
मेरी कविता के नंगे शब्दों ने
वहां जाने से इंकार कर दिया।

बयान

मैं
न जाने कितने पतझरों में उजड़ा हूं
कई बार पत्थर हुआ हूं
कई बार रातों में
नींद को
एक अजनबी बने रहते देखा है
कई बार
रिश्तों की नीली झील में खड़े
उपेक्षा के काले बगुलों से डरा हूं
जाना है कई बार
कि केवल हमारे ऊपर तना आकाश ही
हमें एक साथ बांधे था
और यह भी कि
खुशी एक छलावा था–
एक बैरंग चिट्ठी
जो नहीं ली मैंने
या कि एक जवाबी पोस्टकार्ड
जो पड़ा रह गया उपेक्षित
न कभी लिखा गया
न भेजा गया........
पर
एक नन्हा शिशु अब भी कभी-कभी
मेरी आत्मा के पालने में
किलकता है
एक नन्ही चिड़िया अब भी कभी-कभी
मेरी आत्मा के आंगन में
चहकती है
एक नन्ही कली अब भी कभी-कभी
मेरी आत्मा के बंजर में
खिलती है
समय और दिशा की पहचान वाले
ओ सितारो,
मेरा यह बयान
दर्ज करो।

ए-7, गुरु नानक देव वि.वि. परिसर,
अमृतसर-143005

पारसनाथ की कविता

एक नायाब शहर

एक भूखी खोह/उकर आयी है
उसके भीतर के शहर में।
खण्डित-खण्डित हो रहीं
उसकी प्रताड़ित मन:स्थितियां
बार-बार
अभिशप्त कर गयी हैं।
उसके हिस्से की धूप के बदले
किसी ने भर दिये हैं
कांच के टुकड़े/उसके जेहन में
और,
वह है जो रोज-रोज
यातनाओं से विद्रोह करता आया है
अपने जीने के बिहान लिए हुए।
पराजय और पीड़ा ने
रह-रहकर
सुखद अनुभूतियों की बजाय
उसे यतीम बना दिया है।
आज और कल के सवर्णों के
पाले गये सपनों ने/डस लिया है,
मजबूर कर दिया है।
उसके रहस्य को जानने की
सदैव की गई है कोशिश,
उसे अछूत बनाकर।
किन्तु,
उसका रहस्य कोई/जान नहीं पाया है
क्योंकि,
उसकी भीतरी तहों में
छुपा है/अव्यक्त अभिव्यक्ति का
एक नायाब शहर
एक बेहतरीन गांव
अपने-आप में ज्वालामुखी समेटे हुए!!

बिहजादी
सहदेई बुजुर्ग (वैशाली)-844509

सावित्री शर्मा की कविता

प्रतीक्षा

बहुत खलता है
अंतर में गहराते दर्द का
पर्त-पर्त जमना।
आंखों में उमड़ते
आंसुओं का
थमना।
शायद
समीक्षा है
प्यार की।
परीक्षा है
मेरे संयम की!
हार जाती हूं मैं
थक कर
डूबने लगती हूं
सूनेपन के सिन्धु में
गहरे
बहुत गहरे!
अचानक बांह छू
सिहरा देती है चंदनी बयार
बांध-बांध लेता है मोहक विस्तार।
सोचती हूं
कैसे करूं नियंत्रण?
कहां धरूं यह प्रेमल आमंत्रण?
आंगन-द्वार-देहरी
बैठी
प्रतीक्षा-प्रतीक्षा सिर्फ प्रतीक्षा।

ए - 41, आर्यनगर सोसायटी
इन्द्रप्रस्थ विस्तार, प्लाट नं. 91, पटपड़गंज
दिल्ली-110092

अजय प्रकाश की दो कविताएं

।।१।।
इस दुनिया में बहुत-से
बुरे लोग अच्छे लोगों की
वजह से हैं
इस दुनिया में बहुत-से दुख
सुखों की वजह से हैं
इस दुनिया का बुरा वक्त
अच्छे वक्त की वजह से है
इस दुनिया में
जितने भी पुल हैं
नदियों की वजह से हैं
इस दुनिया में बहुत-से
खोटे सिक्के हैं
जो खरे सिक्के की
वजह से
दुनिया में चलते हैं।

।।२।।
वे बड़े आहिस्ते से आते हैं
और पूछते हैं
अब क्या हाल है तुम्हारा
ऐसे वे कभी नहीं पूछते
सुख-दुख
वे इस ढंग से पूछते हैं
कैसे हो
कहना पड़ता है-ठीक हूं
लेकिन वे बड़े प्रेम से
ऐसे समय आकर
बगल में बैठ जाते हैं
और पढ़ते हैं
दवा का प्रेसक्रिप्शन
और देखते हैं
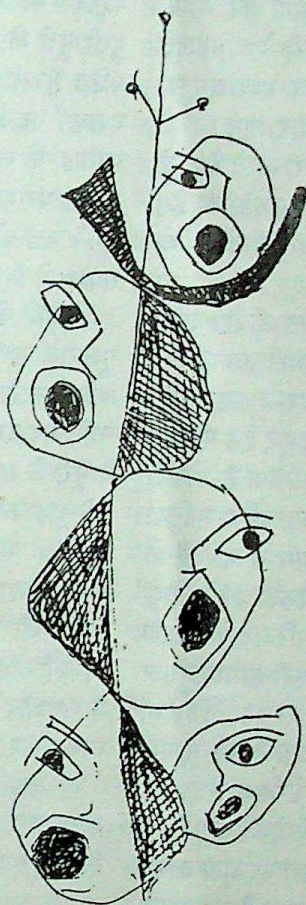
बुखार का चार्ट
दिखलाते हैं मेहरबानी
लगाकर थर्मामीटर
मुझे देखकर वे
इस तरह हंसते हैं
मानो अब मैं
मरने वाला हूं या
नई मुसीबत में
फंसने वाला हूं
वे पूछते हैं
घर वालों से-
ये अखबार पढ़ते हैं
या नहीं
ये खाना खाते हैं या
नहीं
ये कुछ सोचते हैं
या नहीं
फिर धीरे से मुखातिब
होते हैं मेरी ओर
और धीरे से
दबा देते हैं
मेरा दाहिना हाथ
और पूछते हैं
बचपन या
जवानी में
कभी
की थी पहलवानी।

ब्लाक नं. 14, फ्लैट नं. 12,
शिवनगर कालोनी, अल्लापुर
इलाहाबाद-211006

• जसबीर कौर

अजहूं दूरी अधूरी

अजहूं दूरी अधूरी अन्नाराम सुदामा का सद्यः प्रकाशित उपन्यास है जिसमें सदियों से पददलित लोगों की व्यथा, विवशता, भूख, अभाव और रुदन को ईमानदारी से अभिव्यक्त किया गया है। कथा के केन्द्र में राजस्थान का गांव रामपुरा है जहां दलित सारा दिन खेतों में खटते हैं और शाम को जो रूखा-सूखा, बासी मिल जाता है उसी से गुजारा करते हैं। पूरे गांव में अन्धविश्वास, शोषण और अनबन का साम्राज्य है। एक ओर गरीबी तो दूसरी ओर नशे की आदत ने लोगों को तोड़ कर रख दिया है।

उपन्यासकार ने नारी पात्रों को प्रमुखता दी है। उन्हीं के माध्यम से वह समस्याओं को उठाता है। गंगी तथा उसकी दस वर्ष की पोती पूरी अपनी क्षीण काया, अदम्य साहस तथा अद्भुत धैर्य के सहारे अपने घर को सम्भाले हुए हैं। परिवार के सदस्यों का वर्णन लेखक ने प्रतीकात्मक किया है-डोकरी नीति है, दीनू तर्क, पत्नी आज्ञा, पूरी क्रिया और मानिया परमहंस। इसी परिवार की कथा के माध्यम से दलितों के जीवन का सत्य समाने आता है। पूरी में विकट परिस्थितियों का सामना करने की अद्भुत शक्ति है। परिवार के प्रत्येक सदस्य की पीड़ा को वह समझती है तथा अपनी सामर्थ्यानुसार उसे दूर करने का प्रयास भी करती है। पहले भाई, फिर मां और अन्त में पिता की मृत्यु पूरी को तोड़ देती है, परन्तु गंगी उसे सहारा देती है और टूटने-बिखरने से बचा लेती है।

प्रताड़ना, अपमान और पसीने की बेकदरी पूरी को धीरे-धीरे विद्रोही बना देते हैं। उस पर चोरी का झूठा आरोप लगाया जाता है। पुलिस द्वारा उसे पीटा जाता है। अपमान, दुख, पीड़ा और घनी वेदना पर आवाज को भी बंद कर देने का प्रयास उसकी चेतना को मर्माहत कर देता है। गजानन दादा उसे नगर में ले जाते हैं। गजानन दादा की मृत्यु के बाद शिक्षित और अनुभवी पूरी वापस गांव लौटती है और दलितों की सेवा तथा उत्थान के लिए अपने जीवन को समर्पित कर देती है।

गंगी अनुभवी, सहनशील, सन्तोषी तथा ईश्वर पर अटूट विश्वास रखने वाली स्त्री है। पूरी के जीवन को बनाने, संवारने में उसका महत्त्वपूर्ण हाथ है। गंगी के पास कहावतों का अक्षय भंडार है। इन्हीं कहावतों के माध्यम से वह दुखी पूरी के जीवन में नवीन प्राणों का संचार करती है। पंडित मुरली दादा की पत्नी दयाबाई गंगी का सहारा है। दयाबाई का आधार धर्म है इसीलिए वह ईर्ष्या और निंदा की परवाह न करते हुए दलित गंगी से मित्रता करती है तथा उचित परामर्श देती है। अपने अकाट्य तर्कों के द्वारा वह अपने पति को भी धर्म और पांडित्य के सही अर्थ समझाने में सफल हो जाती है।

गांव के पंडित मुरली दादा सवर्ण जाति के प्रतिनिधि, पूजनीय तथा सम्मानित व्यक्ति हैं। ब्राह्मणत्व का उन्हें अभिमान है। उनके लिए दलित शूकर-कूकर से अधिक नहीं, पर दयाबाई के प्रयत्नों से उनमें सुधार होता है तथा वे पूरी के समर्थन में पंचायत में बोलते हैं। इससे गांव में एक नये युग का सूत्रपात होता है। जीवन्त भाषा उपन्यास का सर्वाधिक सशक्त पहलू है। जीवन के अनुभवों से प्राप्त ग्रामीण कहावतों ने सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों और परिस्थितियों को सजीव और ग्राह्य बना दिया है। निरक्षर गंगी के मुख से निकली कहावतें दलितों के जीवन, विवशता, अवसाद, पीड़ा, वेदना और अन्तहीन कष्टों से उपजी निराशा को इस प्रकार व्यक्त करती हैं कि पाठक उस पीड़ा में बह जाता है।

लेखक वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन का पक्षधर है। पूरी तथा दयाबाई एक नये समाज की रचना के लिए प्रयत्नरत हैं। पूरी का मानना है कि जब तक दलित अपनी दशा के प्रति सचेत नहीं होते, सुधार सम्भव नहीं है। इसलिए आवश्यकता है दलितों को शिक्षित तथा सचेत करने की जिससे वे अपने अधिकारों को पहचान सकें और उन्हें प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर सकें।

अजहूं दूरी अधूरी: अन्नाराम सुदामा; आशुतोष प्रकाशन, बीकानेर; सं. 1996; मूल्य दो सौ पचास रुपये।

बी. एच-321, शालीमार बाग (पूर्वी), दिल्ली-110052

• विनोद शाही

कितने उत्तर आधुनिक हैं देवेन्द्र इस्सर

खुशबू, परछाईं और देवेन्द्र इस्सर- यह समीकरण जब एक किताब की शक्ल में आया, तो यह बात एकदम से पकड़ में आ गयी कि यह देवेन्द्र इस्सर पर कोई समीक्षा-पुस्तक ही नहीं है, इसका ताल्लुक साहित्य के कुछ गहरे सरोकारों के साथ है। एक लेखक के तौर पर देवेन्द्र इस्सर साहित्य की मूल धारा में एक आउटसाइडर की तरह शिरकत करते रहे हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वे मूल धारा में शामिल होने की काबिलीयत नहीं रखते, बल्कि यह है कि आम तौर पर जिसे हम मूल धारा कहने के आदी हो जाते हैं उसमें बहुत-सी गैरज़रूरी चीज़ें बुनियादी होने-दिखने का भ्रम पैदा करने में अक्सर कामयाब हो जाया करती हैं और इस्सर साहब चाहते हैं कि वे इस स्थिति को बेनकाब करने के लिये उसमें यूं शामिल हों जैसे वे बाहर के हों। अब आदमी जब संजीदा भी हो और विरोध प्रकट करने के लिए सिर्फ विद्रोही हो जाने को ही एकमात्र रास्ता न मानता हो तो उसके पास एक सोफिस्टीकेटिड तरीका और भी होता है- बाहर हुए बिना बाहर होने की भंगिमा अख्तियार कर भीतर वालों को परेशान किये रखने का, ताकि वे सजग हों। तमाम तरह के नारों, मतवादों, दल-प्रतिबद्धताओं आदि के संकुचित तौर-तरीकों से लगभग ख़फ़ा देवेन्द्र इस्सर जीवन और उसकी सार्थकता के प्रति पूरी तरह प्रतिबद्ध होकर भी एलिएनेटिड होने का अहसास देते हैं, जिस वजह से अगर हम उन्हें रद्द करना चाहें तो एक आसानी हो जाती है, लेकिन जब हम उन्हें रद्द करते हुए जीवन की गहराइयों में उतरने की कोशिशों को, सार्थक संजीदा कोशिश को भी कटघरे में खड़ा पाते हैं तो हमारी वह आसानी हमारी सबसे बड़ी मुश्किल बन कर भी सामने आने लगती है।

डा. गुरचरण सिंह के साथ अपने एक लंबे इंटरव्यू में इस्सर साहब ने यह साफ करने की कोशिश की है कि मार्क्सवाद से शुरू हुआ उनका रचनात्मक सफर अंततः एक अधिक खुले, व्यापक मानवीय परिवेश में जाकर कैसे खड़ा हो सका। यह इंटरव्यू खासा महत्वपूर्ण हो गया है क्योंकि इसकी मार्फत कुछ ऐसे सवालों पर खुल कर विचार हो सका है जो तीसरी दुनिया के मुल्कों के बौद्धिक परिवेश को, उनके ताप, आवेश, वर्जनाओं और सपनों को मोटे तौर पर खोलने समझने में हमारी मदद कर सकते हैं। एक बात जो साहित्य खास तौर पर हमें सिखा सकता है वह यह है कि हम कैसे सांझे सवालों को मुख्तलिफ तरीकों से उठा सकते हैं और उतनी ही तरह से उनके जवाब भी खोज सकते हैं। यह भूमि यकीनन उत्तर आधुनिक नहीं है, हालांकि इस्सर साहब बारहा कोशिश करते हैं इस सब को उत्तर आधुनिक मुहावरे में ढाल कर हमें चौंकाने की। लेकिन जिस तरह भारत में कोई आदमी रूस या चीन के कम्यूनिस्ट जैसा होकर वाकई तरक्कीपसंद नहीं हो सकता, उसी तरह कोई आदमी कितना ही अपने आप को उत्तर आधुनिक नकाब के पीछे छिपाए, ज़ाहिर हुए बिना नहीं रहता। हर मुल्क का अपना बौद्धिक ग्राफ हुआ करता है और ज़रा गहराई से देखें तो इस्सर साहब भी आउटसाइडर होने-दिखने की कोशिश के बावजूद इसी ग्राफ के दूसरे पहलू को रूपायित कर रहे हैं। यह बात पकड़ में आ सकती है। जैसा मैंने ऊपर कहा, साहित्य सांझे सवालों को मुख्तलिफ तरीकों से उठाने की जीवंतता का नाम है, उसी तर्ज पर मुझे यह बेहतर लगा कि मैं इस इंटरव्यू को पूरे भारत के बौद्धिक जीवन को पढ़ने के लिये उपयोगी सूत्र की तरह अंकुराऊं, फैलाऊं और इस तरह उसकी अर्थवत्ता को साबित करूं।

देवेन्द्र इस्सर ने जब लिखना शुरू किया तो वे साम्यवाद के असर में थे, पर धीरे-धीरे यह असर कम होता गया। वे साम्यवाद की वजह से नहीं, उस से जुड़ी राजनीति की वजह से उससे दूर होते चले गये। उन्हें हम विचारक-चिंतक लेखक कह सकते हैं, पर विचारधारा दूसरी बात है, खास तौर पर तब जब वह एक बंद दुनिया हो। अगर हम इस पूरी बात को भारत के बौद्धिक परिवेश से जोड़ते हुए समझें तो दिखाई देगा कि हमारे यहां सामाजिक बदलाव के आसपास पूरा बौद्धिक कर्म आ कर ठिठक गया है क्योंकि उसका विकल्प नहीं है। इसलिए आम तौर पर पहला झुकाव साम्यवाद की ओर ही होता है। परन्तु उसके साथ जितनी दलगत रेजिमेंटेशन दिखाई देती है और जितना ही यह साफ होता जाता है कि वह बदलाव के नाम पर बदलाव के ही रास्ते में रुकावट बन रही है, उतना ही उससे दुराव बढ़ता जाता है। दूसरी समस्या यह भी पैदा होती है कि इस विचारधारा के साथ चलते हम अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति

पूरा न्याय नहीं कर पा रहे हैं तो लहू में हरकत करती संस्कृति के प्रति भी सच्चे होने की प्रक्रिया के दौरान यह बौद्धिक परिवेश कभी पुनरुत्थान की ओर झुकता है कभी राष्ट्रवाद की ओर; कभी वर्गहीनता के लक्ष्य को जातिहीनता से रिप्लेस करना चाहता हुआ आरक्षणवादी रुझानों की चपेट में आ जाता है और कभी खुली हवा में सांस लेने के नाम पर उत्तर आधुनिकता के पक्ष में जा खड़े होने की गवाही देने लगता है। देवेन्द्र इस्सर भी ऊपर-ऊपर से इस आखिरी विकल्प के साथ खड़े दिखाई देते हैं, पर असल में वे कभी इसके साम्राज्यवादी संस्करण के पक्ष में नहीं जाते, उल्टे वे इस तरह की बात का विरोध करते हैं कि भारत में आजकल जो लेखन हो रहा है उसमें मौलिकता का अभाव है और वह ज्यादातर यूरोप-अमरीका की नकल करने की कोशिश भर हो कर रह जाता है। वे सिवाय समीक्षा के साहित्य के किसी और रूप में ऐसा कोई संकट नहीं देखते और इस तरह एक नितांत भारतीय विकल्प के मौजूद होने की बात करते हैं। यह एक महत्वपूर्ण सूत्र है जो उन्हें उत्तर आधुनिक राजनीति के हाथों की कठपुतली हो जाने से बचाता है और एक तीसरे बीच के रास्ते की तलाश की ओर ले जाता है जो नितांत भारतीय है। यह भारतीयता गहरे में स्वतंत्रता-संग्राम के मूल्यों से जुड़ी है, यह भगतसिंह जैसे जुझारुओं की विरासत है जिसे एक नज़र में ही साम्राज्यवाद -विरोधी कहा जा सकता है। इस्सर साहब गांधी की बात तो उतनी नहीं करते, पर वे सूफ़ियाना उड़ान भरते हुए दरअसल कहीं न कहीं गांधी के आसपास से होकर गुज़रते ज़रूर हैं। तो यह जो विरासत है, बुद्ध, सूफ़ियों और भगतसिंह वाली, इसे उत्तर आधुनिक कह कर टालना एकदम भ्रामक है, हालांकि खुद इस्सर साहब ऐसा इसरार करते हैं कभी-कभी, तो लगता है जैसे यह उनका कोई शैलीगत तकिया कलाम भर है जो व्हिटमैन की तर्ज पर बार-बार शायद यह कह कर हमें चौंकाना भर चाहता है-डू आई कंट्राडिक्ट मायसेल्फ.......

तो यह जो बौद्धिक भंगिमा है, उसमें क्या हमें भारत के उस सामूहिक चित्त का ग्राफ दिखाई नहीं देता जो अपनी विरासत के हीरों को संभालने की कोशिश करता हुआ आधुनिक चिंतन के मुहावरे में उसकी अभिव्यक्ति के अवसर तलाश रहा है और इसके लिए मार्क्सवाद से लेकर उत्तर आधुनिकता तक एक संजीदा सफर तय करता है और फिर भी किसी से आश्वस्त न होकर नितांत अपनी बात कहने के लिए अपनी भाषा और मुहावरे की तलाश में निकल जाना चाहता है।

यहां एक बात और गौरतलब है। देवेन्द्र इस्सर एक जगह कहते हैं—मैं कभी बड़ा लेखक नहीं बन सकता। फिर आगे जाकर कहते हैं- मैं शायद लेखक ही नहीं बन सकता। ये सामान्य से, चौंकाने वाले अल्फाज़ नहीं हैं। ये तमाम तीसरी दुनिया के मुल्कों के लेखकों के चित्त का करुणापूर्ण आईना भी हैं, जो यह जानते हैं कि किस तरह से उन्हें उनकी मौलिक अभिव्यक्तियों से च्युत करके हाशिये पर खड़े हो जाने के लिए विवश करने वाला उत्तरऔपनिवेशिक माहौल खड़ा कर लिया गया है। ऐसे में जो लोग विकसित मुल्कों की बोली बोल सकते हैं, यह संकट उनके लिए नहीं है और देवेन्द्र इस्सर के लिए कैसे है। वे तो उत्तर आधुनिकता के मर्मज्ञों में एक हैं। पर अगर यह बात उन पर भी खास तौर पर लागू होती है तो यह अपने आप साफ हो जाता है कि उनकी रचनाभूमि और उसके आधारसूत्र कहां से आते हैं।

खुशबू, परछाईं और देवेन्द्र इस्सर नाम वाली इस किताब में एक इंटरव्यू और चार रेखाचित्र हैं— सुरेश सेठ, जगदीश चतुर्वेदी, हरीश नवल और सुरेंद्र प्रकाश के । यही इस समीक्षा पुस्तक की वास्तविक उपलब्धियां हैं क्योंकि जो असल समीक्षा हैं, उनकी कीमत तो वही जान सकते हैं जो पहले देवेन्द्र इस्सर के साहित्य को पढ़ कर डुबकी लगा चुके हैं। लेकिन अगर आ ने यह साहित्य नहीं भी पढ़ा है, एक गहरा रचनात्मक स्वाद इ पुस्तक के रेखाचित्रों में मौजूद है, जो इस पुस्तक को पठनीय ब देते हैं। और इंटरव्यू भी गंभीर सवालों की वजह से ही नहीं कुछ और कारणों से भी रोचक हो गया है। खास तौर पर ज इस्सर साहब अपने साहित्य में घर-परिवार की गैर-मौजूदगी जुड़े सवालों से सीधे-सीधे कतरा कर बच निकलते हुए प्रश्नक को चाय की रिश्वत देकर मना लेते हैं। रेखाचित्रों में एक लेख के भीतर के दर्द को गहराई से महसूस करते हुए उसे ब नफासत से अभिव्यक्त किया गया है। समीक्षकों की सूची में कु बड़े और चर्चित नाम हमारा ध्यान खींचते हैं- लक्ष्मीनारा लाल, रामदरश मिश्र, बलदेव वंशी, नरेंद्र मोहन, विनय, तारकन बाली, ललित शुक्ल.......यह सूची लंबी है। कुल मिला कर क जा सकता है कि यह पुस्तक चिंतन और रचनात्मक उत्ताप दो वजहों से महत्वपूर्ण हो गयी है।

खुशबू, परछाई और देवेन्द्र इस्सर, सं. गुरचरण सिं इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली; 1996, मूल्य: 175 रुपये; पृष्ठ 2

813/7 हाउसिंग बोर्ड कालोनी, जी. टी. बी. नगर, जालं

• मोहनदास नैमिशराय

मिट्टी की गंध

सामाजिक न्याय के संदर्भ में अब हिंदी के दलित साहित्यकारों के द्वारा भी उपन्यास लिखे जाने लगे हैं। प्रेम कपाड़िया का उपन्यास मिट्टी की सौगंध हाल ही में प्रकाशित हुआ है जिसमें उत्तर-प्रदेश के किसी गांव (नाम नहीं दिया गया है) की सामाजिक संरचना, विशेष तौर पर सामंती जुल्म और अत्याचार को रोचक ढंग से उभारा गया है। आरंभ से अंत तक पाठक के सामने एक के बाद एक चित्र मायावी अंदाज में आते हैं। हालांकि ऐसे चित्र पाठकों को भरमाए रखने में सफल होते हैं, लेकिन मन-मस्तिष्क को गहरे तक झकझोरते नहीं।

यहां सवाल उठता है कि क्या लेखक का उद्देश्य केवल पाठकों का मनोरंजन ही है या इससे अलग और भी कुछ। स्वयं लेखक ने 'अपनी बात' में कहा है कि उपन्यास में गांवों की स्थिति को उभारने की कोशिश की गई है। लेकिन गांव की स्थिति का वर्णन उस तरह से हो नहीं सका है। गांव में ठाकुर की हवेली और चमारों की बस्ती के अलावा भी बहुत कुछ होता है। गांव के खेत, उन खेतों में अलग-अलग लहराती फसल, पगडंडी, धूल - मिट्टी में खेलते बच्चे, लकड़ियों के रूप में ईंधन चुनती औरतें, गाय-भैंसों को चारा खिलाती, गीत गाती, उपले पाथती, जंगल में एक-दूसरे से बोलती-बतियाती औरतें, गांव की धरती और आकाश, वह सब परिवेश गायब है।

उपन्यास का आरंभ ठाकुर मदन सिंह की उपस्थिति से होता है हालांकि उसे फ्लैशबैक में उभारा गया है। ठाकुर मदन सिंह यानी पियक्कड़ और ऐयाश। उसका यही रूप आगे भी बार-बार पाठकों के सामने आता है। फिर ठाकुर द्वारा बलात्कार की शिकार हुई शीला और स्वयं ठाकुर के छोटे बेटे विजेन्द्र की मुलाकात। फार्म हाउस में कार्यरत हरिजन टोले के मर्द-औरतें। फिर जगजीवन राम दरोगा से विजेन्द्र की मुलाकात। और बाद में कुछ गुंडों का आना, मारामारी, और विजेन्द्र तथा शीला का एक दूसरे के नजदीक आना, बस।

असल में लेखक ने उपन्यास के पात्रों को जिस तरह से और जितना जल्दी एक-दूसरे से संवाद बनाते चित्रित किया है, वह पूरी तरह अविश्वसनीय लगता है। लेखक ने काल्पनिक सूत्रों की अधिक बुनावट की है और यथार्थ की जमीन से अपनी आंखें मूंद कर रखी हैं। भाषा में कहीं-कहीं हल्कापन आया है, जिससे शैली भी प्रभावित हुई है। हर दूसरी-तीसरी बात नई लाइन से आरंभ होती है। यूं टाइप काफी बड़ा है, जो पढ़ने में सुविधजनक है।

कुछ खामियों के साथ उपन्यास में विशेषताएं भी हैं। उदाहरण के लिए लेखक ने गैर-दलितों में बात-बात में दलितों को 'हरिजन' कहने की आदत, हरिजन कह कर उनकी कमियां ढूंढना, मजाक उड़ाना आदि को बड़ी खूबसूरती से व्यक्त किया है। दूसरे इस उपन्यास से दलित समाज के उस पाठक को प्रेरणा भी मिलती है, जो सवर्णों के जुल्म आज भी झेल रहा है। स्वयं लेखक ने 'सेना' बनाने की बात की है। पर उपन्यास के दो दलित पात्रों शीला और दरोगा जगजीवनराम का चरित्र दब-सा गया है। उपन्यास में नायक स्वयं जमींदार का बेटा विजेन्द्र ही है। उसी के आगे-पीछे अधिक कहानी घूमती है और बाद में सुधारवादी तेवर के ताने-बाने में ढल जाती है। दलित आंदोलन का तेवर उसमें रह नहीं जाता ।

उपन्यास के लेखक प्रेम कपाड़िया की यह पहली रचना नहीं है पर फिर भी लगता ऐसा है कि इस उपन्यास को लिखने और पूरा करने में उन्होंने बहुत जल्दबाजी की। यथार्थ की धरती पर अनगिनत समस्याओं से जूझते हुए दलित समाज के पात्रों की भाषा, परिवेश, उनके धार्मिक विश्वास तथा सामाजिक सरोकार के साथ-साथ उनकी मानसिक उथल-पुथल का गंभीर अध्ययन जरूरी है। पात्र स्वयं बोलता है तो पाठक उसके और करीब होता है।

बेहतर होता, 'मिट्टी की सौगंध' में उसकी गंध भी होती।

मिट्टी की सौगंध (उपन्यास): प्रेम कपाड़िया; प्रकाशक: भारतीय सामाजिक संस्थान, 10-इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली -110003; मूल्य: 25 रुपये

बी जी - 5 ए / 30 बी, पश्चिम विहार, नई दिल्ली

• डा. विद्या शर्मा

प्रेम-प्रसंगों की सादगी और ईमानदारी

डा. वीरेन्द्र सक्सेना ने प्रेम जैसे शाश्वत एवं जटिल विषय को आधार बना कर अपने काव्य संग्रह ठोस होते हुए की रचना की। अब उसी शैली में लिखी गई उनकी यह दूसरी पुस्तक है- **ठोस परिपक्वता की ओर** । इस पुस्तक के प्रारंभ में लिखा गया 'प्राक्कथन' ही इस बात का प्रमाण है कि लेखक ने रचना की विषयवस्तु और उसकी संरचना पर काफी सोच-विचार किया है और प्रेम की कथाएं स्वयं वाचक या कथानायक बनकर प्रस्तुत की हैं।

इस पुस्तक की विधा को लेकर कवि का बार-बार आग्रह है कि उसकी कृति को कथाकाव्य माना जाए। साथ ही एक स्पष्टीकरण भी दिया है कि कथाकाव्य में कथा के साथ काव्य का भी निर्वाह किया जाता है और इस दोहरी आशा या अपेक्षा के कारण ही इस कृति से पाठक को कई स्थलों पर निराशा भी हो सकती है, क्योंकि कथा की रोचकता और घटनात्मकता को बनाए रखने में काव्यात्मकता की क्षति होती है और अगर काव्य का ही ध्यान रखा जाए तो कथा आगे नहीं बढ़ती।

इस स्वीकारोक्ति में कवि-हृदय की सरलता और स्वभावोक्ति तो है ही, साथ ही आज के जीवन की जटिलता और विविध आयामी दृष्टिकोण को न पकड़ पाने की अक्षमता को भी स्वीकार कर लिया गया है। सो प्रस्तुत कृति न पूरी कविता है, न पूरी कथा-वह दोनों के यथोचित प्रयोग का परिणाम है।

आज के आदमी का जीवन इतना दुरूह हो गया है कि संपर्क-सूत्रों से जुड़ने के बाद भी उसके एक स्वरूप के बारे में कोई सुनिश्चित टिप्पणी करना बहुत कठिन लगता है। विविध आयामों वाली पुस्तक की तरह आदमी का सोच और व्यवहार भी हर पल बदलता रहता है। प्रेम भी इस स्थिति का अपवाद नहीं है। स्वार्थ, सत्ता, सुख आदि विभिन्न केन्द्रों में भ्रमण करता हुआ यह मनोभाव आदमी को कभी पास से, कभी दूर से अपनी ओर आकर्षित करता रहता है।

जहां तक रचना की विषयवस्तु का प्रश्न है, वहां लेखक की ईमानदारी व सरलता ही दृष्टिगत होती है। 'आत्मकथ्य' में लेखक ने खुद लिखा है किह वह नर-नारी संबंधों में कुछ प्रयास एवं प्रयोग कर रहा है, प्रेम की महत्ता के निमित्त। इनमें माध्यम बनी कुछ विशिष्ट गुणधर्मी असाधारण नायिकाओं-प्रिया, सुस्मिता, प्रतिभा, काम्या, शिवा उर्फ अक्षय आदि-के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के बाद कुछ अनुभव, कुछ निष्कर्ष सहृदयों के विचारार्थ प्रस्तुत हैं। अगले पृष्ठों पर प्रथम प्रेम के विभिन्न प्रस्तावों का स्पष्टीकरण है। प्रेम के क्षणों में आकर्षण एवं अनुरागजन्य अनुभूति जन्म-जन्मांतर की प्रतीत होती है। प्रेम के विविध प्रसंगों में नायिका कहीं तो कम उम्र की 'भावनामयी' है, कहीं युवती और 'सौंदर्यमयी' फिर कहीं वह प्रेरणाप्रद प्रतिभा' है, जो वरिष्ठ प्रबंधक का ऊंचा पद पाने चली जाती है या कहीं समृद्ध वर्ग की 'करोड़कामी'। अंतिम नायिका 'शिवा' भी अपने संघर्षमय जीवन के लिए नायक से दूर चली जाती है और दास्तान-ए-इ जारी रहती है। उसके चले जाने पर कवि अपना वक्तव्य प्रस्तुत करता है-"सपनों को भी साकार करने के लिए/उ तरल या ठोस आकार में/करना होता है रूपांतरित।" और यह मुश्किल काम अंततः शिवा के लौट आने पर सादगी सिविल कोर्ट में विवाह करके पूरा हो ही जाता है।

कवि ने अपनी इस कृति में प्रतिपादित किया है कि प के बहुत-से अनुभवों से गुजरने के बाद अंत में जीवन अनुभवों से परिपक्व हो कर उसने ठोस जीवन की दृष्टि है। उसी से परिपक्व आनंददायी प्यार के सुनहरे भविष्य आशा भी उपजी है। कवि ने इस पुस्तक में जिन वि प्रेम-प्रसंगों की कथा प्रस्तुत की है, उनका ब्यौरेवार विव देते समय एकदम नन्हें बालक जैसा दिखाई देता है। उ अभिधा शैली में शब्दबद्ध किए गए संवेदन एवं मनो

सपाटबयानी के साथ लेखक की उस कल्पनाशीलता की ओर भी ले जाते हैं, जहां भावुक हृदय होने पर भी युवा कवि का मन मध्यकालीन रुग्ण मानसिकता से दूर स्त्री को भी व्यक्ति मानता है। वह पढ़े-लिखे संयत सभ्य प्रेमी की भांति अपने प्रेम की प्रतिक्रिया देखता है, अनुभव करता है और एक के पीछे हट जाने पर खुद भी संयत होकर आगे बढ़ जाता है।

मध्यम वर्ग से लेकर संपन्न वर्ग की स्त्रियों से जुड़े प्रस्तुत काव्य के प्रेम-प्रसंग कवि की क्षमता या सामर्थ्य का प्रमाण तो देते ही हैं साथ ही वे बिना किसी लाग-लपेट के विविध आयु-वर्ग की स्त्रियों के संपर्क का प्रभाव और लेखा-जोखा भी प्रस्तुत कर पाए हैं।

कुछ पुरुषों का अहं स्त्री की व्यक्ति-चेतना को स्वतंत्र रूप से स्वीकारने में भी आहत होता है। वे 'घर में कुछ और' और 'घर से बाहर कुछ और' की दोहरी मानसिकता का निर्वाह करते हैं। लेकिन पुरुष-शासित समाज में रहने पर भी इस कृति का कवि स्त्री-पुरुष को समान दृष्टि से देखता है जो निश्चय ही हमारे नए समाज का अपना दृष्टिबोध है। उसने प्रेम पर अपनी मानसिक प्रतिक्रियाएं एवं अपनी घरेलू भूमि की परिसीमित स्थितियां अपने 'ठोस' दर्शन के आधार पर लिपिबद्ध कर दी हैं।

आज की दुनिया में तथाकथित मठाधीश ऊपर से निरीह लेकिन भीतर से अजगर की तरह सब कुछ सपोट कर और-और की कामना में हाथ लम्बे करके, सबके अधिकारों को खुद ही समेटते चले जा रहे हैं। इसी के परिणामस्वरूप एक शून्य और अवसादी व्यक्ति-मन साहित्य में पंगु बन कर उभर रहा है। प्रस्तुत काव्य-कृति के माध्यम से डा. वीरेन्द्र सक्सेना ने इसी सब का सहज और बेबाक चित्रण प्रस्तुत किया है और यह चित्रण अपनी सीमाओं के बावजूद पठनीय और प्रभावी है।

ठोस परिपक्वता की ओर (काव्य): डा. वीरेन्द्र सक्सेना; नीरज बुक सेंटर (भावना प्रकाशन), पटपड़गंज, दिल्ली-91; पृष्ठ 180, मूल्य 160 रुपये।

ए - 141 शंकर गार्डन, नई दिल्ली - 110018

• डा. वीरेन्द्र सिंह

एक नयी प्रयोगात्मक औपन्यासिक संरचना

आधुनिक विज्ञान में रचे-बसे, जातीय संस्कृति और इतिहास के प्रति संवेदनशील तथा साहित्यिक-कलात्मक सृजनात्मकता को अपने तरीके से आत्मसात किए हुए डा. धनराज चौधरी का नया प्रयोगात्मक उपन्यास तथापि यथार्थ, फन्तासी तथा व्यंग्य का एक अद्‌भुत घोल है। यही नहीं, वैचारिकता के भिन्न आयाम पूरी संरचना में इस तरह अन्तर्व्याप्त हैं कि आप इन सभी तत्त्वों का संवेदनात्मक आस्वादन उसी समय कर सकते हैं जब आप उपन्यास को किस्तों में पढ़ें क्योंकि इसकी वस्तु-योजना उस तरह की क्रमिकता को लिए हुए नहीं है जो पारम्परिक औपन्यासिक संरचना में हमें प्राप्त होती है।

तथापि में कथ्य का केंद्र उच्च शिक्षा से सम्बन्धित है जो फन्तासी, व्यंग्य तथा प्रतीकात्मकता के कारण एक ऐसी संरचना को जन्म देता है जिसमें वनस्पति संसार, जीव संसार और मानव का सापेक्ष द्वन्द्वात्मक संबंध प्राप्त होता है। वनस्पति संसार के पेड़-पौधों आदि के प्रतीकात्मक मानवीकरण के द्वारा विश्वविद्यालय और कालेज की विसंगतियों, वहां की आपाधापी, शोध की गिरती अवस्था, किशोर मन की उड़ान, तितलीनुमा फैशन की नुमायश, पुस्तकालय और संगोष्ठियों की दशा, छात्र-संघ चुनाव की त्रासद स्थिति निर्देशक और शोध छात्र का संबंध, कर्मचारियों का आपसी द्वन्द्व तथा तनाव आदि को व्यक्त किया गया है। उपन्यास की संरचना में प्रोफेसर और सिंह-शावक को एक प्रेक्षक के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो उपर्युक्त स्थितियों और घटनाओं के द्रष्टा हैं, तो दूसरी ओर उनके आपसी संवाद वैचारिकता और संवेदना की भावभूमि को स्पर्श करते हुए एक 'आत्मीय' संसार की सृष्टि करते हैं। उदाहरण के तौर पर शावक को मां की याद आने का यह संवेदनात्मक चित्र लें- "उन्हें (प्रोफेसर) ध्यान आया कि शावक की आंखों से आंसू टपक रहे हैं। उन्होंने दुलराया- 'क्यों बच्चे?' तब शावक कहता है- 'नहीं! मां जो याद आ गयी.....जब मां मरी थी तब पिता जी

उसे टांग से खींच कर एक ताल में-' उसकी हिचकियां बंध गयीं और फिर शावक ने कहा तभी से उसके पिता उदास गुमसुम रहने लगे। यह कहते कहते उसका गीला मुंह प्रोफेसर की गोद में लुढ़क गया।'' इसी समय लेखक प्रोफेसर को द्रवित होते दिखाता है और उसे भी पत्नी की याद आती है और वह मच्छरदानी से बाहर निकले अपनी पुत्री के हाथ को चूमता है क्योंकि उसकी भी मां नहीं है।

इस प्रकार के वैचारिक-संवेदनात्मक प्रसंग उपन्यास में बिखरे हुए हैं जो उपन्यास की संरचना को 'फ्लैशेस' में प्रस्तुत करते हुए, क्रमहीनता के बावजूद एक आतंरिक क्रम को प्रकट करते हैं जो अत्यंत परोक्ष एवं सूक्ष्म है। इस उपन्यास की संरचना में एक अन्य तत्त्व जो बड़ी कुशलता से व्याप्त है, वह है वैज्ञानिक विचारों तथा रूपाकारों का सृजनात्मक प्रयोग। मेरा यह मानना है कि यह उपन्यास उसी समय अर्थवत्ता प्राप्त करेगा, जब पाठक के पास विज्ञान की वैचारिक पृष्ठभूमि हो क्योंकि लेखक ने किशोर छात्रा और ट्यूटर शिक्षक (पूल आफिसर) का जो प्रसंग शुरू तथा अंत में लिया है, वह दो स्तरों पर चलता है-एक गणित के संप्रत्ययों-प्रश्नों का हल तथा दूसरे किशोर मन की भावुकता, आकर्षण और उड़ान। ये दोनों स्तर एक अद्भुत द्वन्द्वात्मक स्थिति में चलते हैं जिसमें हास्य भी है, व्यंग्य भी है, गणित यांत्रिकी की गुत्थियां भी हैं, भौतिकी की स्थितियां भी हैं और इन सबके बावजूद आकर्षण और विकर्षण का एक ऐसा द्वन्द्व जो किशोर-मन के मनोविज्ञान को, उसकी जटिलता और उसकी तरंग को अत्यंत सूक्ष्मता से संकेतित करता है। छात्रा रामानुजम बनना चाहती है, पर स्थितियां उस स्वप्न को साकार नहीं होने देती हैं। गणित के प्रति इस प्रसंग में अनेक महत्त्वपूर्ण कथन और विचार हैं जो सारे प्रसंग को 'वैचारिक गतिशलता' से जोड़ देते हैं। गणित की भारतीय परम्परा को छात्रा महसूस करती है कि यहां रामानुजम, आर्यभट्ट, शंकुतला जैसे दिग्गज हुए, धरती अब भी उर्वर है, और भी दे सकती है बशर्ते मौसम साफ हो। यहां पर 'मौसम' शब्द अत्यंत व्यंजनात्मक है जो सार्थक परिप्रेक्ष्य की मांग करता है जो आज कहां है? इस प्रसंग में गणित और साहित्य के संवाद पर ये पक्तियां- "गणित से साहित्य का मेल हो जाए तो अंक और वर्ण हिसाब-किताब की छिछली भाषा छोड़ गहरे हो जाएं।'' गणित का यह गहरापन साहित्य के संस्पर्श की मांग करता है जो हमें धनराज चौधरी की कृतियों में प्राप्त होता है। छात्रा ट्यूटर को कनखियों से देखती है,उसका मन चंचल होता है। वह चाहती है कि वे क्रम से गणित कहते ही रहें, पर वह प्रश्न करती है, "चित्र, समीकरण सूत्र, वर्ण और अंकों से बनी पंक्तियां मात्र ही क्यों होता है गणित। किसी रोचक विषय-सी गणित की भाषा भी लचीली होती तो और अच्छा होता।'' अंत में छात्रा के प्रति अव्यक्त आकर्षण और फिर उसको ऊपरी स्थूल नज़र से देखना- "रूखे बाल, चुन्नी कीड़ों ने छेदी है। नाखून सादे.....केवल स्थूल कामकाजी नज़र। गणितज्ञ और देख ही क्या सकता है? ऊपरी रचना ही, सूक्ष्म नहीं। गणितज्ञ कैसे पैठे।'' यदि गहराई से देखा जाए तो धनराज चौधरी मनोभावों, अभिवृत्तियों तथा संवेदनाओं को उभारने के साथ उन्हें गणित, विज्ञान तथा अन्य ज्ञान-क्षेत्रों से इस प्रकार जोड़ते हैं कि पूरी संरचना यथार्थ और फन्तासी के द्वन्द्व को अर्थ देती है। यांत्रिकी की गतिकी और बल, अनिश्चितता का रूप, स्वभाव या प्रकृति का वर्चस्व आदि अनेक संप्रत्ययों के सर्जनात्मक प्रयोग के द्वारा लेखक ने यथार्थ के दंश को गहराने का प्रयत्न किया है।

उपन्यास की संरचना में सिंह-शावक तथा प्रोफेसर प्रेक्षक के रूप में जो परिदृश्य देखते हैं, वह है विश्वविद्यालय तथा संस्थानों की असंगतियों, कार्यकलापों तथा कर्मचारियों के संबंध की व्यंग्यात्मक स्थिति जो वनस्पति संसार के द्वारा एक पूरी व्यवस्था पर व्यंग्य होने के साथ-साथ परोक्षतः भारतीय सामाजिक-शैक्षणिक व्यवस्था पर भी व्यंग्य है। दुरमुठ, मेंहदी आदि हेज़ श्रेणी की वनस्पतियां चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी है, रोहिड़ा 'वृहदशिक्षालय' के कुलपति, गन्ना कुलसचिव, भिन्न बेलें सहायक उपकुलसचिव, विद्यार्थी हैं चटख फुलवारी, चम्पा चमेली, मोगरा, रात की रानी हैं शोधछात्र, कनेर, गुलाब, हरसिंगार आदि प्रवक्ता हैं। इस पूरे समुदाय का पालन करते हैं प्रोफेसर जो लोक-उपकार के कामों में व्यस्त रहते हैं और शोध, अध्ययन, अध्यापन के हिज्जे तक उन्हें मुश्किल से याद रहते हैं। इस परिसर में शोध अध्ययन के अलावा सभी दंद फंद चलते हैं। "इस परिसर की विडम्बना

यह है (जो प्रोफेसर शावक से कहता है) कि इसे शिक्षक कम प्रशासक अधिक चलाते हैं।'' फर्राश मेंहदी अपनी दुल्हन सुगंधी से जो संवाद करता है, वह इन शिविरों पर करारा व्यंग्य है। पत्नी ने कागज़ के टुकड़ों को बुहार जिज्ञासा प्रकट की, "रूखा-सूखा ऐसा कैसा समारोह।'' पांच साल से 'शिक्षा' की सफाई कर रहे पति ने चेहरे पर गंभीरता डाल चुप रहने का इशारा कर समझाया-"यह ज्ञानियों का शिविर है, नसेड़ियों का नहीं।'' फिर लसोढ़े वक्ता का व्यंग्यात्मक भाषण जो शिक्षा की दुनिया नए तरीके से सजाने जा रहे हैं। यह सारा प्रसंग वनस्पति संसार के द्वारा व्यंग्यात्मक तरीके से रखा गया है जहां सोच और व्यंग्य एक साथ घुल-मिल गए हैं।

उपन्यास की संरचना का आरंभ और अंत शेर से होता है जो विश्वविद्यालय का प्रोफेसर है। आरंभ में छात्रा का नाटकीय संवाद है जो 'कुछ न होने' की पीड़ा से भरी है। वह मरना चाहती है। शेर उससे इस 'कुछ नहीं' के बारे में पूछता है, तब छात्रा कहती है कि वह रामानुजम बनना चाहती है, पर व्यवस्था के कारण ऐसा नहीं हो पाता। अंत में शेर का रूप अत्यंत व्यंग्यात्मक एवं विडम्बनापूर्ण है जब एक परिवार शेर देखने चिड़ियाघर आता है, तब उनमें से एक बच्चा शेर के बारे में पूछता है तो वर्दीधारी कहता है, कि रात को आया था, रात भर के लिए। पुरुष-स्त्री कुछ न समझ सके, उन्होंने पूछा, ''कहां से'' जवाब मिला-"उनिउरसीटी से।'' इस पर पति-पत्नी हंसते रहे- "कैसे पागल भर रखे हैं विश्वविद्यालयों में जो कटघरे में बैठ शोध करते हैं।'' यहां पर शोध व ज्ञान को कटघरे से बाहर लाने की लालसा है, और यही स्थिति क्या राजनीति, धर्म और अर्थनीति की नहीं है? वैज्ञानिक विषयों पर कथाएं तो लिखी गयीं पर धनराज चौधरी ने इस उपन्यास के द्वारा वैज्ञानिक रूपकों-बिम्बों-आशयों को जीवन के यथार्थ से जोड़ कर एक नए प्रकार के वैज्ञानिक सोच एवं प्रभाव को औपन्यासिक संरचना में रूपांतरित करने का जो प्रयत्न किया है, वह अपनें में अनूठा और सर्जनात्मक है। यह उपन्यास मनोभौतिकी क्षेत्र में एक नया अन्वेषण है और इस दृष्टि से इसके महत्त्व को साहित्य में निर्धारित करना आवश्यक है।

5 झ 15, जवाहर नगर, जयपुर-302004

• गुरुचरण सिंह

मीडिया और स्त्री-अस्मिता

विज्ञापन जगत का छद्म अपनी तहों में कितना भक्षक दल-दल है और किस चतुराई से वह अपने इस दलदल की विकृति को पोस्टर्स, होर्डिंग्स, पत्रिकाओं, अखबारों, फिल्मों, दूरदर्शन, स्लाइड्स के माध्यम से समाज को शनैः शनैः परोस रहा है। चित्रा मुद्गल का एक ज़मीन अपनी उपन्यास अपनी पूरी जागरूकता और संवेदनशीलता के साथ विज्ञापन जगत में व्याप्त इस दलदल को मुखौटामुक्त ही नहीं करता बल्कि महिलाओं के साथ जुड़े ज्वलंत प्रश्नों को भी पाठकों के सामने रखता है।

आज की संघर्षशील नारी के विविध रूप, समस्याएं और समाज में उसका बनता-मिटता स्थान, उसका अपना झुकाव, पुरुष समाज के प्रति उसका अपना रवैया आदि अनेक प्रश्नों को लेखिका नें इस उपन्यास में उठाया है।

विज्ञापन जगत की सर्वथा अछूती पृष्ठभूमि के माध्यम से चित्रा मुद्गल ने नारी संघर्ष के मूल में बसी विसंगतियों को कई-कई कोणों से उजागर करने का प्रयास किया है। इस ग्लैमर की दुनिया को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है-एक है नीता की दृष्टि तो दूसरी है अंकिता की।

निम्न या मध्यम वर्ग से विज्ञापन जगत में आयी नारी तथा उच्च वर्ग से आई नारी के संस्कारों तथा सोच में अन्तर है। अंकिता संस्कार तथा मूल्य को महत्त्व देती है तो नीता के लिए अर्थ तथा प्रतिष्ठा ही सभी कुछ है। अंकिता अपने स्वाभिमान तथा आदर्शों के लिए कुछ भी त्याग सकती है तो नीता अपने स्वार्थों के लिए किसी भी सीमा तक जा सकती है। अंकिता की अपेक्षा नीता अधिक व्यावहारिक है। जब उसे लगता है कि अंकिता को नौकरी नहीं मिल सकती क्योंकि मैथ्यू जो चाहता है, अंकिता वैसा नहीं करेगी तो वह नौकरी को खुद हथिया लेती है।

अंकिता का विवाह सफल नहीं रहा। सुधांशु की ऐयाशियों तथा ज्यादतियों को वह सती-साध्वी बने रह कर नहीं सह सकती थी। उसने स्वेच्छा से अलग रहना स्वीकार किया। उसी सुधांशु से जिसे पाने के लिए उसे उन दुर्गम पगडंडियों से गुजरना पड़ा था जो धर्म, जाति, परम्परा और मान्यताओं के पहरों से गुजरती हैं।

नीता की परिकल्पना वर्जनाहीन समाज की है। वह विवाह संस्था को भी आवश्यक नहीं समझती तथा सुधीर के साथ एक सहचरी के रूप में रहना चाहती है। नीता को लगता है कि जिस व्यवसाय को उन लोगों ने चुना है वहां विचारों की मुक्तता आवश्यक है, पर अंकिता अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रह कर भी वह सब प्राप्त करती है जिसे नीता भी प्राप्त नहीं कर पाती। अंकिता ने अपनी योग्यता तथा प्रतिभा के बल पर आगे बढ़ना चाहा, किसी सिफारिश के बल पर नहीं जबकि नीता की मान्यता रही कि 'यह ग्लैमर की दुनिया है-यहां जीने की, जी पाने की पहली शर्त है-विशिष्ट दिखना, विशिष्ट करना, विशिष्ट बनना- जो वास्तविकता नहीं है।' पर अंकिता को उसका यह तर्क मान्य नहीं है। विशिष्ट क्या है? इस पर दोनों में मतभेद है। जिस तरह से नीता रहती है, जिस तरह के कपड़ों को वह पहनती है यदि वह विशिष्टता है तो अंकिता को स्वीकार नहीं। स्त्रियों को फैशन की होड़ में देखकर अंकिता को वितृष्णा होती है- 'किसी को कम कपड़ों में देख कर अचानक अपनी देह से कपड़े उतरते महसूस होते हैं।'

दोनों चरित्र विपरीत ध्रुव हैं- फिर भी उनमें प्रगाढ़ मित्रता है। वैचारिक मतभेद उनकी मित्रता में आड़े नहीं आता। नीता अपने अन्तिम पत्र में अंकिता पर असीम विश्वास प्रकट करती है और अपनी बेटी को उसे सौंप जाती है। अंकिता भी उसके विश्वास को बनाये रखती है। अंकिता कई बार उसके कृत्यों के प्रति बहुत कटु हो उठती है, पर नीता के पास अपने कृत्यों को उचित ठहराने के अपने तर्क हैं।

अंकिता का व्यवहार पुरुषों के प्रति आशंकित और अविश्वासी है। इसका कारण शायद उसका अकेला होना है।

उसे लगता है कि लोग उसकी मजबूरी का लाभ उठाना चाहते हैं। भोजराज की ऑफर को भी वह शंकित निगाहों से देखती है।

अंकिता को औपचारिक व्यवहार पसन्द नहीं, पर लोगों के साथ वह स्वयं अनौपचारिक हो नहीं पाती। फिर जिस एजंसी में वह काम कर रही है, वहां ग्लैमर को प्रमुखता दी जाती है, उस माहौल में वह कतई फिट नहीं है। वह तो कालेज में पढ़ना चाहती थी, पर उसकी यह इच्छा पूरी न हो पायी। विज्ञापन जगत में आने के बाद भी वह विज्ञापनों के प्रचलित मनोविज्ञान को बदल वहां कुछ नया तथा नये ढंग से करना चाहती है जिससे विज्ञापन को भी कलात्मक तथा स्तरीय बनाया जा सके। हरीचन्द्र, अंकिता को तथा उसकी प्रतिभा को समझता है, इसीलिए वह बार-बार उसे पत्रकारिता के लिए उकसाता है और 'आरम्भ' के लिए एक कॉलम भी उससे लिखवाता है।

हरीन्द्र तथा मेहता के साथ अंकिता के अंतरंग सम्बन्ध हैं। दोनों विवाहित हैं, पर अंकिता के सुख-दुख में साथ देते हैं तथा उसे गहराई से समझते हैं। अंकिता को जब कभी निर्णय लेना होता है तो वह उन दोनों से ही परामर्श करती है। मेहता की पत्नी आत्महत्या कर लेती है। मेहता जब खुद को अकेला अनुभव करता है तो सीधा अंकिता के पास चला आता है- 'बहुत लोग आसपास होते हैं, मगर उस भीड़ में जब किसी को अपने नितांत अंतरंग का साझीदार बनाना होता है, अपना मुक्त बांटना होता है, शायद कोई एक ही होता है।'

अंकिता संवेदनशील है, भावनाओं में बह जाती है। विचारों में खो जाती है। अतीत से वह मुक्त नहीं हो पाती। स्मृतियों में जीना उसकी आदत है। इसी कारण उपन्यास में 'फ्लैश बैक' शैली का प्रयोग प्रारम्भ से अंत तक हुआ है। इससे अंकिता ही नहीं, औरों को वह किस दृष्टि से देखती है, इस पर भी प्रकाश पड़ता है।

तिलक की दृष्टि में अंकिता 'घोर स्त्रीवादी' है, क्योंकि वह हर स्थिति के लिए पुरुष को ही दोषी ठहराती है। वह चाहती है कि पुरुष स्त्री को बाड़े से मुक्त कर उसे बराबरी का दर्जा दे और यदि पुरुष उसे यह अधिकार नहीं देता तो 'स्त्री को घर, परिवार और समाज के आतंक से आतंकित न होकर खोखली दीवारों से सिर पटक-पटक कर प्राण देने की बजाय बाहर निकलकर विकल्पों को खोजना चाहिए।' पर तिलक का यह कहना भी सच है कि 'स्त्री की वास्तविक लड़ाई स्त्री से है- कहीं वह सास बन कर शोषण कर रही है तो कहीं मां बनकर चौकीदारी, कहीं ननद बन कर जासूसी तो कहीं प्रेमिका बन कर सीना जोरी....... आन्दोलन करना है तो स्त्री को, स्त्री की संकीर्णताओं तथा क्षुद्रताओं के विरुद्ध करना चहिए।'

नीता का स्त्री समानता का दृष्टिकोण मर्द बनना है। अंकिता को लगता है कि यह प्रतिक्रिया से उपजी प्रतिशोधात्मक कार्यवाही है। अंकिता नहीं चाहती कि स्त्री स्त्रीत्व से मुक्त हो। वह उसे रूढ़ियों से मुक्त कराना चाहती है पर भोजराज जानता है कि व्यवसाय में नाम बिकता है। 'माध्यम' अंकिता की कार्यकुशलता तथा प्रतिभा से ही उन्नति करता है। विज्ञापन जगत से जुड़ी अनेक समस्याओं पर लेखिका विचार करती है।

उपन्यास के अंत में सुधांशु अंकिता से सम्बन्धों को सुधारना चाहता है। अंकिता का भाई तथा हरीन्द्र भी ऐसा ही चाहते हैं। उन्हें लगता है कि आर्थिक दृष्टि से सुरक्षित होना पर्याप्त नहीं है। उसे एक अदद पुरुष की सुरक्षा भी चाहिए। इस जरूरत को अंकिता भी अनुभव करती है। पर वह स्थितियों को, घटनाओं - प्रसंगों को प्रायः अपने ही दृष्टिकोण- से देखती है तथा लोगों की दृष्टि की परवाह नहीं करती। सुधांशु को वह साफ-साफ कहती है- 'औरत बौनसाई का पौधा नहीं है....जी चाहा उसकी जड़ें काट कर उसे वापस गमले में रोप दिया....वह बौना बनाये जाने की इस साजिश को अस्वीकार भी कर सकती है।'

उपन्यास बम्बई जैसे महानगर के व्यस्त तथा तनावपूर्ण जीवन को भी उभारता है। फिल्म नगरी होने के कारण विज्ञापन जगत का अधिकांश काम इसी नगर में होता है। उपन्यास में जगह-जगह महानगरीय जीवन की समस्याएं उभरी हैं जिसमें अपना घर होने का स्वप्न प्रमुख है। महानगर में सामूहिक जीवन का नितान्त अभाव है। संकट के समय पड़ौसी को पुकारना भी वहां असम्भव लगता है। ' जहां एक साथ करोड़ों लोग रह रहे हों, अलग-अलग जाति, धर्म, समाज के, वहां के जीवन मूल्य अनेक दबावों के

चलते विभाजित हो गये हैं। व्यक्तिपरकता मुख्य हो गयी है।' कौन क्या करता है, इसमें लोगों की रुचि नहीं रही, न ही लोगों के पास समय है।

अंकिता का कभी-कभी मन करता है कि वह बम्बई से कहीं दूर चली जाये- 'यहां की रफ्तार भरी जिंदगी उसकी मुट्ठी में नहीं आ सकती।' तो कभी वह सोचती है कि यह शहर विद्रोह क्यों नहीं कर देता कि 'अब बस करो, मेरी देह इतना बोझ नहीं सह सकती। सड़कों पर इतना ट्रैफिक, जलता हुआ डीजल, पेट्रोल, धुआं, बदबू के भभके। आंखों में दीर्घ रुदन पश्चात की किरकिरी भरी जलन।'

मां की मृत्यु के साथ सम्बन्धों की टूटन तथा उनके खोखलेपन पर भी लेखिका ने बात की है। राख ठंडी होने से पूर्व ही बंटवारे की बात उठती है। अंकिता को लगता है कि मां की मौत के साथ ही वह बिल्कुल अकेली हो गयी है।

लेखिका का ध्येय स्त्री-पात्रों को उभारना है। नीता तथा अंकिता के चरित्र पर ही उसका ध्यान ज्यादा रहा है। पुरुष पात्रों के विकास की तरफ उसका ध्यान कम गया है। नीता तथा अंकिता के चरित्र को लेकर महिला स्वतन्त्रता के दोनों पक्षों पर विचार किया गया है। पश्चिमी सभ्यता का नग्न रूप तथा उसका अन्धानुकरण लेखिका को पसन्द नहीं है। वह स्त्री को उसकी मर्यादित सीमा में रख कर ही स्वतन्त्रता तथा अधिकार दिलवाने के पक्ष में है। नीता से आत्महत्या करवा कर लेखिका मुक्त जीवन के अंतर्विरोधों को ही व्यक्त करती है।

नीता तथा अंकिता के चरित्र के सम्बन्ध में लेखिका की जो धारणा उपन्यास के पहले कुछ पृष्ठों में बन गयी है, अन्त तक बनी रहती है। इस तरह उनका विकास अवरुद्ध हुआ है। उपन्यास में कथा का अभाव खलता है- लगता है कथा आगे नहीं बल्कि अंकिता की सोच के साथ बार-बार पीछे की ओर जा रही है। ऐसा भी लगता है कि उपन्यास के पहले प्रारूप में आकार इतना बड़ा नहीं था, इसे दूसरे या तीसरे प्रारूप में फैलाया गया है।

अपने अछूते विषय तथा भाषा के प्रवाह के कारण यह उपन्यास पठनीय है।

एक ज़मीन अपनी : चित्रा मुद्गल; प्रभात प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य सौ रुपये।

6/15, अशोक नगर, नई दिल्ली - 110018

• सरोज वशिष्ठ

कोर्ट मार्शल

एक भयावह नाटक का त्रासद मंचन

हिन्दी रंगकर्म पर अगर आप एक उड़ती-सी निगाह भी डालें तो मोहन राकेश के नाटकों को छोड़ कर और कितने नाटक ऐसे हैं जिनके सौ से भी अधिक मंचन हुए हैं? 'जात न पूछो साधू की' का मंचन एक सौ से अधिक बार जरूर हुआ है लेकिन कितने वर्षों में? 'होली' और 'प्रतिबिंब' के लेखक महेश एलकुंचवार एक भाग्यशाली नाटककार हैं। रंगकर्मी ये दोनों ही नाटक खेलना पसन्द करते हैं। सामान्यतः अगर किसी का लिखा नाटक चार-पांच दिन मंचित हो जाए तो वह स्वयं को भाग्यशाली मानता है। नाटककार स्वदेश दीपक के अपने ही शब्दों में उनका लिखा नाटक 'कोर्ट मार्शल' एक भयावह क्रूर नाटक है। जिन्होंने अभी,बावजूद चार सौ से अधिक मंचनों के-और वह भी सिर्फ गत दो वर्षों के भीतर-'कोर्ट मार्शल' नहीं देखा वे पूछ सकते हैं-ऐसा क्या है इस नाटक में जो कलकत्ता की उषा गांगुली, दिल्ली के अरविंद गौड़ और हमारे अपने शिमला की अमला राय को इतना भा गया है कि वे इस नाटक के क्रमशः तीन सौ, दो सौ और बारह मंचन करने के बाद भी इसे एक विशेष प्रकार की प्राथमिकता देने से बाज नहीं आ रहे हैं। जब, जहां, जैसे मौका मिला 'कोर्ट मार्शल' की प्रस्तुति की जा रही है। जेब में फूटी कौड़ी हो न हो लेकिन.............।

एक प्रसिद्ध उद्धरण है: "एक स्वतन्त्र देश में अपनी बात कहने की बुद्धिवादी स्वतन्त्रता जरूरी है।" लेकिन कभी भी, कहीं भी, किसी देश या काल में क्या ऐसा हुआ है? और अगर यह आज़ादी उपलब्ध भी है और कैप्टन बी.डी. कपूर जैसा वरिष्ठ अधिकारी सेना के एक गार्ड को 'चिट्टा चूहड़ा हराम की सट्ट' कह कर अपमानित कर सकता है तो ऐसे स्वतन्त्रता के क्या मायने रह जाते हैं?

स्वदेश दीपक रचित 'कोर्ट मार्शल' की कहानी इसी विषय-वस्तु के इर्द-गिर्द घूमती है। गांधी जी ने 'उन्हें' एक नाम दिया था 'हरिजन', एक बहुत ही आदरणीय नाम लेकिन आज तक भी यह सिर्फ एक गाली है। हरिजन ना

से जाना जाने वाला प्राणी आज भी एक अछूत है, एक ऐसा प्राणी जिससे सिर्फ घृणा की जा सकती है। कबीर ने क्यों लिखा था कि हरिजन हरि से ऊपर हैं।

स्वदेश दीपक के 'कोर्ट मार्शल' में इस त्रासदी का ऐसा वर्णन है जिससे एक कहावत याद आती है: "अगर तुम किसी गुलाम की गरदन में जंजीर डालो तो उसका दूसरा सिरा खुद तुम्हारी गर्दन का फन्दा बन बैठता है।"

बीज चाहे फूल, पेड़ या किसी पौधे का हो या फिर शोषण का, शुरू-शुरू में नज़र नहीं आता है। बीज तो अपना काम धरती के नीचे से करता है न। जब वह स्वयं को नष्ट करके वृक्ष बनता है तब वह आसमान को देखता है। तभी जन्म होता है स्वदेश दीपक के नायक रामचन्दर का। अंग्रेजों ने कभी भी दलितों,हरिजनों, भंगियों, नीची जाति वालों का शोषण नहीं किया। यह दीगर बात है कि उन्होंने बड़ी संख्या में इनको ईसाई बना दिया। लेकिन स्वराज्य-प्राप्ति के बाद हमने इनके साथ क्या किया? जब भारतीय सेना का कप्तान बी.डी. कपूर रामचन्दर को यह कह सकता है, "चिट्टा चूहड़ा, हराम की सट्टी! तेरी मां जरूर किसी कपूर या वर्मा के साथ सोई होगी।" तो रामचन्दर एक घायल जानवर में परिवर्तित हो कर अपने शोषकों पर कातिलाना हमला क्यों नहीं कर सकता है?

यही वह मुद्दा है जिस पर पूरा नाटक टिका है। नाटक के अन्त में जैसे ही कैप्टन कपूर हर तरह से अपमानित-पराजित हो कर आत्महत्या कर लेता है तो कर्नल सूरत सिंह कहते हैं: "मैं जानता हूं, बाहर क्या हुआ है। पोएटिक जस्टिस। जब दुनिया की अदालत इन्साफ न कर सके तो कभी-कभी ऊपर वाला इन्साफ कर देता है।" बावजूद इसके कि सूरत सिंह के पास उसे देने के लिए सिवाय मृत्युदंड के और कुछ भी नहीं है, फिर भी वह रामचंदर को एक ड्रिंक देता है। रामचंदर शराब नहीं पीता लेकिन वह अपने जीवन का आखिरी जाम यह कह कर एक ही घूंट में पी जाता है, "आप जो देंगे, सिर आखों पर,सर, पियूंगा सर, जरूर पियूंगा। थैंक्यू, सर !" अगली सुबह रामचंदर के गले में फांसी का फन्दा लटकना तो सुनिश्चित है लेकिन सूरत सिह "थैंक्यू, रामचंदर !" कहना नहीं भूलता है।

14 अप्रैल को पिंजौर स्थित हिन्दोस्तान मशीन टूल्ज़ (एच.एम.टी.) के सामुदायिक सभागार में 'अभिव्यक्ति' द्वारा इस नाटक का मंचन एक दूसरे ही स्तर पर विचलित करने वाला अनुभव सिद्ध हुआ।

माना कि अवसर डा. भीमराव अम्बेडकर के 106 वें जन्म दिवस का था। माना कि एच.एम.टी. ने इस अवसर पर कोर्ट मार्शल को प्रायोजित कर के अम्बेडकर सहित हर दलित को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। लेकिन उस दिन सबसे अधिक दलित सिद्ध हुआ 'रंगकर्म'। लेकिन अभिव्यक्ति एक 'बहादुर' रंगमंडली है- ठीक 'कोर्ट मार्शल' के नायक रामचंदर की तरह। मैंने आज तक कभी भी किसी प्रायोजित कार्यक्रम में रंगमंडली की इतनी अवहेलना, इतनी उपेक्षा होती नहीं देखी है। प्रकाश-व्यवस्था और ध्वनि-व्यवस्था की सम्पूर्ण गैरमौजूदगी के बावजूद श्रवणीयता को बनाए रखना अभिव्यक्ति की विशेषता सिद्ध हुई। हैरानी तो इस बात की है कि इतनी अनुशासन-विहीनता और अव्यवस्था के रहते भी नाटक निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। सभागार में मैं तो दम साधे बैठी थी कि अमला राय अपने संवाद बोलना बन्द कर के उद्घोषणा कर देगी, "सौरी वी कैन्नाट प्रोसीड" या फिर "या तो सभागार में आप अपना निरन्तर जारी आवागमन बन्द करें या फिर हम आपसे विदा लेते हैं।" लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। सम्भवतः सवाल प्रतिबद्धता का था। नहीं तो क्या वजह थी कि अमला राय ने विरोध नहीं किया। क्या एक व्यक्ति विरोध या विद्रोह कर सकता है? यह प्रश्न 'कोर्ट मार्शल' का केन्द्रीय मुद्दा है। और अगर एक व्यक्ति विद्रोह कर भी दे तो क्या अपने गन्तव्य तक पहुंच सकता है? जब शक्तिशाली लोग विरोध करते हैं तो उन्हें हासिल होती है सत्ता, महत्वपूर्ण पद क्योंकि वह राजनैतिक विरोध होता है, लेकिन जब इस संसार के रामचंदर विरोध करते हैं तो उसे विद्रोह की संज्ञा दी जाती है, और यह क्रिया उन्हें फांसी के फंदे तक ले जाती है। 14 अप्रैल को बेशक अभिव्यक्ति रंगमडली सबसे अधिक दलित, शोषित ओर निम्न जाति की चीज प्रमाणित हो गई लेकिन इसके सदस्य एक विशेष धातु से रचे, गढ़े गए हैं।

सी-13, आवास संख्या 20
एस. डी. ए. फ्लैट्स, विकास नगर
शिमला (हिमाचल प्रदेश)

• चक्राचक्र

ब्राह्मण और बिच्छू : नया संस्करण

पिछली बार ब्राह्मण और बिच्छू नदी में मिले थे। तब ब्राह्मण देवता स्नान कर रहे थे और बिच्छू डूब रहा था। ब्राह्मण डूबते हुए बिच्छू को डूबने से बचाने के लिए उसे हाथ में ले लेता था। अपने स्वभाव के अनुरूप बिच्छू उसे डंक मारता था। डंक की पीड़ा से ब्राह्मण का हाथ कांप जाता था और बिच्छू पानी में गिरकर डूबने लगता था। डूबते हुए बिच्छू को बचाने के लिए ब्राह्मण फिर हाथ देता था और बिच्छू फिर डंक मारता था।

दोनों अपने अपने स्वभाव से मजबूर थे।

इस बार जब दोनों मिले तो मित्र बन चुके थे।

बिच्छू ने कहा था-- "मैंने डंक मरने की आदत छोड़ दी है।''

ब्राह्मण ने कहा था- "मैं अब उतना सहनशील नहीं रह गया हूं।''

परन्तु दोनों को ही अपने बारे में गलतफहमी थी। ब्राह्मण स्नान करने के लिए जाता तो बिच्छू उसके साथ होता और मार्ग की उन चीटियों को चुगता जाता जो ब्राह्मण के पैरों से लिपटने की कोशिश करतीं।

अक्सर ब्राह्मण बिच्छू को अपनी हथेली पर बैठा लेता। और आश्चर्य कि उसका स्पर्श ब्राह्मण को बड़ा सुखद लगता। हाथ में लेते ही बिच्छू के डंक पता नहीं कहां गायब हो जाते और ऐसा लगता जैसे एक बड़ा मखमली स्पंज हाथ पर रखा हो।

उस दिन ब्राह्मण स्नान कर रहा था। उसने बिच्छू से कहा- "यार ज़रा मेरी पीठ पर साबुन तो मल दो।'' बिच्छू मलने लगा। एकाएक ब्राह्मण की चीख निकल गयी। लगा पीठ पर तेज डंक लगा है।

"तूने डंक मारा है क्या?'' ब्राह्मण ने पूछा

"कमाल है।'' बिच्छू बोला और उसके चेहरे पर बेहिसाब मासूमियत उभर आई- "मैं तुम्हें डंक मारूंगा। यह आदत तो मैं छोड़ चुका हूं।

"फिर मेरी पीठ में चुभा क्या है?''

"साबुन में कोई कील होगी।''

ब्राह्मण ने मान लिया।

एक दिन ब्राह्मण अपनी पूजा में निमग्न था। उसकी आंखे बंद थीं। बिच्छू भी उसके आस-पास मंडरा रहा था। एकाएक ब्राह्मण का ध्यान भंग हो गया। उसे लगा उसके पैर में डंक लगा है। उसने धीरे से आंखें खोलीं। बिच्छू उसके पैर से कुछ दूर खड़ा उसकी ओर देख रहा था। ब्राह्मण ने आंखें मूंद लीं। बिच्छू ने आगे बढ़कर उसके पैर पर डंक मार दिया। ब्राह्मण ने जरा सी आंखें खोल कर उसका यह कृत्य देख लिया और मन ही मन मुस्कुरा दिया।

इसके बावजूद दोनों मित्र बने रहे।
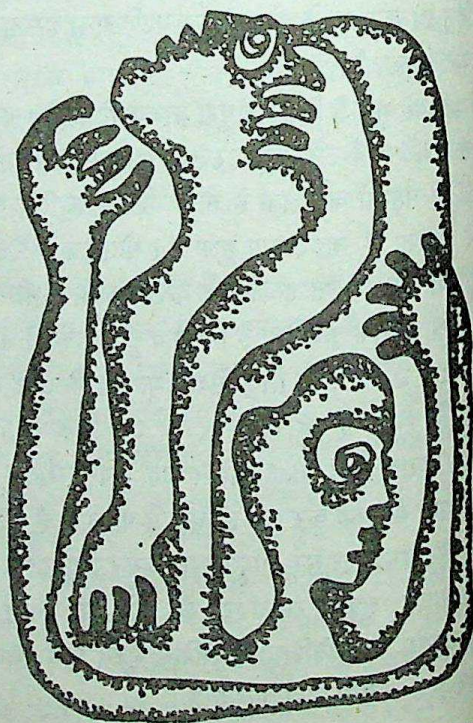
उर्दू अकादमी दिल्ली का नाट्य समारोह

डा. नरेन्द्र मोहन के नाटक 'कलन्दर' की प्रस्तुति

हिन्दी रंगमंच की भांति उर्दू रंगमंच का हाल भी अच्छा नहीं है। अब से एक शताब्दी पूर्व उत्तर भारत के मुख्य नगरों में उर्दू रंगमंच पारसी नाटकों के रूप में चर्चित रहा है। तब सैकड़ों बड़ी-बड़ी नाटक कम्पनियां घूम-घूम कर शेर-ओ-शायरी की भरमार के साथ नाटक दिखाया करती थीं। आज न तो वे नाटक कम्पनियां हैं और न वे नाटक। आज़ादी के बाद उर्दू में जो नाटक लिखे गये वे आत्मसंतुष्टि अथवा प्रकाशन के लिए अधिक थे और मंच के लिए कम। इसका मुख्य कारण केवल यह रहा है कि अधिकतर उर्दू नाटककारों का मंच से सीधा रिश्ता नहीं था।

इस परिस्थिति से उबरने के लिए उर्दू अकादमी, दिल्ली ने गत नौ वर्षों से लगातार छह दिवसीय उर्दू नाट्य समारोह का आयोजन आरम्भ किया है।

इस वर्ष के श्रीराम सेन्टर में आयोजित नाट्य समारोह में शीला भाटिया द्वारा निर्देशित व रूपान्तरित 'नसीब' (लोरका के नाटक The Blood Wedding का उर्दू रूपान्तर), हबीब तनवीर के निर्देशन में असगर वजाहत का नाटक 'जिस लाहौर नई वेख्या' (श्रीराम सेन्टर रंग मण्डल द्वारा प्रस्तुत), युवा रंगकर्मी मो. काज़िम के निर्देशन में बंगला नाटककार मनोज मित्रा के नाटक का शाहिद द्वारा उर्दू नाट्य रूपान्तर 'काले कव्वे ने कहा', युवा निर्देशक चितरंजन त्रिपाठी के निर्देशन में आगा हश्र कशमीरी का नाटक 'यहूदी की लड़की' (पारसी शैली में मंचित), युवा रंगकर्मी अरविन्द गौड़ के निर्देशन में डा. नरेन्द्र मोहन का नाटक 'कलन्दर' ('अस्मिता' की ओर प्रस्तुत) तथा उर्दू अकादमी के रंग शिविर में मुंशी प्रेमचंद की कहानी पर तैयार किया गया नाटक 'ईदगाह' (रूपान्तर: अनीस आजमी) अजय मनचन्दा के निर्देशन में प्रस्तुत किया गया।

'अस्मिता' द्वारा अरविन्द गौड़ के निर्देशन में प्रस्तुत डा. नरेन्द्र मोहन का नाटक 'कलन्दर' जलालुद्दीन खिलजी के युग में बेबाक बागी कलन्दरों की दास्तान पेश करता है। कलन्दर युगों-युगों तक सत्ता के विरुद्ध क्रांतिकारी आन्दोलन की बागडोर सम्भाले रहे और जनता पर होने वाले अन्याय, अत्याचार और ज़ुल्म के खिलाफ इन्कलाब का नारा बुलन्द करते रहे। कलन्दरों ने कभी भी सत्ता में कोई भागीदारी स्वीकार नहीं की और शासकों के विरुद्ध संघर्ष को बनाये रखा।

नाटक के आरम्भ में पर्दा उठते ही मंच पर लगभग 30 कलन्दरों को काले कपड़ों में झूम-झूम कर नाचते-गाते दिखाया गया है। पूरे नाटक में वे इसी वेशभूषा में रहे। नाटक के सूत्रधार और बुद्धू के रूप में दीपक कुमार धेत्रीयाल ने अपनी चुस्ती, फर्ती और नाटकीय हरकतों से नाटकीय स्थितियों को दृश्यों और गतियों में बांध दिया और सबको प्रभावित किया। नाटक के अन्य पात्रों ने भी अपने अभिनय से दर्शकों पर अच्छा प्रभाव छोड़ा किन्तु जलालुद्दीन खिलजी के रूप में दीपक ओछानी कोई छाप न छोड़ सके।

नाटक की पूरी प्रस्तुति दर्शकों को बांधे रही किन्तु कोरस के रूप में लड़कियों ने बिना अभ्यास के मंच पर आकर बेसुरी ग़ज़लें सुनाई। इसके बावजूद कुल मिलाकर नाटक का मंचन प्रभावशाली था।

प्रस्तुति: अनीस आज़मी
1919/9, तुर्कमान गेट,
दिल्ली-6

हरदर्शन सहगल के उपन्यास 'टूटी हुई जमीन' पर चर्चा

पिछले दिनों बीकानेर के आनंद निकेतन हॉल में वरिष्ठ कथाकार श्री हरदर्शन सहगल के भारत-विभाजन की पृष्ठभूमि को केन्द्र में रखकर रचित उपन्यास 'टूटी हुई जमीन' पर विचारोत्तेजक चर्चा हुई।

संगोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए प्रसिद्ध नाटककार डॉ. राजानन्द ने कहा कि इस उपन्यास का नायक स्वयं

लेखक जान पड़ता है तभी वह उपन्यास में आये अपने बालरूप को एक आदर्शीकृत दिशा देने में सफल रहा है। उन्होंने कहा कि यह कृति भारत विभाजन का प्रतिफलन तो हो सकती है परन्तु इसकी केन्द्रीय पीड़ा मध्यम वर्ग के विघटन से जुड़ी है। समग्र उपन्यास में मध्यम वर्ग की परिस्थितियों और उनके स्थापित होने की जद्दोजहद को सघन अनुभूति एवं सच्चाई से दर्शाया गया है। डा. राजानन्द ने कहा कि साहित्यिक माध्यम से अतीत को जीवित करना मानवीय दृष्टि का विस्तार है। साहित्य से काल का अतिक्रमण किये जाने पर ही कालजयिता उपलब्ध हो पाती है और लेखक 'सृष्टा' उसी अर्थ में होता है कि वह मानवीय संस्कृति को पुर्नसृजित करता है। उन्होंने उपन्यास की भाषिक लय को लेखक की मौलिक संरचना बताया।

समीक्षक डॉ. उमाकान्त गुप्त ने अपना लम्बा सार्थक पर्चा पढ़ते हुए कहा कि विभाजन की त्रासदी पर लिखे गये अन्य उपन्यासों की तुलना में 'टूटी हुई जमीन' अपनी संरचना की अनुभूति के स्तर पर अलग है। यह अपनी सहजता में विपर्यय की कहानी है। उन्होंने इस कृति को बालमनोविज्ञान की भूमि पर अनेक सिद्धान्तकारों की कसौटी पर विश्लेपित करते हुए उसे खरा एवम् समर्थ बताया। उन्होंने कहा कि यह उपन्यास भारतीय इतिहास के एक दुखद प्रसंग को उसकी पूर्णता में देखने का प्रयास है जिसमें तत्कालीन परिवेश के अनछुए पहलुओं को संस्पर्शित किया गया है।

युवा कथाकार बुलाकी शर्मा ने देश की स्वाधीनता के अर्द्धशताब्दी वर्ष में भारत-विभाजन की त्रासदी को केन्द्र में रखकर रचित इस उपन्यास की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिकता का विवेचन करते हुए कहा कि यह विभाजन देखने में जमीन का था लेकिन वास्तव में उसने इन्सानों के दिलों को ऐसा छलनी किया कि आज तक वे उस पीड़ा से मुक्त नहीं हो पाए हैं। उन्होंने कहा कि 'टूटी हुई जमीन' एक ऐसे परिवार की कथा है जो सशरीर हिन्दुस्तान जरूर आ गया लेकिन जिसके लिए अपने टूटे बिखरे दिल को संभालना आज भी मुश्किल है।

युवा कवयित्री श्रीमती वत्सला पाण्डेय ने अपने पत्र में कहा कि पाठक उपन्यास में आये पात्रों के दुख-सुख से अछूता नहीं रह पाता, ऐसा उपन्यास की सहज-सरल-संवेदनशील भाषा एवम् पारिवारिक जीवन पर लेखक की गहरी पकड़ के कारण ही संभव हो पाया है। उनका आग्रह था कि जन्मस्थान के प्रति भावुक लगाव को वसुधैव कुटुम्बकम् की दिशा में रूपायित होना चाहिए।

चर्चा को यौवन तक पहुंचाने का कार्य युवा कवि-कथाकार मालचंद तिवाड़ी की संयोजकीय टिप्पणियों ने किया। बीच-बीच में वे उपन्यास के मूल ढांचे, उसकी प्रासंगिकता, उत्तर आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में उसकी महत्ता आदि प्रसंगानुकूल प्रश्न उठाते रहे। उन्होंने कहा कि यह उपन्यास मूलत: गांधी के अहिंसा-दर्शन को संवेदनात्मक स्तर पर जांचने-परखने की कोशिश है। उन्होंने प्रश्न किया कि भारतीय उपन्यासकार बार-बार अतीत की ओर क्यों लौटता है, क्या केवल एक परिचित घटनाक्रम के सहारे पाठक-समाज की गारंटीशुदा स्वीकृति की उम्मीद से, अथवा अतीत को सृजनात्मक दूरी से पुनः रचने की चुनौती से? उन्होंने माना कि सहगल इस चुनौती को दूर तक स्वीकार करते जान पड़ते हैं।

चर्चा में कथाकार रतन श्रीवास्तव ने हृदयस्पर्शी प्रसंगों के उद्धरण प्रस्तुत कर इसे मानवीय संवेदनाओं की विश्वसनीय कृति बताया ओर इस बात पर बल दिया कि यदि गौर करें तो उपन्यास का प्राय: हर प्रसंग एवं शब्द विभाजन की पीड़ा को ध्वनित करता है। वहीं युवा कवि समालोचक नीरज दइया ने कृति और कृतिकार से अपने आत्मीय संबंधों का उल्लेख करते हुए सहगल की सृजनात्मक ईमानदारी की प्रशंसा की और कहा कि उपन्यास पाठक के मन में सहज जिज्ञासा उत्पन्न करता है कि वह स्व सोचे कि आजादी की लड़ाई में कौन कहां था।

जनकवि हरीश भादानी ने मुख्य अतिथि के रूप बोलते हुए राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए धर्म आधार बनाये जाने की वृत्ति को खेदजनक बताते इस बात के लिए संतोष व्यक्त किया कि हरदर्शन सहगल ने 'टूटी हुई जमीन' के माध्यम से इस प्रवृत्ति को सशक्त अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने कहा कि हम अतीत

खंगालें और वर्तमान को सही माने में जीते हुए भविष्य की ओर उन्मुख हों। इस उपन्यास ने बड़ों के द्वारा बिछायी जा रही सड़कों के बीच एक नयी पगडंडी के रूप में बाल मनोविज्ञान का एक नया ही चित्र प्रस्तुत किया है। उन्होंने समग्रत: इस कृति को महत्वपूर्ण माना।

प्रारम्भ में उपन्यासकार हरदर्शन सहगल ने 'टूटी हुई जमीन' की रचना-प्रक्रिया के संबंध में बताया कि उनके लिए यह उपन्यास लिखना लम्बी ऊहापोह की स्थिति से गुजरना था। व्यक्तिगत पीड़ा को रचना रूप देते हुए जिस लेखकीय तटस्थता की ज़रूरत होती है, उसमें कई वर्ष लग गये। उन्होंने इस उपन्यास की तुलना विभाजन की पृष्ठभूमि पर लिखे गये अन्य उपन्यासों से न करने पर बल देते हुए कहा कि इसका स्वर सबसे अलग है। उन्होंने बताया कि उपन्यास का शैल्पिक विधान सहज-सम्प्रेषणीय रखने के पीछे यही मन्तव्य रहा कि आम जन भी इस संक्रमण काल का साक्षी बन सके।

तीन घंटे से ज्यादा समय चली इस चर्चा-संगोष्ठी में प्रतिष्ठित उपन्यासकार यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, श्रीमती सुशीला ओझा, कवि भवानीशंकर व्यास विनोद, कथाकार महेशचन्द्र जोशी, पत्रकार शुभू पटवा, शिक्षाविद्, रामनरेश सोनी, कवि शिव पांडे बीकानेरी, अनिरुद्ध सिंह उमठ, कमल रंगा आदि की उपस्थिति रही। अंत में आयोजक संस्था 'सरस्वती काव्य एवं कला संस्थान' की ओर से राजस्थानी के वरिष्ठ कथाकार श्री लाल न, जोशी ने सभी का आभार प्रदर्शित किया।

प्रस्तुति: वत्सला पाण्डेय
1-स-4, पवनपुरी बीकानेर-334003

जयप्रकाश कर्दम का काव्य-पाठ

पिछले दिनों डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली के सभागार में आयोजित एक कार्यक्रम में युवा कवि जय प्रकाश कर्दम ने अपने सद्य:प्रकाशित कविता-संग्रह 'गूंगा नहीं था मैं' से चुनी हुई कविताओं का पाठ किया। श्रोताओं से खचाखच भरे सभागार में काव्य-पाठ के बाद डा. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी ने इन कविताओं पर अपना आलेख पढ़ा।

प्रमुख टिप्पणीकार थे-केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के निदेशक डा. गंगा प्रसाद विमल, पत्रकार रामशरण जोशी और आलोचक जवरीमल्ल पारख। खुली बहस में भाग लेते हुए डा. श्योराज सिंह 'बेचैन', डा. कुसुम 'वियोगी', डा. तारा परमार, रमणिका गुप्ता, रजनी तिलक, विमल थोराट, कुंवरसेन और भगवान दास एजाज आदि ने भी कविताओं पर अपने विचार व्यक्त किए।

'पश्यन्ती' (त्रैमासिक) की ओर से आयोजित इस कार्यक्रम का संचालन 'पश्यन्ती' के संपादक डा. प्रणव कुमार वंद्योपाध्याय ने किया। उन्होंने इस अवसर पर 'पश्यन्ती' के दलित चेतना पर केन्द्रित दो अंक निकालने की भी घोषणा की।

'दूसरी दुनिया का यथार्थ' पर गोष्ठी

पिछले दिनों नई दिल्ली में स्थानीय इंडो रशियन लिटरेरी क्लब तथा नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग के संयुक्त तत्त्वावधान में रमणिका गुप्ता के संपादकत्व में प्रकाशित 'दूसरी दुनिया का यथार्थ' के विशेष संदर्भ में दलित साहित्य पर गोष्ठी संपन्न हुई।

गोष्ठी के विशिष्ट अतिथि कमलेश्वर जी का कहना था कि कहानी के कला-पक्ष से अधिक महत्वपूर्ण यह जानना होता है कि कहानी में मानवीय संताप व्यक्त हुआ है कि नहीं, कहानी चोट करती है या नहीं, मन को कुरेदती है कि नहीं। उनका कहना था कि अभी पारम्परिक सौंदर्यशास्त्र के पैमाने से दलित-साहित्य को तौलना अनुचित होगा। उन्होंने याद दिलाया कि प्रेमचंद ने भी 300 कहानियों के बाद ही 'सद्गति' या 'कफन' जैसी कहानियां लिखीं। उनका कहना यह भी था कि साहित्य को अनुभव के आधार पर लिखा जाना चाहिए। 'दूसरी दुनिया का यथार्थ' इस कसौटी पर खरा उतरता है, अतएव संपादिका रमणिका गुप्ता बधाई की पात्र हैं।

गोष्ठी में विशिष्ट अतिथि के रूप में उपस्थित श्री राजेंद्र यादव ने स्पष्ट किया कि दलित-साहित्य का सृजन इसलिए भी आवश्यक बन पड़ता है कि अब हिंदी

साहित्य के परम्परागत क्षेत्र संतृप्त हो चुके हैं, बल्कि एक सड़ांध-सी हो गयी है उनमें। उनका कहना था कि दलित-साहित्य हिंदी की मुख्य धारा में भले नहीं शामिल हो, अब वह एक समानांतर धारा का निर्माण करने में सफल हो रहा है। इस दिशा में राजेंद्र यादव ने रमणिका गुप्ता के वर्तमान कहानी-संकलन के योगदान को रेखांकित किया।

अध्यक्षीय भाषण देते हुए सुप्रसिद्ध आलोचक प्रोफेसर मैनेजर पांडेय ने बताया कि 'दूसरी दुनिया का यथार्थ' एक ठोस रचनात्मक उदाहरण है। उनके अनुसार हिन्दी साहित्य को आज सौंदर्यशास्त्र नहीं बल्कि दलितों के समाजशास्त्र के समझने की आवश्यकता है। उन्होंने आगे कहा कि जिस तरह राख ही जलने का दर्द जानती है, दलित ही दलित-साहित्य लिख सकता है। उनकी मान्यता थी कि दलितों के साथ महिलाओं को भी शामिल करना चाहिए क्योंकि भाषा एवं संस्कृति के स्तर पर दलितों के साथ उनको भी सताया गया है जन्म के आधार पर।

इस अवसर पर उपस्थित रमणिका गुप्ता का कहना था कि भारत में सदैव दो मापदंडों वाली संस्कृति रही है। आलोच्य संकलन में उन लोगों को अभिव्यक्ति का मंच दिया गया है जो सदियों से इस दोहरे मापदंड के शिकार रहे हैं। उनका कहना था कि भारत में वर्ग एवं वर्ण की लड़ाई एक दूसरे की पूरक है, अतएव साहित्य में भी इस पर खूब जोर-शोर से चर्चा होनी चाहिए।

गोष्ठी का आरंभ हुआ श्यौराज सिंह बेचैन के आलेख-पाठ से। उनका कहना था कि जहां केवल दलित ही दलित-साहित्य लिख सकता है वहीं हर दलित दलित-लेखक नहीं हो सकता, उसमें दलित-चेतना भी होनी चाहिए। उनका कहना था कि गैर-दलित होकर भी रमणिका जी ने संकलन निकाल कर तथा उसमें 'बहू-जुठाई', 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' तथा 'अपना गांव' जैसी कहानियों को शामिल कर दलित-साहित्य का ही माहौल बना दिया है।

गोष्ठी के दूसरे वक्ता उज्जैन से आये डा. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी ने कहा कि दलित-साहित्य अस्पृश्यता की काई को हटाने वाला साहित्य है। आज इसकी चर्चा यदि कम है तो उसका बहुत कुछ कारण यह है कि पाठ्यक्रमों में डालने में इसके साथ भेद-भाव किया जाता रहा है। उन्होंने कहा कि मुख्य धारा के लोग हजारों वर्षों से अपनी ही दुनिया में जीते आये हैं, उस दुनिया को अब छोड़ना होगा जिसमें हम दलितों की विशाल जनसंख्या अनुपस्थित रही।

बहस को आगे बढ़ाते हुए प्रताप सहगल ने कहा कि दलितों को सारे ठाकुर पापी या सारे ब्राह्मण क्रूर क्यों नज़र आते हैं? इसका उत्तर अगले वक्ता जवरी मल्ल पारख ने दिया। उनका कहना था कि दलित ठाकुरों-ब्राह्मणों से इस कदर सताये गये हैं कि उन्हें यह जानने में दिलचस्पी नहीं है कि कौन ठाकुर-ब्राह्मण अच्छा-बुरा है। श्री पारख का यह भी कहना था कि बहस आज यह है कि क्या दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है, और यह कि 'दलित' कौन है? दूसरा महत्वपूर्ण सवाल है भूमि का क्योंकि सारे दलित भूमिहीन हैं।

भारत भरद्वाज ने दलित-साहित्य को कला एवं सौंदर्य शास्त्र की कसौटियों पर परखने की बात कही। जगदीश चतुर्वेदी ने याद दिलाया कि गांधी जी ने भी दलितों पर लिखा है। गंगा प्रसाद विमल का मानना था कि साहित्य में गांधी जी का प्रभाव यदि हुआ है तो वह कुप्रभाव ही है। उनका कहना था कि दलित-साहित्य पढ़ने के बाद मुख्यधारा का साहित्य इकहरा लगता है। मुख्यधारा के सौंदर्यशास्त्र से दलित-साहित्य को तौलना गलत होगा। उनके विचार से रमणिका जी ने कई दलित-कथाकारों को छाप कर उन्हें एक मंच दिया है और यह हिन्दी साहित्य में एक सशक्त हस्तक्षेप है।

गोष्ठी का संचालन किया इंडो-रशियन क्लब के सचिव प्रेम जनमेजय ने।

प्रस्तुति : राजीवलोचन
नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग

लोगों को बांटा और राज किया। दरअसल उन्होंने पहले से ही बंटे हुए लोगों पर राज किया और भरपूर कोशिश यह की कि ये लोग अपने बंटे हुए होने के अहसास को ज्यादा गहराई और मज़बूती से समझें और पकड़े रहें।

अंग्रेजों ने इस देश में साम्राज्यवादी शासन स्थापित किया, पर उनके साथ अनायास ही पश्चिमी जगत में उभरते हुए अनेक विचार और अवधारणाएं भी इस देश में आ गयीं ओर यहां के उन बुद्धिजीवियों को विशेष रूप से मथने लगीं जिन्होंने ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से पश्चिमी शिक्षा की उपयोगिता को समझा था और उसे पूरी तरह स्वीकार कर लिया था। दो अवधारणाएं विशेष रूप से उभर कर सामने आईं-एक राष्ट्रीयता और दूसरे लोकतंत्र। इस देश में पहली बार यह विचार पनपा कि सभी प्रकार के मतभेदों और विभिन्नताओं के रहते हुए इस देश के लोग एक राष्ट्र के रूप में गठित हो सकते हैं, बराबरी और व्यापक हिस्सेदारी की भावना के साथ वे साथ-साथ जीने की भावना को विकसित कर सकते हैं।

आधुनिक अर्थों में लोकतंत्र की अवधारणा भी इस देश के लिए एक नई बात थी। लोकतंत्र एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें सत्ता का अंतिम सूत्र जन साधारण के हाथों में रहता है। इसमें समस्त व्यक्तियों की मूल्यवत्ता और मूलभूत समानता में विश्वास किया जाता है और ऐसा विधि का शासन स्थपित होता है जिसमें एक ही कानून सभी वर्गों पर समान रूप से लागू किया जाता है।

राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय भावना की पहली लहर हमारे देश में भारतीय परिकल्पना की बजाए हिन्दू राष्ट्रीयता, मुस्लिम राष्ट्रीयता या सिख राष्ट्रीयता के रूप में आई। इसलिए इस देश मे पुनर्जागरण (रिनेसां) भी या तो हिन्दू, मुस्लिम, सिख रूप में उभरा या बंगला, महाराष्ट्र, आंध्र, तमिल आदि रूपों में। यह बहुत स्वाभाविक था, क्योंकि ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्परा की एकता के रूप में किसी राष्ट्र के लिए उन दिनों समझे गये अनिवार्य तत्वों की पहली पहचान धार्मिक या प्रादेशिक / भाषाई पहचान में ही दिखाई दी थी। व्यापक रूप से राष्ट्रीयता की संकल्पना का विकास हिन्दू राष्ट्रीयता के रूप में घोषित या अघोषित रूप में होता हुआ दिखाई दिया था। उसी के समानान्तर मुस्लिम राष्ट्रीयता की संकल्पना अपना रूप बना रही थी। हिन्दू और मुसलमान मिलकर देश का शासन चला सकते हैं, यह बात सर सैय्यद अहमद खान को 1888 में भी असंभव लगी थी। डा. हेडगेवार ने 'हिन्दू राष्ट्र' को स्वतंत्र कराने की प्रतिज्ञा 1926 से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकों से लेनी शुरू कर दी थी ओर मोहम्मद इकबाल ने 1930 में मुस्लिम लीग के एक अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए भारत में पृथक मुस्लिम राष्ट्र की स्थापना का आग्रह किया था।

अंग्रेज चले गये। भारत विभाजित हो गया। परन्तु आधी सदी पहले घटी घटनाओं का जबर्दस्त 'हैंगओवर' आज भी हमारे मनों पर है। आज़ादी से पहले के भारत से कटकर अलग हुए पाकिस्तान और बांग्लादेश घोषित रूप से इस्लामी देश हैं, परन्तु भारत का संविधान उसे 'धर्म-निरपेक्ष' घोषित करता है और इस देश की धार्मिक, जातीय, भाषाई और नस्ली विभिन्नता और विविधता को स्वीकार करता और उसकी संरक्षा करने का भी आग्रह करता है।

पिछले वर्षों का अनुभव यह बताता है कि धार्मिक एकता के नाम पर बने पाकिस्तान में सुन्नियों, शियाओं और अहमदियों को लेकर साम्प्रदायिक विवाद निरन्तर उभरे हैं और क्षेत्रीय तथा भाषाई कारणों से वह देश दो टुकड़ों में बंट चुका है। इस्लामी सहधर्मिता के नाम पर उत्तर प्रदेश और बिहार से पाकिस्तान गये मुसलमानों की पूर्वी पाकिस्तान (अब बांगला देश) में निरन्तर दुर्गति हुई और अब (पश्चिमी) पाकिस्तान में उन्हें अपनी उर्दू भाषी जातीय पहचान के लिए बड़ी हताशा भरी लड़ाई लड़नी पड़ रही है।

इस दृष्टि से हमारे देश के संविधान निर्माताओं ने प्रारम्भ से ही जो मार्ग चुना था वही सही मार्ग था। परन्तु धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक ढांचा स्वीकार करते हुए भी हमारे देश में साम्प्रदायिक तनाव और विवाद निरन्तर बढ़े हैं।

कोई संस्था हिन्दुओं का संगठन करे, मुसलमानों में एकता पैदा करे, ईसाइयों में जागृति लाए, यह बिल्कुल और बात है। परन्तु यदि कोई संस्था हिन्दू संगठन के साथ ही राष्ट्र-राज्य का संचालन करने, उसे एक रूप देने, उसकी दिशा निर्धारित करने लगे तो इससे देश का धर्मनिरपेक्ष चरित्र अवश्य खंडित होगा और तब साम्प्रदायिक और कट्टर पंथी तत्त्वों को अवश्य बढ़ावा मिलेगा।

पिछले कुछ वर्षों में अपने देश में साम्प्रदायिकता का खूब फैलाव हुआ है। वर्षों तक लोग हिन्दू-मुसलमान साम्प्रदायिकता और उससे उत्पन्न साम्प्रदायिक दंगों का खतरा झेलते थे। अब हिन्दू-मुसलमान-सिख-ईसाई सभी

इस लपेट में हैं।

1980 से पहले तक कांग्रेस देश के अल्पसंख्यकों को हिन्दू साम्प्रदायिकता के हौवे से डराती थी। 1980 के बाद इंदिरा गांधी ने हिन्दुओं के सामने सिख और मुस्लिम साम्प्रदायिकता का हौवा खड़ा करना शुरू किया। रातोरात श्रीमती इंदिरा गांधी और उनका परिवार 'निष्ठावान हिन्दू' बन गया। तीर्थस्थानों और मंदिरों के लगातार दर्शन होने लगे, घर में साधु-संतों-बाबाओं-तान्त्रिकों की भीड़ बढ़ने लगी, जाप होने लगे, यज्ञ और होम आयोजित किये जाने लगे।

ऐसी स्थिति में जब देश में यह सिद्ध हो रहा हो कि अंग्रेजों की नीति पर चलना, बंटे हुए लोगों को अधिक बांटना, विभिन्न वर्गों में संशय और घृणा को पनपाते रहता और फिर चुनावी चाल में उसका सही इस्तेमाल करना सत्ता प्राप्ति का सबसे प्रभावशाली उपाय है तो फिर उसका फायदा उठाने से कौन चूकेगा?

ऐसी स्थिति में आम आदमी क्या करे?

साम्प्रदायिकता का काला धुआं सबसे पहले और सबसे ज़्यादा इसकी आंखों में घुसता है। धार्मिक उन्माद को भड़काने वाले- चाहे वे राजनीति से जुड़े व्यक्ति हों या धर्म भावना से- इसी व्यक्ति को अपना मोहरा बनाते हैं। यही व्यक्ति भीड़ का अंग बनकर 'शत्रु सम्प्रदाय' के लोगों की हत्या करता है, उनकी सम्पत्ति लूटता है, उनके घरों को आग लगाता है। यही वह आम आदमी है जो सभी प्रकार के साम्प्रदायिक उन्माद का सबसे ज़्यादा शिकार बनता है। साम्प्रदायिक तनाव में इसी व्यक्ति का सामाजिक ढांचा चरमराता है। फिर वही व्यक्ति अपनी रोजी-रोटी छोड़कर किसी सुरक्षित स्थान की खोज में इधर-उधर भटकता है।

इस समय यह देश राजनीतिक अस्थिरता और साम्प्रदायिक तथा जातीय हिंसा से ग्रस्त है। हाल में ही कोयम्बटूर (तमिलनाडु) और जहानाबाद (बिहार) में जो घटनाएं घटी हैं वे यह प्रकट करती हैं कि स्वतन्त्रता के पचास वर्ष बाद भी इस देश की राज्य व्यवस्था न साम्प्रदायिक सौमनस्य उत्पन्न कर सकी है, न जातीय विद्वेष को नियन्त्रित कर सकी है।

इस समय की राजनीतिक अस्थिरता ने स्थिति को अधिक चिन्तनीय बना दिया है।

दोनों के मन बिगड़े हुए हैं

पिछले 700 बरस का बकाया लोगों के सामने अच्छी तरह से आने लग जाएगा कि हिन्दू-मुसलमान का मामला नहीं है। यह देशी-परदेशी का है। एक के बाद दूसरी लहर परदेशियों की आयी, जिसने इन देशी मुसलमानों को उसी तरह से कत्ल किया जिस तरह से हिन्दुओं को। देशी तो रहा नपुंसक और परदेशी रहा है लुटेरा या समझो जंगली, यह है हमारे 700 बरस के इतिहास का निचोड़।

इस बात को हिन्दू और मुसलमान दोनों समझ जाते हैं, तो फिर तो नतीजा निकलता है कि हर एक बच्चे को सिखाया जाय, हर एक स्कूल में घर-घर में क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, बच्चे बच्चे को कि रजिया, शेरशाह, जायसी वगैरह हम सबके पुरखे हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों के। हममें से हर एक आदमी, क्या हिन्दू, क्या मुसलमान यह कहना सीख जाय कि ग़जनी, गोरी और बाबर लुटेरे थे और हमलावर थे। यह दोनों जुमले साथ-साथ हों। हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए।

आज हिन्दू और मुसलमान दोनों को बदलना पड़ेगा। दोनों के मन बिगड़े हुए हैं। जो ईमानदार आदमी है वह छिपा नहीं सकता इस बात को कि अंदर दोनों का मन एक-दूसरे से कटा हुआ है। मुझे इस बात पर सबसे ज्यादा दुख इसलिए होता है कि इससे हमारा देश बिगड़ता है। कोई भी देश तब तक सुखी नहीं हो सकता, जब तक उसके सभी अल्पसंख्यक सुखी नहीं हो जाते। मेरा मतलब सिर्फ मुसलमानों से नहीं। उसी तरह से और लोग भी हैं। हरिजन, आदिवासी वगैरह। जब तक वे सुखी नहीं होते, तब तक हिन्दुस्तान सुखी नहीं हो सकता। यह पहला उसूल है।

राममनोहर लोहिया

रजनी कोठारी

चुनाव के खेल से निकली साम्प्रदायिकता

आज के भारतीय माहौल में अन्य मुद्दों के साथ-साथ साम्प्रदायिकता के सवाल पर भी फिर से विचार करने की जरूरत है, क्योंकि आज हमें साम्प्रदायिकता का एक नया रूप दिखायी देता है। साम्प्रदायिकता के इस नये रूप को समझने के क्रम में उसके दो पहलुओं पर गौर करना महत्वपूर्ण होगा, पहला, यह कोई असामान्य बात या 'विकृति' नहीं है, बल्कि वर्तमान 'व्यवस्था' के गर्भ से ही पैदा हुई है। दूसरे, इसकी वजह यह नहीं है कि 'व्यवस्था' ऐसी ताकतों की शिकार बन गई है, जो उसके नियंत्रण से परे हैं, बल्कि यह उसकी अंतर्वस्तु की ही तार्किक परिणति है और उसे इस परिणाम तक पहुंचाने में उसके प्रमुख अंगों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

आज के भारतीय माहौल में अन्य मुद्दों के साथ-साथ साम्प्रदायिकता के सवाल पर भी फिर से विचार करने की जरूरत है, क्योंकि आज हमें साम्प्रदायिकता का एक नया रूप दिखायी देता है। साम्प्रदायिकता के इस नये रूप को समझने के क्रम में उसके दो पहलुओं पर गौर करना महत्वपूर्ण होगा, पहला, यह कोई असामान्य बात या 'विकृति' नहीं है, बल्कि वर्तमान 'व्यवस्था' के गर्भ से ही पैदा हुई है। दूसरे, इसकी वजह यह नहीं है कि 'व्यवस्था' ऐसी तांकतों की शिकार बन गई है, जो उसके नियंत्रण से परे हैं, बल्कि यह उसकी अंतर्वस्तु की ही तार्किक परिणति है और उसे इस परिणाम तक पहुंचाने में उसके प्रमुख अंगों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

सचमुच यह नई बात है। क्योंकि भारतीय राज्य की कल्पना एक धर्मनिरपेक्ष व गैर-साम्प्रदायिक राज्य के रूप में की गई थी। इतिहास के सबसे बड़े साम्प्रदायिक विध्वंस (1947) के गर्भ से पैदा होने के बाद इसने धर्मनिरपेक्षता का सिद्धांत स्वीकार किया था। राजनीति और राजनीतिक पार्टियों को सामाजिक द्वन्द्वों, खासकर जाति या सम्प्रदाय आधारित द्वन्द्वों को संयत करने और नरम बनाने की काफी महत्वपूर्ण भूमिका सौंपी गई थी। सामूहिक झड़पों ('दंगों' इत्यादि) समेत ऐसे अधिकांश द्वन्द्व स्थानीय तनावों से पैदा होने वाले स्वत:स्फूर्त विस्फोट के रूप में अभिव्यक्त होते थे लेकिन मोटा-मोटी धर्मनिरपेक्षता व समाजवादी दृष्टिकोण में आस्था रखने वाले स्थानीय नेता उन पर काबू पाने में कामयाब होते थे। उस समय एक सामान्य विचारधारा काम करती थी जो हालांकि बहुत मजबूत या बहुत साफ तो नहीं थी, पर समन्वयकारी जरूर थी। इसी को हम वामपंथ की ओर झुकी मध्यमार्गी राजनीति कहते हैं। यह सच है कि उस समय भूमि-सुधार जैसे मुश्किल निर्णय नहीं लिए जा सके। इसका कारण एक हद तक तो यह था कि नेहरू जैसे लोगों का मानना था कि भारत का सामाजिक गठन काफी नाजुक है और ऐसे निर्णयों से झगड़ों के बढ़ जाने का खतरा है। लेकिन, निस्संदेह, इससे कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण वजह बुनियादी स्तर पर मौजूद वह सामजिक गठजोड़ था, जिसको तोड़ना राज्य के लिए काफी मुश्किल था, खासकर इसलिए कि कांग्रेस को स्थानीय प्रभावशाली समूहों के साथ सत्ता की हिस्सेदारी ज्यादा सुविधाजनक लगती थी। इन निर्णयों के न लिए जाने का परिणाम हमारे सामने है। आज चूंकि वर्गीय व जातीय प्रभुत्व का बुनियादी ढांचा कहीं ज्यादा मजबूत हो गया है, उन निर्णयों का लिया जाना और मुश्किल होता जा रहा है। हालाकि ये निर्णय नहीं लिए गए, लेकिन उनके न लिए जाने की वजह से साम्प्रदायिकता को सर उठाने में मदद मिली हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

मेरी राय में यहां जातिवादी और साम्प्रदायिक राजनीति के बीच फर्क करना जरूरी है। अक्सर इन दोनों का घालमेल कर दिया जाता है। यह सही है कि खास-खास मौकों पर जातियां साम्प्रदायिक तेवर अपना लेती हैं। इस मुद्दे पर मैं चर्चा बाद में करूंगा। फिलहाल इतना कहना ही काफी होगा कि शुरू के लगभग बीस वर्षों के दौरान स्थानीय स्तर पर चुनाव-प्रचार का स्वरूप जातिवादी था, क्योंकि

अल्पसख्यकों समेत सभी लोगों की पहचान जाति ही मानी जाती थी। लेकिन इसने समाज को उतना नहीं बांटा जितना कि स्पष्टत: धार्मिक या साम्प्रदायिक आधार पर चुनाव प्रचार ने बांट दिया है। कुछ अपवादों को छोड़कर चुनावी राजनीति कमोबेश पुराने ढर्रे पर चलती रही। फिर भी, यकीनन यह एक अत्यंत ही नाजुक संतुलन था। शुरुआती बीस वर्षों में विकसित राजनीतिक ढांचा काफी सुकुमार किस्म का था। यह कई मामलों में असुरक्षित भी था। इसने एक ऐसे अभिजात वर्ग को जन्म दिया जिसके भीतर धीरे-धीरे वैचारिक अनुशासन और बृहत्तर उद्देश्य की भावना समाप्त होने लगी। इसके बदले वह हितों की कल्पना संकीर्ण व यांत्रिक मायने में करने लगा। ऐसी स्थिति में खुद उसके विघटनकारी प्रवृत्तियों का शिकार बन जाने या उनके इस्तेमाल की ओर प्रवृत्त होने की संभावना बढ़ गई।

एक महत्वपूर्ण चेतावनी के लिए यह एक अच्छा मौका है। हम अपने राज्य की चर्चा हमेशा अत्यंत विविधतापूर्ण, बहुलवादी, महाद्वीपीय आकार के राज्य के रूप में करते हैं, जिसमें विविधता के विभिन्न रूपों को नज़र में रखना अनिवार्य है। लेकिन हमें साम्प्रदायिक व धार्मिक किस्म की पहचानों और वैसी क्षेत्रीय व भाषाई पहचानों, जिन्हें सैद्धांतिक तौर पर हम 'राष्ट्रीय' पहचान कहते हैं, के बीच फर्क करना होगा। दोनों को एक ही पलड़े पर रखना उचित नहीं है। फिर भी, दुर्भाग्यवश, राष्ट्रीय एकता और एकीकरण व विघटन की प्रक्रिया के बारे में जारी बहस के दौरान अक्सर दोनों का घालमेल कर दिया जाता है। इस प्रकार क्षेत्रीय व राष्ट्रीय आकांक्षाओं और साम्प्रदायिक व संकीर्णतावादी प्रवृत्तियों को एक ही पलड़े पर रख दिया जाता है।

परिणामत: जातीय पहचानें भी साम्प्रदायिक रूप लेने लगती हैं। पहले जब जातीय संगठन राजनीतिक प्रक्रिया में शामिल होते थे और राजनीतिक पार्टियों के साथ मोल-तोल करते थे, तब खुद जाति या तो विभाजित हो जाती थी, क्योंकि सभी पार्टियां एक ही जाति के उम्मीदवार खड़े करती थीं, या अगर जातीय समूह संख्या की दृष्टि से छोटे होते तो वे दूसरों से जुड़ कर एक गुट बना लेते थे। यह एक दूसरे किस्म का गणनशास्त्र था। आज कुछ इलाकों में हो यह रहा है कि प्रभावशाली जाति या यहां तक कि भाषायी समूह भी निम्न वर्गों की चुनौती के समक्ष अंधराष्ट्रवादी रुख अपना रहे हैं। इसे महाराष्ट्र जैसे राज्यों से देखा जा सकता है, जहां मराठा जैसी एक खास प्रभावशाली जाति साम्प्रदायिक[ता] के विकास का महत्वपूर्ण कारक बन गई है। कांग्रेस पा[र्टी] में लम्बे काल तक हावी होने के बावजूद (एक प्रकार [से] उसी की वजह से) मराठा राजनीति बहुत अरसे त[क] तरह-तरह के घटकवाद से ग्रसित थी, लेकिन हाल [के] दिनों में वह गैरमराठों के खिलाफ संगठित होने लगी है औ[र] उसने दलित-विरोधी, मुसलमान-विरोधी व निच[ली] जातिविरोधी स्वरूप ले लिया है। इसके बाद मराठों [का] हिन्दूवाद का रक्षक समझ लिया जाना स्वाभाविक था। इ[स] प्रकार की प्रवृत्ति आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, हरियाणा औ[र] गुजरात में भी काम कर रही है। यह काफी अहम बदला[व] है कि दबदबे का आधार विभिन्न जातियों के बी[च] गुट-आधारित गठबंधन के बदले जातीय-एकाधिकार [हो] गया है। इसके परिणामस्वरूप जातियां साम्प्रदायिक रूप ले[ने] लगी हैं।

पहचानों की बहुलता और विविधता के इस्तेमाल में इ[स] परिवर्तन से जुड़े चार अन्य बिन्दु भी हैं। पहला, राजनी[ति] से विचारधारा को अलग करना और महज पद पर बने रह[ने] की चिंता में बढ़ोत्तरी। इसका परिणाम है राजनीति [का] 'नृवंशीकरण' जिसमें संख्या का हिसाब-किताब साम्प्रदायि[क] या धार्मिक आधार पर किया जाता है। दूसरा, जनआंदोल[नों] व जन उभारों के खिलाफ हमले में बढ़ोत्तरी। सत्ता [पर] काबिज लोग यह देखते हैं कि जन असंतोष काफी बढ़ र[हा] है और निचले स्तरों पर संगठन बन रहे हैं। ये संगठ[न] कार्रवाइयों की योजना बनाते हैं जो प्राय: सफल होती हैं औ[र] अगर न भी हों, तब भी नीचे से मौलिक चुनौती को जन[्म] देती हैं। अक्सर राष्ट्रीय एकता के नाम पर किसी पार्टी [पर] हमला अनिवार्यत: उस पार्टी या ग्रुप का समर्थन करने वा[ले] जन उभारों पर हमला होता है। खुली धोखाधड़ी के ज[रिए] 1980 में पंजाब में अकाली दल की सरकार का योजनाब[द्ध] तरीके से गिराया जाना या फारूक अब्दुल्ला सरकार [की] बर्खास्तगी या 1984 में तेलुगु देशम सरकार की बर्खास्त[गी] इसके ही उदाहरण हैं। ये पार्टियां काफी व्यापक जनउभ[ार] के परिणामस्वरूप उभरी थीं। लेकिन मैं किसी पार्टी या ने[ता] के पीछे इस प्रकार के जनसमर्थन के बारे में ही नहीं, ब[ल्कि] उन लोगों के खिलाफ हमलों के बारे में भी सोच रहा हूं, [जो] गरीबों, दलितों, आदिवासियों या बंधुआ मजदूरों के मुद्दे [उठाते] उठाते हैं और उन्हें संगठित करने की कोशिश करते [हैं]

असल मे ऐसे बहुत सारे हमले कांग्रेस और साम्प्रदायिक रुझान वाली दूसरी पार्टियों की ओर से होते हैं। इन हमलो के बलबूते पर वे प्राय: वास्तविक जनसंगठनों को कमजोर करने में सफल होते हैं।

तीसरा महत्वपूर्ण विकास निचले स्तरों पर राजनीति का लम्पटीकरण है। 1975 के बाद से संजय गांधी ने इसमें सबसे ज्यादा योगदान किया, हालांकि यह प्रक्रिया लम्बे अरसे से जारी थी। इसका अर्थ है सुव्यवस्थित पार्टी संगठनों और निचले स्तर से ऊपर आए यानी गांव स्तर से शुरू करके राज्य स्तर तक पहुंचे अनुभवी राजनीतिज्ञों का स्थान माफिया किस्म के संगठनों व नेताओं द्वारा ले लेना। ये संगठन शराब, जुआ व नशीली दवाओं के व्यापार पर आधारित होते हैं और इन्हें अपराधी पृष्ठभूमि वाले लोग संचालित करते हैं। इनके पास गुण्डों का एक गिरोह होता है, जिसका इस्तेमाल चुनाव के वक्त या विरोधियों और अल्पसंख्यक समुदायों को राह पर लाने जैसे कामों में होता है।

चौथा बिन्दु यह है कि हम पूंजीवाद की एक नई अवस्था से गुजर रहे हैं। पूंजीवाद की यह नई अवस्था यकीनन विकास के उस रास्ते का परिणाम है, जिस पर हम चलते रहे हैं। विकास के इस रास्ते के लाभ एक खास वर्ग तक सीमित हैं, इसलिए यह अनिवार्यत: जन-विरोधी और प्रगति विरोधी है। हमारा पूंजीपति वर्ग कोई क्रांतिकारी पूंजीपति वर्ग नहीं कि वह विकास की प्रक्रिया को वास्तव में मौलिक बना दे, घरेलू बाजार का विस्तार करे, मजदूर वर्ग का शोषण तो करे लेकिन उन्हें बाजार में सम्मिलित भी कर ले, इत्यादि। यह प्रधानत: और लगभग पूरी तरह मध्यवर्ग पर आधारित है और न सिर्फ शोषणकारी, बल्कि जनसमुदाय के प्रति शत्रुतापूर्ण भी है। इस पूंजीवादी अवस्था की एक दूसरी खासियत यह है कि यह बाहर से संचालित होता है। आर्थिक रूप से एक विश्वव्यापी बाजार में एकीकरण और राजनीतिक रूप से एक विश्वव्यापी रणनीतिक समुदाय, जिसका अर्थ एक विश्वव्यापी तकनीकी समुदाय भी है, के साथ एकीकरण के मामलों में यह बाहर से निर्देशित होता है। भ्रष्टाचार और काले धन के साथ इसका जुड़ाव काफी गहरा है और लगातार बढ़ता ही जाता है। यह जुड़ाव तस्करी ओर दूसरी चालबाजियों, और निस्संदेह, औपचारिक रूप से प्रतिबंधित वस्तुओं के 'अनौपचारिक' व्यापार के गैरकानूनी संचालन से प्राप्त लाभ की उपज है। इसके साथ ही इस किस्म के दोगले पूंजीवाद और राज्य के बीच की एकता और प्रगाढ़ होती जाती है। परिणामस्वरूप, निर्मम पूंजीवादी शोषण को जारी रखने के लिए दमनकारी राज्यतंत्र जरूरी बन जाता है। दोनों ही के लिए राज्यव्यवस्था का और ज्यादा अपराधीकरण जरूरी है।

कहीं ज्यादा व्यापक स्तर पर, इस प्रकार का पूंजीवादी अमल दो अन्य विकासों से भी घनिष्ट रूप से जुड़ा है - एक तरफ अर्थव्यवस्था के सैन्यीकरण से, तो दूसरी तरफ उत्पादन प्रक्रिया के मशीनीकरण से। संक्षेप में, कर व्यवस्था में सुधार और उदारीकरण की नयी नीतियां या उत्पादन प्रक्रिया में मजदूरों की भूमिका में क्रमश: ह्रास (साथ ही, निम्न वर्गों की आधारभूत जरूरतों को पूरा करने वाली वस्तुओं के उत्पादन में कमी) और नतीजे के रूप में कंगाली की प्रक्रिया ये सभी पूंजीवाद की उस अवस्था के भीतर आर्थिक विकास के अभिन्न अंग हैं जिसकी ओर हम अग्रसर हैं या जिसमें हम प्रवेश कर चुके हैं। मध्यवर्गीय पेशों से जुड़े लोग और व्यावसायिक दिग्गज आज इसकी संभावना के बारे में खुलेआम बहस भी करने लगे हैं कि अगर हमारे यहां गरीब न हों, अगर हमें इस निचले पचास या साठ फीसदी लोगों के बारे मे मगजमारी न करनी पड़े, तो हम कितनी तेजी से आगे बढ़ सकते हैं। हम एक शक्तिशाली और समृद्ध राष्ट्र बन जाएंगे। एक महाशक्ति बन जाएंगे। दूसरे शब्दों में, गरीबों के प्रति जिम्मेदारी से छुटकारा पाने का सिद्धांत उस पूंजीवादी व्यवहार की अंतर्निहित खासियत के रूप में उभर रहा है, जिसके हम शिकार हैं।

हमारे इर्द-गिर्द के वातावरण में आये ये चार परिवर्तन राजनीतिक प्रक्रिया के संदर्भ में प्रत्यक्ष तौर पर प्रासंगिक नहीं लग सकते हैं, लेकिन वास्तव में वे प्रासंगिक हैं क्योंकि वे उस राजनीतिक संस्कृति के निर्माण में योगदान करते हैं, जिसे स्पष्ट करने की मैं कोशिश कर रहा हूं। पहला जन संगठनों के खिलाफ बदले की कार्रवाई है, दूसरा लम्पटीकरण की परिघटना और अपराधीकरण में बढ़ोत्तरी है, तीसरा पूंजीवाद की वह नई अवस्था है, जिसमें कंगाली अंतर्निहित है, और चौथे यह सब हो रहा है 'विचारधारा के अंत' के सामान्य संदर्भ में। ये परिवर्तन राज्य व्यवस्था के जनाधार को भी प्रभावित कर रहे हैं। इस स्थिति में द्वन्द्वों का स्वरूप आर्थिक कम, साम्प्रदायिक ज्यादा है। स्थानीय स्तर पर संसाधनों के नियंत्रण को लेकर संघर्ष तीव्र और उग्र होना

जा रहा है। जंगल और गांव के सार्वजनिक संसाधनों और दूसरे सामुदायिक निर्णय कौन लेगा, इसको लेकर संघर्ष बढ़ता जा रहा है। इस प्रकार विकास की इस प्रक्रिया के जारी रहने के परिणामस्वरूप न सिर्फ प्रति व्यक्ति आय और बुनियादी सेवाओं के मामले में कमी दिखाई देती है, बल्कि इससे कहीं ज्यादा बढ़कर और बुनियादी बात यह है कि न्यूनतम प्राकृतिक संसाधन भी गरीबों की पहुंच से दूर होते जा रहे हैं। इस प्रकार यह धनिकों द्वारा गरीबों की खुली लूट और डकैती है। यकीनन, यह सब समुदाय के भीतर, प्रायः खुद गरीबों के बीच, निचली जातियों और समुदायों के बीच हिंसात्मक झड़पों और हिंसा का माहौल तैयार करता है। इस माहौल का पार्टियां अलग-अलग उद्देश्यों से इस्तेमाल करती हैं।

अब मैं यहां इस लेख की मूल विषय-वस्तु अर्थात अस्तित्व की राजनीति में आकंठ उलझे अभिजात वर्ग द्वारा जन असंतोष व जनआंदोलन के प्रति अपनाये जाने वाले रुख के संदर्भ में द्वन्द्वों के इन विभिन्न आयामों के महत्व को रेखांकित करना चाहूंगा। जन असंतोष और मांगों पर ध्यान देने के बजाय संवेदनाओं और भावनाओं को उभार कर साम्प्रदायिक माहौल पैदा करने की कोशिश की जा रही है, ताकि दूसरे मुद्दे प्रमुखता हासिल न कर लें। बढ़ती अस्थिरता, संस्थाओं के क्षरण और नेतृत्व के गहराते संकट की वजह से साम्प्रदायिकता की राजनीति को उर्वर भूमि मिल रही है। वर्तमान अवस्था में नई बात, लेकिन उतनी नई भी नहीं, यह है कि राजनीतिक प्रक्रिया के साम्प्रदायिकीकरण में खुद शासक दल और राज्य की प्रत्यक्ष भूमिका है। हाल में बम्बई-भिवंडी, अहमदाबाद, और इंदिरा गांधी की हत्या के बाद दिल्ली, बोकारो, कानपुर और दूसरी जगह घटी घटनाओं और असम में पहले से ही घट रही घटनाओं से यह साफ हो जाता है कि आतंकवाद को फैलाने, साम्प्रदायिक हिंसा को न सिर्फ भड़काने बल्कि शुरूआत करने, अव्यवस्था व बर्बरता को बढ़ने देने और फिर इस माहौल का इस्तेमाल कर जनसमुदाय के बड़े हिस्से में अंधराष्ट्रवादी भावनाओं को उभारने में सरकार और शासक दल की प्रत्यक्ष भूमिका है। मेरठ और दिल्ली सहित कई दूसरे 'पुराने शहरों' में अभी हाल ही में हुए 'दंगों' ने अपराधी किस्म के राजनीतिज्ञों की भूमिका को स्पष्ट कर दिया है।

विडंबना यह है कि यह सब 'साम्प्रदायिक तत्वों [से] लड़ने' और राष्ट्रीय एकता व अखंडता बनाये रखने के ना[म] पर हो रहा है। जब भी किसी समुदाय या क्षेत्र के मामले [में] 'फूट डालो, राज करो' की नीति का इस्तेमाल किया जा[ता] है, राष्ट्रीय एकता के नाम पर ही किया जाता है। मध्य[वर्ग] के भीतर भय पैदा करने, उसे धमकाने और हतोत्साहि[त] करने, विरोध को गैर-कानूनी करार देने, जनमत [और] मुख्यधारा को आतंकित करने और प्रेस, न्यायपालिका [और] बुद्धिजीवी वर्ग का मुंह बंद करने की यह राजनीति पूर्ण[तः] नये किस्म की राजनीति है। हमसे लगातार कहा जाता [है] कि अकाली और वैसे तमाम लोग, जो सिखों और मुसलमा[नों] या असम या उत्तर-पूर्व के अल्पसंख्यकों के हित की बा[त] करते हैं देश को तोड़ने पर आमादा हैं। विपक्षी बुद्धिजी[वी] और संगठन देशद्रोही हैं क्योंकि वे उनका समर्थन करते [हैं।] जो कोई उनका समर्थन करता है, देश को तोड़ना चाह[ता] है। उनमें से बहुत सारे लोगों पर विदेशी शक्तियों से जु[ड़े] होने का आरोप लगाया जाता है लेकिन ऐसे आरोपों [का] आधार क्या है यह नहीं बताया जाता। जिस तरह [से] गैर-देशभक्त के रूप में उनकी तस्वीर खींची जाती है उस[से] वे देश को बेच खाने वाले लगने लगते हैं।

इस नए विचारधारात्मक विकास को जारी सामाजि[क] प्रक्रिया से जोड़ कर देखना होगा। असलियत यह है [कि] जनआंदोलनों ने उत्पीड़ित तबकों के बीच कांग्रेस के सम[र्थन] को क्षीण किया है। जैसे-जैसे स्थानीय स्तर पर उत्पीड़न [और] दमन बढ़ता गया और गरीबी व असमानता गहरी होती [गई] और सामुदायिक संसाधनों तक परंपरागत पहुंच सीमित हो गई, कांग्रेस का पूर्ववर्ती सामाजिक गठजोड़ टूटता ग[या।] जनाधार के कमजोर होते जाने और साथ ही पार्टी संग[ठन] और गरीबों को संगठित करने के दूसरे उपायों के क्षरण [के] परिणामस्वरूप वह गठजोड़ टूट गया। कहने का मतलब [है] कि दलितों और आदिवासियों का समर्थन अब निश्चित न[हीं] रह गया। इसके साथ ही, जो इलाके हमेशा कांग्रेस के सा[थ] रहते थे, यहां तक कि आपातकाल और जनता 'लहर' [के] दौरान भी उसके साथ थे, उसके हाथ से निकल गये। इ[तना] ही नहीं, दक्षिण ने भी उसकी साथ छोड़ दिया। फलस्व[रूप] निराशा व असुरक्षा की एक भावना पैदा हुई और पद पर [बने] रहने के लिए एक नई रणनीति की तलाश होने लगी।

इस रणनीति के दो पहलू थे। पहला, कांग्रेस पार्टी

लिए नए सामाजिक आधार का निर्माण-मुख्यत: मध्यवर्ग के बीच, संशकित व असुरक्षित निम्न मध्यवर्ग के बीच, मजदूर वर्ग के उन हिस्सों के बीच, जो पूरी तरह संगठित नहीं हैं, और सामान्यत: बिखरे व असंगठित जनसमुदाय के बीच, जिनकी चिंतायें काफी ज्यादा हैं और जिनमें प्रतिबद्धताएं नहीं पैदा हुई हैं। इस रणनीति का दूसरा पहलू था देश की एकता पर मंडराते खतरे के नाम पर नए किस्म की साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देना।

इस रणनीति के दूसरे पहलू में पुराने सामाजिक आधार को भी कुछ हद तक बहाल कर पाने की संभावनाएं मौजूद थीं क्योंकि हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दूवादी नारे गरीबों, निचली जातियों और पहाड़ी लोगों को भी प्रभावित करते हैं। यह गौरतलब है कि पंजाब में सैनिक कार्रवाई के तुरन्त बाद श्रीमती गांधी गढ़वाल गईं और उन्होंने वहां खुलेआम कहा कि पंजाब में हिन्दू धर्म पर हमला हो रहा है। उन्होंने सिखों, मुसलमानों और दूसरे अन्य लोगों के हमलों से हिन्दू संस्कृति की रक्षा करने की जोरदार अपील की। यह भाषण 1984 में शासक दल द्वारा साम्प्रदायिकता के खुल्लमखुल्ला इस्तेमाल की असलियत को उजागर करता है। व्यवस्था द्वारा आम लोगों के जेहन में राष्ट्र के ऊपर उपस्थित खतरे का हौवा खड़ा करना, निस्संदेह, हिन्दू भावनाओं को उभारने से कहीं ज्यादा कारगर रणनीति थी। आपरेशन ब्लू स्टार से लेकर फारूक अब्दुल्ला की बर्खास्तगी, इंदिरा गांधी की हत्या के बाद हुए कत्लेआम और राजीव गांधी के चुनाव प्रचार तक, सभी में इसी रणनीति में और निखार लाया गया। और यकीनन इसने कांग्रेस के बहुत हद तक खोये जनाधार को पुन: हासिल करने में मदद की।

प्रसंगवश, यहां उस कथन पर गौर करना जरूरी है कि असम समस्या की प्रतिध्वनि दक्षिण में सुनाई नहीं दी। वास्तव में दक्षिण में उसका न के बराबर प्रभाव दिखाई पड़ा। उसी तरह 1965 के तमिलनाडु के भाषा विवाद या तेलंगाना राज्य आंदोलन का उत्तर में कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा। ऐसे ही दूसरे और उदाहरण भी पेश किए जा सकते हैं। लेकिन पहली बार ऐसी परिस्थिति पैदा हुई जिसमें पंजाब संकट और उसके साम्प्रदायिक तेवर की अनुगूंज खास कर मध्यवर्ग के बीच, उत्तर और दक्षिण में सभी जगह सुनाई दी। असलियत यह है कि मध्यवर्गीय भारतीय जेहन में साम्प्रदायिकता गहरी जड़ें जमा चुकी है और फैलती जा रही है। एक बार इसके कीटाणुओं द्वारा जड़ें जमा लेने के बाद मध्यवर्ग को लुभाने वाले दूसरे तमाम विचार व मूल्य धुंधले पड़ जाते हैं। इस प्रकार वे संवैधानिक कायदे-कानूनों और नैतिक मूल्यों के खुलेआम उल्लघंन या शासन व उसके हिमायतियों के अत्याचारों या अल्पसंख्यकों, नौजवानों व महिलाओं के खिलाफ उत्पीड़न की घटनाओं से भी विचलित होते नहीं दिखते। हां, यह निहायत ही खेदजनक स्थिति है। लेकिन 'देश को एक रखने ' की कीमत तो आखिर चुकानी ही पड़ेगी।

इसके पीछे एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति काम करती है। हिन्दू मध्यवर्ग लंबे अरसे से अपने आपको अल्पसंख्यकों (धार्मिक के साथ-साथ सामाजिक अल्पसंख्यकों , मसलन-दलितों व आदिवासियों) से घिरा महसूस करता है। बार-बार यह सवाल उछाला जाता रहा है कि हम क्यों हमेशा उनको बढ़ावा देते रहते हैं? राज्य ने हमारे लिए आखिर किया क्या है? उनको आरक्षण मिलता है, उन्हें हथियार रखने की छूट है, वे दिन-ब-दिन सम्पन्न बनते जा रहे हैं और राज्य इसमें उनकी मदद कर रहा है। सिर्फ हमें ही कोई मदद नहीं मिलती। इस प्रकार बहुसंख्यक समुदाय आहत महसूस करता है और कांग्रेस पार्टी की पिछली नीतियों को अपने खिलाफ भेदभावपूर्ण मानता है।

हमें साम्प्रदायिकता के मुद्दे पर इस पसरते शून्य या खालीपन और जनतांत्रिक राजनीति, दलगत व संस्थागत राजनीति के पूर्ण अवमूल्यन के संदर्भ में विचार करना होगा। यह शून्य काफी गहरा है, क्योंकि यह लोगों के बढ़ते अराजनीतिकरण के चलते उनमें पैदा होने वाली शक्तिहीनता के भाव की उपज है। सार्वजनिक क्षेत्र में यह व्यापक शून्य साम्प्रदायिक ताकतों और भ्रष्ट तत्वों को आगे बढ़ने का मौका प्रदान करता है। इस परिस्थिति का मुकाबला करने के संदर्भ में यह सोच जोर पकड़ता जा रहा है कि हम सामान्य तरीके से देश के सामने उपस्थित समस्याओं का समाधान नहीं कर सकते, इसलिए सत्ता की बागडोर कुशल तकनीशियनों, वैज्ञानिकों व प्रबन्धकों के हाथों सौंप देनी चाहिए। राष्ट्रपति प्रणाली की तमाम बातों का मतलब है मौजूदा व्यवस्था, जिसमें राजनीतिज्ञों व राजनीतिक पार्टियों की भूमिका प्रमुख है, की जगह एक ऐसी व्यवस्था की ओर प्रस्थान, जिसमें प्रबंधकों और टेक्नोक्रेटों की भूमिका प्रधान होगी। पूरी तीसरी दुनिया के साथ यही हुआ है और हम भी तेजी से

उसी ओर बढ़ रहे हैं। लेकिन यह राजनीतिज्ञों द्वारा अपनी विफलता की स्वीकारोक्ति भर है। उन्होंने ही जनतांत्रिक तौर-तरीकों की उपेक्षा करके इस शून्य को पैदा किया है। अब वे चाहते हैं कि इस शून्य को 'टेक्नोक्रेटों' द्वारा भरा जाए, लेकिन हो यह रहा है कि निचले स्तरों पर इस शून्य का स्थान गुण्डे व दादा-गिरोह ले रहे हैं। जब हालात बिगड़ने लगते हैं तो पहले पुलिस व अर्धसैनिक बलों, फिर सेना को स्थिति पर काबू पाने के लिए बुलाया जाता है। सेना का बुलाया जाना इसी बात का प्रमाण है कि सामान्य राजनीतिक प्रक्रिया की अवहेलना की गई है।

यह परिघटना सिर्फ राजनीति तक ही सीमित नहीं है। अपराधीकरण और साम्प्रदायिक व संकीर्णतावादी संगठनों की भूमिका में बढ़ोत्तरी के चलते एक नये किस्म का व्यवसाय फलने-फूलने लगा है। चुनाव, साम्प्रदायिक दंगे, तामझाम वाली रैलियां हजारों बेरोजगार लोगों के लिए रोजगार बन गई हैं। अपराध का क्षेत्र भारतीय अर्थव्यवस्था का काफी विकासमान क्षेत्र बन गया है। यह नए किस्म के दादा छाप नेताओं की देन है और स्थानीय तौर पर उनकी लोकप्रियता अभिताभ बच्चन या दत्ता सामंत से कम नहीं है। ये तमाम परिघटनायें एक-दूसरे से असंबद्ध नहीं हैं। यह लम्पटीकरण महज गैरकानूनी गतिविधियों का एक सिलसिला भर नही है, बल्कि जीवन का ढर्रा बनता जा रहा है। जिला या कस्बों में इसे ज्यादा साफ तौर पर देखा जा सकता है, हालांकि बड़े शहर भी इससे अछूते नहीं हैं। उदाहरण के लिए आंध्र प्रदेश के मुफस्सिल क्षेत्र में रिक्शा भी भाड़े पर लेने के लिए आपको बिचौलिए का सहारा लेना पड़ेगा। ये बिचौलिया प्रायः स्थानीय छुटभैये होते हैं, जो रिक्शावाले से कमीशन खाते हैं। शहरी या अर्धशहरी रोजगार का जिस कदर लम्पटीकरण हुआ है वह कल्पना से परे है। किसी वक्त काफी हद तक 'धर्मनिरपेक्ष' समझे जाने वाले इन दादाओं का इस्तेमाल साम्प्रदायिक उद्देश्यों के लिए बढ़ता जा रहा है।

खुद धर्म ने और धार्मिक अपील के आधार पर सुविचारित तरीके से निर्मित जनसमर्थन ने इन सबमें काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। विभिन्न इलाकों में धार्मिक उत्सवों के स्वरूप में आ रहे बदलावों पर नजर दौड़ाना काफी दिलचस्प है। पहले उनका स्वरूप स्थानीय होता था। स्थानीय तौर पर अनुष्ठान होते थे, देवी-देवता भी स्थानीय थे, इत्यादि। धीरे-धीरे न सिर्फ उत्सवों की अवधि लंबी होती जा रही है बल्कि उनके स्वरूप में भी काफी फर्क आ रहा है। गणे चतुर्थी अब सिर्फ एक दिन तक सीमित नहीं, बल्कि उस गणेश महोत्सव का रूप ले लिया है और यह पंद्रह-पं दिन तक चलता रहता है। दुर्गा पूजा पहले चंद दिनों खत्म हो जाती थी, लेकिन अब व्यावसायिक हितों के चल इसकी अवधि बढ़ती ही जा रही है। हर गली के नुक्कड़ लाउडस्पीकर शोर मचाते हैं और लम्पट किस्म के वक्ता भी को अपना उग्र भाषण पिलाते रहते हैं। कोई न कोई उत्स चलता ही रहता है। यह लगभग अंतहीन सिलसिला बन जा रहा है। लेकिन सवाल सिर्फ़ अवधि का नहीं है। बल्कि स्थनीय देवी-देवताओं और स्थानीय अनुष्ठानों की जग तथाकथित सार्वजनिक हिन्दूवाद ले रहा है। इस प्रक्र सबसे पहले दुर्गा व गणेश की मूर्तियों का राष्ट्रीयकरण कि गया और फिर स्थानीय देवी-देवता के बदले उनकी पूजा बढ़ावा दिया गया।

यह पूरी तरह एक नई परिघटना है। अब धर्म प्रचार वैसी तथाकथित 'धर्मनिरपेक्ष' शक्तियां कर रही हैं जिनका उद्देश्य लोगों को अशक्त और साम्प्रदायिक बना है। यह वैसा ही है जैसा कि टेलीविजन पर मनोरंजन कार्यक्रम, फिल्मी धारावाहिक और सोप आपेरा (हिन्दी स्टाइ में), विज्ञापन और दिन-दिन भर प्रसारित होने वाले खेल-कू समारोह, क्रिकेट आदि। यह सब, धार्मिक उत्सव या टी धारावाहिक, नई आम संस्कृति के निर्माण के नायाब तरी हैं। यह नई आम संस्कृति पुरानी विविधतापूर्ण जन संस्कृ से बिल्कुल ही भिन्न है। यह आम संस्कृति बनावटी है। लोगों की संवेदनाओं और उनके सोचने-विचारने की क्षम को कुंद करने यानी उनके अराजनीतिकरण की बृहत योजना है।

इन सबके साथ-साथ जन भावनाओं को उभारने चलते साम्प्रदायिक माहौल जिस कदर गर्म होता जा रहा और साम्प्रदायिक दंगा-फसाद पेशेवर गुण्डों की कार्य बनते जा रहे हैं, ऐसे में पुलिस की भूमिका बढ़ जाती है अब तक बहुत सारे विश्लेषक पुलिस की भूमिका पर ज देते रहे हैं। लेकिन आज जो कुछ हो रहा है वह बिल्कु नई बात है। राज्य मशीनरी का नियंत्रण करने वालों अशांत क्षेत्रों में अर्धसैनिक बलों का इस्तेमाल बढ़ता जा

है। अक्सर ऐसे इलाकों में भेजे जाने वालों में दूसरे इलाकों के लोग होते हैं, मसलन हैदराबाद में जिन लोगों को भेजा गया वे उत्तर भारत के थे और आम तौर पर मुसलमान विरोधी थे। इसी प्रकार मेरठ में तैनात बल दक्षिण भारतीय मूल के थे। स्थानीय पुलिस पर सत्ताधारियों को भरोसा नहीं रह गया है। वे भरती के सामान्य तौर-तरीकों में भी विश्वास खो चुके हैं। यह बात खास तौर पर वैसे मामलों में ज्यादा साफ तौर पर देखी जा सकती है, जहां भरती की इस सामान्य प्रक्रिया की बदौलत निचले वर्गों के लोग भी ऊपर आने लगे हैं। मिसाल के तौर पर गुजरात को लिया जा सकता है। सेना बुलाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है, भले ही हालात इतने बुरे न हों। कानून व व्यवस्था की सामान्य मशीनरी की यह उपेक्षा राजनीति के असंस्थानीकरण की बृहत्तर प्रक्रिया का ही अंग है।

'आतंकवाद' और 'उग्रवाद' की परिघटना को राजनीतिक और संस्थागत शून्य के माहौल के प्रति अराजनीतिक प्रतिक्रिया के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। ढांचागत या संवैधानिक किस्म की शिकायतों को भी दूर करने के संस्थागत उपायों का अभाव दृष्टिकोणों के बढ़ते ध्रुवीकरण और भिड़त के इस आम माहौल में हाशिए पर धकेल दिए गए लोगों की प्रतिक्रिया को हिंसक, उग्र और 'अतिवादी' बना देता है। राजकीय आतंक प्रतिरोधी आतंक को जन्म देता है। असल में दोनों ही आतंकवादी हैं। साधारण लोग दोनों से ही प्रताड़ित होते हैं। दोनों ही किस्म के आतंकवाद हताशा की राजनीति के परिचायक हैं। यह एक दुष्चक्र है जिसमें दोनों एक दूसरे को औचित्य और बल प्रदान करते हैं। यानी दमन अपने विरोधी आतंक को पैदा करता है और विरोधी आतंक दमन बढ़ाता है। दमन बढ़ता जाता है, रोज नए 'काले कानून' लाये जाते हैं। हालांकि जाहिर है कि इनके जरिये आतंकवाद का खात्मा सम्भव नहीं है, फिर भी आज बहुत थोड़े से लोग ही इसका विरोध कर रहे हैं, अंततः यह पूरे राजकीय ढांचे को तहस-नहस कर देगा और उसे बर्बर बना देगा।

इतना सब कुछ होने के बाद क्या धर्मनिरपेक्ष भारतीय राज्य जिन्दा रह पाएगा? वास्तव में यह केन्द्रीय सवाल बन गया है क्योंकि भारतीय राज्य ने ढांचागत बदलाव के बदले तकनीकी बदलाव को अपना उद्देश्य बना लिया है। इससे कुल मिलाकर राज्य मजबूत होगा, अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में वह होड़ करने लगेगा और क्षेत्रीय स्तर पर प्रभुत्व कायम करने की ओर बढ़ेगा। लेकिन क्या ऐसा राज्य वास्तव में लोगों की आकांक्षाओं को पूरा कर पाएगा? या वह मतदाताओं को आकर्षित करने के लिए मूलतः साम्प्रदायिक तौर-तरीकों के इस्तेमाल करने पर मजबूर होगा।

निस्संदेह, ऐसी हालत में चुनाव और जनतंत्र के बीच संबंध का मुद्दा बुनियादी बन जाता है। क्या चुनाव आधारित जनतंत्र उग्र राष्ट्रवादी भावनाओं को भड़काता है और साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देता है? हम बुद्धिजीवी अक्सर इस मुद्दे से कतराने की कोशिश करते रहे हैं। ऐसा लगता है कि चुनावी मजबूरियां जननंत्र पर हावी होती जा रही हैं। सत्तारूढ़ पार्टी की अपनी मजबूरियां या ऐसी पार्टी की मजबूरियां जो हमेशा सत्ता में बने रहना चाहती है, जनतंत्र पर हावी होती जा रही हैं। ऐसे जनतंत्र की नजर में लोगों की हैसियत सिर्फ वोटर की होती है। ऐसे वोटरों की गिनती भर की जाती है या उन्हें एक खास पक्ष में झुकने के लिए मजबूर कर दिया जाता है। यानी उनकी भूमिका बहुत ही सीमित हो जाती है। चुनाव के इस खेल का उद्देश्य है उनकी बहुसंख्या को किसी भी प्रकार अपने पक्ष में कर लेना। यानी जनतंत्र बहुसंख्यावाद बन जाता है और समाज में बढ़ते ध्रुवीकरण के माहौल में यह बहुसंख्यावाद बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों के बीच झड़प का रूप ले लेता है। साम्प्रदायिकता की राजनीति इसी बहुसंख्यावाद की उपज है।

जनतंत्र की ऐसी विकृत समझ का जब तक जोरदार विरोध नहीं किया जाता, राजनीति को साम्प्रदायिकता के गर्त में जाने से बचाया नहीं जा सकता। इस बात पर जोर देने की जरूरत है कि चुनावी जनतंत्र आंशिक जनतंत्र है। चुनावी जनतंत्र के भीतर घोर प्रतिक्रियावादी तत्त्व भी जिन्दा रह सकते हैं, लेकिन सच्चा जनतंत्र जनसंगठनों की व्यापक बुनियाद पर टिका होता है। ये जनसंगठन सत्ता के गलियारों तक सीमित अमेरिकी 'दबाव ग्रुप' नहीं, बल्कि हर स्तर पर खासकर जमीनी स्तर पर काम करने वाले संगठन हैं। अगर हमने इस सच्चाई को नहीं समझा तो हम आसन्न सर्वनाश की चपेट से बच नहीं पाएंगे। चुनावी और संसदीय मजबूरियों ने पार्टियों की जन भूमिका को भी इस कदर सीमित बना

दिया है कि चुनावी राजनीति का इस्तेमाल जनाधार के विस्तार के लिए करने के बजाय जनाधार का इस्तेमाल चुनावी राजनीति के संकुचित उद्देश्य के लिए किया जाता है।

सचमुच जनतान्त्रिक बदलाव में आस्था रखने वाली पार्टियों और गैरपार्टी संगठनों के लिए यह निर्णायक मुद्दा है। अगर हमने इसे नज़रअंदाज किया तो जिस कदर हम चुनावी व संसदीय राजनीति और जिन्दा रहने की जद्दोजहद में उलझे हैं, राष्ट्रीयता, विकेन्द्रीकरण और गरीबों के वर्गीय संगठन के बृहत्तर मुद्दे हमारी नज़रों से ओझल हो जाएंगे। इन मुद्दों के नजरों से ओझल होते ही साम्प्रदायिकता का मुकाबला करने की हमारी क्षमता भी क्षीण हो जाएगी। इस प्रकार साम्प्रदायिकता की राजनीति का बढ़ाव जनतंत्र के बुनियादी ढांचे में नई जान फूंकने के ऊपर निर्भर है।

इस बुनियादी जनतांत्रिक ढांचे में नई जान डालने के लिए प्रभावित तबकों को लगातार कोशिश करनी होगी। अर्थात् खुद अल्पसंख्यकों को इसके लिए प्रयास करना होगा। न सिर्फ धार्मिक अल्पसंख्यकों को, बल्कि सामाजिक रूप से तमाम अल्पसंख्यक समूहों को भी इसके लिए काम करना होगा। दलितों, आदिवासियों, ऐतिहासिक रूप से प्रतिकूलताओं के शिकार 'पिछड़े' समुदायों से लेकर जंगलवासी और प्रवासी सभी सामाजिक रूप से अल्पसंख्यक समुदाय हैं। यह एक विषम जमावड़ा लग सकता है और है भी। लेकिन ये सभी एक समान तकनीकी आर्थिक व सामाजिक प्रक्रिया के जरिए हाशिए पर धकेले जा रहे हैं।

इसके अलावा, भारत में तमाम अल्पसंख्यकों को एक जगह इकट्ठा करना संभव भी है। वास्तव में इलाके और आबादी के लिहाज से भारत अल्पसंख्यकों का जमावड़ा है। उसकी समृद्धि इसी बात में निहित है कि हर समूह अल्पसंख्यक है और वे एक-दूसरे के साथ ताल-मेल के जरिए ही शक्तिशाली व सामर्थ्यशाली बन सकते हैं। यही वजह है कि औपनिवेशिक काल के पहले 'साम्प्रदायिकता' का नामोनिशान मौजूद नहीं था। निश्चय ही यह एक आधुनिक परिघटना है और इसका सबसे घातक पहलू है भारत की विविधता, यानी अल्पसंख्यक बहुल समाज की अवधारणा का परित्याग और बहुसंख्यवादी एकरूपीकरण व सामान्यीकरण की अवधारणा का थोपा जाना। साम्प्रदायिकता का उदय इसी पहलू का परिणाम है। नागरिकों के अधिकारों से वंचित किए जाने वाले अल्पसंख्यक ही नागरिकता के लिए संघर्ष में एकता कायम करते हुए भारत के अस्तित्व के लिए जरूरी विविधता की रक्षा कर सकते है। आज उन्हें ही इस कर्तव्य को निबाहने के लिए आगे आना होगा।

इसके लिए राजनीतिक प्रक्रिया में नागरिकों का सक्रिय और सतत हस्तक्षेप जरूरी है। जहां कहीं वह पटरी से उतरे या हिंसा और दमन, आतंक और आतंकवाद का शिकार बनने लगे, नागरिकों को राजनीतिक प्रक्रिया में हस्तक्षेप करने की पहल करनी होगी। यह असीम सृजनात्मक संभावनाओं से भरा क्षेत्र है। इसमें लोग अपने-अपने तरीके से देश के वर्तमान और भविष्य के निर्माण में भाग ले सकते हैं। अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। नये अनुभवों और प्रयोगों का क्षेत्र इतना व्यापक है कि मौजूदा संगठन और नेतृत्व नाकाफी हैं। 1985 में अमदाबाद में आरक्षण-विरोधी दंगा, जिसने बाद में साम्प्रदायिक रंग ले लिया, के लगभग चार महीने बाद ही नागरिक संगठन का निर्माण हो सका, यह इस बात का प्रमाण है कि बढ़ता ध्रुवीकरण हर जगह शीघ्र व प्रभावकारी हस्तक्षेप की इजाजत नहीं देता। इसके विपरीत दिल्ली में 1984 के कत्लेआम के फौरन बाद नागरिक एकता मंच का निर्माण और 'अपराधी कौन' के नाम से पीयूडीआर-पीयूसीएल की रिपोर्ट का प्रकाशन काफी आश्चर्यजनक है। उसके बाद इन प्रयासों को आगे बढ़ाते हुए दिल्ली और दूसरी जगहों पर पत्रकारों, नागरिक स्वातंत्र्य संगठनों, महिला व अन्य नागरिक समूहों ने साम्प्रदायिकता के विरोध को अपनी गतिविधियों का केन्द्र बिन्दु बनाया। अंततः गुजरात में भी जातीय और साम्प्रदायिक घेरेबंदी को तोड़ने के उद्देश्य से अमदाबाद एकता मंच जैसे नागरिक मंचों का गठन हुआ। इसी प्रकार हैदराबाद एकता मंच पिछले तीन सालों से बढ़ते ध्रुवीकरण और दुश्मनी के माहौल को सामान्य बनाने का प्रयास कर रहा है।

इन सबका एक ही निष्कर्ष है: भारत में साम्प्रदायिकता खासकर इसका नया स्वरूप जनतांत्रिक राजनीति, जन भागीदारी और प्रभावकारी जनकार्रवाई में आई गिरावट का सीधा नतीजा है। सिर्फ नागरिक पहलकदमी और राज्य को अल्पसंख्यकों की न्यायोचित मांगों की पूर्ति के लिए बाध्य करके ही साम्प्रदायिकता की रोकथाम की दीर्घकालीन रणनीति विकसित की जा सकती है।

1-कोर्ट रोड, दिल्ली - 110054

डॉ. अमरजीत सिंह नारंग

साम्प्रदायिकता : धार्मिक अथवा राजनीतिक समस्या?

आज के समय में भारत तथा दक्षिण एशिया में साम्प्रदायिकता का अर्थ है सामाजिक, धार्मिक समूहों की वह प्रवृत्ति जिसके द्वारा वे दूसरे समूहों के हितों को नुकसान पहुंचाकर भी अपने लिये अधिक सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक लाभ या ताकत प्राप्त करने के प्रयत्न करते हैं। साम्प्रदायिकता की सबसे अधिक गम्भीर अभिव्यक्ति साम्प्रदायिक हिंसा या दंगों के रूप में होती है। परन्तु मूलतः यह एक मानसिक तथा वैचारिक अवधारणा है। इस संदर्भ में साम्प्रदायिकता मध्यकालीन प्रवृत्ति न हो कर आधुनिक प्रवृत्ति है।

स्वतत्रता से पूर्व एव बाद में साम्प्रदायिकता तथा साम्प्रदायिक राजनीति के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि उसे धर्म एवं संस्कृति उत्पन्न नहीं करते। राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवसाय में सक्रिय गैर-धार्मिक एवं गैर-सास्कृतिक शक्तियां इसके प्रसार तथा विकास के लिए अधिक उत्तरदायी हैं। यदि हम साम्प्रदायिक नेताओं द्वारा उठायी गयी मांगों का गहराई तथा गम्भीरता से विश्लेषण करें तब हमें धर्म, संस्कृति तथा परम्परा के नाम पर की जाने वाली साम्प्रदायिक राजनीति के वास्तविक चरित्र या लक्ष्यों का ज्ञान हो जाता है। साम्प्रदायिक नेताओं का उद्देश्य आम तौर पर मध्यम वर्ग तथा शहरी बुद्धिजीवी वर्ग के हितों की रक्षा करना रहा है। दूसरी ओर शासक वर्ग अपने आर्थिक तथा राजनीतिक हितों को सुरक्षित बनाये रखने की खातिर जनता को विभाजित करने के लिए साम्प्रदायिकता का इस्तेमाल करता है।

स्वतत्रता प्राप्ति के समय यह माना जाता था कि उपनिवेश काल में अंग्रेजों की फूट डालो तथा राज करो की नीति तथा भारतीयों की निरक्षरता और पिछड़ापन साम्प्रदायिकता के मूल कारण हैं। अतः यह विचार था कि तकनीकी और आर्थिक विकास तथा शिक्षा के प्रसार से साम्प्रदायिक संघर्ष या तनाव समाप्त या कम हो जाएंगे। परन्तु आज हम स्थिति इसके विपरीत देखते हैं। स्वतंत्रता के 50 वर्षो में शिक्षा, शहरीकरण, उद्योगीकरण तथा आधुनिकीकरण के विकास के बावजूद साम्प्रदायिक हिंसा तथा उन्माद न केवल जारी है अपितु अपने एक विकराल रूप ग्रहण कर लिया है। ऐसे समुदाय जो परम्परागत तौर पर एक दूसरे के बहुत पास रहे हैं और जिनके बीच वैवाहिक संबंधों जैसे सामाजिक रिश्ते कायम हैं वे भी इस चक्रव्यूह की चपेट में आ गये हैं।

भारत में संसाधनों की कमी है परन्तु मांग बहुत अधिक है। निस्सन्देह इस का एक कारण जनसंख्या में भारी वृद्धि है जो अपनी विस्फोटक स्थिति में पहुच चुकी है। परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण समस्या हमारी विकास की रणनीति है। स्वतंत्रता के पश्चात अत्यधिक तीव्र गति से तथा सन्तुलित आधार पर विकास की आवश्यकता थी। इसे प्राप्त करने के लिए हमने नियोजन को साधन बनाया और समाजवादी व्यवस्था पर आधारित समाज की स्थापना को लक्ष्य माना। परन्तु नियोजन को लागू करने के लिए सहारा लिया गया उपनिवेशी प्रशासन व्यवस्था का। साथ ही राजनीतिक सत्ता में बने रहने के लिए आम जनता के समर्थन पर विश्वास न कर जातीय, धनी तथा विशिष्ट सामाजिक वर्गों की शक्ति के समर्थन को उचित माना गया। परिणामस्वरूप न तो राजनीतिज्ञ, न तकनीकी विशेषज्ञ और न ही नौकरशाह पंचवर्षीय योजनाओं के कार्यक्रमों को व्यापक रूप से जनता के हितों की ओर अग्रसर कर सके। धीरे-धीरे जनता में असंतोष तथा आक्रोश बढ़ने लगा। लोकतन्त्र में जनता अपना असंतोष वोट के द्वारा प्रकट करने लगी। राजनीतिज्ञों तथा शासकों को स्पष्ट होने लगा कि जनता उनके कार्यों तथा उपलब्धियों का मूल्यांकन करती है। 1971 में गरीबी हटाओ का नारा शायद जनता की आशा की आखिरी कड़ी थी। दुर्भाग्यवश आपातकालीन स्थिति के बाद सत्ता में आई जनता पार्टी भी राजनीतिक स्थिरता तथा लोकतन्त्र की सफलता में आर्थिक विकास एवं न्याय के महत्त्व को नहीं समझ सकी। इसके फलस्वरूप भारत में सत्ता पर उस वर्ग का एकाधिकार हो गया जो इस देश की जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करता। ऐसे में इस शासक वर्ग द्वारा सत्ता को बनाए रखने के लिए मतदाताओं का ध्यान आर्थिक सामाजिक प्रश्नों से हटाना आवश्यक हो जाता है। इसके लिए साम्प्रदायिकता सबसे आसान तरीका है। शासक वर्ग जन साधारण को धार्मिक कट्टरवादिता, साम्प्रदायिक

आधार पर भेद-भाव के प्रचार, धर्म, मज़हब या पंथ के लिए मर मिटने से स्वर्ग प्राप्ति इत्यादि के विचारों को महत्व दे कर सामाजिक-आर्थिक आधार पर विद्रोह, श्रमिक अन्दोलनों, किसान आन्दोलनों को कमजोर करते हैं।

सामाजिक-आर्थिक अभिलाषाओं को पूरा करने में राज्य की लगातार असफलता के कारण जनता इससे अलग भी होती जा रही है। राज्य से असन्तुष्ट हो कर जीवन में बेहतरी की तलाश के लिए लोग अपने समुदायों की तरफ देखने लगे हैं। दुर्भाग्यवश विभिन्न समुदायों के प्रबुद्ध तथा मध्यम वर्ग भी लोगों के इस असन्तोष का लाभ अपने निहित स्वार्थों को पूरा करने के लिए उठा रहा है। सच तो यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही राजनीतिक दलों ने अपने समर्थन आधारों को विकसित करने के लिए धर्म, समुदाय, जाति तथा क्षेत्र का बहुत अधिक इस्तेमाल किया है। लम्बे समय तक कांग्रेस की निर्भरता मुसलमानों, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के समर्थन पर इस आधार पर बनी रही कि वह उनमें हिन्दू उच्च जातियों का भय बनाए रख सकी। भाजपा ने उच्च तथा मध्यम हिन्दू जातियों में छोटी जातियों तथा मुसलमानों का भय उत्पन्न कर अपने जनाधार को खड़ा किया।

अधिकतर राजनीतिक दल यद्यपि आधुनिक राजनीतिक प्रक्रिया में कार्यरत हैं परन्तु वे समर्थन के लिए उन इकाइयों पर निर्भर हैं जो परम्परा आधारित हैं। इस संबंध में एक लेखक का यह कहना बहुत प्रासंगिक है कि धर्म के नाम पर दंगों का संगठित किया जाना भारतीय समाज में सबसे अधिक धर्मनिरपेक्ष प्रक्रिया है। साम्प्रदायिक दंगों को लगभग उसी प्रकार आयोजित किया जाता है जैसे कि एक राजनीतिक रैली या हड़ताल को किया जाता है। किसी राज्य में यदि मुख्य मंत्री को हटाना हो, चुनाव अभियान में मदद करनी हो या फिर एक गुट की सहायता करनी हो तो दंगे करवाये जाते हैं। भारत में कुछ राजनीतिक दलों के पास आज ऐसे व्यवसायी हैं जो दंगा करवाने में पूर्णत: निपुण हैं।

शासक वर्ग तथा राजनीतिक दलों द्वारा अपने हितों की पूर्ति के लिए धर्म के इस्तेमाल का परिणाम यह हुआ है कि राजनीति तथा साम्प्रदायिकता में गहरा संबंध कायम हो गया है। उससे साम्प्रदायिक मानसिकता तथा हिंसा दोनों में वृद्धि हो रही है। इसका सबसे ख़तरनाक पक्ष यह है कि साम्प्रदायिक मानसिकता नौकरशाही तथा पुलिस बलों में भी प्रवेश कर चुकी है। अपने एक लेख में प्रफुल्ल बिदवई बताते हैं कि 6 दिसम्बर 1992 की रात को मसूरी स्थित लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन एकादमी में बाबरी मस्जिद के गिरने पर एक पार्टी का आयोजन किया गया। अखिल भारतीय तथा सेन्ट्रल सिविल सर्विसेज के 58वें फाउंडेशन कोर्स में भाग ले रहे 275 प्रशिक्षुओं में से लगभग दो तिहाई ने इस पार्टी में भाग लिया। पुलिस के एक उच्चपदाधिकारी विभूति राय द्वारा साम्प्रदायिक पक्षपात पर अध्ययन से स्पष्ट है कि इस प्रकार के पर्याप्त सबूत उपलब्ध हैं कि पुलिस द्वारा की गयी कार्रवाइयों में साम्प्रदायिक पक्षपात विद्यमान रहता है। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण 1984 में इंदिरा गांधी की हत्या के बाद की गई सिखों की हत्याएं हैं।

भारत में पिछले पांच दशकों के अनुभव से स्पष्ट है कि साम्प्रदायिकता लोगों की अशिक्षा, उनके परम्परावादी होने या धर्म के साथ जुड़े होने के कारण नहीं है। वास्तव में अनेक उदाहरण इस बात को बहुत अधिक स्पष्ट करते हैं कि धर्म या धार्मिक व्यवस्था को मानना कोई साम्प्रदायिकता नहीं है। धर्म का शोषण साम्प्रदायिकता है। किसी एक धार्मिक समुदाय से संबंधित होना या उसके मूल्यों के अनुसार जीवन व्यतीत करना साम्प्रदायिकता नहीं है। दूसरे समुदायों तथा राष्ट्र के विरुद्ध धार्मिक भावनाओं का इस्तेमाल करना साम्प्रदायिकता है। पिछड़ापन, आडम्बर, जादू-टोना तथा अन्य अवैज्ञानिक रीतिरिवाजों को मानना भी साम्प्रदायिकता नहीं है यह अज्ञानता तथा रूढ़िवादिता है। इसे सामाजिक पिछड़ापन तथा प्रतिक्रियावाद कहा जा सकता है। साम्प्रदायिकता है इन विश्वासों, इस अज्ञानता तथा भय का आधुनिक चतुर, स्वार्थी लोगों द्वारा अपने हितों के लिए शोषण-साधारण जनता धार्मिक होती है न कि साम्प्रदायिक। उसकी धार्मिकता को साम्प्रदायिक रूप देते हैं तथाकथित धर्मनिरपेक्ष नेता। आम जनता को यह समझना होगा। उन्हें अपने धर्म के बारे में स्वयं जानकारी प्राप्त करनी होगी जिससे उन्हें यह स्पष्ट होगा कि उनका धर्म किसी की हत्या या धर्म के आधार पर किसी के विरुद्ध हिंसा का समर्थन नहीं करता। भारत में सभी धर्मों के लोग निर्धन, बेरोजगार तथा शोषित हैं। शासक वर्ग इन लोगों की एकता से भयभीत है। अतः उन्हें धर्म, जाति तथा संस्कृति के नाम पर बांटे रखना चाहता है। देश के बुद्धिजीवी तथा जागरूक लोगों का यह कर्तव्य बन जाता है कि वे वास्तविकता को समझें। स्वयं को आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाला तथा धर्मनिरपेक्ष साबित करने के लिए धर्म तथा धार्मिक गतिविधियों की आलोचना में फंसे रहने की बजाए भारत जैसे देश में धर्मनिरपेक्ष तथा आधुनिकतावादी राजनीतिज्ञों की साम्प्रदायिक गतिविधियों का पर्दाफाश कर जन साधारण में लोकतान्त्रिक तथा मानवीय मूल्यों को जगाएं।

ए.सी. 135 बी. शालीमार बाग, दिल्ली - 110035

डॉ. जगन सिंह

समाज के भीतर अपने समाज की तलाश

टेलीविजन के कारण परिवार के सदस्यों के बीच भी संवाद कम हो गया है। विज्ञापनों का प्रभाव मध्यवर्ग पर हावी हो गया है। परिवार के भीतर की हंसी-खुशी, गीत-संगीत, प्यार का गुनगुनापन-जैसे सब कुछ किसी ने हर लिया है। परिवार के सदस्य आपस में बात करते हैं तो टेलीविजन की भ्रष्ट भाषा बोलते हैं। टेलीविजन के प्रभाव से बच्चे आक्रामक हो गये हैं, किशोर और युवा उद्दण्ड और जिद्दी।

मनुष्य मिल कर समाज बनाते हैं। फिर समाज के भीतर एक और समाज की तलाश क्यों? क्या इसलिए कि समाज उन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर रहा जिनके लिए उसका गठन किया गया था? अथवा परिस्थितियां इतनी बदल गई हैं कि आदमी समाज के बने बनाये ढांचे में फिट नहीं हो रहा, इसलिए 'अपने समाज' की तलाश कर रहा है?

समाज के परम्परागत कार्यों में प्रमुख है- मनुष्य को सामूहिक रूप से संरक्षण और सुरक्षा प्रदान करना। ये सम्बन्ध परिवार के भीतर भी होते हैं, बाहर भी। नाते-रिश्तेदारों के अलावा मैत्री और बंधुत्व का भी एक रिश्ता होता है जो किसी प्रकार के लेन-देन पर नहीं टिका होता। इसलिए इसके स्नेह-सूत्र कई बार इतने मज़बूत होते हैं कि आजीवन नहीं टूटते। सम्बन्धों का अपनापन हमारी भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। मनुष्य अपने चारों ओर सम्बन्धों का इन्द्रजाल बुनता चला जाता है और इसके सम्मोहन में पड़ कर पैसा कमाने के लिए कष्ट सहता है। स्वयं को सुविधाओं से वंचित रखकर परिवारजनों के लिए सुविधाएं जुटाने में दिन-रात एक कर देता है। यह सिलसिला तब तक चलता रहता है जब तक उनसे उसका मोहभंग नहीं होता। मोह-भंग की प्रक्रिया बड़ी धीमी होती है। आरम्भ में मनुष्य दूसरों की स्वार्थपरता को समझ कर भी इसे अपनी गलतफ़हमी कहकर खुद को बहलाता है। इसी में कई साल निकल जाते हैं और एक दिन ऐसा आता है जब यथार्थ के धरातल पर उतर कर यह जानना ज़रूरी हो जाता है कि उसके साथ चलने वालों ने अपनी अलग दुनिया बसा ली है जिसकी परिधि पर भी उसके लिए जगह नहीं है। जिनके लिए वह त्याग करता आया था, उनके लिए अब वह अनचाहा व्यक्ति है जिसे वे ढो रहे हैं, क्योंकि सच बताने का नैतिक साहस उनमें नहीं है।

मोह-भंग कोई नई बात नहीं है। स्वार्थी और कृतघ्न मनुष्यों की परम्परागत समाज में भी कमी नहीं थी, परन्तु सामाजिक ढांचा इतना सुसंगठित था कि कोई भी इतना अकेला नहीं था जितना आज है। अपनी सारी कमियों के बावजूद समाज मनुष्य पर चंदोवे की तरह तना रहता था। सामाजिक दबाव के चलते युवावर्ग बड़े-बूढ़ों की अवहेलना एक हद से बाहर नहीं कर पाता था। आज कोई किसी के सुख-दुख में रुचि नहीं लेता। सब पैसा कमाने की चूहा-दौड़ में लगे हैं।

स्वतंत्र भारत की तीसरी, कहीं-कहीं चौथी पीढ़ी तेज़ी से उम्र की सीढ़ियां चढ़ रही है, परन्तु मूल्यों में गिरावट उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई है। देश में समृद्धि आई है, परन्तु एक विशेष वर्ग के लिए। दूसरा वर्ग ग़रीबी के गर्त में गिरता चला जा रहा है। शहरों में धन का केन्द्रीकरण हो गया है। पहले के वर्ग-विभाजन के कोष्ठक यदि वहीं रखे जायें तो आज पहले का निम्नवर्ग मध्यवर्ग के और पहले का मध्यवर्ग उच्च मध्यवर्ग के स्थान पर आयेगा। यह वर्ग पिछले दो दशकों में पनपा है। पहले का उच्चवर्ग आज भी उच्चवर्ग है- अत्यन्त धनी और सुविधा-सम्पन्न। यह वही वर्ग है जो सरकार की आर्थिक नीतियों को प्रभावित करने में मुख्य भूमिका निभाता है। इस वर्ग के अन्तर्गत बड़े व्यवसायी या फिर ऐसे उच्च पदासीन व्यक्ति आते हैं जिनकी आय के कई स्रोत हैं। यही वह वर्ग है जो बड़े पैमाने पर पाश्चात्य

वस्तुओं और पाश्चात्य संस्कृति का आयात कर रहा है। शेष सब उसकी नकल करने में लगे हैं।

सामाजिक अवमूल्यन की प्रक्रिया में मीडिया की भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार का अश्लील मनोरंजन हमारी फिल्में प्रस्तुत कर रही हैं, वह चिन्ता का विषय है। टेलीविजन मनोरंजन के नाम पर सेक्स, हिंसा और अपराध से भरपूर सीरियल दर्शकों के सामने परोस रहा है। प्राइवेट चैनलों की तो बात ही छोड़िए, दूरदर्शन के पचास प्रतिशत कार्यक्रम फिल्मों पर आधारित होते हैं। दूरदर्शन के प्रभाव से हमारी किशोर और युवा पीढ़ी की मानसिकता किस प्रकार प्रभावित हो रही है, यह सच्चाई सरकार और सभी प्राइवेट चैनलों के मालिक जानते हैं, परन्तु उनकी निगाह उस पैसे पर है जो दूरदर्शन पर दिखाये जाने वाले विज्ञापनों से आता है। आरम्भ में रेडियो और बाद में दूरदर्शन 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' का उद्देश्य लेकर चला था, परन्तु आज बड़े औद्योगिक घराने इसका प्रयोग उपभोक्ता संस्कृति फैलाने के लिए कर रहे हैं। दर्शकों के मन में अनावश्यक जरूरतें जगा कर अपना माल बेचना और फिर नयी जरूरतें पैदा करना इसका उद्देश्य है। समाचारपत्र (मुख्य रूप से अंग्रेजी के) प्रसाधनों, आभूषणों, घड़ियों, महंगे जूतों, परिधानों, होटलों, सैरगाहों और कारों पर विशेष सामग्री हर सप्ताह छापते हैं। कारों की चमकदार तस्वीरें देखिए, उनके गुणों का अध्ययन कीजिए और महंगी से महंगी कार ख़रीदने का सपना देखिए। सपने को सच में बदलने के लिए बैंक आफ अमेरिका, सिटी बैंक, कारों के व्यापारी और फाइनेंस कम्पनियां हाज़िर हैं। बैंक में जाइए, उधार लीजिए और नई कार में बैठकर घर जाइए। यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि भारत जैसे ग़रीब देश में कारों की इतनी बड़ी मंडी है।

तकनीकी विकास और भारी पैमाने पर औद्योगीकरण ने एक ओर पर्यावरण को दूषित किया है दूसरी ओर औद्योगिक महानगरों में निरन्तर बढ़ती आबादी ने आवास और दूसरी मूलभूत आवश्यकताओं की आपूर्ति की विकट समस्या को जन्म दिया है। उद्योग शहरों में केन्द्रित हैं इसलिए गांवों के लोग शहरों में आकर बस रहे हैं। कुटीर उद्योगों का विकास देहातों में हो सकता था, परन्तु उसमें सरकार की अधिक रुचि नहीं है। केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों ने किसानों की ज़मीनें खरीद कर विशाल पैमाने पर कालोनिया बसाई हैं। इन कालोनियों में जरूरतमंद लोगों ने तो फ्लैट और मकान ख़रीदे ही हैं जिनको ज़रूरत नहीं थी उन्होंने भी खरीद लिये हैं। उपभोक्ता संस्कृति के प्रभाव से मनुष्य की भूख बहुत बढ़ गई है। संयुक्त परिवार टूटने के बाद से परिवार की हर इकाई को अलग मकान चाहिए। जिन्हें नहीं चाहिए वे सस्ते में फ्लैट खरीद कर महंगे दामों में बेच कर पैसा कमा रहे हैं। अचल सम्पत्ति के क्रय-विक्रय कराने वाले दलालों की एक बहुत बड़ी जमात इस बीच खड़ी हो गई है। बड़े-बड़े भवन-निर्माता भी कालोनियां बना रहे हैं। उधर किसानों की मानसिकता में अभूतपूर्व बदलाव आ गया है। ज़मीनों (जो अधिकतर बंजर थीं) के एवज़ में उन्हें बहुत पैसा मिला है इसलिए वे शानशौकत का जीवन जीने लगे हैं। गांवों में कारें, कीमती घड़ियां, महंगे परिधान और दूसरे शौक के उपकरण आ गये हैं। महानगरों के समीप के देहातों में घरों में कारखाने खुल गये हैं। किराये से अच्छी-खासी रकम मिल जाने और सरकारी मुआवज़े का पैसा घर में आ जाने के कारण देहात के युवक कामधंधे में रुचि नहीं लेते। बहुत से युवक नशे की चपेट में आ गये हैं। असामाजिक तत्वों ने गांवों में जाल फैलाना शुरू कर दिया है। ये गांव औद्योगिक स्लमों में तबदील हो गये हैं। गांव का आपसी भाई-चारा नष्ट हो रहा है। आबादी कई गुना बढ़ गई है। स्लमों में शहरों से अधिक गंदगी और प्रदूषण है।

टेलीविजन के कारण परिवार के सदस्यों के बीच में संवाद कम हो गया है। विज्ञापनों का प्रभाव मध्यवर्ग पर हावी हो गया है। परिवार के भीतर की हंसी-खुशी, गीत-संगीत, प्यार का गुनगुनापन-जैसे सब कुछ किसी ने हर लिया है। परिवार के सदस्य आपस में बात करते हैं तो टेलीविजन की भ्रष्ट भाषा बोलते हैं। टेलीविजन के प्रभाव से बच्चे आक्रामक हो गये हैं, किशोर और युवा उद्दण्ड और जिद्दी। कर्तव्य की भावना से शून्य युवा अधिकार चाहते हैं। अधिकारों का अर्थ उनके लिए माता-पिता से पैसा ऐंठना, महंगे वस्त्र और जूते पहनना और अपने लिए अच्छे-खासे जेब खर्च की मांग करना है चाहे परिवार की हैसियत इसके अनुकूल हो। पढ़ाई-लिखाई की उन्हें चिन्ता नहीं है। उनके शौक हैं- लड़कियों से दोस्ती करना, उन्हें घुमाना-फिराना खिलाना-पिलाना और भेंट देना वगैरह। घर में अगर कार है तो लड़का लड़-झगड़ कर उसे हथिया लेता है। माता-पिता चाहे बस से काम पर जायें। उच्चवर्ग के युवक कमर

सेलुलर फोन और पेजर लटका कर लड़कियों पर रौब गालिब करने हैं। मध्यवर्ग के लड़के भी वैसा ही करना चाहते हैं इसलिए माता-पिता पर इसके लिए दबाव बनाये रखते हैं। लड़कियां सिने-अभिनेत्रियों अथवा टी.वी. सीरियलों की नायिकाओं जैसी दिखना चाहती हैं इसलिए उनके खर्चे हैं-ब्यूटी सेलून जाकर अपना व्यक्तित्व निखारना, ऐसे वस्त्र पहनना जो शरीर को ढकें कम दिखायें ज्यादा, विभिन्न प्रकार की पोशाकें, आभूषण और घड़ियां और परफ्यूम खरीदना। वे साथ की लड़कियों के सामने डंके की चोट अपने पुरुष मित्रों का बखान करती हैं और जिन्होंने उनके जैसी उपलब्धियां हासिल नहीं की उन्हें बेवकूफ और पिछड़ा हुआ समझती हैं।

महिलाओं और पुरुष मित्रों के मामले में आधुनिक भाई-बहन आपस में उदारता से पेश आते हैं। वे माता-पिता को एक दूसरे का राज़ नहीं बताते। यदि वे किसी प्रकार जान जायें तो दोनों मिलकर उन्हें नीचा दिखाने का पूरा प्रयत्न करते हैं। माता-पिता पर दोहरी मार पड़ती है। पुरातनपंथी हों तो घर में कलह और तनाव निरन्तर बना रहता है। आधुनिक होने का ढोंग करें तो बच्चों के मित्र घर पर धावा मारने लगते हैं और घर लड़के-लड़कियों के हुड़दंग का अड्डा बन जाता है। घर के साथ-साथ उनकी बाहरी ज़िन्दगी उसी तरह चलती रहती है। माता-पिता निरन्तर अकेला और असहाय अनुभव करते रहते हैं।

युवकों की तुलना में युवतियों के माता - पिता अधिक चिन्ताग्रस्त रहते हैं। माताएं प्राय: कहती सुनी जाती हैं- ''भगवान से मनाते हैं कि शादी होने तक सब ठीक-ठाक चलता जाये। जवान लड़की का पैर कहीं ऊंचा-नीचा पड़ जाये तो माता-पिता कहीं के नहीं रहते।'' परन्तु लड़कियों को इसकी चिन्ता नहीं है। गर्भ का चिकित्सकीय समापन अधिनियम 1971 (Medical Termination of Pregnancy Act 1971) उनकी सहायता करता है। उक्त अधिनियम की कानूनी व्याख्या जो कुछ भी हो, निजी क्लिनिक और अस्पताल पैसा लेकर इस समस्या का समाधान कर देते हैं। घर के बुजुर्गों की स्थिति माता-पिता से भी बदतर है। अति आधुनिकता उनसे देखी नहीं जाती हालांकि वे पढ़े-लिखे हैं। बोले बिना उनसे रहा नहीं जाता और बोलने पर बेटा-बहू मना करते हैं कि ये जिम्मेदारियां उनकी हैं। दादा-दादी की जिम्मेदारियां बेटों तक थीं। अब बेटे अपने बेटों को देखेंगे। वे क्यों चिन्ता करते हैं? अपने ही घर में मुसाफ़िर बने हुए अवकाशप्राप्त माता-पिता अपमानित और अकेला अनुभव करते हैं।

बेटा-बहू अकेलापन अनुभव न करते हों, ऐसा नहीं है। विवाह के पश्चात सन्तान माता-पिता के साथ नहीं रहना चाहती चाहे उनका व्यवहार बहू के प्रति कितना भी उदार और स्नेह से भरा क्यों न हो। अकेले, आज़ाद और अपनी मर्ज़ी का मालिक होने की चाहत उन्हें माता-पिता से दूर ले जाती है। आर्थिक आधार अच्छा न होने पर वे पैतृक घर में भी अलग चूल्हा जलाने की इच्छा रखते हैं। अलग रहते हुए वे ऐसी विषम स्थितियां पैदा करते हैं जिनसे माता-पिता के मर्म पर चोट लगे। उदाहरण के लिए बच्चों को दादा-दादी से दूर रखना, सामने पड़ जाने पर दूसरी ओर मुंह करके निकल जाना, उनके मित्रों को न पहचानना। पता भी चल जाये कि दोनों में से कोई एक या दोनों अस्वस्थ हैं तो भी हालचाल पूछने न आना आदि। साथ ही बेटा-बहू इस प्रयत्न में रहते हैं कि किसी दूसरे बड़े शहर में नौकरी मिल जाये तो प्रस्थान कर जायें अथवा विदेश चले जायें। माता-पिता का मकान है। गाड़ी और रख-रखाव भी उनका है। फिर भी बेटा-बहू की नाराज़गी का हिसाब नहीं मिलता। साथ रहें तो बहुएं मनहूसियत बिखेरती रहती हैं, और बेटे मौनी बाबा का स्वांग धारण किये रहते हैं। अलग रहें तो भी मुक्ति नहीं। अपने ही घर में प्रतिद्वंद्विता झेलते मध्यवर्ग और उच्च मध्यवर्ग के माता-पिता पहले से ज्यादा अकेले हैं। लड़के-लड़कियां मन में निश्चिन्त रहते हैं कि माता-पिता के बाद सम्पत्ति उन्हीं को मिलेगी चाहे वे उनसे कैसा भी व्यवहार क्यों न करें। भारतीय माता-पिता की मानसिकता भी उन्हीं के अनुकूल बैठती है। कपूत है तो क्या हुआ पूत तो है। मृत्यु के बाद तो इसी को सब करना है। मृत्यु के बाद की चिन्ता में वे जीवन को स्वाहा किये रहते हैं।

एक वर्ग उन अधेड़ अथवा वृद्ध माता-पिता का है जिनकी सन्तानें विदेशों में जाकर बस गई है और जिनकी भारत वापसी की कोई संभावना नहीं है। वहां पैसा कमाकर वे यहां के महानगरों में माता-पिता के लिए बड़ा-सा बंगला (आजकल दक्षिण दिल्ली में फ्लैट) खरीद देते हैं। बंगले में सुख-सुविधा के सारे साधन एकत्र कर देते हैं। ज़रूरत पड़ने पर वहां से पैसा भेज देते हैं। साल-दो साल में एक बार

पर वहां से पैसा भेज देते हैं। साल-दो साल में एक बार आकर मिल जाते हैं। न आना हो तो उन्हें बुला लेते हैं। धीरे-धीरे यह सिलसिला भी कमज़ोर हो जाता है। पत्रों और तस्वीरों के सहारे जीने वाले ये बूढ़े बाहर अपनी सन्तान की तारीफें करते हैं, परन्तु मन के अन्दर बहुत अकेले और भयभीत होते हैं। वे अपने नौकरों तक से डरते हैं कि पैसे के लालच में कहीं उन्हें मार न डालें अथवा कहीं चोरों को न न्योत आयें।

अविवाहित, विधुर अथवा, परित्यक्त, परिवार न होने अथवा परिवार टूट जाने की खिन्नता मन में लिए हुए परिवारों के साथ रहते हुए भी अकेले होते हैं। मध्य और उच्च मध्यवर्ग में एक पीढ़ी ऐसी भी है जिसने छुटपन में माता-पिता से मार खाई थी और आज अपने पुत्रों से मात खा रहे हैं। इनके मन का अनकहा दुख सबसे बड़ा है। इनमें से अधिकांश ऊंचे पदों पर आसीन हैं और उनके पुत्र सामाजिक और आर्थिक हैसियत में उनके सामने कुछ भी नहीं हैं।

अकेले रहने वाले बुजुर्ग धीरे-धीरे स्थायी रूप से उदास रहने लगते हैं। तीज-त्यौहारों पर अपना अकेलापन उन्हें अत्यन्त पीड़ा पहुंचाता है। रिश्तेदार (और अपने बच्चे भी) उनका भावनात्मक शोषण करते हैं। कभी-कभार बुज़ुर्गों से मिलने आने के पीछे उनका उद्देश्य होता है- खाना-पीना, समय-समय पर आशीर्वाद के बहाने उपहार और पैसे लेते रहना अथवा उधार के बहाने रुपया मांगना या अपनी आर्थिक कठिनाइयों का ब्यौरा पेश करते रहना ताकि वे स्वयं ही कुछ दे दें। वृद्ध भी उनकी मंशा को समझ रहे होते हैं, फिर भी उनके साथ की कीमत उन्हें किसी न किसी रूप में चुकानी ही पड़ती है। बीमार होने पर वे मुश्किल में पड़ जाते हैं। कई दिन तक किसी पड़ोसी को पता नहीं चलता। रिश्तेदार एकाध चक्कर लगाने के बाद व्यस्तता का बहाना ढूंढ लेते हैं। नौकर (यदि हों तो) अलग से उनका शोषण करने लग जाते हैं। वे अपनी मर्ज़ी के मालिक बन जाते हैं। पड़ोसी नर्स और डाक्टर की व्यवस्था कर सकते हैं, परन्तु पड़ोसियों से अधिक सम्बन्ध नहीं रहता। फिर पड़ोसी भी तो आधुनिकता के मारे हुए हैं। चूहा-दौड़ में पिछड़ना कौन चाहता है। किसी सज्जन परिचित ने अस्पताल अथवा नर्सिंग होम पहुंचा दिया, या घर पर इलाज की व्यवस्था करने की पहल कर भी दी तो इलाज कैसा हो रहा है, इस पर निगाह कौन रखेगा? और बीमार व्यक्ति की असहाय अवस्था और उस पर उसके अकेलेपन को कौन बांटेगा? बीमारी साधारण हो और जल्दी ठीक हो जाये तो कई बार धाकड़ किस्म के वृद्ध अपनी सम्पत्ति का कुछ हिस्सा बेच कर आराम से रहने की बात सोचने लगते हैं और अपने इरादे को कार्यान्वित करने की चेष्टा भी करते हैं, परन्तु तब उनके लड़के आविर्भूत हो जाते हैं और उनके इरादों पर पानी फेर देते हैं। माता पिता में से यदि पिता का देहान्त हो गया हो तो मां चाहे अथवा न चाहे, पुत्र मकान, ज़मीन आदि बेचकर मां के चरणों की सेवा करने के लिए उसे अपने घर ले आते हैं। इसके बाद के हालात केवल मां ही बता सकती है। यदि वह अनपढ़ अथवा अर्ध-शिक्षित हुई तब तो बता कर अपना जी हल्का कर लेगी, परन्तु यदि पढ़ी-लिखी हुई तो बाहर लड़कों-बहुओं के गुण गायेगी और अकेले में दिवंगत पति की तस्वीर अथवा देव-प्रतिमा के सामने बैठकर आंसू बहायेगी।

भरपूर जीवन जीने की ललक का आयु से कोई सम्बन्ध नहीं है। हर व्यक्ति चाहता है कि हंसी-खुशी के माहौल में रहे। उसकी शामें दोस्तों की बतकही से गूंजती रहें, सैर-सपाटे और यात्राएं हों, हंसी-ठहाके हों। ज़्यादा नहीं तो कोई एक घर ऐसा हो जहां बैठकर अपनेपन के बीच बेतकल्लुफी से बातें की जा सकें। सांस्कृतिक उत्सव और त्यौहार मिल-जुल कर मना सकें। अगर कभी बीमार पड़े, तो कोई यह विश्वास मन में जगाये कि "जल्दी से अच्छे हो जाओ। तुम्हारे बिना गप्प-गोष्ठी सूनी पड़ी है।" कोई इतना अकेला और असहाय न हो कि उसे मनोचिकित्सक के पास जाना पड़े अथवा आत्महत्या की बात सोचनी पड़े।

अकेलेपन और वार्धक्य को ध्यान में रखकर कई प्रकार के क्लब और सांस्कृतिक संगठन बनाये गये हैं। प्रौढ़ लोगों ने मिलकर सीनियर सिटीज़न्स सोसाइटियां भी बनाई हैं परन्तु वे सब प्रयास अधूरे हैं। केवल सांस्कृतिक उत्सव मना लेना अथवा मौज-मस्ती के लिए एक जगह कभी-कभार इकट्ठे हो लेना ही पर्याप्त नहीं है, जिन्दगी के कुछ दूसरे पहलू भी हैं। उन्हें भी दृष्टि में रख कर नये प्रयास की आवश्यकता है। महानगरों के आपाधापी से भरे हुए ज़ीवन में ज़रूरत है समाज के भीतर अपने एक समाज़ की जो दोस्ती की आधार-भूमि पर टिका हुआ, पूर्वाग्रहों से मुक्त समाज हो।

सी- 4/86/2, एस.डी.ए (हौज़ ख़ास), नई दिल्ली - 16

डॉ. गुरचरण सिंह

नरेन्द्र मोहन की लम्बी कविताएं :

आग का बहुआयामी रचनात्मक उपयोग

धर्म ने हिंसा तथा व्यक्ति-व्यक्ति के बीच भेद का सदा विरोध किया है, पर आज विभेद की आग फैलाने वाले और बन्दूक की आग से लोगों को लाशों में बदलने वाले ये लोग धार्मिक स्थलों में ही सुरक्षा पा रहे हैं। इन लोगों के कारण ही आम आदमी का धर्म से विश्वास उठता जा रहा है।

जब भी रचनाकार वर्तमान से अतीत की गहरी अंधेरी कन्दराओं में झांकने का, वहां कुछ पाने का या खुद को प्रकाशित करने का प्रयास करता है तो वह अतीत की उन घटनाओं के रू-ब-रू होता है, जो इतिहास के पन्नों में दर्ज हैं। ये बीते कल की घटनाएं आने वाले कल को बेहतर बना सकती हैं, यदि हम बीते कल की घटनाओं के साथ जुड़े कारणों तथा उनके परिणामों को पहचानने तथा समझने की कोशिश करें। नरेन्द्र मोहन की तीनों लम्बी कविताओं- 'एक अग्निकांड जगहें बदलता', 'एक अदद सपने के लिए', और 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' में इतिहास है, इतिहास में दर्ज घटनाएं हैं जिनके चित्रण से कवि व्यक्ति के वर्तमान को चेताना चाहता है।

इन कविताओं में वर्तमान से अतीत और अतीत से वर्तमान की त्रासद यात्रा के माध्यम से कवि पाठक को उनके तीखे, तिक्त तथा त्रासद अनुभवों के सामने खड़ा करता है। तीसरी कविता- 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' मे इतिहास उतना स्पष्ट नहीं है जितना कि पहली दो लम्बी कविताओं में। पर इतिहास है तीनों कविताओं में ही- अन्तर सिर्फ मात्रा का है। साम्प्रदायिक दंगे, मार-काट, अग्निकांड-ये कवि के भोगे हुए अनुभव हैं जो तीनों लम्बी कविताओं में व्यक्त हुए हैं। दूसरी कविता- 'एक अदद सपने के लिए' में इसे आतंकप्रद स्थितियों के सन्दर्भ में उठाया गया है। इस सन्दर्भ के पीछे भी धार्मिक या साम्प्रदायिक भावना काम करती दिखायी गयी है। पहली कविता देश विभाजन की विभीषिका तथा साम्प्रदायिक दंगों की अमानवीय क्रूर घटनाओं को हमारे सामने प्रस्तुत करती है तो तीसरी कविता धार्मिक दीवारों को हमारे सामने उजागर करती है। इस इतिहास को सुचित्रा और सलमान बड़ी तल्खी और तीव्रता से झेलते दिखाये गये हैं। अतीत में जो हुआ वह आज भी हो सकता है, इस बोध के कारण, वे दोनों खुद को उसे सहने तथा झेलने के लिए तत्पर पाते हैं। प्रेम की तीव्र अनुभूति यदि सुचित्रा को मुक्ति और स्वाधीनता देती है तो उसका परिणाम भयाक्रांत भी करता है। इस आतंक तथा भय को वह अनुभव करती है। उसके इस आतंक तथा भय के पीछे इतिहास से जुड़े एक लम्बे दौर के अनुभव क्रियाशील हैं।

साम्प्रदायिक तनावों को हम जहां भी उभरते हुए देखते हैं, वहां हम आग को भी अनुभव करते हैं। आग जो जला देती है, राख कर देती है। तीनों कविताओं का सम्बन्ध चूंकि साम्प्रदायिकता से है, इसलिए तीनों में आग है- आग के कई रूप हैं। इन तीनों कविताओं में आग का प्रतीक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह गहरे अर्थ को लिए हुए है। आग के कई रूप और प्रकार इन कविताओं में देखने को मिलते हैं। 'आग' शब्द का प्रयोग कवि बड़ी सतर्कता से करता है, क्योंकि यह आग ही इन कविताओं में निहित त्रासदी को व्यक्त कर सकती है।

हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक वैमनस्य की आग में धधकते पंजाब से यूसुफ किस तरह घायल होकर भागता है- शरणार्थियों की दयनीय स्थिति को देखता है- इसे एक दृश्य के रूप में नहीं देखा जा सकता, यह मानव के उस रूप को हमारे सामने उभारता है जो अमानवीय, वीभत्स तथा क्रूर है। यूसुफ राष्ट्रवादी था। देशभक्ति का भाव उसके मन में हिलोरें ले रहा था। वह विभाजन की बात को सुन भी नहीं सकता था। जब यह सच उसके सामने प्रकट होता है तब वह 'तकसीम के नाम पर जमा और जर्ब करने लगा था/ किसी चीज को दो फांकों में बँटा देख बौखलाने लगा था।'

उसकी इस बौखलाहट के पीछे विभाजन के कारण उत्पन्न होने वाले दृश्य थे जहां मारकाट थी और आग थी।

'पेड़ को कटते और टूटते हुए नहीं समूल जलते हुए देखा था उसने/ अपनी आंखों के ठीक सामने।'

'भरे-पूरे, हरे-भरे, फलों से लदे पेड़ को/ लपटों में जलते-झुलसते' वह देखता है।

विभाजन का निर्णय ही इस अग्निकांड का कारण था जिसे यूसुफ तथा उस जैसे अनेक संवेदनशील लोगों ने अनुभव कर लिया था। जिस आजादी के सपने यूसुफ ने देखे थे, इस अग्निकांड से वे सब खत्म हो गये। हरे-भरे फलों से लदे पेड़ को वह हर कीमत पर बचा लेना चाहता था। उसकी रक्षा तथा उसका विकास ही उसका ध्येय था, पर आग किसी को नहीं छोड़ती चाहे वह हरा-भरा पेड़ हो या ठूंठ।

विभाजन का निर्णय ही इस अग्निकांड का कारण था जिसे यूसुफ तथा उस जैसे अनेक संवेदनशील लोगों ने अनुभव कर लिया था। जिस आजादी के सपने यूसुफ ने देखे थे, इस अग्निकांड से वे सब खत्म हो गये। हरे-भरे फलों से लदे पेड़ को वह हर कीमत पर बचा लेना चाहता था। उसकी रक्षा तथा उसका विकास ही उसका ध्येय था, पर आग किसी को नहीं छोड़ती चाहे वह हरा-भरा पेड़ हो या ठूंठ।

'दहकता हुआ लावा सारे देश में फैल गया था' साम्प्रदायिकता की आग सीमित नहीं रहती। जंगल की आग की तरह वह तेजी से फैलती है। इसे फैलाने के पीछे धार्मिक उन्माद और संकीर्णता होती है तथा व्यक्तिगत या राजनीतिक चालें होती हैं। और यूसुफ जैसा संवेदनशील व्यक्ति- 'फटी-फटी आंखों चारों तरफ लावा फैलता देखता रहा था।' आग को कवि ने यहां लावा के रूप में प्रयुक्त किया है। लावा स्थिति की भयावहता तथा विकरालता को उभारता है। स्थितियां इतनी विकट हो गयी हैं कि सभी कुछ अग्नि का ही रूप हो गया है- 'बाहर आग लगी थी और वह बदहवास खड़ा था चौराहे पर।' यूसुफ विस्मित तथा स्तब्ध है- इसी कारण खड़ा है। लोग उस आग से खुद को बचाने के लिए सुरक्षित स्थान की तरफ भाग रहे हैं- अपना घर-परिवार, सगे-सम्बन्धी, अपनी ध न-सम्पत्ति छोड़ कर। इस आग को बुझाने में यूसुफ खुद को असमर्थ पा रहा है। इस आग के पीछे वैचारिक संकीर्णता तथा धर्मांधता काम कर रही है- 'तभी किसी ने उसे कौम का दुश्मन मान/छुरा घोंप दिया था और वह बुरी तरह/ तड़पता तिलमिलाता रहा था।' यह प्रसंग इस तथ्य को उभारता है कि इस प्रकार की स्थितियों में व्यक्ति अपने पराये, भले-बुरे की समझ खो बैठता है। इसी कारण निरपराध, भोले-भाले लोग मारे जाते हैं। यूसुफ ने भला किसी का क्या बिगाड़ा था, पर धर्मांधता की इस आग में - 'उसके बीवी-बच्चों को कत्ल कर दिया' गया था। यह आग केवल लाहौर में नहीं थी। जब वह अमृतसर पहुंचता है तो वहां भी वह देखता है- 'जगह-जगह गलियों-बाजारों में आग धूं-धूं कर जल रही थी।' लाहौर की आग के पीछे मुसलमानों का गुस्सा है तो अमृतसर की आग के पीछे हिन्दुओं का। पेड़ को जलते सिर्फ यूसुफ ने ही नहीं देखा था, बल्कि विष्णु ने भी देखा था। दोनों विस्मित ही नहीं, भयभीत भी हैं-'हर सुनसान और अन्धेरी जगह उसे हिलते-दिखते हड्डियों के ढांचे/पानी में लपटें।' यह अग्निकांड यूसुफ से चिपक गया है। 'पेड़ स्याह क्यों दिखता है/पूछता है विष्णु।' यूसुफ और विष्णु राष्ट्रवादी शक्तियों के प्रतीक हैं। उनका दुख तथा पीड़ा निज तक सीमित नहीं है, बल्कि सभी की है। इस अग्निकांड से बचने के लिए उन दोनों को पागलों का अभिनय करना पड़ता है, क्योंकि वे साम्प्रदायिक उन्माद में पागल लोगों की भीड़ को अपनी तरफ बढ़ता हुआ देखते हैं।

दूसरी लम्बी कविता- 'एक अदद सपने के लिए' में भी कवि सैंतीस सालों से डरा-सहमा देख रहा है- 'सामने जलता हुआ मकान/ जिसमें बसते थे हिन्दू, सिख मुसलमान।' मकान का जलना साम्प्रदायिक वैमनस्य को उभारता है तो 'जिसमें बसते थे हिन्दू, सिख, मुसलमान' आपसी सौहार्द का प्रतीक है। पर सौहार्द का भाव अब नहीं रहा है। धार्मिक संकीर्णता ने लोगों के बीच गहरी खाई खोद दी है। आजादी के साथ ही वह साम्प्रदायिक तनाव को अनुभव कर रहा है जो समय-समय पर विकराल रूप धारण कर लेता है। वह मकान को कभी यहां तो कभी वहां जलते हुए देखता है। अग्निकांड जगहें बदल रहा है- 'चीखते चिल्लाते मार मारते/लोगों की आवाजें आ रही हैं मुझ तक/ तलवारें भाले और चाकू दिखते हैं चमचमाते गलियों में/लपटें रही हैं आकाश।' उसके पीछे कारण वही है। कवि पु

सोहार्द के भाव को पैदा करना चाहता है जिससे सभी सुख-शान्ति से रह सके और आग का यह खेल समाप्त हो सके।

समरजीत के पिता ने जिस आग को देखा था, वह साम्प्रदायिकता, धर्मांधता की आग से बिल्कुल अलग थी। उस आग का अनुभव भी अलग था। यह आग जलियां वाला कांड की थी जहां बड़े उद्देश्य को लेकर लोग इकट्ठा हुए थे। देश भक्ति तथा राष्ट्रवाद की भावना उन्हें वहां खींच लायी थी। पर समरजीत के पिता उस समय छोटे थे। उनके मन पर उस आग का लगभग वही प्रभाव पड़ा जो देश-विभाजन की आग का था। छोटा होने के कारण वे दोनों प्रकार की आग में भेद कर पाने में असमर्थ थे। जब बाद में वे विभाजन की आग के वीभत्स, क्रूर अनुभव से गुजरे तो यह आग स्वतः ही बचपन की आग के अनुभव के साथ जुड़ गयी। वे आज दोनों तरह की आग के अन्तर को जानते हैं। विभाजन की आग का उनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा है- 'उनके होंठ सुन्न हैं/ वे गूंगे हो चुके हैं/ और तेज कदमों से घूमते रहते हैं छत पर।' यह मानसिक विक्षिप्तता साम्प्रदायिक नरसंहार और अग्निकांड के कारण ही है। स्थिति में निरन्तर गिरावट आयी है। लोग अधिक क्रूर और स्वार्थी होते जा रहे हैं। अब स्थिति इतनी बिगड़ गयी है कि बीच चौराहे में कभी भी लाशें गिर सकती है और बन्दूक की नली से आग बरस सकती है। 'आदमी कब लाश बन जाता है/लाश कब आदमी' इस पर लम्बी बहसें की जा सकती हैं, पर उसके रहस्य को नहीं पाया जा सकता।

गोली समरजीत के घुटने में लगी है और गोली चलाने वाला उसका हमदम, अपना दोस्त सतवन्त है। कवि यहां रिश्तों की टूटन तथा पनप रहे अविश्वास के भाव को व्यक्त करना चाहता है। कौन कब जान का दुश्मन बन जाये आज के माहौल में कहा नहीं जा सकता। आत्मीयता, प्रेम तथा स्नेह का भाव आज व्यक्ति में नज़र नहीं आता। इसके कारणों को समझने की आवश्यकता है। संकीर्ण विचारों तथा सोच ने व्यक्ति के मन में ऐसी आग भर दी है कि वह अपना-पराया अच्छा-बुरा सोचने के योग्य नहीं रहा है। लोग एक जुनून तथा पागलपन में जी रहे हैं।

'सतवन्त ने गुलाबों की खेती छोड़/गोलियां चलानी क्यों शुरू कर दी हैं?' यह समझ के बाहर है। व्यक्ति सहसा इतना क्रूर और निर्दयी क्यों हो जाता है? क्यों वह आग से खेलने लगता है, समझना सरल नहीं। कवि यहां उस व्यक्ति के रूप को चित्रित कर रहा है जो गुलाबों की खेती करता था अर्थात जो सौन्दर्य-प्रेमी था, खुशबू बिखेरना तथा लोगों को आनंदित करना जिसका कर्म था, जो संवेदनशील तथा भावुक था। जब ऐसा व्यक्ति मरने-मारने पर आमादा हो जाता है तो स्थिति की गम्भीरता उभरती है। इसे गहराई से समझने की जरूरत है, तभी इस आग को फैलने से रोका जा सकता है।

अग्निकांडों को लोग धर्म के साथ जोड़ देते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि लोगों की धार्मिक भावनाओं के साथ आसानी से खेला जा सकता है। सतवन्त बन्दूक को 'घुमा रहा है धर्मचक्र के एवज में....../बीच चौराहे में कत्ल करता है वह/ और उतर जाता है जादुई सीढ़ियों से तलघर में सुरक्षित।'

अमृतसर, पानीपत, अलीगढ़, बेलछी- कवि कुछ नगरों के नाम गिनाता है जहां साम्प्रदायिकता की आग ने लोगों को झुलसा दिया है। कवि इस अग्निकांड को वर्षों से जगहें बदलते हुए देख रहा है। उसके पीछे की शक्तियां तथा परिणाम वही हैं। कवि जानता है कि इन घटनाओं को दर्ज करने से, इतिहास का रूप देने से समस्या हल नहीं हो सकती। 'विस्फोट, विस्फोट ......विस्फोट' इस विस्फोट की दहशत फैलाने वाली आवाज तथा उसकी आग से लोगों को बचाने की आवश्यकता है।

साम्प्रदायिक तनाव के कारण भड़की आग का चित्रण तीसरी कविता 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' में भी है- 'पतंगों के पीछे भागते डोर लूटते लड़के/ और अचानक गोलियां चल गयीं दनादन/ भगदड़-मच गयी।' सलमान का यह अनुभव समरजीत के पिता के अनुभव की तरह है। उन्होंने जलियांवाला बाग में गोली चलते देखी थी तो सलमान ने गली-बाजारों में। समरजीत के पिता की तरह सलमान भी अतीत के अन्धेरे में सीढ़िया उतरता है, वारदातें घटनाएं उभरती हैं। साम्प्रदायिक तनाव, गोलियों की आवाज और चारों तरफ मारकाट और आग। इस आग से वह पीछा नहीं छुड़ा पाता। बचपन में उसने निरपराध बच्चों को गोलियों का शिकार होते, लाशों में बदलते देखा है। ये दृश्य ही उसके चित्रों, रचनाओं में उभरते हैं, मुक्ति और स्वाधीनता की कामना लिए हुए- 'ये खरगोश चित्र सहमे हुए क्यों हैं,/ क्या इनमें वे खरगोश शामिल हो गये हैं।'

सलमान इस आग की जलन तथा उसकी दहशत को अनुभव करता है। 'कभी लाल-लाल चकत्ते उभर आते/ कभी गाढ़ी लहू की लकीर/कभी उड़ता हुआ जहाज आग की लपटों में टुकड़े-टुकड़े होता/कभी आग से झुलसे हुए बच्चे आखिरी सांसें गिनते/कभी आग लगती दिखती कुओं में, तालाबों में, नदियों में, बसों में, गाड़ियों में, भवनों में/गोलियों से दाग दिये जाते तीस-चालीस इधर/मरते हैं पचास सौ उधर।' कवि फंतासी के द्वारा साम्प्रदायिक दंगों के दौरान स्थिति का भयावह, दहशत भरा, क्रूर, अमानवीय चित्र उभारना चाहता है। पानी जिसका धर्म आग को बुझाना है, कवि को लगता है उसमें भी आग लगी हुई है। 'इधर -उधर' शब्दों के प्रयोग द्वारा वह विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच के टकराव को उभारता है। इस आग में भोले-निरपराध बच्चे भी झुलस रहे हैं। कवि स्पष्ट करता है कि इस आग से कोई नहीं बच सकता।

सुचित्रा जानती है कि सलमान से सम्बन्ध स्थापित करने से साम्प्रदायिक उन्माद में कुछ भी हो सकता है। उसी के दृश्य उसके सामने उभरते हैं। ऐसा होगा, इसका आधार इतिहास है, सुचित्रा का अतीत है। वह अखबार वाली लड़की है। ऐसी घटनाओं को उसने अखबार के पन्नों में दर्ज किया है। वह इस प्रकार की सम्भावनाओं को नकार नहीं सकती। सलमान भी इन स्थितियों से अनभिज्ञ नहीं है। साम्प्रदायिक दंगों तथा उसके परिणामों को वह भी जानता है।

सुचित्रा तथा सलमान भावी संकट के कारण भयभीत हैं- 'कौन हैं ये/मेरी टोह लेते अन्धेरे में/मेरा पीछा करते/ मैं जब होती सलमान के साथ।' अन्धेरे में टोह लेती, पीछा करती, साम्प्रदायिक ताकतें हैं जो सलमान तथा सुचित्रा को साथ-साथ नहीं देख सकतीं। पीछा करते लोग भावी घटनाओं को आधार बिन्दु प्रदान करते हैं। हत्या और अग्निकांड के दृश्य उभरने लगते हैं। 'हर छाया के हाथ में झूलता दिखता/कोई छुरा, लाठी या पत्थर।' इस प्रकार के दृश्य हृदय में कंपकंपी पैदा करते हैं। उन्हें भय इस बात का है कि उन दोनों के साथ कितने निरपराध भी आग की लपेट में आ जायेंगे। इसी कारण वह 'छायाओं से घिरी-घिरी/ कंपकंपा जाती है।' सुचित्रा तथा सलमान इन घटनाओं से खुद को कल्पना की दुनिया में विचरण कर ही मुक्त कर सकते हैं। शायद इसी कारण सुचित्रा की कविता तथा सलमान के चित्रों में नीला घोड़ा उभरता है और उन्हें लगता है कि उन्होंने सभी कुछ पा लिया है। पर कल्पना लोक में विचरण क्षणिक सुख ही प्रदान कर सकता है। वे पुनः वास्तविकता के धरातल पर उतर आते हैं- 'तुमने ऐसा चित्र क्यों बनाया/ लड़की के लपटों में घिरे होने का।' सुचित्रा सलमान से सवाल करती है। सलमान के पास इसका स्पष्ट कारण नहीं है। पर यह चित्र भी भावी घटनाओं को ही उभारता है। सुचित्रा उस चित्र को सहन नहीं कर सकती क्योंकि वह इस प्रकार के हादसों से गुजर चुकी है तथा उनकी भयावहता को जानती है। वह न तो आग में जलना चाहती है और न किसी को जलाना। उसका प्रयास सभी को उस आग से बचाना है। खुद जलकर या औरों को जलना देख कर वह कुछ प्राप्त नहीं कर सकती। न तो उसे सलमान मिलेगा और न ही वह औरों को नया रास्ता दिखा पायेगी। इससे उसकी रचना का प्रयोजन तथा रचनाकार का धर्म, उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर पायेगा।

सलमान का तर्क है कि ये हादसे जिंदगी का यथार्थ हैं- जिसे उसे चित्रित करना ही होगा- 'ये चित्र बनाये नहीं जाते/खुद बन जाते हैं जिंदगी के हादसों से गुजरते हुए/आदमकद लोगों को जिंदा जलाती आग/और जलने का जश्न मनाती खूंखार टोली/ और तमाशाई बने लोग/ हमारे आसपास/ रोजमर्रा की हकीकत।' जलने वाले लोग पीड़ा भोग रहे हैं, जलाने वाले लोग उन्हें झुलसते- तड़पते देख खुशियां मना रहे हैं, अन्य लोग चुपचाप खड़े तमाशा देख रहे हैं। उनके हृदय में इन वीभत्स दृश्यों को देखकर भी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। इन तीनों प्रकार के लोगों के हृदय को बदलने, उन्हें समझने तथा सही मार्ग पर लाने की आवश्यकता है। संवेदनशील व्यक्ति या रचनाकार तटस्थ दर्शक नहीं रह सकता। यही संवेदना वह तमाशाई बने लोगों में पैदा करना चाहता है। क्रूर, निर्दयी बने लोगों में वह कोमल भावनाओं को पैदा करना चाहता है जिससे समाज हत्याकांड तथा अग्निकांड से मुक्त हो सके। इन तीनों कविताओं के चरित्रों के साथ कवि के बचपन में घटित हादसे जुड़े हुए हैं- ये हादसे धीरे-धीरे तनाव को गहराते हैं- 'सलमान मुझे महसूस हुआ/ आग की लपटों में झुलसी हुई/ पेंटिंग की लड़की मैं हूं।' वह बिना किसी खरोंच के बाहर आना अर्थात मुक्त होना चाहती है- वह झुलसना और जलना नहीं चाहती।

'आग से झुलस गया था/मेरे चेहरे का दायां हिस्सा जिसका निशान तुम देख रहे हो।' साम्प्रदायिक दंगों का वह शिकार हो चुकी है। इसी कारण पेंटिंग की झुलसी लड़की उसे अतीत की घटनाओं के साथ जोड़ देती है। इसलिए वह चीखने लगती है- ' आग या आग के भ्रम में।' आग उसके लिए दहशत का कारण है।

साम्प्रदायिकता का रंग, उसका रूप एक ही है। अब भी वे जब क्रुद्ध भीड़ को देखते हैं तो अतीत के हादसों की भीड़ से उसे अलग नहीं कर पाते- 'हां ये वे ही हैं/इन्हे पहले भी देखा है कई बार/गलियों में, बाजारों में, चौराहों मे, आग लगाते, लोगों को जलाते।' तीनों लम्बी कविताओं में साम्प्रदायिकता की आग है जिससे देश के अलग-अलग हिस्से जल रहे हैं।

आग का एक और रूप भी है जिसका चित्रण इन लम्बी कविताओं में हुआ है, वह है- 'जोखिम की आग में जलने की तमन्ना।' इस आग को व्यक्ति अपनी इच्छा से स्वीकारता है, क्योंकि इसके पीछे देश-भक्ति, त्याग, बलिदान जैसे उदात्त भाव हैं। यह आग तथा उसकी पीड़ा व्यक्ति हंसते हुए झेलता है, क्योंकि वह जानता है कि उसका त्याग, बलिदान एक दिन रंग लायेगा तथा जीवन को बेहतर बनायेगा। इतिहास इस तरह की आग में जलने वालों को सम्मान की दृष्टि से देखता है और आने वाली पीढ़ी उसके चरण चिह्नों पर चलने की कामना मन में रखती है। यूसुफ के हृदय में ऐसी ही आग थी। इस आग को उसने स्वतन्त्रता सेनानियों के हृदय में भी देखा था।

'एक अदद सपने के लिए' में जलियांवाला बाग के हत्याकांड की ओर संकेत है जो देश भक्ति तथा आजादी के लिए जीवन का बलिदान देने वाले महापुरुषों के चरित्र को उभारता है। इसी के कन्ट्रास्टं में कवि साम्प्रदायिकता की आग को चित्रित करता है जिससे स्थिति गहरा सके तथा बिंब व्यक्ति के मानस को झकझोर सकें और सोचने-विचारने पर विवश कर सकें। कवि साम्प्रदायिक अग्नि का शमन कर पुनः देश भक्ति के भाव को पैदा करना चाहता है- 'अपने पिता की छाती/छलनी होते हुए देखी थी/जलियां वाला बाग के गोली कांड में।' यह आग अंग्रेजों द्वारा स्वतन्त्रता संग्राम को दबाने के लिए लगायी गयी थी। लोग बलिदान देने खुद आगे आये थे। उनकी रगों में देश भक्ति का जोश (आग) था। समरजीत के पितामह इस कांड में शहीद हुए थे। उसके पिता ने पांच वर्ष की छोटी आयु में ही इस नरसंहार को देखा था। वह 'गोलियों की बौछार में लेटा रहा था/झाड़ी की ओट में सुबकते हुए/उसके पास से सरसराती निकल गयी थी गोलियां।' समरजीत के पिता इस अग्निकांड से मुक्त नहीं हो पाये। उनके मन मस्तिष्क में यह अग्निकांड बार-बार कौंध जाता है।

आजादी के कुछ समय बाद ही महात्मा गांधी की हत्या कर दी गयी थी। इस हत्या के पीछे वैचारिक असहमति थी। गांधी जी की हत्या उन सिद्धान्तों, विचारों का आग था जिसे गांधी जी ने प्रचारित-प्रसारित किया था। इस आग द्वारा कवि आग के राजनीतिकरण की ओर हमारा ध्यान दिलाना चाहता है।

गांधी जी की हत्या के बाद सत्ता दल ने गांधी जी के मुखौटे ओढ़ लिए। गांधी जी के सिद्धान्तों-विचारों का प्रचार तो किया गया, पर उन्हें जीवन में अपनाने का प्रयास नहीं किया गया- 'राजपुर रोड के गांधी पार्क में/आज महात्मा गांधी की मूर्ति का सिर गायब था।' यह स्थितियों का राजनीतिकरण है। इस राजनीतिकरण से लोगों, वर्गों, धर्मों में दुराव पैदा किया गया। यह एक अन्य प्रकार की आग थी जिसे चंद वोटों के लिए राजनेताओं ने फैलाया। इसी कारण 'गश्त लगा रही पुलिस ने/ कई फायर किये हैं/ और कई मुठभेड़ों में कुछ लोगों को खतरनाक करार दे/गोलियों से उड़ा दिया है।' ये लोग समाज के लिए नहीं बल्कि राजनेताओं के लिए खतरनाक हैं। इस आग को 'एक अदद सपने के लिए' में फैलते और विस्तार पाते देखा जा सकता है।

'तमाम रागों को चटखते हुए देखना/भट्टी में दानों की तरह/और आंखों के सामने/अन्धेरा छा जाना' वह सब जो अच्छा था या आजादी के बाद जिन सुखद सपनों की कल्पना की गयी थी, वे सभी चटख गये। यह मोहभंग की स्थिति है जो पीड़ादायक है। इस आग ने सुखद भविष्य की कल्पना को राख कर दिया।

'एक अग्निकांड जगहें बदलता' कविता के अन्त में यूसुफ उस नौजवान की ओर बढ़ता है- 'जिसकी आंखों में आग है।' यह आग हिम्मत, साहस, आक्रोश तथा कुछ कर गुज़रने की है। यह आग ही कोई रास्ता दिखा सकती है। संकीर्णता, धर्मांधता, साम्प्रदायिकता, स्वार्थपरता तथा राजनीतिकरण की आग की अपेक्षा नौजवान की आंखों की आग की आज जरूरत है, क्योंकि यह आग ही बाकी आगों से हमें बचा सकती है। 'एक अदद सपने के लिए' में इस पर गम्भीरता से विचार हुआ है- 'इससे पहले/कि हम डरी नज़रों से देखने लगें एक दूसरे को/और मरने-मारने पर आमादा हो जायें' कवि स्थिति को सम्भाल लेना चाहता है। डरी नज़रों से एक-दूसरे की ओर देखना अविश्वास तथा मन में आतंक के भाव का प्रतीक है। अपनी रक्षा के लिए तब एक ही रास्ता रह जाता है कि दूसरे को नष्ट कर दिया जाये। इस क्रिया में आतंकवादी भी नष्ट हो सकता है तथा आतंकित भी। कवि चाहता है कि स्थिति को बिगड़ने से पहले सुलझा लिया जाये। इसके लिए एक ही रास्ता है- संवाद, संवाद अहिंसा का मार्ग है तो मरने-मारने पर

आमादा होना हिंसा का। जहां हिंसा है वहां आग है। यह आग इन पंक्तियों में निहित है। कवि आग शब्द का प्रयोग न करते हुए भी लोगों के मन में निहित आग को उभारता है। यह क्रोध, हिंसा तथा प्रतिशोध की अग्नि है जो अन्दर ही अन्दर जला रही है। उसके शमन का एक ही मार्ग है- संवाद। लोग मेज के चारों तरफ बैठ समस्या को सुलझा लें, कोई हल ढूंढ़ लें।

'इससे पहले/कि हमारे कंधों को आ दबोचें दो फुंकारते हुए सांप/झपटते हुए एक दूसरे पर' ये सांप आतंकवादियों की भुजाएं हैं, जिनके हृदय में धर्मांधता, क्षेत्रीयता तथा भाषायी आग जल रही है। वह आग उन्हें चैन से बैठने नहीं दे रही। वे अपनी धुन में इस आग में किसी को भी जला सकते हैं, भस्म कर सकते हैं। कवि स्थिति के विकराल रूप धारण करने से पहले ही आग को शान्त कर देना चाहता है।

इस कविता के आतंकवादी बंदूक की नली से नया समाज और नयी व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं- 'नये समाज और व्यवस्था की राह तकते-तकते/हमारी आँखें दुखने लगी थीं।' कवि स्पष्ट करता है कि यह राह व्यवस्था/सत्ता को बदलने की नहीं, क्योंकि इससे- 'व्यवस्था के चेहरे/और ज्यादा क्रूर और सख्त' हो जाते हैं।

'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' में भी इस आग से बचने के रास्तों पर गम्भीरता से विचार हुआ है- 'थरथराते अनुभव की आंच में दहकती/मुक्त और स्वाधीन' आंच का सीधा सम्बन्ध आग से है। यह आग भस्म या नष्ट कर देने वाली नहीं बल्कि अनुभवों तथा ज्ञान की परिपक्वता को व्यक्त करती है। ज्ञान व्यक्ति को मुक्त एवं स्वाधीन बनाता है। विचारशील व्यक्ति को स्थितियों की गहरी समझ होती है तथा समस्या के मूल तक की पहचान। समस्या को सुलझाने के लिए इस पहचान की ही आवश्यकता होती है।

इस कविता के दोनों चरित्र बुद्धिजीवी हैं, संवेदनशील हैं। वे स्थितियों को गहराई से पकड़ना और उन्हें व्यक्त करना चाहते हैं। इसी कारण सुचित्रा सलमान से पूछती है 'जानती हूं चित्रकार के साथ कवि भी हैं/ आप बतायेंगे सृजन क्या है आपके लिए।' चित्रकार या रचनाकार बनने के लिए आन्तरिक आग की आवश्यकता होती है जिसमें जलने-तड़पने के बाद ही रचना जन्म लेती है। यह आग सुचित्रा-सलमान दोनों में है। यह आग ही दोनों को करीब ले आती है।

विचारशील प्राणी किसी प्रकार की दासता को सहन नहीं कर सकता चाहे वह विचारों की हो या परम्परा की। वह मुक्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। इसलिए उसकी रचना में विरोध तथा विद्रोह का स्वर किसी-न-किसी रूप में रहता ही है। पर सुचित्रा बिना किसी को हानि पहुंचाये तथा बिना हानि उठाये मुक्त होना चाहती है। इस पर दूसरी कविता में भी विस्तार से विचार किया गया है। कवि वहां संवाद द्वारा स्थिति को सुलझाने का पक्ष लेता है। 'वह फ्रेम से बाहर कैसे आ गयी/ बिना किसी खरोंच के' फ्रेम से बाहर आने के लिए अर्थात मुक्त और स्वाधीन होने के लिए आन्तरिक आग की आवश्यकता है। साहस, उत्साह तथा बलिदान की जरूरत है। बिना इस आग के कदम नहीं उठाया जा सकता और बिना किसी खरोंच के मुक्ति पाने के लिए विचार तथा ज्ञान की आवश्यकता है। योजनाबद्ध तथा सुचारु रूप से कदम उठा कर बिना हानि उठाये उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है।

सलमान से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भी आग की आवश्यकता है जिससे वह समाज, धर्म, परम्परा, मूल्यों संस्कारों आदि का सामना कर सके- 'परेशान सी सोचती है सुचित्रा/ज्वालामुखी से क्या रिश्ता है मेरा' ज्वालामुखी यहां वही काम कर रहा है जो अन्य स्थलों पर आग करती है। ज्वालामुखी से सुचित्रा का रिश्ता था नहीं, उसे बनाना पड़ रहा है। ज्वालामुखी आग के बिना वह सलमान को पाने का सपना पूरा नहीं कर सकती।

रचनाकार या बुद्धिजीवी तटस्थ द्रष्टा नहीं रह सकता- 'जीने का यह क्या ढब है सलमान/कब तक चुप रहें हम।' जीवन को इस प्रकार के हादसों से मुक्त कराने के लिए लोगों को अपनी चुप्पी को तोड़ना होगा। मूक द्रष्टा बनने से समस्या हल नहीं हो सकती। कवि चाहता है, इन स्थितियों के विरोध में लोग आवाज उठायें।

इस कविता के अन्त में कवि स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखता है-'सुचित्रा और सलमान झांकते हैं एक दूसरे की आंखों में/कचरे को जलाती एक लपट दोनों तरफ' सुचित्रा तथा सलमान समाज में फैले कचरे को जलाकर उसे स्वच्छ, स्वस्थ तथा शुद्ध रूप देना चाहते हैं, जिससे इस प्रकार के हादसे भविष्य में न हों।

इस तरह नरेन्द्र मोहन की तीनों लम्बी कविताएं आग का बहुआयामी रचनात्मक उपयोग करने वाली कविताएं हैं। आग के लगभग सभी सम्भव रूप इन कविताओं में मिलते हैं। इससे ये कविताएं एक तरह की संवेदनात्मक और वैचारिक ऊर्जा में तनी हुई हैं जिससे स्वाधीनता के बाद के हिन्दुस्तान की मुकम्मिल तस्वीर सामने आ जाती है।

6/15, अशोक नगर, नयी दिल्ली - 110018.

डॉ. कमलेश सचदेव

सिम्मी हर्षिता की कहानियाँ : अन्तर्मन का विस्तृत संसार

सिम्मी हर्षिता की कहानियों में सर्वाधिक सशक्त पक्ष है उनकी मनोवैज्ञानिक गहराई। वे पात्रों के मन के साथ-साथ चलती हैं और पाठक को उसके अंधेरे-उजाले कोनों की यात्रा करवाती हैं। इसी बीच उनका समर्थ कथाकार कई बार चुपके-से पात्र की दृष्टि को सकारात्मक पक्ष की ओर मोड़ देता है और पाठक सहज ही स्वयं को एक घने जंगल से किसी उजाले का पता देती पगडंडी पर खड़ा पाता है।

सिम्मी हर्षिता की कहानिया अधिकतर समूह-मन के प्रश्नों से दो-चार होती हैं। उनकी प्रायः हर कहानी समाज की किसी न किसी समस्या को उठाती है। निश्चित रूप से कोई व्यक्ति ही इस समस्या को झेलते दिखाया जाता है। यह व्यक्ति आम तौर पर अपने समूह का प्रतिनिधि होता है। इसकी प्रतिक्रियाएं समूह की प्रतिक्रियाएं मानी जा सकती हैं। सिम्मी समाज में आते परिवर्तन की दस्तकों को भी अपनी कहानियों में दर्ज करती हैं। यह सब उनकी कहानियों में मनुष्य मन की अंतरंग पहचान में लिपटकर और अनूठी अभिव्यक्ति शैली में ढलकर रूप ग्रहण करता है।

मूल्य समाज का नैतिक विवेक होते हैं। ये परिस्थितियों और सोच में बदलाव से धीरे-धीरे बदलते हैं। शिक्षा और आधुनिकता के कारण आज प्रेम-विवाह मध्यवर्ग में स्वीकृत होने लगे हैं। पर क्या उनकी स्वीकृति के पीछे केवल यही कारण है? 'अपने-अपने दायरे' में सिम्मी हर्षिता आधुनिक होने के पीछे का एक और तर्क प्रस्तुत करती हैं जब बिन मां की चार बेटियों और एक बेटे में सबसे छोटी बेटी के प्रेम-विवाह के लिए पापा बड़ी आसानी से मान जाते हैं। निति अपने पेइंग गेस्ट संदीप के नाम अपना प्रेमपत्र पकड़े जाने पर कहती है- 'संदीप कहीं नहीं जा सकता। मैं ज़हर खा लूंगी......।' गुस्से में भरे होने पर भी पापा यहां तक सोच जाते हैं- "थोड़े दिनों बाद जब वे थोड़ी-सी पेन्शन के साथ घर बैठना शुरू कर देंगे तो इस भीड़ को कैसे देखेंगे? कैसे संभालेंगे? क्या अपनी बनाई हुई रेखाओं में बिना रंग भरे ही उन्हें चला जाना होगा? उनकी कातर उदासी बंद ताला और ज़हर की बात सोचते-सोचते मुस्कराने की चेष्टा करने लगी. ......।' दहेज और बुढ़ापे की असमर्थता का निदान अगर माडर्न बनने से हो सकता हो तो मूल्यों में बदलाव धीरे-धीरे नहीं, एकदम भी आ जाता है। इस कहानी के अंत में लोग कहते हैं कि 'पापा एकदम से कितने माडर्न हो गए हैं!'

राज्य का अपना तंत्र होता है और उसे चलाने वाली एजेंसियां जब निरंकुश हो जाती हैं तो निर्दोष और निरीह व्यक्ति को कोई बचाने वाला नहीं होता। उसे बेकसूर पकड़े जाने पर कई पायदानों पर रिश्वत देकर छूटना पड़ता है, मानहानि का दावा तो वह सोच भी नहीं सकता। 'सड़क पर चलते हुए' में दो नौकरीपेशा युवकों के ईवटीजिंग के झूठे आरोप में धर लिए जाने पर उन पर गुजरने वाली मानसिक यातना का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। अंजनीक और सुगौतम को अन्य कई व्यक्तियों के साथ ही इसलिए पकड़ लिया जाता है कि थाने को ईवटीजिंग के लिए गिरफ्तारियों का कोटा पूरा करना है। अब उनके लिए यह सहज आकर्षण भी आतंकप्रद बन गया है। सुगौतम सोचता है- 'मेरे लिए तो

अब तक रोज़ी-रोटी ही ईव थी। वही मेरे अब तक के जीवन को दिक् करती रही है। घर के हालात की वजह से ही पढ़ाई के साथ नौकरी हमेशा मेरे साथ-साथ चली। कभी सुबह अखबार बांटने की नोकरी, कभी शाम को पत्रिकाएं बेचने की नौकरी। पर आज पता चला है कि कोई और ईव भी है हमारी इस आदम उम्र में जिसके अस्तित्व से मैं अब तक बेखबर था। अपनी अच्छी याद दिलायी उसने मुझे....!' और अंजनीक कहता है- "यार, पहले कभी कोई सुन्दर लड़की नजर आ जाती थी तो मैं देख लेता था। पर अब तो जेब में पड़ी यह रसीद कहेगी- 'दोस्त उधर मत देखना, खतरा है।'"

जाति के आधार पर किया जाने वाला भेदभाव हमारे समाज - मन में इतना गहरे तक धंसा हुआ है कि वह हमारे सामूहिक अवचेतन का अंग बन चुका है। सवर्ण समाज में दलित जातियों के लोगों के प्रति कुछ धारणाएं घर कर चुकी हैं। इनमें से एक यह है कि इन्हें कुछ भी कह लो-खासकर इनकी लड़कियो के साथ जो भी ज्यादती कर लो-ये कुछ नहीं कर सकते, तो दूसरी यह कि इनकी औरतों में कोई सचेतनता नहीं होती, वे बस बच्चे पैदा करने और उनको जैसे-तैसे गन्दगी और गरीबी में पाल-पोस कर बड़ा कर देने की मशीन ही होती हैं। सिम्मी हर्षिता अपनी 'धराशायी' और 'आपकी मेहरबानी' कहानियों में इन धारणाओं को तोड़ती हैं- दूसरे पक्ष की जागरूकता और सवर्ण मानसिकता से कहीं ऊंचे स्तर पर खड़ी नैतिकता को व्यक्त करके। 'धराशायी' की सफाई करने वाली कांता ज़िन्दगी के कई दुःखों को अपनी सहज ज़िन्दादिली से काटती चलती है। वह फिल्म देखने जाती है तो एक टार्च वाला उससे टिकट ले लेता है यह कहकर कि अभी वापस कर देगा। उस टिकट को वह किसी और को बेच देता है और कांता को बिना टिकट का इल्जाम लगाकर हाल से निकाल दिया जाता है। उसने सोचा होगा कि यह तो छोटी जाति की है, क्या कर लेगी। कांता कुछ नहीं कर पाती पर वह उसकी बेईमानी को अच्छी तरह समझती है, उसकी मानसिकता तथा अपनी स्थिति को सही ढंग से विश्लेषित करती है। एक हमदर्द गृहस्वामी से वह कहती है- "बस में सफर करो, तो लड़के जान-बूझकर छेड़ाछाड़ी करते हैं। वे समझते हैं, छोटी जाति की है, क्या कह-कर लेगी? या इसे क्या या क्यों एतराज होगा इसमें? मुझे सख्त नफरत है इन सबसे।" और "उस टिकट उचक लेने वाले कंजे ने सोचा होगा, छोटी जात की है। क्या कह-कर लेगी?" वह स्वयं से उसकी नैतिकता का स्तर मापकर उसे धराशायी कर देती है- "दाजी, दो-तीन रुपयों के पीछे वह भठूरा मर पड़ा। न जाने कैसे-कैसे लोग होते हैं? इधर-उधर के घरों से जब भी एक-दो रुपये मुझे इनाम में मिलते हैं, तो मैं सोच लेती हूं-मां को जरूर बता दूंगी, चाहे वापस नहीं दूंगी। बता देने से वह मेरा हो जाता है, नहीं तो वह मां का ही बना रहता है। मुझे इस तरह का झूठ और बेईमानी का पैसा पचता नहीं- कोई-न-कोई नुकसान हो जाता है। अब हाजमा तो हाजमा है न! उसमें कोई क्या कर सकता है?"

जाति के आधार पर किया जाने वाला भेदभाव हमारे समाज - मन में इतना गहरे तक धंसा हुआ है कि वह हमारे सामूहिक अवचेतन का अंग बन चुका है। सवर्ण समाज में दलित जातियों के लोगों के प्रति कुछ धारणाएं घर कर चुकी हैं। इनमें से एक यह है कि इन्हें कुछ भी कह लो-खासकर इनकी लड़कियों के साथ जो भी ज्यादती कर लो-ये कुछ नहीं कर सकते, तो दूसरी यह कि इनकी औरतों में कोई सचेतनता नहीं होती, वे बस बच्चे पैदा करने और उनको जैसे-तैसे गन्दगी और गरीबी में पाल-पोस कर बड़ा कर देने की मशीन ही होती हैं।

इसी प्रकार 'आपकी मेहरबानी' की पूनी बच्चों पर बच्चे पैदा करती जाती है जिनकी संख्या अब ग्यारह तक पहुंच गई है। उसकी वितृष्णा उत्पन्न करने वाली स्थिति को देखकर मध्यवर्गीय सवर्ण मन को "हर वर्ष गुस्लखाने में घोंसला बनाने वाली चिड़िया की याद आ जाती है जो वर्ष के अधिकांश भाग में अपने घोंसले में एक-न-एक अंडा दुबकाये रखती है और घोंसला उखाड़ फेंकने की अनुमति नहीं देती। उसे देखकर सूअरबियान याद हो आता है।" उसे जाहिल और मूर्ख मानने वाली मानसिकता को उसकी बात सुनकर आश्चर्य होता है- "दस तो पहले से हैं। ये ग्यारहवां है। छः लड़के (छः बैंगन), पांच लड़की (पांच तोरी), दो पैदा होते ही मर गए (झुलस गए)। मैं तो कहूं हूं मेरा आपरेसन करवा दे, वोयी नहीं माने है।" वह अपनी

आर्थिक स्थिति, बाप की जिम्मेदारी, पुरुष की ज्यादती और स्त्री की असहायता सभी मुद्दों पर इतना सही और स्पष्ट जानती है कि थोड़ी देर बात करते ही उसके प्रति हिकारत की भावना को बदलना जरूरी लगने लगता है- "उसके प्रति पुरानी उपेक्षा को वापस लेने में मुझे संकोच हुआ। मैंने तो पूनी को ईंट-पत्थर की तरह नदी में फेंका हुआ था। पर मैं देख रहा था, वह किस तरह पानी के ऊपर उभर आयी है।" दलित जातियों में उभरती स्वचेतना को सिम्मी हर्षिता ने इन कहानियों में अंकित किया है। विशेष रूप से इस वर्ग की स्त्री को दलित और स्त्री होने की जो दोहरी मार झेलनी पड़ती है, उस स्थिति को पहचानती दलित स्त्री की चेतना को व्यक्त करने और सवर्ण मानसिकता की अहम्मन्यता एवं छद्म की धज्जियां उड़ाने की दृष्टि से ये कहानियां उल्लेखनीय हैं।

'इस तरह की बातें' जैसी कहानी के माध्यम से सिम्मी हर्षिता का कहानीकार प्रत्येक मानव-मूल्य के स्थान पर आ बैठे धन को और उसके दुष्परिणामों को भी देख और व्यक्त कर रहा है। यह कहानी भारतीय समाज के पूरी तरह उपभोक्ता समाज में बदल जाने से हो रहे मूल्य-ध्वंस की भयावहता को चित्रित करती है। पति-पत्नी दोनों धन को ही सर्वोपरि मानते हैं। पति के बॉस की वासना-पूर्ति करते रहने में पत्नी को कोई आपत्ति नहीं होती। पति तरक्की की सीढ़ियां चढ़ता जाता है। वे सोचते हैं- "यह शरीर तो क्षणभंगुर है लेकिन इसके एवज़ में जो कुछ मिलता है, वह चिरस्थाई है! वह उनके जीते जी उनके जीवन कां साथ देगा-सुख में सुख देगा-दु:ख में सहायता करेगा- समाज में सम्मान और औकात देगा- उनकी संतान को उच्च शिक्षा देगा- अपने एकलौते दुलारे बेटे को वे पढ़ने अमरीका-इंगलैंड तक भेज सकेंगे- अपनी बेटियों का विवाह धनी घरों में हो सकेगा! इस तरह उनके मरने के बाद भी उनकी दुलारी संतान के साथ-साथ वह सुख चलेगा!" वे भूल जाते हैं कि दुलारी संतान को जीवन में कोई दिशा देने के लिए धन के अलावा संस्कारों की आवश्यकता होती है, किसी आदर्श की, स्वप्न की जरूरत होती है। इसका परिणाम यह होता है कि युवा होती बड़ी बेटी बॉस के चंगुल में फंस जाती है जिसको बचाने के लिए वे उसकी शादी ऐसे लड़के से कर देते हैं जो नशे का आदी है। बेटी कुछ ही दिनों में लौट आती है। तलाकशुदा बड़ी बेटी, युवा होती दूसरी बेटी, और अपनी आयु से कम विकसित बेटे को देखकर वे अपनी ढलती उम्र में तमाम दौलत के बावजूद स्वयं को लुटा हुआ पाते हैं। "वक्त की पुस्तक के पन्ने फड़फड़ा रहे हैं। हर नये दिन का पन्ना कटा-फटा और बदरंग होकर सामने आ खड़ा होता है और उस पर ऐसी बातें लिखी होती हैं जो मिसेज़ और मिस्टर बिके को आंसुओं और क्रोध में डुबो देती हैं।" अब अपनी संतान के समक्ष रखने के लिए "जब भी मिसेज और मिस्टर बिके किसी आदर्श को थामने-पकड़ने की कोशिश करते हैं तो वह फड़फड़ाकर दूर आकाश में उड़ जाता है।"

समाज में किसी भी तरह से ख्याति प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियों की संख्या भी कम नहीं है। ऐसे लोग सिम्मी की 'मोरपंखों की दुनिया' कहानी के पीएजी की तरह अपनी वास्तविक प्रतिभा से कहीं अधिक विख्यात होना चाहते हैं। वे सुप्रसिद्ध लेखक, विद्वान, नेता और प्रेमी सभी कुछ बन जाना चाहते हैं। इसके लिए वे तमाम तरह की तिकड़में करते रहते हैं जिनमें से कुछ का बहुत रोचक ब्योरा सिम्मी ने इस कहानी में दिया है।

शिक्षित बेरोजगारी साठ के दशक के उत्तरार्ध में युवा आन्दोलन का प्रमुख मुद्दा थी। उस दौर के प्रभाव में इस विषय पर सिम्मी ने कुछ मार्मिक कहानियां- सड़क पर चलते हुए, आशीर्वादहीन, ध्वनियां, चक्रव्यूह-लिखी हैं। आज भी न तो यह मुद्दा अप्रासंगिक है और न ही ये कहानियां। 'चक्रव्यूह' में तो नौकरी पाने और एक साल निरन्तर शत्रुतापूर्ण वातावरण में हर पल नौकरी खो देने की आशंका में काम करते रहने तथा अंत में उसे खो देने के अनुभव का अत्यंत मर्मस्पर्शी चित्रण है।

पीढ़ियों के बीच का अंतराल हमेशा उनके बीच टकराव का कारण बनता है। कहीं माता-पिता की संतान की हित-चिन्ता में की गई रोकटोक और लगाई गई पाबंदियां संतान को अपनी नासमझी के कारण नापसंद होती हैं तो कहीं माता-पिता संतान के वाजिब अधिकारों पर अपने अहम् की खातिर रोक बने रहते हैं। सिम्मी 'विरोध' में पहली और 'अपने निर्णय के सलीब' में दूसरी स्थिति का चित्रण करती हैं। 'विरोध' में तीन परिवारों में माता-पिता और संतान के संबंधों का रेखाचित्र दिया गया है। पहले, दूसरे और तीसरे परिवार में पाबंदियां क्रमशः कम होती गई हैं। लेकिन पहले और दूसरे परिवारों के बच्चों की ही तरह

तीसरे परिवार के बच्चों में भी विरोध और आक्रोश है क्योंकि बहुत खुलापन रहने पर भी एक सीमा पर आकर डैडी कुछ पाबंदी लगाना जरूरी समझते हैं और वहीं से उनका संतान से विरोध शुरू हो जाता है। बचपन और यौवन के बीच किशोरावस्था में जीते तीनों परिवारों के ये बच्चे अब सब कुछ अपनी मर्जी से करना चाहते हैं, हर रहस्य जान लेना चाहते हैं, और विपरीत लिंग के प्रति दोस्ती में लिपटा आकर्षण उनमें बढ़ता जाता है। माता-पिता अपने-अपने संस्कारों और सोच के अनुसार उन्हें किसी झटके या सदमे से बचाने के लिए पाबंदियां लगाने लगते हैं। संतान को लगता है, उस पर अविश्वास किया जा रहा है। तीसरे परिवार के डैडी इस मनोविज्ञान पर प्रकाश डालते हुए अपने बच्चों को समझाते हैं- "ऐसा नहीं कि मेरा अपने बच्चों पर विश्वास नहीं होता-या तुम्हारे प्रति शत्रुता रखता हूं-या जानबूझकर किसी ज़िद या दुर्भाववश या नासमझीवश तुम्हारे स्वतंत्र विकास में बाधक बनना चाहता हूं- या बच्चों को अपने अधीन बनाये रखने जैसे औपनिवेशिक दृष्टिकोण से मुझे सुख मिलता है। वस्तुतः संसार की बुराई पर ही मन को विश्वास नहीं होता। अपनी संतान के प्रति कल्याण का एक कोमल भाव- एक सुरक्षा भाव-.अपनी चीज़ को संभालकर रखने का भाव ऐसा है जिससे आसानी से मुक्त और तटस्थ नहीं हुआ जा पाता, चाहे कोई कितना ही उदार और आधुनिक क्यों न हो- कितना ही शिक्षित और मनोवैज्ञानिक क्यों न हो। व्यक्तित्व की आज़ादी और विकास के नाम पर अपने घर के सारे द्वार खोलकर, अपने बच्चों को नीचे जाती सीढ़ियों के पास बैठा देने का साहस हो नहीं पाता।" और संतान द्वारा वर्जना के विरोध की बात वे कुछ इस तरह समझाते हैं- "अपनी नन्हीं से नन्हीं उम्र में भी तुम लोगों ने वर्जना का स्वागत नहीं किया था। संसार के प्रत्येक शिशु की तरह तुम लोगों ने भी आग की लपट को- यहां तक कि सांप को भी किसी खिलौने की तरह हाथ में पकड़ना चाहा था- पानी में दिन भर खेलना चाहा था- मिट्टी को खाना चाहा था और जब-जब तुम्हारी मां ने इसके लिए मना किया था, तुम लोग बुरा मानकर रूठ गए थे और रो-रोकर मां के अन्याय की घोषणा की थी। उस वर्जना का भी मतलब यह नहीं था कि मां को अपने बच्चों पर विश्वास नहीं था- विश्वास आग-सांप-पानी और मिट्टी आदि पर ही नहीं हो पाता था......।"

साम्प्रदायिकता ने इधर अपना कार्यक्षेत्र फैला लिया है और उन धर्मानुयायियों में भी आपसी वैर पैदा करने में सफल हो गई है जिनमें इस तरह का कोई पूर्व-इतिहास नहीं था। अस्सी के दशक में पंजाब और देश के अन्य भागों में हुई घटनाएं इसका प्रमाण हैं। 'आओ बातें करें' कहानी में सिम्मी इस दौर में हुए साम्प्रदायिक दंगों को आधार बनाकर साम्प्रदायिकता के कारणों और परिणामों पर विचार करती हैं। नन्हें भतीजे के दंगों से सम्बन्धित मासूम सवालों से बुआ के भीतर जो जवाब उभरते हैं, उनके माध्यम से साम्प्रदायिकता को अनेक कोणों से देखना संभव हो गया है। बच्चे के इतना पूछते ही- "बूई, क्या गॉड है?" उसके मन में चीखें उभर आती हैं- "इन खोलते हुए अनीश्वरीय पलों में ईश्वर को क्यों पूछते हो जिसमें अपना चेहरा देखना भी कठिन है!" वह भीतर ही भीतर उससे कहती है- "आओ, कुछ ऐसा करें कि इनसानों के चेहरों पर साइनबोर्ड की तरह लिखे धर्मों और उनके ईश्वरों के नाम इनसान से पहले ही नजर न जाएं। ईश्वर, गॉड, खुदा आदि सुनहले शब्दों को आग में पिघलाकर कोई साझा ईगाखु गढ़ें।" और फिर "लोग एक दूसरे को मार क्यों रहे हैं?" के उत्तर में तो उसके अन्दर तूफान ही उठ खड़ा होता है। "कैसे करूं इस भयानक जहर की चर्चा इतने मीठे बचपन से?" उसे यह भी लगता है कि हिंसा किसी भी कारण से हो, दंगा किन्हीं दो धर्मों के अनुयायियों के बीच हो, मनुष्य-मनुष्य को नहीं मारता, "मारते हैं वे एक दूसरे की पहचान को- जाति को- रंग को- भाषा को- दौलत को शक्ति को- सभ्यता को- संस्कृति को- और ऐसे हर मारक संदर्भ में वे नोचते हैं औरत को- रौंदते है उसकी अस्मिता को! उसकी पवित्र कोख में अपनी मांसखोर दरिंदगी थूककर ही वे अपनी हिंसा और बदले को पूरा हुआ समझते हैं!" वह यह भी सोचती है कि भावनात्मक और मानसिक हिंसा ही एक दिन विस्फोटक रूप धारण कर लेती है। जो आदर्श हम पुस्तकों के जरिये बच्चों के सामने रखते हैं, यथार्थ का एक ही धक्का लगने पर ध्वस्त हो जाते हैं। उसे यह भी महसूस होता है कि बच्चे की अविभाजित मानसिकता और निर्मल-निश्छल मन पर यह सब बताकर मैल के छींटे कैसे डाल दे। लेकिन उसे इस तरह के सवाल पूछे जाते रहना जरूरी लगता है- "उत्तरों से भी अधिक जरूरी हैं सवाल- इस दुनिया को उत्तरों की उतरती सीढ़ियां नहीं- सवालों की

उठती सूलियों की ज़रूरत है- ज़रूरत है इस दुनिया को सवालों से झाड़ने-बुहारने की।'' किसी भी तरह से सही नहीं सिद्ध किया जा सकता कि लोग एक दूसरे को क्यों मार रहे हैं। वह उसे यही जवाब दे पाती है- ''पता नहीं लोग ऐसा क्यों कर रहे हैं? लगता है, उन्होंने भी उस दुकान की शराब पी ली है जिसे पीकर लोग पागल हो जाते हैं।'' सही मस्तिष्क होने पर यह सब किया ही नहीं जा सकता। उन्माद किसी कारण से जब विवेक को आच्छादित कर लेता है तभी इनसान इतना गैर-इनसानी हो सकता है।

नारी-मन की उलझनों और गांठों, यातना, दुःख-दर्द तथा नई औरत के भीतर के वलवले को सिम्मी हर्षिता ने बहुत रचकर, बहुत मनोयोग से अंकित किया है। आज की युवती आज़ादी चाहती है, जोखिम उठाने, नए से नए एडवेंचर करने की छूट चाहती है। वह नहीं चाहती कि सब कुछ उसे दूसरे बताएं- सब सवालों का जवाब परम्परा ही दे दे, उसे स्वयं कुछ खोजने का अवसर और सुख न मिले। 'बनजारन हवा' ऐसी ही एक युवती के एक दिन की लक्ष्यहीन भटकन के ज़रिये उसके दृष्टिकोण का पता देती है। इस युवती को 'दही की तरह कटोरी में जमा हुआ' पति नहीं चाहिए। उसे देखने के लिए कुछ लोग आने वाले हैं लेकिन वह पिछले दरवाजे से घर से बाहर चली जाती है और तीन-चार घंटे बाद लौटती है। इस दौरान जो कुछ वह देखती है उससे एक लड़की की आंखों से देखी दुनिया की झलक मिलती है। वह गति चाहती है। वह तयशुदा अनुशासित जीवन से दूर जाना चाहती है। इसलिए ''जैसे ही घर से एकाएक कहीं लापता हो जाने का विचार कौंध मारता है, अवसाद भरी गठरी का बोझ धड़ाम से नीचे गिर पड़ता है और बदरंग मन जगमगा उठता है।'' वह पुरुष जाति को सहज भाव से नहीं ले पाती। उससे उसे हमेशा एक तरह वेर-सा रहता है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि दूसरा पक्ष भी एक स्वतंत्र मन वाली लड़की को सहजता से नहीं लेता। वह सांप का तमाशा दिखाते सपेरे को ध्यान से देखती है तो सपेरे का पुरुष उसकी आंखों में झांकने लगता है। अकेले फिल्म देखने जाती है तो आसपास की सीटों पर बैठे पुरुषों के हाथ और पैर अजीब हरकतें करने लगते हैं। स्कूटर-रिक्शा वाला भी कुछ ऐसा ही एहसास देता है। हर कदम पर उसे घर की सुरक्षा ललचाती-पुकारती रहती है- ''अरी ओ! सोच-संभलकर चल! यूं न भटक सड़कों-गलियों में। अनदेखा कर पुरुषों की नज़रों को- अनसुना कर उनके फ़िकरों को और मेरी सुरक्षा में आ जा!'' पर वह पूरा खतरे का समय बाहर बिताकर ही लौटती है और पाती है कि उसके परिवार की एक लड़की को उस लड़के ने पसंद कर लिया है। वह सोचती है- ''सुना है कि जोड़े स्वर्ग में तय होते हैं- पर जो जोड़े नरक में जीते हैं उनके रिश्ते कहां तय होते हैं?'' तो बनजारन हवा जैसी यह लड़की इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि हम नरक में जी रहे हैं और यह निष्कर्ष उसे घर ने या परम्परा ने नहीं दिया बल्कि उसका अपना अर्जित सत्य है।

जहां एक ओर सिम्मी हर्षिता इस मां-पा की लाड़ली की कहानी कहती हैं वहीं दूसरी ओर उस नानी को भी अपनी कहानी की नायिका बनाती हैं जिसे पैदा होते ही मार डालने के लिए उसकी मां ने अफ़ीम चटानी चाही थी लेकिन उससे पहले जनमे जिस भाई को छह महीने और अपना दूध पिला सकने के लालच से वह ऐसा कर रही थी, उसी समय वही नीला पड़कर हिचकियां लेने लगा तो उसकी पड़ोसिनों ने उसे लड़की को अफ़ीम चटाने से रोक दिया कि ''तुम इसको मारना चाहती हो, पर उसके बदले वह मर जाएगा। उसे बचाना चाहती हो तो इसे मत मारो।'' इस तरह एक बहाने से जीवन पाने वाली नानी ने जीवन भर दुःख झेले हैं और अब भी वह अकेलेपन का दुःख झेल रही है- तेरह संतानों को जन्म देने के बावजूद। दस बेटियों और एक बेटे की मां अपने एकमात्र सहारे को भी खो बैठती है जब अचानक हार्ट अटैक से बेटे की मृत्यु हो जाती है। आर्थिक परेशानी तो नहीं है लेकिन उसे अपने फालिज के मारे असहाय शरीर के लिए सहारे की जरूरत है। उसने औरत होने का दुःख झेला है। वह कहती है- ''सबने मुझे मारा है- मां ने, बाप ने, भाई ने, पति ने, सास ने, ससुर ने, देवर ने।'' उसने बेटियों को जन्म देने पर अपमान झेला है- ''एक के बाद दूसरी बेटी, दूसरी के बाद तीसरी, चौथी, पांचवीं। मार और कड़वे बोल। हर बार बेटी पैदा होने पर मेरी सास तंदूर की दो रूखी रोटियां व्यंग्य की कसैली सब्जी के साथ मेरी बेटी की ओर फेंकते हुए कहती- 'जा, दे आ उसे.....!' प्रसूतिगृह में बैठी मैं उन्हें चबाती रहती और रोती रहती।'' पति के उधेड़ उम्र में थक-हारकर बैठ जाने पर उसने अनूठे जीवट से दाई का काम करके परिवार का भरण-पोषण किया है और चार बेटियों को ब्याहा है। पति

की मृत्यु के बाद दृष्टिहीन बेटा और वृद्धा मां एक दूसरे का सहारा थे लेकिन पुत्र के न रहने और शरीर के अपंग हो जाने के बाद अब नानी के दुःख की थाह नहीं है। असहाय शरीर के भीतर की इच्छाएं - अच्छा खाने-पहनने की - उम्र के बढ़ने पर खत्म नहीं होतीं लेकिन इस बात को कोई समझना नही चाहता कि वृद्ध व्यक्ति को भी अपनी जरूरत और इच्छा के मुताबिक खा-पहन सकने का अधिकार है। और नानी हर समय पाठ करती रहती है - "जीवतयां मर रहिए" और "तन सुक्के पिंजर थिए" ताकि मन को इच्छाओं से मुक्ति मिले और कमजोर सूखे तन को देखकर संतानें उस पर दया और हमदर्दी करें - "बेचारी मां दुःख में कितनी सूख गई है! ताकि इन अंतिम दिनों की असहायता का कोई ठिकाना हो जाए।" 'आत्मकथा का मनोभाव' की यह नानी सिम्मी द्वारा सृजित एक अविस्मरणीय पात्र है। उसने अपने सारे दुःख को इस कदर भीतर जज़्ब कर रखा है कि उसके नाती-नातिनें उसके दुःखी होने की बात सोच भी नहीं सकते। नानी अपनी लेखिका नातिन से अपनी कहानी लिखने का आग्रह करते हुए कहती है - "मेरे जीवन में दुःख ही दुःख है।" तो नातिन को आश्चर्य होता है कि 'कहानी' शब्द नानी पर फिट नहीं बैठता और 'दुःख' शब्द नानी पर सजता नहीं। वह सोचती है - "नानी तो केवल नानी है। खिलखिलाती कहानियों वाली कविताई नानी - पहेलियों वाली नानी - मौका पड़ने पर नृत्य की लय-ताल में झूम सकने वाली नानी - जीने वाली नानी - हंसने वाली नानी - लापरवाह और मस्त नानी! नानी को दुःख से क्या लेना-देना? नानी ने भले ही दुःख को जिया हो पर 'दुःख' शब्द का कभी कोई आभास तो नहीं दिया!' यह नानी बतरस की बहुत शौकीन है, अपने हर नाती-नातिन के ब्याह की चिन्ता रखती है और न जाने कहां-कहां से रिश्ते निकालकर उनकी शादियां करवा देती है। वह अपने हर नाती-नातिन से कहती है कि चिन्ता न करे। उसके पास सबकी चिन्ताओं का इलाज है, वह उनके लिए गुरद्वारे में अरदास करवा देगी, फिर उनका काम बन जाएगा। लेकिन बेटे के गुजर जाने के बाद ये सब बेटियां-दामाद और नाती-नातिनें उसकी चीज़ों को तो यादगार के तौर पर अपने साथ ले जाते हैं, नानी को कोई साथ चलने को नहीं कहता। जिस नानी के दुःख की चट्टानें जीवन के पानी के नीचे कहीं डूबी हुई थीं, वही अब दुःखी नज़र आती है, आना चाहती है। एक जूझते हुए जीवन के कारुणिक अंत तक पहुंचने को यह कहानी उतने ही कारुणिक ढंग से प्रस्तुत करती है।

'कब्रगाथा' भी एक जूझते हुए नारी-जीवन की कहानी है लेकिन यह नारी सहनशीलता की हद तक आकर फट पड़ती है और जीवन का एक अंश प्राप्त करने मे सफल हो जाती है। इस कहानी के माध्यम से हमारे समाज में स्त्री के वास्तविक स्थान को सिम्मी हर्षिता ने रेखांकित किया है - खास तौर पर तब जब उसके मां-बाप किसी ऊंची हैसियत के मालिक न हो और वह स्वयं आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर न हो। पुरुष कैसा भी हो - चाहे नामर्द ही - स्त्री को घर की मर्यादा की रखवाली करनी है। इस कहानी का पुरुष श्रवण कुमार शारीरिक दृष्टि से अक्षम है। पहली पत्नी ने अक्षमता को पहचानते ही उसे छोड़ दिया था और फिर विधिवत तलाक हो गया था। वह डिग्री कालेज में व्याख्याता थी। दूसरी पत्नी रतिका साधारण घर से थी, इसलिए उसके छोड़कर चले जाने के अवसर न के बराबर थे। धीरे-धीरे रतिका ने अपने जीवन के सूनेपन को पहचान लिया है। श्रवण कुमार के माता-पिता अपने पुत्र की कमी को जानते हैं, इसलिए मां रतिका पर कड़ी नजर रखती है। मां को रतिका की बेलगाम हो सकने वाले यौवन की पहरेदारी भी करनी है और वह किसी से इस घर का यह अपमानजनक भेद खोल न दे - इस बात की चौकसी भी करनी है। ये दोनों बातें रतिका के लिए यातनादायक हैं। कोई पड़ोसिन उसके चेहरे के फीकेपन का कारण पूछ बैठती है तो वह अंतर्संवाद करने लगती है - "मैं क्या बताऊं कि मेरा अधूरापन क्या है? कि मेरा रोग क्या है? कि मुझे अपने आप से ही वितृष्णा क्यों होती जा रही है?" उसे लगता है - "यह मेरा घर नहीं, मेरी कब्र है जिसमें मैं रोज़ दफ़न होती हूं।" उसके शरीर में जब इच्छाओं की बाढ़ आती है तो वह नींद की गोलियों से उसे सुला देती है - "जब सारा घर अंधेरे में डूब गया तो वह धकियाई-सी अपनी कब्र में आ गई। उसकी लोहित पिघलन को समेट कर किसी सांचे में ढालने वाला वहां कोई नहीं था। कब्र के स्वामी पर एक घृणित मृगतृषा दृष्टि डाली और तकिए पर कढ़े 'मधुर स्वप्न' के नीचे रखी गोलियों में बंद नींद की मूर्छाभरी यातना अपने ओंठों से लगा ली। ज्वार को भाटे ने अंदर निगल लिया। ज़िंदगी एक बार फिर मरकर सो गई!" लेकिन एक दिन

पिकनिक में पति के मित्र द्वारा अपनी पत्नी के साथ रतिका का फोटो खींचने के बाद घर आकर श्रवणकुमार जब उसे डाटने लगता है तो वह फट पड़ती है- "तो तुम भी अपने को पति कहते-मानते हो? तुम्हें भी एहसास है पति होने का और पत्नी पर अपने कानूनी अधिकारों का?........यदि मुझ जैसी अभागियों के मां-बाप बीमार और लाचार न होते तो तुम जैसों को कैसे मिलतीं बार-बार पत्नियां, इस खंडहरनुमा समाज में अपने मान और पौरुष की रक्षा के लिए? शायद गलत कहा! अपने मां-बाप के बल पर, अपने बाहरी रंग-रूप और पद-पौरुष के बल पर चाहे तुम जितनी बार विवाह की नौटंकी रचाने और घर-गृहस्थी का ढकोसला खड़ा करने में सफल हो सकते हो। सभ्यता के दावेदार भले घर के मनुष्यों से भली तो पशुओं की पशुता है, जिनके मां-बाप अपने धन और पद के बल पर बिचौलियों के रूप में अपने बेटे-बेटियों के लिए नर-मादा संबंध खरीदना बेचना नहीं जानते। यदि तुम्हें पता थी अपनी सच्चाई तो तुमने दूसरा विवाह क्यों किया?" रतिका के इस फट पड़ने को सिम्मी हर्षिता 'संसार की असंख्य क़ब्रों में से एक क़ब्र का चीखना' कहती हैं और इस चीख के बाद रतिका को एक 'रोपित शिशु' मिल जाता है, वह 'कुंआरी मां' बधाइयां बटोरने लगती है।

समाज या समूह-मन की कहानियों में जहां स्त्री के मन की बात आई है, सिम्मी हर्षिता ने उसकी समस्या को हर पक्ष से व्यक्त किया है और वे सभी पक्ष उस रचना का सहज जैविक अंग बनकर आए हैं। लेकिन जहां वे साम्प्रदायिकता, बेरोजगारी, जात-पात की बात करती हैं, वहां कहानी में कहीं-कहीं भावुक आत्मालाप के पैबंद लगे दिखते हैं जैसे वे सब कुछ कह देना चाहती हों और कहानी में कहीं भी इसकी गुंजाइश पैदा करने की कोशिश कर रही हों। 'आओ बातें करें' और 'धराशायी' कहानियों में ये टुकड़े स्पष्ट पहचाने जा सकते हैं।

सिम्मी हर्षिता की कहानियों में सर्वाधिक सशक्त पक्ष है उनकी मनोवैज्ञानिक गहराई। वे पात्रों के मन के साथ-साथ चलती हैं और पाठक को उसके अंधेरे -उजाले कोनों की यात्रा करवाती हैं। इसी बीच उनका समर्थ कथाकार कई बार चुपके-से पात्र की दृष्टि को सकारात्मक पक्ष की ओर मोड़ देता है और पाठक सहज ही स्वयं को एक घने जंगल से किसी उजाले का पता देती पगडंडी पर खड़ा पाता है। इसीलिए मुझे लगता है कि वे अपनी उन कहानियों में सबसे ज्यादा सफल रही हैं जिन में वे किसी एक पात्र के मनोजगत की परतें खोलने की ओर प्रवृत्त हुई हैं।

आम तौर पर ऐसी कहानियों के पात्र सामान्य जीवन से किसी कारणवश छिटके हुए हैं। उदाहरण के लिए 'इलायची के पौधे' का दीपू दृष्टिहीन है। धीरे-धीरे बचपन में दृष्टि के समाप्त होने से लेकर पढ़ाई बीच में छोड़कर संगीत सीखने, संत जैसी इमेज प्राप्त करने और अधेड़ आयु में कभी वर्तमान तो कभी भविष्य के अंधेरे से टकराते चलने की यात्रा में उसके मनोजगत के कई कोने प्रकाशित हुए हैं। उसकी क्रमशः समाप्त होती दृष्टि ने उसे इस दृश्य जगत के प्रति पिपासु बना दिया है- "वह पलकें झपका-झपका कर कल की देखी चीजों को भयभीत ध्यान से देखता और फिर हिसाब लगाता है- वे आज भी दिखाई दे रही हैं या नहीं? चीज़ें कहीं गुम तो नहीं हो गईं? उनकी गिनती और आकार पूरा तो है न? सामने की हर चीज़ के साथ एक प्यास उसे जुड़ी मिलती है- कभी यह नहीं रहेगा. .....यह भी नहीं रहेगा........सब कुछ को एक बार ध्यान से देख लो। वे सब चीज़ें जो अब तक घाते में मिली लगती थीं, वे सभी महत्त्वपूर्ण रूप से मूल्यवान हो उठी हैं।" पूरी तरह दृष्टिहीन हो जाने पर वह जिस तरह उस अभाव के साथ जीना सीखता है, जिस तरह के भ्रम-भय-संशय उसे घेरे रहते हैं, जिस तरह की विवशता वह झेलता है और जिस प्रकार वह अपने बचपन के साथियों के सामने अपने संगीत-ज्ञान के माध्यम से अपने अहं और सम्मान को बचाने का प्रयास करता है, यह सब एक दृष्टिहीन के प्रति अंतर्दृष्टि से ही व्यक्त हो सकता है। लोग उसके कीर्तन-गायन से अत्यन्त प्रभावित हैं। वे उसे 'दरवेश' कहते हैं और उससे आशीर्वाद और इच्छापूर्ति की कामना करते हैं। वह इस महानता पर जोर-जोर से चीखना चाहता है लेकिन लोगों के मन में बसी अपनी प्रतिमा के टूट जाने के भय से वह छोटी-छोटी इनसानी कमजोरियां प्रदर्शित नहीं कर सकता। उसके विवाह की बात बार-बार उठाकर मां उसके भीतर की इच्छाओं को जगाकर उसे उद्वेलित कर देती है तो वह बुरी तरह क्रोधित हो उठता है। उसके क्रोध को झेलने वाली मां उदास स्नेह में एक वाक्य दोहराती है- "मैं भी न रही तो तू अपना गुस्सा और नाराजगी किस पर निकालेगा?" और उसे मां के न रहने पर अकेले होने का भय घेर लेता

है-"...मैं अंधा हूं। यह घर अंधा है। आंखें केवल मां के पास हैं। पिता की तरह मां के भी न रहने पर मैं इस घर के अंधेरे में कैसे जिऊंगा? इस दुनिया में बिल्कुल अकेला क्या करूंगा?" उसे अपनी दृष्टि फिर से मिल सकने की धुंधली-सी आशा बनी रहती है। वह अपनी दृष्टिहीनता को कभी पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाया। वह सोचता है- "कभी-कभी तो लगता है जैसे मेरी सारी साधना-भक्ति केवल आंखों को लौटा लाने के लिए है।" और आंखें लौटने पर "केवल मेरी प्रतिमा ही नहीं जिएगी, मैं भी जिऊंगा।" लेकिन बार-बार डाक्टरों को दिखाने पर जो जवाब उसे मिलता है वह यह है- "ऐसी आंखों का आपरेशन केवल अमरीका या रूस में हो सकता है।" यह उत्तर उसे झटका देता है। उसे लगता है कि कहीं दो आंखें उसकी प्रतीक्षा कर रही हैं और वह उन तक पहुचने का प्रयत्न नहीं करता। ऐसे में वह पूर्ण निराशा की कामना करने लगता है ताकि आशा के छलावे से तो मुक्ति मिले। वह चाहता है कि डाक्टर उससे कह दें- "तुम्हारी बातों की आदत की तरह, तुम्हारे क्रोध की तरह, तुम्हारे मन की आंखों के संबंध में यह भटकन, यह असंतोष, यह लालसा और भावुकता भी किसी और के लिए चाहे ठीक हो, पर तुम्हारे लिए नहीं- ये सब तुम्हारे हिस्से और अधिकार की चीज़ें नहीं हैं।" यह कहानी एक दृष्टिहीन जीवन की समूची छटपटाहट को सघनता से अभिव्यक्त करती है।

'चक्रभोग' की तुषार पिता के अतिरिक्त स्नेह के कारण विवाह की उम्र निकलते जाने का एहसास जी रही है। मां के छोटी उम्र में ही गुजर जाने पर पिता ने दूसरा ब्याह नहीं किया तुषार की खातिर। उन्होंने उसे मां और पिता की दोहरी भूमिका में पाला है। इसीलिए अब उन्हें उसके लिए कोई लड़का जंच नहीं रहा। तुषार को लगता है "शायद आवश्यकता से अधिक सावधानी और चिन्ता के कारण ही पापा मुझे किसी दूसरे अनजान पुरुष को सौंपने का निर्णय और साहस नहीं कर पा रहे। उन्हें ऐसा पुरुष कहां मिलेगा जो बिल्कुल उन जैसा हो, जो उनकी तुषि बेटी का उनकी तरह इतना ध्यान रखे!" वह पापा की चिन्ता को समझती है लेकिन उसकी अपनी आवश्यकताएं भी तो हैं। अब उसे हर समय पापा का साथ सहज नहीं लगता। वह अपनी उम्र के अनुसार खुलकर जीना चाहती है। वह अपनी भाषा बोलना चाहती है- "खाने की, कपड़ों की, सेहत की, कहीं जाने की बातें क्या बातें होती हैं? यह तो जानवरों की भाषा है। मैं मनुष्य की भाषा बोलना चाहती हूं, पर इस प्रवास में जैसे कहीं कोई मेरी भाषा जानने वाला नहीं है।" वह आयु का सत्य पापा को बताना चाहती है लेकिन कुछ भी कहते-कहते रुक जाती है। एक पुरुष मित्र का साथ उसे कुछ जीवन का अहसास दिलाता है लेकिन वह कहता है- "मैं विवश हूं।" वह तड़प उठती है- "पापा! तुमने मेरा निपटारा समय पर क्यों नहीं कर दिया? क्यों मुझे मन के हाथों भटकने के लिए छोड़ दिया है?" वह अपने जीवन में प्रथम व्यक्ति रहे पापा के प्रति कभी-कभी भीतर ही भीतर कटु और शत्रु-सी भी हो आती है- "मन होता है, उनका एक भी काम न करूं- पापा बीमार हो जाएं- पापा दफ्तर भूखे चले जाएं- तो भी कोई-कोई हर्ज नहीं।" वह पापा से मन ही मन झगड़ती रहती है- "पापा ने मेरे सुख के लिए अपनी शादी नहीं की थी तो क्या अब मेरी शादी भी नहीं कर पाएंगे?" लेकिन जब वह उनसे कुछ स्पष्ट और कठोर कहने का मन बनाती है तो उसे लगता है, उनका "चेहरा बुझा-सा है......वह पहले से अधिक दुर्बल हो गए हैं..... मैं अपने मन का बोझ स्पष्ट कहकर इन पर कैसे डालूं........लगता है, उम्र के साथ-साथ पापा में भी सत्य सुनने की शक्ति नहीं रही है......।" और इसी चक्रभोग को भोगती तुषार 'तुषि' ही बने रहने का दं झेलती रहती है। जीवन के सहज प्रवाह के रुके होने की मानसिक यातना को सिम्मी हर्षिता ने मन की भीतरी झलक से साकार किया है।

'परिधि' और 'मैं आ रहा हूं' की रीता और चंद्रे प्रेम-संबंधों में आई छीजन का दर्द झेल रही हैं। रीत अपने बचपन के सखा अनुराग पर भावनात्मक रूप से पू तरह आश्रित हो गई थी लेकिन अनुराग अब उसे बचपन की एक प्यारी-सी पहचान के रूप में देखना चाहता है और विवाह में भावनात्मक स्तर पर परिवर्तन चाहता है। य निर्णय रीता को बताने के बाद वह फिर कभी उससे मिल नहीं आता लेकिन रीता को इस निर्णय के साथ सामंजस्य बिठाना असंभव लगने लगता है। उसकी जीने की इच्छा समाप्त होने लगती है। उसने तो अनुराग को ही अपना अं बना लिया था, उसके बिना तो रीता का कुछ अर्थ ही उ अनुभव नहीं होता। वह अपने शारीरिक स्वास्थ्य की उपे करने लगी है। अस्वस्थता के कारण एक मास की छुट् लेकर वह होस्टल के अकेले कमरे में स्वयं से ही बातें क रहती है। उसे लगता है- "जीवन इस तरह ठहर गया

जैसे चौराहे पर लाल बत्ती के जलते ही भागता यातायात थम जाता है और तब फिर कोई हरी बत्ती जलाना भूल जाए। 'ब्रेक' में फंसा जीवन हर पल कांपता हुआ हरी रोशनी का इंतजार करता रहता है।'' वह स्वयं से पूछती है कि उसे क्या चाहिए और फिर खुद को बताती है- ''सुनो, किसी के आसक्त शब्दों का साथ और सहारे की आकांक्षा है तुम्हें। तुमसे बिना किसी रागान्वित पहचान, उष्णित संबंध और अनुरक्त हृदयभाव के नहीं रहा जाता, मरा भी नहीं जाता।'' और वह समझ लेती है कि यह जरूरत अनुराग पूरी नहीं करेगा। फिर वह स्वयं को तैयार करती है- ''जो सत्य मेरे सामने है, मैं उसे न स्वीकार कर क्यों किसी अनचाहे सत्य की तलाश करूं? जो उत्तर मेरे सामने है, उसे न मानकर क्यों किसी मनमाने उत्तर के लिए भटकूं?'' वह पहचानती है- ''जीवन एकतंत्र या तानाशाही नहीं है, जिसमें केवल 'मैं' का- जिसमें केवल रीता का ही अस्तित्व हो। जीवन प्रजातंत्र है, जिसमें बहुतों का- अनुराग का भी बहुत कुछ मनमाना सुनना और सहना होता है और जीना भी होता है। ऐसी स्थिति में राग के विरंजित रूप के प्रति अपने दुःख का औचित्य-अधिकार भी मेरे हाथ में नहीं बचता!'' और तब वह रीता का नया अर्थ खोजने की ओर प्रवृत्त होती है। यहां लेखकीय कौशल गहन निराशा की मनःस्थिति को चुपके-से आशा की ओर मोड़ देता है। वह रीता को अनुराग का नहीं, खालीपन का भी नहीं, ऋतु का अर्थ देना चाहती है क्योंकि उसमें अपना अर्थ और विस्तार होता है- वह कभी नहीं रीतती। ''जाते हुए व्यक्ति और सम्बन्धों के पीछे रुदनरत भागने और उसे पाने की भीख ऋतु नहीं मांगती। जो जाना चाहता है, उसे रोकती नहीं, चला जाने देती है।'' तब उसकी उदासी छंटने लगती है और उसका मन होता है- ''एक बार मैं हंस लूं- एक नये ढंग की हंसी- जिसे पिछले वर्षों ने कभी न देखा हो।''

इसी तरह प्रेम में आत्मकेंद्रित हो अपने व्यक्तित्व के अर्थ भूल चुकी चंद्रेश (मैं आ रहा हूं) जब एक मनोविश्लेषक की सहायता से स्वयं को पहचानने का प्रयास करती है तो भीतर की अंधेरी और ऊबड़-खाबड़ दुनिया से अपने लिए संकल्प को बीन लाती है। समय के साथ फीके पड़ते जाते अपने विवाहेतर प्रेम-संबंध की यातना झेलती चंद्रेश इस संकल्प के साथ ही- कि अब वह एक झटके-से इस अपनी आयु पूरी कर चुके संबंध से बाहर आ जाएगी- अपने अंदर एक अनोखी-सी शक्ति और मुक्ति अनुभव करती है। प्रेम, विवाह, नैतिकता के उलझे तार इस कहानी में अपनी पूरी उलझन के साथ चित्रित भी हुए हैं और उन्हें एक सुलझाव भी मिला है। प्रेम के उल्लास, उससे उपजते अपराध-बोध और तीव्रता के ढलते जाने के एहसास की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है-

''जब वह फोन पर कहता- 'मैं आ रहा हूं!' तो ये शब्द मेरा सपना थे- मेरी खुशी थे! मैं ये शब्द सुनने के लिए हर पल प्रतीक्षा करती रहती थी। उसके ये शब्द मुझे उसके प्यार और सौंदर्य की साकार इबारत लगते थे। जैसे कोई झरना चट्टानें पार कर, तूफानी वेग से मुझसे मिलने आ रहा हो।''

''मेरे पति अपने बदसूरत शरीर द्वारा मुझे प्यार, सम्मान, सारी सुख-सुविधाएं, सुरक्षा और अपना विश्वास देते हैं और मैं उन्हें अपने इस खूबसूरत शरीर द्वारा विश्वासघात और ज़िंदगी की कुरूपता देती हूं।''

''न कहीं कभी घुमाने ले जाना- न कभी कोई उपहार देना। बस फोन कर देगा- ''मैं आ रहा हूं!'' अब उसका यह वाक्य मुझे जलाता रहता है। अब इस वाक्य में उसके अधिकार भाव की और अपने अपमान की गंध आती है। अब वही प्यार भरा वाक्य जैसे चीख-चीख कर कहता रहता है- मैं अब उसके लिए केवल एक शरीर हूं, जिसे जीने की उसे आदत हो गई है। अब वह मुझसे नहीं केवल अपनी आदत से मिलने आता है। अब मैं उसके लिए एक थाली बन गई हूं, जिसमें वह मनपसंद खाना खाता है और फिर परे सरका कर चला जाता है!''

'काजू' कहानी का छहवर्षीय काजू और 'अनिमंत्रित' का मनु ऐसे बच्चे हैं जो अपने-अपने मां-बाप के न चाहने के बावजूद पैदा हो गए हैं और इसी कारण असामान्य स्थितियों का सामना करने को विवश हैं। सिम्मी हर्षिता ने इन बच्चों की यातना को और इनके मां-बाप की मनःस्थितियों को बड़ी बारीकी और गहराई से चित्रित किया है।

भाषा पर सिम्मी हर्षिता का असाधारण अधिकार है। उनकी भाषा सबसे अधिक प्रभावशाली वहां होती है जहां वे व्यंग्य के नश्तर चलाती हैं। भावी बहू बनाने के लिए लड़की देखकर लौटी मां किस तरह निर्णय लेती है- ''उनकी अध्यक्षता में निर्णय समिति बैठी। समिति के सदस्य थे- सीधी संकरी सीढ़ियां, सीढ़ियों पर बहता गंदा पानी, उनकी परोसी मिठाई, काली चाय आदि-आदि। और विवाह का प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया।'' शिक्षा प्राप्त कर लेने पर भी

आज सिफारिश या ऐसी ही किसी तिकड़म के बिना बेकार ही रह जाना होता है। आदर्श की आवाज़ को अनसुना किए बिना रोजगार पाना असंभव-सा हो गया है। ऐसे ही एक युवक की स्थिति को सिम्मी इस तरह से अभिव्यक्त करती हैं- ''इस बार उसने बेकारी की बीमारी के ठीक-ठीक निदान और इलाज के लिए एक विशेषज्ञ को दिखाया था। विशेषज्ञ डाक्टर ने बांझ शिक्षा के गर्भधारण के लिए नियोग पद्धति का सहारा उसे बताया था। घने ऊहापोह के बाद उसने इस सलाह को स्वीकार कर लिया था। आदर्श के पांवों और मुख पर उसने 'साइलेंसर' लगा दिया था, जिससे उसकी पदचाप और शब्द उसे परेशान न कर सकें।'' (चक्रव्यूह) 'बनजारन हवा' तो पूरी तरह व्यंग्य की भाषा में रचित कहानी है। यह कहानी आज की युवती के मन की भाषा में बात करती है और उसी की आंखों से देखती है। यह पीढ़ी बहुत गंभीर बातें भी अगंभीर भाषा में सोचती और कहती है। कुछ उदाहरण देखें-

''......किसी की इतनी हिम्मत कि मुझे देखे और नाप-तौलकर मुझे पास-फेल करे! इसीलिए तो मैंने हर टिंगु-पिंगु को पहले ही फेल किया हुआ है। कोई कटहल पहले पास होकर तो दिखाए और फिर मुझे पास करने की बात करे!''

''......पर अपना यह जीवन तो है नकेल में बंधा एक ऊंट-अपनी छोटी-चपटी-सी दुम से मक्खियां उड़ाता हुआ ऊंट-आराम विराम से जुगाली करता हुआ ऊंट-जाने-पहचाने रेगिस्तान को आंखें बंद किए हुए ऊंघता-सा पार करता हुआ ऊंट-पूरी हिफाजत और सावधानी से अपने अंदर पानी और भोजन भरकर एक-एक कदम नाप-तौलकर चलता ऊंट-आस-पास से निकलती किसी तेज़ सवारी की दहशत-वहशत से रुक-ठहर जाने वाला ऊंट-एक बार बैठकर जुगाली करने में लग गया तो फिर जल्दी ही न उठने वाला ऊंट-जिसकी हर करवट का मुझे पता रहता है और जिसकी कोई कल टेढ़ी नहीं!''

एक अकेली अंतर्मुखी युवती की अपने से बातचीत की भाषा का रंग इससे बहुत अलग है। वह मन ही मन बहुत प्यार करने वाले पापा से झगड़ा करती रहती है- ''पप्पा को पता नहीं क्या हो गया है? बिल्कुल बदल गए है। पापा अब तुषि बेटी को ज़रा भी नहीं चाहते। वह तो उसे भूलकर न जाने कहां अपने में डूबे रहते हैं। उन्हें अब पहले-सी मेरी चिन्ता नहीं रही। सच, पापा कितने झूठे हैं! शहनाई बजवाने की बात कही थी और लाकर देते हैं पुस्तकें।'' (चक्रभोग)

एक मनोचिकित्सक की विश्लेषणपरक भाषा का स्पष्ट सपाट लहजा 'मैं आ रहा हूं!' में देखा जा सकता है- ''जैसे पेट की पाचनशक्ति होती है- कोई लकड़-पत्थर सब हज़म कर जाता है और कोई लौकी भी नहीं पचा पाता- वैसे ही वैयक्तिक ढांचे की भी अपनी पाचन-शक्ति होती है। कोई अपने सिस्टम के विरुद्ध कार्य करने पर पूरी तरह से टूट जाते हैं- कोई झूठ पर सारी ज़िंदगी जीते चले जाते हैं यह सोचकर कि यदि हमें या सामने वाले को कोई हानि या फर्क नहीं पड़ रहा तो क्या हरज है झूठ में? कोई दूसरों को हानि पहुंचाकर भी झूठ की दुनिया में मज़े से जीते रहते हैं। इस तरह-पचा सकने के आधार पर भी नैतिकता और अनैतिकता- गलत और ठीक व्यक्ति और व्यक्ति में बदल जाते हैं।''

सिम्मी हर्षिता प्रायः एक स्थिति/मनोस्थिति को एक ही क्रम में कई समानान्तर बिम्बों-अप्रस्तुतों-विशेषणों से व्यक्त करती हैं। उस स्थिति को उसके विभिन्न आयामों सहित पूरी सघनता से व्यक्त करने की उनकी यह विशिष्ट युक्ति है। केवल दो उदाहरण प्रस्तुत हैं-

''विमोहित, मंत्रवशीभूत-सी, उद्वेगरहित, निस्संग, निर्बोध, निर्भाव मौन मानवी तापस की प्रसन्नता के लिए निकट की एक शिला पर बैठ गई.....''

''उस दिन फिर तख्तियां मांग रही थीं।
नारे मांग रहे थे।
तने-उठे हाथ और गुस्सैल चेहरे मांग रहे थे।
यौवन मांग रहा था।
जीवन मांग रहा था।''

चित्रात्मकता सिम्मी हर्षिता की कथा-भाषा का विशिष्ट अंग है। एक वाक्य से लेकर छोटे-बड़े अनुच्छेदों तक में उतरे हुए चित्र उनके यहां मिलते हैं। मुख्यतः वे इसके लिए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अप्रस्तुतों का सहारा लेती हैं। 'उनका तिकोन' कहानी में एक पुरुष के एक लड़की को शीशे में उतारने के प्रयासों के विषय में उस लड़की की प्रतिक्रिया के ये तीन वाक्य देखें, तीनों में एक अलग चित्र उभरता है-

''काबल कितनी ही तरह से मेरी ज़िंदगी का रास्ता

काटने का यत्न करता है। कितनी ही तरह से संबंधों की अर्गला खोलने का यत्न करता है। उसकी बातों में रफू और सिलावट-मिलावट साफ दिखाई देती रहती है।''

सिम्मी भाववाचक संज्ञाओं का बहुत प्रयोग करती हैं। वे व्यक्ति को प्रायः किसी न किसी भाववाचक संज्ञा का नाम देकर चित्रित करती हैं।

''पंद्रह वर्ष की वह उम्र राजमहल के प्रवेशद्वार पर बैठ गयी थी।'' (ठहरी हुई बूंदें)

''मध्यवर्गीय एक अहं चला गया।

एक अहं देखता रहा।'' (शेष निर्णय)

कभी-कभी वे व्यक्तियों को समूहवाचक संज्ञा देती हैं। पुलिस अफसर को 'श्रीमान थाने' कहती हैं (सड़क पर चलते हुए) और घर के सदस्यों को सामूहिक रूप से 'घर'- ''धीरे-धीरे घर को लगा, वह उस पर एक नया बोझ है। घर उससे नाराज़ हो उठा।'' (शेष निर्णय) अपनी इधर की कहानियों में वे तुकान्तता का प्रयोग भी करती हैं- ''उन्होंने दिया थैंक्स और मैंने उसे पास ही पड़ी रद्दी में दिया फेंक।'' (मोरपंखों की दुनिया), ''और मैं एक गावदी और झगड़ालू विचार-कोई न गुज़ार सके जिसके साथ दिन चार।'' (बनजारन हवा) कभी वे शब्दों का उनके सामान्य प्रयोग से हटकर प्रयोग करती हैं तो कभी नए शब्द गढ़ने लगती हैं- रुकावट-टुकावट, कूकर-सूकर, अनाड़ी-कबाड़ी आदि।

ऐसा लगता है कि सिम्मी हर्षिता के लेखक की मानसिक बनावट में नाटकीयता का बहुत बड़ा स्थान है। उनके लेखन में हर स्थान पर एक वक्रता या भंगिमा या अदा- जो भी आप कहना चाहें- मौजूद है। कहानियों में इस नाटकीय रुझान से और अधिक पठनीयता तथा रोचकता का समावेश हुआ है। उनका लेखक सब कुछ कह देना चाहता है और एक वक्रता के साथ कहना चाहता है। सिम्मी हर्षिता की कहानियों में समकालीन समाज की समस्याओं की पहचान मिलती है, मानव-मन की गहराइयों में उतरने का सफल प्रयास दिखता है और एक अपने ही अंदाज की कलाकृति से गुजरने का सौंदर्यानुभव प्राप्त होता है। यह सब उन्हें सार्थक और महत्वपूर्ण कथाकार बनाते हैं।

सी- 25, शिवाजी पार्क, नयी दिल्ली-26

रामदरश मिश्र

रहमत मियाँ

कॉलबेल बजी। उठकर दरवाज़ा खोला।

'अरे, रहमत मियाँ! आप?'

'नमस्ते, बाबू जी!'

वे आकर मेरे ड्राइंगरूम में बैठ गए। उनके साथ एक चौबीस-पच्चीस वर्ष का सिख युवक भी था।

'ज़माने बाद भेंट हो रही है रहमत भाई!'

'हां, बाबू जी, जब हम लोग शक्ति नगर में थे तो मिलते ही रहते थे। उसके बाद तो आप विकासपुरी चले आए। मैं सीलमपुर चला गया। इस बीच आप लोगों की रोज़ याद आती थी।'

'आपकी मेहरबानी है रहमत भाई कि हमें इतना याद कर लेते हैं, नहीं तो इस ज़माने में कौन किसे याद करता है- वह भी एक अर्से से अलग रहने पर।'

'अरे, ऐसे ज़माने को गोली मारिए बाबू जी! वे भी कोई लोग हैं जिनके दिलों में मुहब्बत न हो, इंसानी जज़्बा न हो।'

'सही कहते है रहमत भाई!'

'बाबू जी, ये रविंदर सिंह हैं। मेरे यहां काम सीखते हैं। ये कुछ कहानी-वहानी लिखते हैं। मैंने इनसे एक दिन कहा-मियां, कहानी लिखते हो तो ठीक से लिखो। हमारे मेहरबान राजीव शर्मा जी बहुत बड़े लेखक हैं। आला दर्जे के इंसान भी। उन्हें तुम्हारी कहानी देखवा देता हूं। वे जो राय देंगे, वह बड़े काम की होगी। इसलिए इन्हें आज ले आया हूं। दिखाओ भाई, अपनी कहानियां।'

मैंने पत्नी को आवाज़ दी, 'अरे भाई, देखो रहमत मियां आए हैं। कुछ चाय-वाय तो ले आओ।'

पत्नी आयीं तो रहमत मियां उठ खड़े हुए, 'आदाब अर्ज़ बहन जी! कैसी हैं?'

'ठीक हूं रहमत भाई कितने दिनों बाद देख रही हूं। ठीक वैसे ही हैं आप आज भी।'

'आप लोगों की दुआ है बहन जी, नहीं तो रहमत अपने-आपमें क्या चीज़ है?'

'अच्छा, चाय लाती हूं।'

'अरे, बैठिए न बहन जी! आपकी चाय और नाश्ते का रस तो मेरी रग-रग में बसा है। आप लोगों से बात करने को जी तरसता है।'

'अरे, बात भी करेंगे और चाय भी पियेंगे। अभी आयी।'

पत्नी चली गयीं तो रहमत मियां कहानी पढ़ते मेरे चेहरे को देखते रहे। शायद वे मेरे चेहरे पर प्रतिक्रिया की रेखाएं पढ़ना चाहते रहे।

पत्नी चाय लेकर आ गयीं और रहमत भाई से बात करने लगीं। तब तक मैं एक कहानी पढ़ गया। दूसरी कहानी पढ़ने की आवश्यकता नहीं रही।

'हां, बाबू जी, कहानी कैसी लगी?' रहमत मियां ने पूछा।

मैंने संक्षेप में रहमत मियां को कहानी सुना दी और कहा कि ऐसी कहानियों मे मैं कोई मदद नहीं कर सकता। यह फ़िल्मी तर्ज़ पर लिखी गयी कहानी है। इन्हें वास्तव में मेरी सहायता चाहिए तो इन्हें कहानी लिखने का ढंग बदलना पड़ेगा। इन्हें अपने आसपास की ज़िन्दगी से कथा उठानी पड़ेगी।

रहमत मियां रविन्दर की ओर मुड़ गये। कहने लगे 'अरे, रविन्दर तुम ऐसी फिल्मी कहानी लिखते हो? अरे यह कोई कहानी है, यह तो जोड़-बटोर है। मुझे मालूम होता कि तुम्हारी कहानी ऐसी है तो मैं तुम्हें बाबू जी के पास लाता ही नहीं। बाबू जी ऐसी कहानी में तुम्हारी क्या मदद करेंगे?'

इसके बाद रहमत मियां ने अपनी ज़िन्दगी में घटित कुछ कहानियां सुनायीं।

मैंने रविन्दर से कहा, 'देखो, ये कहानियां हैं, ये लिखी नहीं गयी हैं घटित हुई हैं ज़िन्दगी में, इसलिए लेखक की कलात्मक काट-छांट के बिना भी जानदार कहानियां हैं। लेखक इन्हीं कहानियों को काट-छांट कर एक उद्देश्य प्रदान करता है, उनके प्रभाव को और तेज़ करता है।'

'बाबू जी, आप मेरी इन कहानियों को अपनी कल

से धार दीजिए न! मेरी कहानियां मेरे पास ही रह जायें तो क्या फायदा? आपकी कलम पर चढ़कर वे न सिर्फ़ अधिक असरदार हो जाएंगी, बल्कि दूर-दूर तक फैल जाएंगी। मेरी कहानियों से समाज का, इंसानियत का कुछ भला हो तो मुझे बेहद चैन मिलेगा बाबू जी!'

'मैं इन कहानियों पर कहानियां लिखूंगा रहमत भाई! आपकी तड़प मैं लोगों तक पहुंचाऊंगा।'

'शुक्रिया, बाबू जी!'

इसके बाद कुछ देर हम बातें करते रहे। फिर रहमत मियां बड़े संकोच से बोले, 'छोटा-सा काम था बाबू जी!'

'अरे, अरे बताइए न, संकोच क्यों कर रहे हैं?'

''मैं अपने बेटे के दाखिले के लिए पास के सरकारी स्कूल में गया था। हेडमास्टर साहब ने कहा कि सीटें भर गयी हैं।'

'तो?'

'मगर सीटें भरी नहीं। उसके बाद तो उन्होंने और कई बच्चों का दाखिला लिया। असरदार लोगों के लिए कोई कायदा-कानून नहीं होता बाबू जी!'

'तो किसी दूसरे सरकारी स्कूल में क्यों नहीं डाल देते?'

'मैं चाहता हूं कि यह बच्चा अच्छे स्कूल में पढ़े और कुछ अच्छा बने। आपकी मेहरबानी से यह काम हो जाएगा तो सकून मिलेगा।'

'मेहरबानी वेहरबानी छोड़िए रहमत भाई! ऐसे लफ़्ज़ हमारे बीच नहीं आने चाहिए। अरे, मैं कुछ कर सकूंगा तो उससे मुझे कितनी खुशी मिलेगी, इसका तो अंदाज़ा लगाइए। हां, ज़रा बच्चे के बारे में ज़रूरी जानकारी लिख लूं। बच्चे का जन्म?'

'2 अक्टूबर, 1985।'

'बच्चे का नाम?'

'मोहन अली।'

'मोहन अली?' चौंककर मैंने पूछा, 'आपका ही बेटा है न?'

'हां, बाबू जी, अब मेरा ही कहा जाएगा न।'

'अच्छा! अब समझा। मगर रहमत भाई, कोई इस्लामी नाम भी तो रख सकते थे।'

'रख तो सकता था, लेकिन मन नहीं माना। भीतर बार-बार कोई कहता रहा कि यह हिन्दू सन्तान है रहमत! इसका नाम हिन्दू ही रखो। मन होगा तो अली लगाएगा। मन होगा तो निकाल देगा। तुम तो पालने-पोसने का जिम्मा लो, उसे प्यार दो, उससे प्यार पाओ।'

'क्या बच्चे को भी मालूम है कि वह आपका बेटा नहीं, किसी हिन्दू का बेटा है?'

'नहीं, उसे नहीं मालूम। उसे मालूम कराकर उसे दो भागों में क्यों बांटूं?'

'फिर इस नाम से उसे अटपटापन नहीं लगता होगा? और उसके साथी भी तो पूछते होंगे- तेरा यह कैसा नाम है रे? तू है तो मुसलमान का बेटा और नाम है मोहन और फिर अली।'
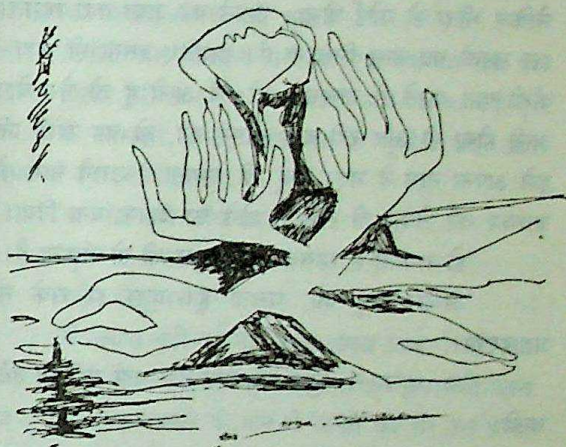
'नहीं, उसे समझा दिया है कि बेटे, गांधी जी बहुत बड़े इंसान थे। उनके लिए मेरे मन में गहरी इज़्ज़त है। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए अपनी जान दी थी इसलिए उनके नाम पर तुम्हारा नाम रखा है। और तेरी पैदाइश भी तो गांधी जी की पैदाइश के दिन हुई है। तू न हिन्दू है न मुसलमान है, बस एक इंसान है। इस पर वह बहुत खुश हो गया। अब कोई पूछता है तो यही समझाता है।'

'लेकिन मोहल्लेवालों को तो असलियत मालूम होगी।'

'इसीलिए तो मैं शक्तिनगर छोड़कर सीलमपुर चला गया।'

हम थोड़ी देर चुप रहे। फिर रहमत मियां बोले, 'उस स्कूल का हेडमास्टर भी बच्चे का नाम देखकर चौंका था। सवाल किया-यह कैसा नाम?'

'अरे, नाम तो नाम है जनाब, क्या मोहन और क्या अली। यह तो मां-बाप की पसन्द है कि वे क्या नाम रखते हैं। सारे नामों के नीचे होता तो इंसान ही है न?'

'बहुत अच्छा कहा आपने।' मैंने कहा।

'लेकिन बाबू जी, उस हेडमास्टर की समझ में नहीं आया। वह शक की निगाह से देखता रहा और बोला- मियां किसी हिन्दू का लड़का उठा-पटा लाए हो क्या? और नाम के आगे अली लगा दिया।

'बाबू जी, मुझे गुस्सा तो बहुत आया। सोचा, इतनी पाक कुर्सी पर बैठे हुए आदमी की सोच कितनी नापाक है, लेकिन भीतर से कोई बोला- अपने को ज़ब्त करो रहमत। इस लड़के का नाम लिखवाना है। इसलिए इतना ही कहा- कैसी बात करते हैं जनाब! अरे, मैं अली हूं तो मेरा बेटा अली होगा ही और रही बात मोहन की, तो वह गांधी जी इसे अपना नाम दे गए। बाबू जी, लगता है उसने नाम के चक्कर को लेकर ही सीट न होने का बहाना बना दिया।'

'हो सकता है रहमत भाई, कुछ भी हो सकता है।'

'अच्छा बाबू जी, चलता हूं। कुछ हो सके तो बताइएगा।'

'हां, कुछ-न-कुछ तो होगा ही। वहां नहीं तो और कहीं।'

तब मैं शक्तिनगर में था। रहमत भाई भी मेरे घर से थोड़ी दूर पर रहते थे। अपने घर में ही दर्जी का काम करते थे। मेरे परिवार के कपड़े बाज़ार में सिलते थे लेकिन एक मित्र ने एक दिन रहमत मियां का परिचय देते हुए कहा, 'एक बार उनसे भी सिलवाकर देखिए। वे पैसे भी कम लेते हैं और दूसरे दर्जियों से अच्छा सिलते हैं। मैंने उन्हें आज़माया। और फिर तो वे ही मेरे कपड़े सिलने लगे। रहमत मियां मस्त-मौला व्यक्ति हैं। मूड आया और मेरी आवश्यकता रही तो सिलकर दूसरे दिन भी दे सकते थे और नहीं तो अर्से तक पता नहीं चलता था। उनके घर पहुंचिए तो गायब। पत्नी को कुछ पता नहीं होता था। मैं झल्लाता था। बच्चे झल्लाते थे। बच्चों ने तो अपने कपड़े देने बन्द कर दिए लेकिन मेरे भीतर न जाने कौन-सी बेबसी थी कि इन सबके बावजूद रहमत मियां से ही कपड़े सिलवाता था। मैं उन्हें पहचान गया था और वे मुझे। चाहे मैं उनके यहां गया होऊं, चाहे वे मेरे यहां आए हुए हों, कामकाज की हलकी बातचीत के बाद हम दार्शनिक हो उठते थे।

उनके घर होता था तो उनके घर की मामूली स्थिति देखकर सोचता था- कैसा है यह आदमी। इतना हुनर इसके हाथ में है और एक दुकान तक नहीं खोल सकता। और घर भी काम ले आता है तो मन हुआ किया, मन हुआ नहीं किया। मन हुआ तो दिन-भर में दे दिया, नहीं मन हुआ तो दो महीने तक पता नहीं। औलिया है। ऐसे फक्कड़ से कोई दुकान चलती है क्या? कोई घर सम्पन्न होता है क्या? इसीलिए तो रहमत भाई दुकान नहीं खोलते।

एक दिन रहमत मियां मेरे घर आए। बोले, 'आपसे अकेले में कुछ बात करनी है। आपके सिवा कोई मेरे दिल की बात नहीं समझ सकता, इसलिए जब भी उलझन में होता हूं, आप याद आते हैं। सही सलाह भी देते हैं और राज़ को राज़ भी रखते हैं।'

'हां, बताइए। घर में कोई है नहीं, आप निश्चिंत हो बात करें।'

'मेरे मकान मालिक हैं न! अरे, मुकेश जी।'

'हां हैं, तो?'

'उनके बड़े लड़के शादी के बाद दुबई चले गए। उन्हें गए हुए तीन साल हो गए। उनकी जोरू यहीं है- सास, ससुर, देवरों, ननदों के साथ।'

'तो?'

'तो उनकी जोरू को बच्चा पैदा होनेवाला है।'

'तो?'

'अरे तो का क्या मतलब? औरत का पति तीन साल से परदेस में हो और उसे बच्चा पैदा होनेवाला हो तो कुछ हुआ ही नहीं। आप ऐसे 'तो' कर रहे हैं जैसे कोई कहानी सुन रहे हों।'

मुझे झटका लगा। हां, ठीक तो कह रहे हैं रहमत मियां। यह सुनकर मुझे कोई झटका ही नहीं लगा। 'सॉरी रहमत भाई, हम ऐसी खबरों के ऐसे आदी हो गए हैं कि अब सचमुच इनसे झटका नहीं लगता?'

'अरे, हम कितने भी आदी हो जाएं लेकिन क्या इन घटनाओं के भीतर छिपे हुए सवाल कभी खत्म होंगे? क्या उनसे उठनेवाला इंसानी दर्द कभी ग़ैर-इंसानी हो जाएगा?

'हां, आगे कहिए रहमत भाई।'

'मुकेश खानदान ने तो यह राज़ खूब छिपाया लेकिन मेरी बीवी सकीना उनके घर आती-जाती रहती थी। राज़ धीरे-धीरे खुल ही गया। यह भी मालूम हुआ कि यह बच्चा मारा जाएगा या फेंक दिया जाएगा। लेकिन चूंकि छिपाते-छिपाते आठवां या नवां महीना लग गया इसलिए फ़िलहाल बच्चा गिरवाने से मां की ज़िन्दगी जा सकती है फिर बवाल मचेगा। इसलिए यही तय हुआ कि पैदा होने के बाद देखा जाएगा।

'बाबू जी, मैं यह जानकर परेशान हो गया। मेरी तो नींद उड़ गयी। मैं चाहता रहा यह बच्चा ले लूं और सकीना की सूनी गोद भर दूं। लेकिन मुकेश जी से कहूं कैसे? और मैंने कुछ नहीं किया तो बच्चे की हत्या का भागीदार मैं भी बनूंगा। ज़िन्दगी-भर मेरा ज़मीर मुझसे पूछेगा-तुमने बच्चे को बचाने के लिए कुछ किया क्यों नहीं? तुम भी कातिल हो। मन में ठान लिया कि अब चाहे जो भी हो, बच्चा लेकर रहूंगा।
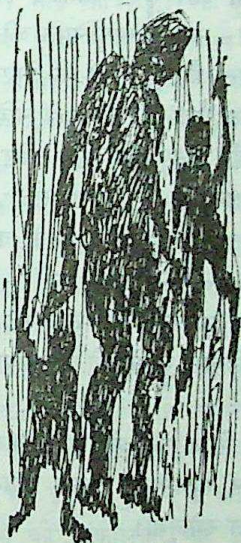
'एक दिन मुकेश जी और मैं साथ ही बस से उतरे और साथ ही घर की ओर चल पड़े। रात के नौ बजे थे। सोचता रहा कि यही समय है बात चलाने का। नसे पूछा-

'दुबई से कोई चिट्ठी-पत्री आयी?'

'हां, आती ही रहती है।'

'कैसे हैं बरखुरदार?'

'ठीक ही है।'

'कब लौट रहे हैं?'

मुकेश जी ने एक बार शक की निगाह से मुझे देखा-फिर एक डूबी हुई आवाज़ में बोले, 'पता नहीं। हो सकता है अगले तीन-चार महीने में कभी आ जाएं।'

'ज़रा उनका पता दीजिएगा, मुझे उन्हें चिट्ठी लिखनी है।'

'क्यों?' मुकेश जी चौंक उठे।

'क्यों? क्या मैं उन्हें चिट्ठी नहीं लिख सकता। मेरे भी तो अज़ीज़ हैं, कितनी याद आती है उनकी।'

उन्हें मेरी चिट्ठी वाली बात परेशानी में डाल गयी। मैंने मुकेश जी से कहा-'मुकेश जी, ज़रा दस मिनट इस पार्क में बैठ जाते हैं, कुछ ज़रूरी बात करनी थी।'

'अरे मियां, घर पर कर लेंगे।'

'नहीं, घर पर बात नहीं हो पाएगी। यह जगह ठीक है। आपका ज़्यादा समय नहीं लूंगा।'

वे मेरी बात मानकर पार्क के एक खामोश बेंच पर बैठ गए। और मेरी ओर इस तरह देखने लगे कि हां कहिए।

मैं खांसकर बोला, 'बात यह है मुकेश जी, आप जानते हैं कि मैं बेऔलाद हूं।'

'हां तो?' वे चौंककर बोले।

'मुझे वो बच्चा चाहिए।'

'कौन-सा बच्चा?'

'मैं ज़्यादा नहीं कहूंगा। आप समझ जाइए। यदि वह बच्चा मरा तो मैं राज़ खोल दूंगा क्योंकि इस राज़ को जान गया हूं और राज़ जानने के बाद मैं अपने को भी उस हत्या का ज़िम्मेदार मानूंगा।'

वे खामोश हो गए जैसे कि सोच रहे हों कि आप किस बच्चे की बात कर रहे हैं। मैं फिर बोला, 'मैं राज़ को राज़ रहने दूंगा। आप मुझे इतने दिनों से जानते हैं तो आपको मुझ पर भरोसा करना ही चाहिए। मैं उसे पालूंगा-पोसूंगा, पढ़ाऊंगा-लिखाऊंगा, बड़ा बनाऊंगा। सोचिए तो आपका मुझ पर और बच्चे पर कितना एहसान होगा।'

'चलिए घर चलते हैं, आपका होश ठिकाने नहीं है।'

'मेरा तो है। आपका जब ठिकाने पर आ जाए तो सोचिएगा।'

कुछ दिन बाद रहमत मियां आए और बोले, 'बाबू जी, बच्चा ले आया।'

'बहुत अच्छा किया। उन्होंने दे दिया है?'

'नही बाबू जी, उन्होंने दिया कहां? मैंने ले लिया। मुकेश जी की बहू ने चुपके से सकीना को बताया कि मुकेश जी उसे लेकर ग्वालियर यानी उसके मायके जा रहे हैं और उनकी योजना है कि बच्चे को संडास में ले जाकर नीचे गिरा दिया जाए। यह सुनकर मैं बहुत बेचैन हो गया। क्या करूं या क्या न करूं। आखिर जिस दिन उन्हें ग्वालियर जाना था, मैं भी स्टेशन पर पहुंच गया और जैसे ही ये लोग गेट से अन्दर होने लगे, मैंने मुकेश जी को बांह पकड़कर पीछे खींच लिया और अकेले में ले जाकर कातर होकर उनसे कहा, 'आप यह क्या करने जा रहे हैं मुकेश जी?'

'आप मेरी मुसीबत जानते हैं रहमत मियां!'

'हां जानता हूं। लेकिन मैं आपकी मुसीबत को अपनी खुशी में बदलना चाहता हूं। देखिए मुकेश जी, मुझे किसी बदनामी-अदनामी का डर नहीं है। आप लोग बदनामी के डर से एक नन्हीं-सी जान से खेल रहे हैं। उसे मेरी झोली में क्यों नहीं डाल देते?'

'नहीं, नहीं, यह नहीं होगा रहमत मियां,' कहते हुए चलने लगे तो मैंने कहा, 'सुन लीजिए, अभी तो मैं आपकी इज़्ज़त बचाने के लिए अपनी इज़्ज़त दांव पर लगा रहा हूं, इसके बाद मैं आपके घर का सारा भंडाफोड़ कर दूंगा और बच्चे की हत्या का जुर्म लगाऊंगा।'

एक ओर की भीड़ कह रही थी- यह मुसलमान की दुकान है। इसमें हिन्दू भी काम करते हैं। हिन्दुओं को निकालकर इसे मार दो, दुकान लूट लो और जला दो। दूसरी ओर की भीड़ कह रही थी- यह मुसलमान तो है लेकिन काफ़िरों से प्रेम करता है। यहां तक कि इसने अपने बेटे का हिन्दू नाम रखा है। इसकी दुकान में कई हिन्दू काम करते हैं। उन हिन्दुओं को निकालकर मार डालो। नहीं माने तो इसके सहित दुकान फूंक दो।

'मुकेश जी ठिठक गए। कुछ सोचकर बोले, 'खड़े रहिए।' जाकर बहू की गोद से बच्चा लाए और मेरी गोद में डालते हुए बोले, 'अब मेरी इज़्ज़त आपके हाथ में।'

'मैंने कहा, 'आप बेफ़िक्र रहिए मुकेश जी!' रात के अंधेरे में हम अलग-अलग घर लौट आए।

'बच्चे को देखते ही सकीना बड़बड़ायी, 'आप नहीं माने न। उठा ही लाए यह बला।'

'देखो सकीना, मैं तुमसे पहले ही कह चुका हूं कि पाल-पोस लूंगा। तुम मुझसे हुज्जत न करो।' मैंने कहा।

'आधी रात हो गयी थी। बच्चा शायद भूखा था। चिल्लाए जा रहा था। मैंने रूई के फाहे से उसके मुंह में दूध की बूंदें टपकायीं। पेट में कुछ गया तो चुप हो गया। उसे अपनी बगल में सुलाया था। मैं सो नहीं सका। वह रह-रहकर पेशाब करता था और मैं उसके नीचे सूखे कपड़े डालता रहता था। सवेरे उठकर दातौन-कुल्ला करने गया। लौटकर आया तो देखा सकीना उसके चेहरे को ग़ौर से देख रही थी। मैं चुपचाप सकीना के पीछे खड़ा हो गया। बच्चा बार-बार मुस्करा रहा था। सकीना उसकी मुस्कराहट में डूबी हुई थी।

'बाबू जी, मैं जानता था कि आज नहीं तो कल सकीना की ममता उभर आएगी। नहीं तो क्या मैं अपने भरोसे इस नन्हीं जान को लाने की हिम्मत करता?'

रहमत भाई चले गए। उनकी इंसानी महक से मेरा मन भर आया था। इसके कुछ समय बाद ही वे सीलमपुर चले गए और मैं विकासपुरी आ गया।

तब से उनसे भेंट नहीं हुई थी। आज आए तो यह अतीत ताज़ा हो उठा। वे उस लड़के को अच्छी शिक्षा देना चाहते हैं लेकिन मुसीबत खड़ी हो जाती है आम आदमी की मामूलियत की। बड़े लोगों के बच्चों के लिए सीट की कोई सीमा नहीं लेकिन इनके बच्चे के लिए सीट भर गयी है। समस्या खड़ी होती है नाम की। बच्चे का नाम मोहन अली क्यों? जिस नाम के पीछे रहमत भाई का पूरा इंसानी जज़्बा लगा हुआ है उसका अर्थ व्यावसायिक दिमाग वालों को समझाया जा सकता है क्या?

मैंने ठान लिया कि मैं कुछ करूंगा। अभी तो छुट्टियां हैं। स्कूल खुलने के समय उधर जाऊंगा और कोई-न-कोई स्रोत खोजूंगा।

छुट्टियां बीत गयीं। पता चला कि मेरे मित्र सीलमपुर में एक स्कूल चलाते हैं। अच्छा स्कूल है। उसमें मोहन अली के दाखिले के लिए बात कर ली थी। लेकिन रहमत मियां नहीं आए। उनके घर का पता मुझे नहीं मालूम। पिछली बार न उन्होंने दिया, न मैंने मांगा ही। वे खुद आने को कह गए थे इसलिए पता लेने की बात रह गयी। शायद कहीं दाखिला हो गया हो इसलिए नहीं आए।

एक दिन वही सिख युवक रविन्दर मेरे घर आया

बहुत उदास था। आकर चुपचाप मेरे कमरे में बैठ गया।

'कहां हैं रहमत अली? मैं तो कई दिन से उनका इंतज़ार कर रहा हूं।'

वह चुप रहा।

'मोहन अली का दाखिला हो गया क्या?'

वह चुप रहा। उसके चेहरे पर उदासी की परत गाढ़ी होती गयी।

मैंने झल्लाकर पूछा, 'तुम बोलते क्यों नहीं, कहां है रहमत भाई?'

वह फफककर रो पड़ा। हबसते हुए बोला, 'वे नहीं रहे।'

'अरे, यह क्या सुन रहा हूं। कब-कब? उन्हें क्या हुआ था?

'सीलमपुर के दंगे में।'

हे ईश्वर, तुम भी कैसे-कैसे लोगों को सजा देते हो? उदासी का बोझ मेरे तन-मन पर लद गया। कुछ देर बाद रविन्दर प्रकृतिस्थ हुआ। बोला, 'दंगा अचानक शुरू हो गया था। रहमत भाई की छोटी-सी दुकान के एक ओर हिन्दू मोहल्ला है, दूसरी ओर मुसलमान मोहल्ला। उसमें वे और ज़ीवन महतो सिलाई का काम करते हैं। मैं और यूसुफ़ उनके यहां काम सीखते हैं। उस दिन मोहन भी दुकान पर ही था। शोर हुआ तो हम लोग चौंके। निकलकर देखा, दोनों ओर दंगाइयों की भीड़ दिखायी पड़ी। हम लोगों ने फट से दुकान बंद कर अपने को अन्दर कर लिया।

'एक ओर की भीड़ कह रही थी- यह मुसलमान की दुकान है। इसमें हिन्दू भी काम करते हैं। हिन्दुओं को निकालकर इसे मार दो, दुकान लूट लो और जला दो। दूसरी ओर की भीड़ कह रही थी- यह मुसलमान तो है लेकिन काफ़िरों से प्रेम करता है। यहां तक कि इसने अपने बेटे का हिन्दू नाम रखा है। इसकी दुकान में कई हिन्दू काम करते हैं। उन हिन्दुओं को निकालकर मार डालो। नहीं माने तो इसके सहित दुकान फूंक दो।

'हम सभी थरथर कांप रहे थे, लेकिन रहमत चाचा दिलासा दे रहे थे-मेरे रहते तुम्हारा बाल बांका नहीं होगा। जब शोर बढ़ गया और लगा कि बचाव मुश्किल है तो हम सबके रोकने के बावजूद रहमत चाचा दुकान से निकल गए और हमसे कहा-दुकान भीतर से बंद कर लो।

'वे छाती तानकर खड़े हो गए और ललकार कर बोले, 'देखो तुम्हारे सामने मैं खड़ा हूं। मैं न हिन्दू हूं न मुसलमान। मैं इंसान हूं और मेरी दुकान में भी न हिन्दू है न मुसलमान। सब मेरे भाई हैं। बेगुनाहों का खून बहाने निकले हो, कुछ तो शर्म करो।'

'दरवाज़ा खोलवाओ, दरवाज़ा खोलवाओ।'

'दरवाजा नहीं खुलेगा। जिसे दरवाजे के अन्दर जाना हो, पहले मेरी छाती पर से गुजरे।'

'धाय, न जाने किस ओर से एक गोली आयी और 'या खुदा' कहकर रहमत चाचा वहीं गिर पड़े। हम भीतर भय से कांप रहे थे। तभी पुलिस की गाड़ी का सायरन सुनायी पड़ा। गोलियों की आवाज़ आयी और लगा कि भीड़ भाग रही है।

'पुलिस को पास आया जान हमने फाटक खोल दिया और उसी के साथ अपने-अपने घर पहुंचे। फिर कर्फ्यू लगा। और और......' रविन्दर फिर रोने लगा।

'और मोहन अली?'

'मोहन अली अपनी बेहाल बेवा मां के साथ है। रहमत चाचा का एक ही सपना था कि मोहन अली की अच्छी पढ़ाई हो। वे कहते थे कि उसमें हिन्दू का खून है, मुसलमान की परवरिश है, सिख युवक की मुहब्बत है। मेरी ख्वाहिश है कि पढ़-लिखकर यह एक इंसान बन जाए।'

'लेकिन रहमत भाई का सपना सपना रह गया।' मैं बोला।

'नहीं बाबू जी, आप उसे दाखिला दिला दीजिए।'

'उसके बाद?'

'रहमत चाचा अपनी दुकान छोड़ गए हैं। मैं, जीवन महतो और यूसुफ़-तीनों मिलकर वह दुकान चलाएंगे और कोशिश करेंगे कि उनका सपना पूरा हो।'

'मैं दाखिला ज़रूर दिलाऊंगा रविन्दर! ईश्वर तुम्हारी मुराद पूरी करे।'

'अच्छा बाबू जी, चलता हूं।'

'ठीक है, जाओ।'

वह चलने लगा तो मैंने कहा, 'सुनो, अब कहानी लिखना तो ज़रूर दिखाना। तुम्हारी कहानी की असली ज़िन्दगी अब शुरू होगी।'

वह मुस्कराया और आगे बढ़ गया।

और मैं सोचने लगा-मुझे भी तो लिखनी है रहमत भाई की कहानी।

38-आर, वाणी विहार, उत्तम नगर, नयी दिल्ली-59

कमल कुमार

महक

सुरिन्दर कौर बाहर खड़ी व्याकुल हो रही थी। उसने घड़ी देखी-बारह बज चुके थे। सतबीर की बस उसके वहां पहुंचने से पहले आ गयी तो सड़क पर अकेला खड़ा घबरायेगा। पर वह क्या करे। दूर से आता खाली स्कूटर देखा तो उसने आवाज़ दी थी- 'स्कूटर! स्कूटर! रोको ऽऽ।'

स्कूटर वाला रुका जरूर था, पर उसकी हांक से नहीं। सुरिन्दर कौर स्कूटर की तरफ बढ़ी थी। इससे पहले कि वह कुछ कहे, स्कूटर वाला उपेक्षा से बोला था- 'गड्डी खाली नहीं।'

सुरिन्दर कौर को गुस्सा आया- 'खाली तो है।'

'बोला न आपणूं, गड्डी खाली नहीं।' स्कूटर वाला जैसे काटने को आया था। सुरिन्दर कौर अकुलाई थी। खाली स्कूटर लेकर बैठा है और कहता है, खाली नहीं। यहां तो यह आम बात है। तकरार में न पड़ कर वह दूसरी सवारी ले लेती, पर इस समय क्या करे, उसकी समझ में नहीं आ रहा था। उसने फिर कोशिश की थी- 'मुझे जरूरी जाना है...... किराया ज्यादा ले लेना' कह कर वह स्कूटर में बैठने को हुई थी।

'ओऽए नहीं जाणां किहा न आपणूं।' वह ऊंची आवाज में झुंझलाया था।

सुरिन्दर कौर के पैर वहीं ठिठक गये थे। उसने घड़ी देखी- सवा बारह बज गये थे। सड़क पर अकेले खड़े सतबीर की बात सोचकर उसे घबराहट हुई थी। उसने चारों तरफ नज़र दौड़ाई-कहीं कोई सवारी आती-जाती दिखाई नहीं दे रही थी। वही स्कूटर वाला खाली स्कूटर लिए बैठा था। उसने उसकी तरफ देखा-बीच की उम्र का सरदार था। हरी पगड़ी पहने और शाल की बुक्कल मारे मांजा लगी डोर-सा अकड़ा बैठा था। सुरिन्दर कौर ने पलभर सोचा और फिर झटके के साथ उछलकर स्कूटर में बैठ गयी।

'ओऽए बोला ना आपणू नहीं जाणा। गड्डी वापस करनी अै। टैम हो गया। खाना वी खाना अै।' वह गुर्राया था। स्कूटर स्टार्ट करते हुए बोला था- 'उत्तरो छेती।'

स्कूटर शायद गियर में था। झटका खा कर रुक गया था। सुरिन्दर कौर ने आखिरी कोशिश की- 'वीर जी! आप सीधे ही तो जायेंगे। चौराहे पर छोड़ देना। बड़ी मेहरबानी होगी। वहां से दूसरी सवारी मिल जायेगी। बहुत जरूरी जाना है।'

स्कूटर वाले ने गौर से उसकी तरफ देखा था और स्कूटर स्टार्ट करके चल पड़ा था- 'कित्थे जाना अै।'

'आप बस चौराहे पर छोड़ देना वहां से दूसरी सवारी मिल जायेगी।' उसने सोचा था- यहां खड़े रहना व्यर्थ था। चौराहे पर कुछ-न-कुछ मिल जायेगा। इसीलिए जबरदस्ती-सी करती हुई वह स्कूटर में बैठ गयी थी।

'फिर वी आपणे जाना कित्थे अै?'

'आर.के.पुरम।'

'चंगा, बैठो आराम नाल।'

स्कूटर वाले ने गुरवाणी की टेप लगा दी थी। उसने स्कूटर की रफ्तार तेज कर दी थी। सामने शायद कोई गड्ढा था। स्कूटर उछला तो वह बोली- 'जरा हौले।'

'आप चिंता न करो। आराम नाल बैठो। राजी-खुशी पहुंचावांगा।'

चौराहे पर पहुंचते ही सुरिन्दर कौर ने रोका था- 'बस यहीं रोक दो।'

'हुण आप बैठे रहो। इत्थे नहीं मिलणी कोई सवारी।'

सुरिन्दर कौर निश्चिंत हो गयी। पीछे पीठ टिका कर आराम से बैठ गयी। हल्की बूंदाबांदी प्रारम्भ हो गयी थी। उसे फिर ध्यान आया- सतबीर की बस पहले आ गयी तो सड़क पर अकेला खड़ा भीगेगा। उसने देखा, स्कूटर वाला शीशे से बार-बार उसकी तरफ देख रहा था।

'इदर का परदा डाल दूं, बारिश पड़ने लगी अै?'

उसके भीतर डर की एक लहर-सी दौड़ गयी थी। उसने कहा- 'नहीं।'

'विचकार हो के बैठो, आप गिल्ले हो जाओगे'- उसने कहा।

थोड़ी देर बाद उसने फिर पूछा था- 'पंजाब दे अ

आप?'

'हांऽ।' न चाहते हुए भी सुरिन्दर कौर ने कहा था।

'कौन-सा पिंड अे आप दा जी?'

सुरिन्दर कौर को लगा जैसे किसी ने उसके कच्चे जख्मों को छील दिया हो। उसने अपने को जब्त किया था और तटस्थ हो कर कहा था- 'सिंघवा।'

'सिघवा!' वह सीट से उछल कर पीछे की तरफ मुड़ा था।

उसने उसे समझाते हुए कहा था- 'हां......लुधियाना ओर जगरावां के बीच में.....'

वह उसकी बात काट कर होऽ होऽ कर हंसने लगा था। आश्चर्य से सुरिन्दर कौर ने पूछा था- 'क्या हुआ?' तो उसने कहा- 'मैं भी सिंघवा का हूं। आप मैनूं दस्स रहे हो......।'

उसने बात खत्म करने के लिए कहा था- 'अच्छा!'

वह फिर बोला- 'आप जी ने केस कटा लिए ताहि नहीं पहचाना आपणूं।'

सुरिन्दर कौर को यह व्यक्तिगत आक्षेप अच्छा नहीं लगा, पर वह चुप रही।

'करिए वी की, परदेस है न। जैसा देश वैसी बोली, वैसा वेश। देखो '84 के दंगों के बाद मैं वी दाढ़ी कटा लई। ते....।' वह उदास हो गया था।

सुरिन्दर कौर ने चाहा कि पूछे- 'ते फिर.......?' पर पता नहीं क्यों उसकी उदासी देख कर या यह सोचकर कि किसी अपरिचित स्कूटरवाले से इस तरह आत्मीय बातचीत करना ठीक नहीं, वह चुप रही।

'ओत्थे आप जी दा घर कित्थे सी?' उसने पूछा।

सुरिन्दर कौर को लगा था कि उसके ये सवाल छुरियों की नोक बनकर उसके कलेजे को गोद देंगे। उसने फिर अपने पर काबू पाया था।

'खालसा कॉलेज के आगे जाकर चौधरी रणजीत सिंह की हवेली।'

'आप जी दे पिता होए?'

'ना! दारजी!'

बीती घटना याद करके सुरिन्दर कौर का कलेजा मुंह को आने लगा था। उसने मन में सोच लिया था- 'अगर अब उसने बात आगे बढ़ायी तो वह स्कूटर रोक कर उतर जायेगी, फिर जो हो सो हो।'

'पिंड छोड़ कर आप जी दिल्ली कद आये?'

सुरिन्दर कौर ने चैन की सांस ली थी- 'मैं तो बहुत पहले ही आ गयी थी। शादी के बाद से यहीं हूं- पन्द्रह बरस से।'

'चंगा....। साइडे सरदार साहब की करदे ने?'

उसने जवाब देते हुए कहा- 'मैं तां हिन्दू नाल ब्याही गयी सी। वे प्राइवेट फर्म में हैं।'

'चलो चंगा अे बीबी। किरपा वाहे गुरु दी।'

उसने गर्दन ऊपर उठाकर अरदास-सी करते हुए दोनों हाथ ऊपर उठाये थे- 'सब रब्बे वाहे गुरु।'
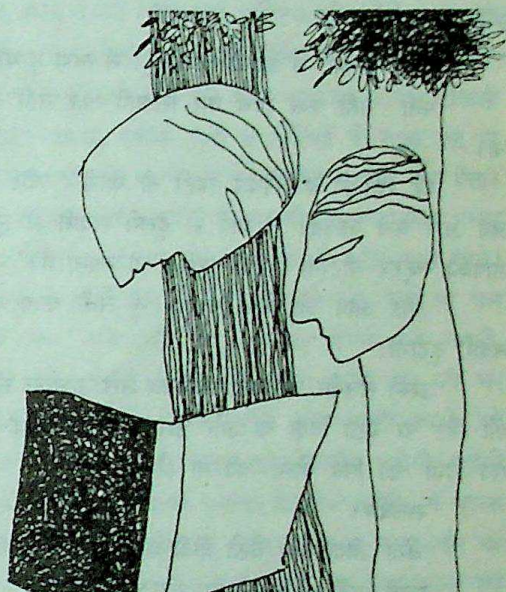
सुरिन्दर कौर का मन मसोस रहा था। पर उसके सवाल का जवाब न दे ऐसा भी उससे नहीं हो पा रहा था। वह फिर पूछ रहा था- 'बाल-बच्चे।'

'तीन हैं। बड़ी लड़कियां हैं। सबसे छोटा काका है। उसी को बस स्टॉप से लेना है।'

'चंगा।'

सुरिन्दर कौर ने देखा इस जगह बहुत बारिश हुई थी। उसे सतबीर की चिंता हुई थी। पर सतबीर बस से उतर कर सामने की दुकान की परछत्ती के नीचे खड़ा था। उसकी जान में जान आयी थी।

'बस, यहीं रोक दो वीर जी!'

उसने स्कूटर मोड़कर बरामदे के साथ छज्जे के नीचे लगा दिया था। तभी सिपाही ने आकर टोका था- 'ऐ,

स्कूटर स्टेंड पर लगाओ। यहां नहीं खड़ा करना।'

'आ होऽ पता अे। सवारी नूं उतर लेने दो।'

पर सिपाही अकड़ कर सामने आ खड़ा हुआ था- 'सुना नहीं। उधर ले जाओ स्टेंड पर गाड़ी।'

'ओए पुलिसिए, बारिश पड़ रही अे। सवारी नूं क्या भीगने दें?' फिर वह सुरिन्दर कौर की तरफ मुड़ा था- 'आप उतरो बीबी रानी, आराम नाल। रुको जरा, इत्थे पाणी अे, गड्डी अग्गे करता हूं।'

'कोई बात नहीं,' कहकर सुरिन्दर कौर ने रोका था, पर वह नहीं माना था। स्कूटर मोड़कर बरामदे के साथ लगा दिया था।

'आप जाओ, ले आओ काके नूं। मैं खड़ा हूं यहीं।'

पता नहीं क्या सोच कर सिपाही फिर नहीं बोला था।

वह सतबीर को लेकर लौटी तो बोली- 'वीर जी। अब आप चले जाओ। मैं यहां से दूसरी सवारी ले लूंगी। आपको स्कूटर लौटाना है और खाना भी खाना है।'

'ओऽ आप जी बैठो। काके नूं लेके कहां दूसरी सवारी ढूंढोगी।'

उसने सतबीर की बांह पकड़कर उसे उठाकर स्कूटर की सीट पर बैठा दिया था और उसका बस्ता उसके पास रख दिया था। फिर बोला 'की नां अे पुत्तर तेरा?'

'सतबीर।'

'चंगा जींदा रवैं। बैठो बीबी रानी आप वी।'

उसने पानी से बचाते हुए स्कूटर मोड़ा था- 'क्यो बीबी, पिंड तो जाना होता होगा आप दा।'

सुरिन्दर कौर की छाती को फाड़कर एक जोर का झोंका निकला था। वह जब्त नहीं कर पायी और फूट पड़ी।

'वहां अब क्यों जाऊंगी मैं। कौन बैठा है मेरा वहां, मां-पिता जी, दोनों जवान भाइयों को दिन-दहाड़े गोलियो से भून दिया जालिमों ने। किसी को नहीं बख्शा उन्होंने... सब खत्म कर दिया।'

वह सन्नाटे में आ गया था।

सुरिन्दर कौर ने कहा था- 'बस यहां रोक दो।'

वह उतरी थी। सतबीर को उतारा था। वह भी स्कूटर छोड़ कर सामने आ खड़ा हुआ था। एक पल सोचकर बोला था- 'इत्थे रहते हो।'

'हां, यहीं सामने। अच्छा वीर जी। बहुत शुक्रिया।' मीटर देखकर सुरिन्दर कौर ने दस का नोट उसकी तरफ बढ़ाया था।

'नाऽ शुक्रिया काहे का और ये रुपये आप रक्खो अपने पास ही।'

सुरिन्दर कौर ने विरोध करना चाहा था तो उसने रोका था- 'सुनो बीबी रानी, जरा रुको।' उसने स्कूटर की पिछली सीट उठाकर बक्से में से दो पोटलियां निकाल कर उसको थमा दी थीं।

'ये रक्ख लो आप। पिंड तों अज सवेरे हरवेल सिंह आया सी ते दे गया सी। केहदा सी- रात नूं आके भाभी गुरमीत कौर के हाथ का बना साग-रोटी खायेगा। ते हरभजन ते हरबंस नूं पिंड दी कहानियां सुनाएगा। उसनूं की पता कि '84 दे दंगिया विच न गुरमीत कौर रई ते न हरभजन ते हरबंस। जिंदा जला दित्ता सी सबनूं एक साथ। मैंने किसी को खबर नहीं दित्ती सी। फेदा वी की सी- इत्थे वी अग ते उत्थे वी अग बलदी वे।......हुण की, कहीं पड़े रहो, कहीं भी खा लो। चंगा, जो मरजी वाहे गुरुजी दी। जिवें रक्खे तिवें रहना।'

उसने सतबीर के सिर पर हाथ रखा और जेब से पचास का नोट निकाल कर सतबीर के हाथ में थमा दिया- 'तेरी मिठाई वास्ते पुत्तर।'

सुरिन्दर कौर हतप्रभ-सी खड़ी थी। उसने रोका था- 'ये क्या करते हो वीर जी। ऐसे नहीं......।' उसने बीच में टोका था- 'नाऽ बीबी रानी ऐसा नहीं कहते। हुण कदे न कैहना पिंड विच मेरा कोई नहीं। मैं हूं न सिंघवा दा, आप जी दा वीर। चंगा बीबी रानी। सुख रखे वाहे गुरु।' वह स्कूटर मोड़ कर तीर-सा निकल गया था। सुरिन्दर कौर अभी भी वैसी-की-वैसी खड़ी थी। फिर जैसे सपने से जागी हो। उसने पोटलियों को सम्भाला और दूसरे हाथ से सतबीर की उंगली पकड़ी। पोटलियों से ताजा सरसों के साग की तथा घर की चक्की पर पिसी मक्की के आटे की महक उसके नथुनों से होती हुई उसके पूरे वजूद में समाती जा रही थी। सतबीर ने पूछा था- 'ये कौन था मम्मी?'

सुरिन्दर कौर एक पल रुकी थी- 'तेरा मामा था।' सतबीर की उंगली थामे वह गेट खोल कर अन्दर चली गई थी।

38-डी, प्रेस एन्क्लेव, नयी दिल्ली-110017

खालिद हुसैन

नागफनी

कल रात को जो आंधी चली, जो तूफान उठा, जो बिजली गिरी उससे आप जानते हैं किसका घर उजड़ गया? नहीं मालूम....भला आपको.......आपको कैसे पता हो सकता है......यहां कौन किसकी खबर रखता है। यहां तो सब अपने-अपने रंगमहल में मस्त रहते हैं। खैर.....आइए, मैं आपको बताता हूं कि कल रात जुलाहों की ठड्डी के किस-किस के घर पर बिजली गिरी। किस-किस झोपड़ी की दीवारें हिलीं और किस-किस के घर की दीवारें गिरीं और मलबे के नीचे दबकर कौन-कौन मर गया-नाई मंगलाड़......हां, वही जो तावीज़ और गंडे देने का धंधा करता था और 'अल्लाह' की फूंक मारा करता था- उसका तकिया भस्म हो गया और वह भी 'अल्लाह' हो गया। आशा नाऊन का कोठा, शीदे ठठियारे की झोंपड़ी, मिलखी राम की दुकान, गुलाम पांडी का खोखा......सब कुछ राख हो गया।... और बिजली जैसी जाजी बढ़ई की छोटी बहू, नसीरा की स्त्री.... जाजी की मौजी पर बिजली गिरने से जाजी का मकान जला नहीं, गिरा नहीं, सिर्फ वह कमरा कांपा जिसमें पड़ी हुई एक खटिया पर गुल्लां गहरी नींद में सोयी हुई थी। और यह बिजली सिर्फ गुल्लां पर ही गिरी थी। गुल्लां पर गिरने वाली बिजली से खाट की चूलें हिलीं, आंगन में लगा पीपल का पौधा चीखा, पर हर तरफ आंधी-तूफान की धुंध फैली हुई थी। उसकी चीखें किसी के कानों तक नहीं पहुंचीं। बिजली अपना काम कर गई। गुल्लां का सारा शरीर झुलस गया।

गुल्लां एक यतीम लड़की थी। उसके माता-पिता, भाई-बहन सब साम्प्रदायिक दंगों में मर-मिट गये थे। दूर के रिश्ते में किसी मामा के घर में पली गुल्लां नमक-मिर्च, अचार के साथ बासी, रूखी-सूखी रोटियां खाकर, डांट-फटकार की लस्सी पीकर भी जंगली फूल की तरह खूब निखरी। जब उसका यौवन मैले कपड़ों में फूट-फूटकर धरती पर चांदनी बिखेरने लगा तो उसके मामा ने जाजी बढ़ई के छोटे भाई आवारा नसीरे के साथ देसी चाय और अरबी खजूरों के बदले रिश्ता जोड़ दिया। गुल्लां दुल्हन बनकर जुलाहों की बस्ती में आ गई। वह नये घर और नये माहौल में आकर बहुत खुश थी। उसने सास-ससुर को मां-बाप मान लिया और मन जमाकर उनकी सेवा करने लगी। नसीरे के मां-बाप ने भी उसे बेटी मान लिया। गुल्लां उनकी ममता की छाया में सुरक्षित हो गयी। पर ममता और प्यार की इस ऊष्मा को नसीरा शराब पीकर ठंडा कर दिया करता। जुलाहों की बस्ती में देसी शराब की सरकारी दुकान के अलावा चोरी-छिपे कच्ची शराब बनाने वाली कई भट्टियां थीं। वैसे सारा गांव ही शराब का शौकीन था पर नसीरा जितना आवारा था, शराब भी उतनी ही खुलेआम पीता था। गुल्लां उसे टोकती तो लड़ाई करता, नशीले गुस्से में गालियों के गाज उस पर उड़ेल देता और घर के ममता भरे माहौल में विष घोल देता। सुहाग का लाल जोड़ा फटते ही वह भी ईंट का जवाब पत्थर से देने लगी। और इस तरह गालियों के बटेर लड़ते रहते। कभी-कभी दोनों तरफ से हाथ-पांव भी एक-दूसरे पर चल जाते। लात, घूंसे और थप्पड़ खाकर गुल्लां रोने लगती, चीखती और अपनी बेबसी का बदला नसीरे को जी भर बद्दुआएं देकर लेती। अम्मा नसीरे को पकड़ती, कभी उसे गालियां देती, कभी अपनी कोख को कोसती। अड़ोसी-पड़ोसी छत की मुंडेरों पर चढ़कर तमाशा देखते। आखिर में गुल्लां का जेठ जाजी ही नसीरे की अक्ल ठिकाने लाता और घर की अशांति को शान्त कर देता। फिर एक दिन गुल्लां की पता नहीं कौन-सी बद्दुआ से नसीरे पर सीधी गाज-सी गिरी कि सर्राफों के घर की अलमारी बनाने के लिए आरे पर लकड़ी चिरवाने गए नसीरे को चलती मशीन का पट्टा टूटकर चीथड़े-चीथड़े कर गया। नसीरे को देखकर गुल्लां ने जो धाड़ मारी थी उसे सुनकर बस्ती का दिल हिल गया था। वह छाती पर दोनों हाथ मारकर विलाप करने लगी। उसने अपने सारे बाल नोंच डाले। वह अपने गुलजार और यूसुफ को छाती से लगा लेती और उनकी यतीमी का मरसिया पढ़ने लगती।

लाश को गुसल देने, कफन डालने और जनाजा उठने तक वह बहुत दिलासा देती और खुद भी रोने लगती। नसीरा मुश्किल से अभी अटठाइसवां वसंत ही देख पाया था कि हजरत इजराइल ने उसकी रूह दबोच ली थी। नसीरे की

असामयिक मोत से सभी बस्तीवासी दुखी थे और उसके जनाजे में शामिल हुए थे। जनाजा निकला और दुआएं मगफिरत के साथ नसीरे को कब्र में दफनाकर लोग घर पहुंचे। नसीरे की 'कुल्ल' (क्रियाकर्म) करने के पांचवें दिन उसकी मां भी खुदा को प्यारी हो गयी। अब घर की हुकूमत जाजी के हाथ आ गई। घर की चीजें, मकान के कमरे, कमरों की दीवारें, आंगन में लगा पीपल का पेड़ भी सब कुछ उसे अपनी ही तरह उदास लगता। कई बार उसकी आंखों के सामने नसीरे का चेहरा घूमता लगता-जो उससे बातें करता, उसको गालियां देता। उसे अपने नसीरे का शराबीपन, गालियां, थप्पड़, घूंसे.....सारे रूप अच्छे लगने लगते। वह चाहती कि नसीरा उसके शरीर को नोंचे-खसोटे......पर एक आंख झपकते ही उसका स्वप्न टूट जाता। इस जिन्दगी के शोर में वह बाहर से तो साबुत दिखाई देती, अंदर से वह किरच-किरच हो गई थी। वह बच्चों को क्या खिलाए, उनका कल क्या होगा, जवानी के वैधव्य को कैसे काटेगी। यह सोच-सोचकर उसके चेहरे की रेखाएं उलझ गई थीं। गुल्लां चिन्ताओं के जंगल में गुम हो गई थी। ऐसी हालत देखकर जाजी मियां ने हमदर्दी का राग छेड़ दिया- "गुल्लां, तू फिकर न कर, नसीरे के बच्चे मेरे बच्चे हैं, यह घर उतना ही तुम लोगों का भी है जितना कि हमारा। मैं कमाऊंगा। पहले तुम लोग खाओगे, फिर हम खाएंगे।"

जाजी मियां के इस हमदर्दी वाले राग में कई सुर मिले हुए थे। पर गुल्लां जाती भी कहां! उसका और कोई ठिकाना नहीं था। घर छोड़कर वह इधर-उधर भटकना नहीं चाहती थी। इस दुनिया की भीड़ में न कोई आगे था, न पीछे। इस घर में उसकी हैसियत आटे के छान से ज्यादा नहीं थी। जाजी की लकवे की बीमार स्त्री काफी लम्बे समय से बिस्तर पर पड़ी थी। परन्तु उसकी जीभ पर लकवे का कोई असर नहीं था। वह बिस्तर पर पड़े-पड़े भी आग उगलती रहती। सच तो यह है कि उसकी जीभ कभी तालू से लगती ही न थी। जाजी की बेटी नीफां भी कभी-कभी चाची गुल्लां के साथ जवाब-तराशी करने लगती थी। इस प्रकार मिट्टी के बर्तन टूटते-फूटते रहते। और बेबस होकर एक दिन गुल्लां ने अपना चौका अलग कर लिया। वह सिलाई-बुनाई जानती थी। इसके अलावा वह बड़े घरों का काम करके गुलजार और यूसुफ को पालने और अपने पेट का नरक भी भरने लगी।

हमीदा के लकवे ने जाजी की सारी शराफत भग कर रखी थी। वह मानसिक ज़रूरत किसी तरह पूरी कर लेता था। पर जब से नसीरा नेक हूरों के हाथों शराब पीने जन्नत चला गया था तब से जाजी का बेलगाम घोड़े-सा मन गुल्लां के खूंटे पर अटक जाता था। वह उसके साथ अपनी सामाजिक रीति के अनुसार 'चादर बिरादरी' का संबंध जोड़ लेना चाहता था। शराअ कानून (मुस्लिम विवाह) के अनुसार वह गुल्लां के साथ निकाह करने को भी तैयार था। जाजी कई बार आंखों में गुलाबी रंग भरकर और अपने खुश्क होंठों पर गीली जीभ फेरकर गुल्लां को अपनी बात समझाने की कोशिश करता रहा। गुल्लां आंखों और होंठों की भाषा पढ़कर भी चुप रहती- पर एक दिन जाजी ने शराब के नशे में गुल्लां का हाथ पकड़ लिया और उसे अपने दिल की बात साफ-साफ कह दी तो गुल्लां भूचाल बन गई। अड़ोसी-पड़ोसी अपनी छतों की मुंडेरों पर चढ़कर आज फिर तमाशा देखने लगे थे। वह मुहल्लेवालों को सुना रही थी-

"जेठ बाप की जगह होता है। मैं इसकी बेटी जैसी हूं। इसने यह बात कहने की हिम्मत कैसे की? इसको ऐसी बात करते हुए शर्म नहीं आई! अगर इतना ही शौक है तो अपनी नीफां के साथ निकाह क्यों नहीं कर लेता! छोटे भाई की बीवी पर नज़र रखता है। या रब्बा, इसे किसी आरे में चीर, किसी गाड़ी के नीचे डाल।"

गुल्लां को हंगामा करते देख जाजी घर से खिसक गया था। सबके समझाने-बुझाने पर गुल्लां शांत हो गयी थी। इस तरह घर में शांति हो गयी थी पर सारी बस्ती को पता चल गया था कि जाजी गुल्लां के साथ निकाह करना चाहता है। मुहल्ले की कई बड़ी-बूढ़ियों ने उसे समझाया कि वह जाजी की बात मान ले ओर घर की आबरू घर में ही बनी रहे। पर गुल्लां अब दुबारा अपने शरीर को सुलगते अलाव में झोंकने को तैयार न थी। वह सिर्फ गुलजारे और यूसुफे के लिए जी रही थी। उसकी आशाओं और कामनाओं का संसार तो कब से खंडहर बन गया था। उसके दिल में सपनों के घुंघरू बजने बंद हो गये थे। दुनिया की हर वस्तु उसके लिए बेकार हो गयी थी।

जाजी को जब विश्वास हो गया कि उसकी कामनाओं के बादल चाहे जितना पानी बरसाएं - गुल्लां के ठंडे बदन में फूल नहीं उगा सकते, वह शिकारी की तरह अपने नाखून तेज करने लगा और घोंसले में बैठी कबूतरी का शिकार

करने की ताक में रहने लगा। और स्याह काली रात......तेज आंधी में गिरी इन्सानी बिजली जाजी के रूप में सीधी गुल्लां पर गिरी थी जिसमें गुल्लां का शरीर ही नहीं झुलसा, रूह भी झुलस गई। गुल्लां......जो मियां मिट्ठू की तरह अपने आपको इस घर के पिंजरे में महफूज समझती थी, उसे पिंजरे में ही बिलाव ने झपट लिया। चौकीदार ही मकान में सेंध लगा गया। कई दिन तक गुल्लां चूल्हे की गीली लकड़ी की तरह सुलगती रही, जलती रही- फिर उसने जाजी से बदला लेने की ठान ली। उसके कटे हुए पंख फिर उग आए और वह अपने मन में बदले की उग आई कंटीली नागफनी जाजी को खिलाने के लिए व्यग्र हो उठी।

जाजी की बेटी नीफां शराअ मुहम्मदी के अनुसार जवान हो चुकी थी। उसके शरीर पर वे सभी तेज हथियार उग आए थे जिनसे कोई भी आदम घायल हो सकता था। इसलिए जाजी ने शीदे ठढिआर के लड़के जीरे दर्जी के साथ उसका विवाह करके अपने सिर का बोझ उतार दिया। गुल्लां और नीफां में सिर्फ इतना फर्क था जितना कि फूल और कली में होता है। जीरा पचीस बरस का जवान पट्ठा- एक उफनता दरिया.....कली से संभाला न गया। नीफां का कोई भी हथियार जीरे पर कारगर न हुआ। ब्याह के बाद जीरा ससुराल के घर आने-जाने लगा और गुल्लां नीफां की पतंग काटने के लिए अपनी डोर पर मांझा चढ़ाने लगी। एक दिन जब उसकी कमीज में से चमकती नाइलोन की चोली ने नीफां की पतंग पर पेंच डाला, वह कटकर सीधी गुल्लां के कदमों पर आ गिरी। उसकी नाक की लौंग की चमक और आंखों की दमक ने जीरे के शरीर में अंगारे सुलगा दिए। बस फिर ये नामुराद अंगारे गुल्लां ने बुझने नहीं दिए। इस तरह सारे का सारा उबलता दरिया गुल्लां ने हजम कर लिया। चुल्लू भर पानी भी नीफां के लिए नहीं छोड़ा। कहावत है कि सुहागिन के लिए दिन लोहे का छल्ला होता है और रात चांदी की पायल, पर नीफां के घोंसले पर कब्जा करने के बाद गुल्लां के लिए दिन भी सोने की पायल था और रात भी।

जीरा उसके लिए चेत की चांदनी बन गया और वह जी भरकर चांदनी में गुसल करने लगी। वे दोनों शीतला मंदिर और गुल्लू के बाड़े में जाकर बेर खाते, तवी और बाहर के ठडे पानी में नहाते और कभी-कभी सिनेमाघरों में भी दिखाई देते। कभी-कभी दिल पर जमी गुनाहों की परत का अहसास होता तो वे पीर बाबा की जियारत पर जाकर दीया जलाते और झाड़ू भी लगाते ताकि गर्द साफ हो जाए।

नीफां की मां हमीदा जीरे को गुल्लां के फूलों के साथ खेलते देख तड़फ उठी- वह लकवे की मारी नीफां के इसी दुःख में बिस्तर पर ऐसी गिरी कि उसकी जीभ तालू से जा लगी और उसका बोलना भी बंद हो गया। जाजी ने जीरे को गुल्लां की जकड़बंदी से बाहर निकालने का बहुत यत्न किया- उसने उसे प्यार से समझाया, डांट-फटकार और मारपीट भी की, पर जीरा जिद्दी बालक.....गुल्ला का रास्ता छोड़ने को तैयार न हुआ। थक-हारकर जाजी ने नीफां का तलाक मांगा। जीरा तैयार हो गया पर गुल्ला ने जीरे को तलाक देने से रोक दिया।

जाजी के लिए सारी कायनात बेजान हो गयी। पर अपनी बेटी की आंखों में चिंता का पीला रंग और उसको चुप्पी का कफन ओढ़े देख-देखकर रातों के जागरण की सूली चढ़ता रहा। पर नीफां को भूखे-प्यासे रहकर सुहाग के वैधव्य को झेलते सह नहीं सकता था और उसने फैसला कर लिया कि वह अपनी बेटी के मरुस्थल में हरियाली भर देगा- वह कली मसलने वाले को बरबाद कर देगा। उसने अपने अंदर दबे लावे का ढक्कन उठाया और आंखों में अंगारे भरकर गुल्लां के सामने खड़ा हो गया ताकि जहर से बुझी जीभ से डंक मार सके। पर गुल्लां की एक तीखी गर्वीली मुस्कान ने उसका सारा शरीर ठंडा कर दिया। आंखों के अंगारे बुझ गये और दिल का दर्द आंसुओं में बह निकला। उसका रोआं-रोआं नीफां के सुख की भीख मांगने लगा।

"मेरे जुर्म की सजा मेरी बेटी को न दे। उस पर रहम कर। वह तेरी बेटी है, बेटियों का घर मां नहीं उजाड़ा करती। मुझे मुआफ कर दे। जीरे को आजाद कर दे।"

जाजी को नागफनी खाते देखकर गुल्लां बहुत खुश हुई और जोर-जोर से गरजने लगी। उसके गरजने से जाजी बढ़ई का मकान कांप गया। जुलाहों की बस्ती में बिजली एक बार फिर गिरी पर इस बार कोई मकान नहीं गिरा, कोई झोंपड़ी बिजली की लपेट में नहीं आयी। सिर्फ गरजती बिजली की चमक, जाजी के वजूद में से उठता हुआ धुआं सबने देखा......।

अनुवाद : कीर्ति केसर

173, उस्ताद मुहल्ला, छोटी मस्जिद, जम्मू-तवी-180001

अनीता एम. कुमार

उधार

प्रीत ने अचानक उन्हें देखा तो सदमा-सा लगा। इस बार वे पहले से कहीं ज्यादा कमजोर, थके हुए और बूढ़े दिख रहे थे। बाल आधे से ज्यादा पके हुए, चेहरे पर ढलती उम्र ने लकीरों का जाल बुन दिया था। सिर्फ पगड़ी अब भी उतनी ही ऊंची और आबदार थी। प्रीत ने हाथ जोड़े, उन्होंने माथा चूम कर असीसा- ''प्रभु सुखी रखे।'' फिर पलंग पर बैठ पगड़ी उतार कर प्रीत के हाथों में थमा दी- ''इसे संभाल दे बेटा, थोड़ा आराम कर लूं।'' प्रीत को हंसी आ गई और एक क्रूर विचार मन में जागा- ''इसे पहन कर आराम मिल भी कैसे सकता है। इसमें से मेरी मां की कुर्बान हुई मुहब्बत के लहू की बू आज भी आती है।'' पगड़ी ऊंची जगह रख प्रीत चाय-नाश्ते की तैयारी में आ जुटी। तब तक मामाजी हल्के-हल्के खर्राटे भरने लगे थे। नींद में उनका चेहरा कितना मासूम, कितना निरीह लग रहा था। प्रीत ने हाथ बढ़ाकर उन्हें हल्के से जगाया और चाय की प्याली थमा बगल में आ बैठी।

''तूने अभी तक चाय पीना शुरू नहीं किया?'' प्रीत ने नहीं में सिर हिलाया। पिछली रात की बात फिर याद हो आई। राकेश का ड्रिंक लगाने के बाद जब उसने अपना गिलास भरा तो राकेश ऐसे चौंक उठा जैसे किसी अनहोनी को देख लिया हो- ''अब ये क्या नया स्वांग रचाया है!''

''क्यों, जब तुम दो तब तो पियूं, और जब मेरा जी चाहे तब क्या?''

''सोसायटी के कुछ उसूल होते हैं। सब के साथ मिल-बैठ कर थोड़ी-बहुत ले लेना और बात है।'' राकेश का स्वर ज़रूरत से ज़्यादा तल्ख़ था। प्रीत उसकी परवाह किये बिना बर्फ के टुकड़े अपने ड्रिंक में तैरते देखती रही और फिर तसल्ली से घूंट भर लिया। कमरे में हल्के संगीत के स्वरों पर ग़ज़ल के बोल तैरते रहे-

> पास आकर भी फ़ासले क्यों हैं
> राज़ क्या है, समझ में ये आया
> उसको भी याद है कोई अब तक
> मैं भी तुमको भुला नहीं पाया।

''क्या सोच रही है प्रीत?''

''(बता दूं मामा जी?) कुछ भी तो नहीं! सोचती इस बार वीर के पास हो ही आऊं, उसको देखे एक अ हो गया। फिर उसने भी तो कभी मुड़ कर याद न किया।''

मामाजी ने उसे अपने नज़दीक खींच लिया और पर हाथ रख लाड़ से बोले- ''ऐसा नहीं सोचते बच्ची, तो वो भी करता है तुझे। ये मरजानी मुसीबतें ज़िंदगी फुर्सत ही नहीं लेने देतीं।'' प्रीत की सोचें हैरान हो उठी यही वो मामाजी हैं जिनका रोब भरा स्वर सुनकर बड़ी हवे की दीवारें थर्रा उठती थीं। मां से मुहब्बत करने की गुस्ता तो हुई, पर मामा जी से आंख मिलाने की गुस्ताख़ी वह न कर सकी। उसकी मुहब्बत कुसूरवार थी क्योंकि अन्धी हो गई थी और अपने महबूब की गुरबत उसे न नहीं आयी थी। ''बनी रहे मेरे वीर की ऊंची पगड़ी शान।'' और मां ने अपनी ज़िन्दा मुहब्बत को अपने जिस्म के मकबरे में धड़कती रूह के तले कहीं कैद लिया था। मां का जिससे ब्याह हुआ (यानी प्रीत जन्मदाता) उसके घर में चांदी की थाली में सोने कटोरियां सजा कर ही खाना परसा जाता था। उस चांदी- की ठंडी बेजान सजावट तले दब कर पैरों-तले ओस- घास, आंखों में तिरते इन्द्रधनुषी रंग और आंचल उड़ फूलों की खुशबू-बसी हवा के स्वप्न देखने वाली प्रीत की एक खूबसूरत औरत से एक बदसूरत कंकाल में तब्दील गई और उसकी उपस्थिति उस सजे-सजाए घर में मख कालीन में लगे टाट के पैबंद सरीखी हो गई। फिर प्रीत जन्म देकर मां ने इस कठोर दुनिया से नाता तोड़ लि जिन्होंने मां की अन्तिम यात्रा की शानो-शौकत देखी, आज भी कसमें खाकर कहते हैं कि मां का कफ़न साड़ी ज़्यादा रंगीन था। उसका जनाज़ा फूलों से लदा था, जि सारी हवा महक गई थी। उस दिन ओस भी खूब गिरी उस समय प्रीत की उम्र कुल सात दिन थी।

कहते हैं बच्चा जब जनमता है तो उस पर जि

साया पड़ता है, उसी जैसा हो जाता है। प्रीत की मां ने जनमती प्रीत को जाने किस कोण से देखा कि प्रीत सारी की सारी उस पर जा पड़ी। आज प्रीत हैरान सी सोचती है कि इस राकेश को पैदा करते समय इसकी मां ने जाने किस कोण से देखा होगा कि आज वह उससे यह कहने की हिम्मत रखती है- पड़ी रहने दे उसे अपने राजमहल में, तू बेटा, मेरा कमरा ले, और जिसके साथ तेरा जी चाहे सो!

'क्यों मामाजी, यह ऊंची पगड़ी कभी चुभती नहीं आपको?'' अच्छा हुआ प्रीत ने जोर से नहीं पूछा, वर्ना मामाजी सचमुच सुन लेते।

मां की छाती से दूध के साथ उसकी दफ़न मुहब्बत का धड़कता जज़्बा भी प्रीत के भीतर कब उतर आया, कब उसके मन की कच्ची मिट्टी में उस जज़्बे का अंकुर फूटा, कब परवान चढ़ा, कोई नहीं जान पाया। पर इतिहास अपने आप को दोहराता है प्रीत की मुहब्बत को भी उसके वीर की ऊंची पगड़ी पर कुर्बान होना था। इन वीरों की पगड़ियों को मुहब्बत के लहू का कलफ़ ही क्यों लगना होता है अकड़ने के लिए! प्रीत की सोच हंस पड़ी थी- ''मुहब्बत मरजानिये, एक बार तो किसी वीर के गले भी पड़, मैं भी अपनी चुनरी को तेरे लहू का कलफ़ लगवाऊं।''

''प्रीत, तू दिखती तो बिल्कुल मेरी जीतो जैसी है, वैसा ही नाक-नक्शा, वैसी ही बोली.......'' मामाजी की आंखें भर आई थीं।

और वैसा ही मुकद्दर- प्रीत ने सोचा- यह मामा जी शायद कभी नहीं जान पाएंगे।

''राकेश कब आएगा?''

''दो दिन को गए हैं बाहर।'' बर्तन समेटते हुए प्रीत ने कहा।

''तब तो उससे मिलना हो नहीं पाएगा। कैसा है कामकाज उसका?''

''सब अच्छा है मामाजी।''

''वह तो देख ही रहा हूं, जी ठंडा हो गया तेरे घर की सजावट देख कर। पर इन सजावटों को बिगाड़ने वाला कब आएगा? अब तो तीन बरस हो चले तेरे ब्याह को।''

''आप भी मामाजी.........'' प्रीत के कानों की लवें सुर्ख हो आईं और वह बर्तन समेट उठ गई।

''तुम आजकल के बच्चे पता नहीं क्या-क्या सोचें सोच रखते हो। अरे, जो सहज होता है, वही मीठा होता है।'' - मामाजी की आवाज़ रसोई तक उसका पीछा करती रही। प्रीत का जी चाहा, कह दे मामा जी से कि जिस हीरे जैसे दामाद को ढूंढा उन्होंने, उसके गुण-अवगुण का चिट्ठा भी ज़रा-सा बाच लेते तो धर्मग्रंथ का पाठ भूल जाते। और उनकी प्रीत, जिसकी मुहब्बत के लहू के कलफ़ से उसके वीर की पगड़ी की आब दूनी हो गई है, आजकल अपनी उसी खो गई मुहब्बत की बांहों में रातें गुज़ारती है। यह अलग बात है कि काल्पनिक मुहब्बत सचमुच के बच्चे नहीं दे सकती, मगर ज़िंदगी जीने जितना हौसला तो दे ही

देती है। आखिर कुसूर क्या था। यही न कि उसने जिस दहलीज़ पर अपना माथा टेका था, उस घर के पूजास्थान में

रखा धर्मग्रंथ उसके अपने घर में रखे धर्मग्रंथ से अलग था; और यह समझने का धीरज किसी में नहीं था कि धर्मग्रंथ अलग हुआ तो क्या, उसके पन्नों पर लिखी शिक्षा तो वैसी ही थी! सार तो एक ही था!

"प्रीत, तू अपनी रसोई बाद में समेटना। मैं कोई यहां जिन्दगी भर रहने नहीं आया। आ बैठ मेरे पास। देख, तेरे लिए क्या लाया हूं।

मामाजी प्यार से प्रीत को अपने पास बैठा अपना सूटकेस खोल एक-एक चीज़ दिखाने लगे।

"ये राकेश के लिए सिल्क का कुर्ता, यह तेरी फुलकारी की ओढ़नी, यह सलवार-कमीज का कपड़ा, यह तेरे मंदिर के लिए नया रुमाला, और ये ले......."

"अब ये क्या मामाजी?"

"प्रीत, सब कुछ तो बांट दिया बहू-बेटियों में, ये एक सतलड़ा तेरी मां का संभाल रखा था अपने पास। उसे पता नहीं कैसे विश्वास था कि उसको बेटी ही होगी। जब ज्यादा बीमार पड़ी तो कहने लगी- "वीर, मेरे गले में तो अब सोहेगा नहीं यह, बच्ची मेरी जब आस-औलाद से हो तब दे देना उसे, मेरा क्या पता, तब तक रहूं न रहूं। यों भी, मुझसे तो अब अपना आप ही सभलता नहीं, ये गहने कहा सभालूं।" तब से लिये बैठा रहा। सोचा था, जब तेरा बेटा होगा, तब दूंगा तुझे।

"तो फिर अभी क्यों दिये देते हो मामाजी?" प्रीत की हंसी में आंसुओं का भरम हो रहा था।

"बेटा, प्रभु कृपा करे, तेरी गोद भरे, तुम्हारे खानदान को चलाने वाला आये पर अब मैं हिम्मत हार चला। पता नहीं वक्त मुझे इतनी मोहलत दे न दे, उस वक्त तक मैं रहू न रहूं। यह तेरा उधार मुझ पर रहा तो मरते वक्त भी मुझे चैन नहीं आएगा। इसलिए तू तो इसे अभी से सभाल ले।" कहते-कहते मामाजी प्रीत को सीने से लगा फूट-फूट कर रो पड़े। प्रीत के आंसू भी थम नहीं पा रहे थे। वह कहना चाहती थी- "असली उधार तो तुम पर बना ही रहेगा मामाजी, उसे तो तुम चुका ही नहीं पाओगे कभी......" पर प्रीत का सारा गिला उसके आंसुओं में बह गया.....बनी रहे मेरे वीर की ऊंची पगड़ी की शान......।

10, पूरन निवास, आर्थर बंदर रोड, कोलाबा, मुंबई

संचेतना

आगामी अंक में

संत, महंत, संन्यासी वर्ग की समाज में क्या भूमिका है?

इस देश में संतों, महन्तों, संन्यासियों, औलियों, फकीरों का सदा बोलबाला रहा है। इनके मठ और द्वारे लाखों भक्तजनों को परलोक के नाम पर अपनी ओर आकर्षित करते रहे हैं। आज तो ऐसे आचार्यों-गॉडमैनों, कथावाचकों, सद्गुरुओं की बाढ़ आई हुई है।

इक्कीसवीं सदी के द्वार पर खड़े समाज में इनकी क्या भूमिका है? क्या ये लोगों की कुछ आत्मिक तृप्ति करते हैं या इनका भी पूरी तरह व्यावसायीकरण हो गया है? लगता तो यह है कि इनका तेज़ी से राजनीतिकरण और अपराधीकरण भी होता जा रहा है।

आगामी अंक में इस मुद्दे पर सुविचारित चर्चा।

इंदु जैन की दो कविताएँ

ऊपर-नीचे

बारिश पड़ती रही
लेकिन खेत सूख गए
आम के बौर बिछ गए धरती पर
नींबू के फूल झर गए
छप्पर के नीचे देखा सिकुड़े सभी ने
कपड़े भीग गए
ज़मीन सूखी की सूखी छूट गई

कैसे हुआ यह कि ऊपरली टंकियां
भर गईं लबालब
हवा में छत चिन गई हो जैसे
बीचमबीच
किसी पतनाले की आवाज़ नहीं आई
झरता रहा झरना अधर ही अधर

अभी तक तो यही सुना था
कि
उसका करम बरसता है सब पर यकसां
फिर याद आया-
ऊपर ही रहता है ऊपर वाला
वही हथेलियों से बूंद-बूंद टपकाता है
रहम
उन पर
जो हाथ फैलाते, घुटने टिकाते हैं
सो रहा है
नींद में मुट्ठियां भींचे

छप्परों की टपकन से गीले सारे
सुलगते खेतों की आह से धिकले
निकल पड़े चींटियों की तरह
लंबे पाइप पर चढ़ने
क़तार बांध
बिजलियाँ चमक कर रास्ता दिखाती गईं उन्हें
बंद कमरों में ऊपर वाले
महफ़ूज़
सोते छूट गए हमेशा-हमेशा के लिए।

कौन

वह कौन था
जिसने भीड़ में सहारा देकर कहा था
- आगे आ जाइए -
जिसने मेरे घुटनों पर धोती झाड़ी थी
चप्पल सीधी कर पहनाई थी?
बहुत पास आ गया था वह
जो कहीं दूर दूर था

और वह कौन था
जिसने हथेलियों पर अंगारे धर
मुट्ठियां कस दी थीं
उसके तलवों तले भी अंगारे थे
यही जानता था वह
बहुत पास से दूर चला गया था।

वह कौन था
जिसने सिखाया था दोनों को
एक पाठ पढ़ कर इबारत बदल लेना
गर्मी में घूंट बांटना
या मेरी सुराही छिपा लेना-
दोनों के हाथों में अंगारे थे
पैरों में छाले
किसने बनाया एक को दवा
दूसरे को दारू?
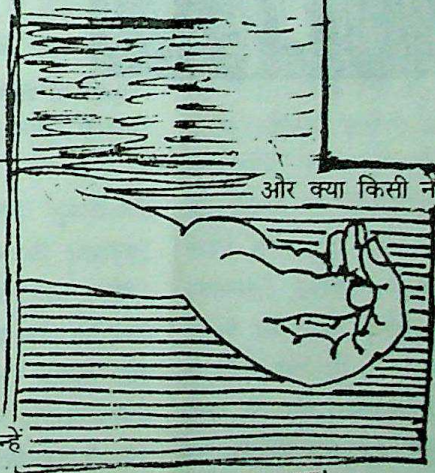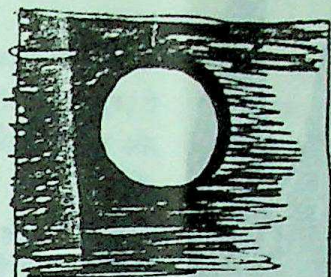
और क्या किसी ने दिया मुझे अधिकार तोलने का
पलड़े पर चढ़े बिना?

कौन है वह
जो मुझे मेरे आइनों पर
लानत भिजवाता है,
कौन अपनी तलाश में
रातों जगाता है?

Shama

ए-1, इन्द्रप्रस्थ कालेज, स्टाफ फ्लैट्स, दिल्ली - 54

शामा की कविता

तुम बीच में न आना

सत्य एक घटना है -
मानवी कृत्य नहीं।
सत्य जानने के लिए
'तुम' बीच में न आना
बस केवल.......
निर्विचार
प्रतीक्षा में बैठ जाना
संदेह विवादों से दूर
तर्क से परे
'चुप' साध लेना
न कोई आग्रह
न प्रार्थना
न अध्यात्म का आधार
सरलता और सहजता
से जीवन जीना
उमंग से भर कर
फूलों की तरह खिलना
करुणा से भर जाओ तो
मेघों की तरह
मुक्त मन से बरसना

'वह' यूं ही कभी
चुपके से घटेगा।
तुम्हें अमृतमय कर देगा
तुम्हारी पूरी चेतना को
चेतन कर देगा।
तुम्हारी सब
शंकाएं हर कर
निर्विकार कर देगा।
तुम्हें वह स्वयं से
आत्मसात करा कर
निराकार कर देगा।

केवल 'तुम'
बीच में न आना.......।

बी-13, चितरंजन पार्क, नई दिल्ली - 110019
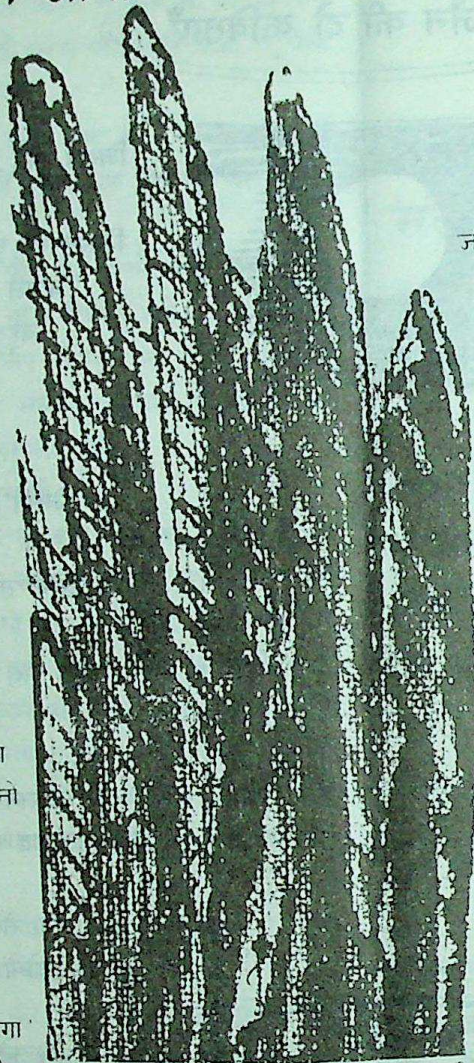
विधा शर्मा की दो कविता

प्रेम का स

कल्पवृक्ष की परिकल्पना में रची-बसी
जिस सपने की सोच
तुमसे मिली
वह और कुछ भी न
मेरा में ही
हवाओं के घोड़ों को सरपट दौड़
जब मेरे पैर तुम्हारी इन्द्रधनुषी धरती को छू रहे
तब-वहां-कहीं कुछ
तुम्हारा रचा-बसा नहीं
वह सब मेरी स्मृति और गंध की रंगीनी
खिलखिलाते फूलों से भरी जिस धरती
मैं सूरज की धूप और पानी से सींच रही
वह मेरे भीतर सोयी नदी
आसमान का वह गोला जो तुम्हारा सपना
और जिससे चिपकी
अधर में तैरती रही
वह सब मेरा पसीना और घावों से बहता लावा
हां......मैं अपने ही अंगों से लि
इठला
नये द्वार खुलने की प्रतीक्षा
जहां पहुंची वहां न कोई द्वार था न सू
लौह कपाटों के भीतर
मेरा अपना लहूलुहान चेहरा

मेरा घ

मेरे पंज
मेरे कश्मी
स्वर्ग के सपने मत छो
इन्हीं के सहारे तमाम मुश्किलों में फंसी जान.....जीत
ये सपना देखने की अ
जिंदा रहने की कशम
बेजान खालों में फूंक देती है
जानवर की तरह भागते-दौड़ते
सह जाते हैं.....लाठी.......गोली और
दहशत भरा.....सहमा मेरा
अब इन्हीं के
बना लेगा
अब स्वर्ग का
मत
मेरे कश्मीर, मेरे

ए-141, शंकर गार्डन, नई दिल्ली

डॉ. नरेन्द्र मोहन

कहानी का रंगमंच

साहित्यिक विधाओं और अन्य कला माध्यमों के अपने-अपने स्वरूपों और पहचानों के बावजूद, ये विधाएं और माध्यम एक दूसरे से उतने अलग-थलग और विच्छिन्न नहीं है जितने इन्हें अक्सर मान लिया जाता है। कथा का अपना एक रूप और कलेवर है और कविता का अपना पर ये अक्सर एक-दूसरे में अन्तर्प्रवेश करती रहती हैं। यही बात साहित्य और अन्य कलाओं के संबंध में भी कही जा सकती है। संगीत हो या चित्रकला, रंगमंच हो या फोटोग्राफी- साहित्य के साथ सृजनात्मक स्तरों पर इनका गहरा अन्तर्संबंध है। साहित्य और अन्य कलाओं को परम स्वायत्त मानने के दिन लद चुके हैं। सृजनात्मकता के स्तर पर अब स्वायत्तता की जगह एक तरह की सहभागिता है- उस सृजन-स्रोत को पहचानने पर अधिक बल है जहां से ये विधाएं और कलाएं जन्म लेती हैं और तीव्र सृजनात्मक प्रक्रिया में अपने रूपों और माध्यमों में अभिव्यक्त हो जाती हैं। साहित्य और कलाओं में यह 'फ्यूजन' बड़ा साफ़ नज़र आ रहा है। विधाओं और कलाओं के बाहरी चौखटे और रूप तेजी से बदल रहे हैं और उनमें अन्तर्निर्भरता उभर रही है। एक तरह से यह पुराने सांस्कृतिक और कला प्रारूपों की कड़ी बंदिशों से बाहर आने की- कलाओं से छेड़छाड़ की और उन स्तरों पर मुक्त और स्वाधीन होने की तड़प है जिसे नये परिप्रेक्ष्य में समझने और जांचने की ज़रूरत है। इस दृष्टि से 'कहानी का रंगमंच' (संपादन : महेश आनन्द) एक गंभीर और व्यवस्थित प्रयत्न है।

कुछ समीक्षकों ने 'कहानी का रंगमंच' मुहावरे को 'आधुनिक कहानी का दृश्य-काव्य' (कुंवर जी अग्रवाल) और कुछ अन्य ने इसे 'दृश्य-कथा' (भारत रत्न भार्गव) कहा है। अधिक प्रबल आधारों पर इसे 'कथा-रंग' भी कहा जा सकता है जबकि 'कहानी का रंगमंच' कहानी और रंगमंच के परस्पर उपयोग की उस आधुनिक अवधारणा को सामने लाता है जो देवेन्द्र राज अंकुर को अभिप्रेत है। जो भी हो, 'कहानी का रंगमंच' चूंकि नाट्य-प्रेमियों में एक निश्चित प्रयोग, शैली और मुहावरे के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुका है, इसलिए नामकरण संबंधी बहस में उलझने से कहीं अच्छा होगा कि कहानी के रंगमंच पर हुए विमर्श को आगे बढ़ाया जाए।

कहानी और रंगमंच, सामान्यत., एक-दूसरे के विरोधी माने जाते रहे हैं। कहानी पढ़ी जाती है और रंगमंच देखा जाता है। कहानी में संप्रेषण का माध्यम शब्द है और रंगमंच में दृश्य। इसलिए जब पहली बार कुछ कहानियां मंचित की गयीं और इस तरह के मंचन को 'कहानी का रंगमंच' कह कर पुकारा गया तो कुछ रंगकर्मियों को बड़ा अजीब लगा। इससे चिढ़कर वे इसे रंगमंच नहीं, 'रंगमंच की विकृति', और 'चौंकाने वाला प्रयोग-मात्र' कहने लगे। प्रचलित रंगमंच की जिन्हें आदत पड़ी हुई थी, वे कहानी के रंगमंच से खूब परेशान हुए। लेकिन मंच पर कहानियों के प्रयोगों का क्रम जैसे-जैसे बढ़ता गया, इस मंच-मुहावरे को समझने की दिशाएं खुलती गईं और खीझ से पैदा हुए आरोप बेमानी होते गये।

कहानी के रंगमंच के बारे में लेखक, अभिनेता, निर्देशक और समीक्षक क्या सोचते हैं, इस पर इस पुस्तक में गंभीर विचार-मंथन की प्रक्रिया नज़र आती है। एक तरह से यह चार दृष्टिकोणों से किया गया विचार-विमर्श है। इससे दोहराव तो आया है पर एक खुलापन भी है जिससे नये विचार-बिन्दु उभरे हैं। लेखक हो या अभिनेता, निर्देशक हो या समीक्षक; सभी ने अपने-अपने दृष्टिकोण से 'कहानी के रंगमंच' पर चहलकदमी की है। कहानी के मंचित होने की प्रक्रिया को लेखकों ने किस रूप में लिया, रचना और मंचन एक दूसरे से कैसे समृद्ध हुए, इसे लेकर उन रचनाकारों (अजीत कौर, धर्मवीर भारती, निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी और यू.आर. अनंतमूर्ति) के अनुभवों को 'संवाद-एक' में दिया गया है। ये वे कहानीकार हैं जिनकी कहानियां समय के लम्बे अन्तराल में अंकुर ने मंचित की हैं। निर्मल वर्मा के लिए यह 'एक विस्मयकारी अनुभव था' तो धर्मवीर भारती के लिए 'अंकुर जी ने सचमुच चमत्कार किया था'। लगभग सभी कहानीकारों का अपनी कहानी को मंचित होते

देख यह अनुभव करना कि कहानी शब्दशः उनकी है, फिर भी उनकी नहीं है, शब्द और दृश्य के, शब्द और रंगकर्म के, कहानी और रंगमंच के गहरे स्तरों पर घटित सह-संबंध को उजागर करता है। इसी तरह 'संवाद-दो' में कुछ अभिनेताओं (अखिलेश खन्ना, अमिताभ श्रीवास्तव, विजय कुमार, सुरेश शर्मा, हेमा सिंह) के मंचन के दौर के अनुभव दिये गये हैं। ये अनुभव उन चुनौतियों से पैदा हुए हैं जिनसे अभिनेता गुजरता है- कहानी की घटनाओं और ब्यौरों को मंचित करते हुए। यह एक ऐसा अनुभव है जिसमें अभिनेता कभी कहानी का पाठ करता है, कभी वाचन करता है और कभी अभिनटन करता है। सभी अभिनेताओं ने इसे बेहद रोचक और अलग ही तरह का अनुभव माना है क्योंकि कहानी की संवेदना को रंगानुभूति में ढालते हुए उन्हें कई बार विभिन्न भूमिकाएं एक के बाद एक और कई बार एक साथ निभानी पड़ती हैं। हेमा सिंह ने एक स्थल पर सही कहा है, "वास्तव में कहानी का मंचन अभिनेता के लिए किसी भी नाटक से ज़्यादा एक खुली चुनौती है, क्योंकि किसी को यह पता नहीं होता कि वह क्या शक्ल अख्तियार करेगी जबकि नाटक में हम एक हद तक जानते हैं कि वह क्या रूप लेगा और इस चुनौती को स्वीकारने में ही सृजनात्मकता का आनंद है।" यह सृजनात्मक स्पंदन उसे कहीं अधिक महसूस होता है जब वह नैरेशन को दृश्यों में बांधने के लिए जूझता है।

पुस्तक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग है- 'संवाद-तीन' जिसमें देवेन्द्रराज अंकुर के साथ दिनेश खन्ना और जयदेव तनेजा की बातचीत के दो क्रम दिये गये हैं। इन संवादो में से कुछ अंश यहां दे रहा हूं:

"मेरे लिए सबसे महत्वपूर्ण है कथ्य- चाहे वह कहानी में रखा गया हो, चाहे उपन्यास में- फिर वह चाहे व्यक्ति और समाज के संबंधो पर हो, चाहे स्त्री-पुरुष संबंधों पर या फिर वह राजनैतिक कथ्य हो। प्रश्न यह है कि उस कथ्य को रचनाकार ने कितनी गहराई से हमारे सामने रखा है। अगर वह मुझे अन्दर से झकझोरता नहीं, कोई सवाल करने के लिए उकसाता नहीं तो उस स्थिति में मेरे लिए उस रचना को ले पाना मुश्किल लगता है।" "नाटक और कहानी की प्रस्तुति-प्रक्रिया में काफी अन्तर है। नाटक की तैयारी में जो व्याकरण काम करता है, उसमें हम एक चरित्र-चित्रण बनाने की तरफ बढ़ाते हैं और उसे बनाए रखते हैं- शुरू से आखिर तक। कहानी की प्रस्तुति में उसे तोड़ना पड़ता है, बल्कि यहाँ शायद इसकी ज़रूरत ही नहीं है। कभी पलभर में अभिनेता उसके पाठक हो जाते हैं, कभी व्याख्याता और कभी उस दृश्य में हिस्सा लेने वाले चरित्र। इससे जो एक बनी बनाई परिपाटी है अभिनय की यहा तोड़ कर उसके आगे जाने का एक रास्ता आज अभिनेता को नज़र आता है......" "यहाँ जो स्वतंत्रता अर्थ की, व्याख्या की, यह नाटक के मुकाबले कथा-साहित्य में तो और भी ज़्यादा है। स्वतंत्रता का अर्थ अराजकता नहीं है। लगातार ऐसे संस्थानों के साथ काम करने का मौका मिला है, जहां सब कुछ मौजूद है, वहां सब कुछ छोड़कर काम करने का अपना मजा है, बजाय इसके कि जहां कुछ भी मौजूद ही नहीं है......।"

ये संवाद कहानी के रंगमंच के विभिन्न पहलुओं को बड़ी स्पष्टता और गहराई से विश्लेषित करते हैं। इस भ्रम का भी अंकुर ने निराकरण किया है कि रंगमंच के लायक अच्छे नाट्य आलेख न होने से वे कहानियों के मंचन की तरफ बढ़े। एक लम्बे दौर में एक निर्देशक के कार्य का विवरण भर नहीं है, इसमें से एक नयी नाट्य-दृष्टि उभरती दिखती है। 'कहानी का रंगमंच' पर यह बातचीत एक दस्तावेज से कम नहीं है। कई असुविधाजनक और तीखे प्रश्नों के उत्तर जिस संयम और संतुलन से अंकुर जी ने दिये हैं, उससे लगता है कि इस माध्यम पर उनकी मज़बूत पकड़ है।

कहानी के रंगमंच को लेकर समीक्षकों में अच्छी-खासी दुविधा और अनिश्चय की स्थिति रही है। इसके पक्ष-विपक्ष में कभी लेखों में तो कभी समीक्षाओं में, समय-समय पर लिखा जाता रहा है जिसे इस माध्यम के अध्येताओं और शोधार्थियों के लिए, और कहीं नहीं तो इस पुस्तक में 'परिशिष्ट' में दिया जाना चाहिए था। बहरहाल, पुस्तक में 'संवाद-चार' में जिन समीक्षकों (केवल कपूर, कुंवर जी अग्रवाल, नेमिचंद जैन, भारत रत्न भार्गव, महेश आनन्द, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और सुरेश अवस्थी) के विचार दिये गये हैं उन से कहानी के रंगमंच के विभिन्न पक्षों और रूपों का एक अध्ययन सामने आया ही है।

'संवाद-पांच' कहानी के रंगमंच का अन्तःसाक्ष्य जिसके अन्तर्गत आलेख से मंचन तक की यात्रा को बताते हुए 'तीन एकांत' में शामिल कहानी 'डेढ़ इंच ऊपर', 'महाभोज' का पहला दृश्य-खंड और 'खानाबदोश'

'घोंघा और समुंदर' के मंच आलेख प्रस्तुत किये गये हैं। ये मंच-आलेख कहानी के रंगमंच को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण ड्राफ्ट माने जा सकते हैं।

भारतीय रंगमंच के अध्येता जानते हैं कि हमारे यहां कथा-गायन, कथा-वाचन और आख्यान की वाचिक परम्परा रही है। किस्सागोई और कथाकथन भी यहां देखने को मिलते हैं और कथा को नाटकीय ढंग से कहने वाले 'पांडवानी' जैसे रूप भी। यह कथा रंग की अलग-अलग विधियां हैं। हो सकता है, जैसे कि अंकुर कहते हैं कि कहानी के रंगमंच में वे इनसे प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित, प्रेरित न हुए हों पर वे अवचेतन स्तरों पर भी इससे अप्रभावित रहे होंगे, ऐसा दावा वे नहीं करते हैं। यह जरूर है कि उनकी कार्य पद्धति और प्रस्तुतियों से परम्परागत रूप और विधियां नये रूप में पुनर्जीवित हुई हैं। एक अनुगूंज के तौर पर परम्परा इनमें बसी हुई है। जो भी हो, परम्परा के नाम पर इस प्रयोग को कमतर नहीं आंका जा सकता, 'कहानी का रंगमच' भारतीय रगमंच के इतिहास में एक नई अवधारणा और रंगदृष्टि है। यह एक ऐसा मुहावरा और प्रयोग है जिसका प्रारंभ 1975 में तब हुआ जब अंकुर ने निर्मल वर्मा की तीन कहानियों- 'डेढ़ इंच ऊपर', 'धूप का टुकड़ा' और 'वीक एंड' को 'तीन एकांत' के नाम से मंचित किया। सम्पादक के शब्दों में, "इससे रंगभाषा की एक नयी ऊर्जा से साक्षात्कार हुआ था। प्रस्तुति-प्रक्रिया और अभिनय के कई नये रूप सामने आये थे।" 1975 से शुरु हुआ यह कार्य आज भी गतिशील है। अब तक देवेन्द्रराज अंकुर 125 कहानियों और तेरह उपन्यासों का मंचन कर चुके हैं और यह क्रम अभी खत्म नहीं हुआ है।

देवेन्द्रराज अंकुर कहानी और नाटक के अन्तर को बखूबी समझते हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि वे किसी नाटक को नहीं, कहानी को मंचित कर रहे हैं, इसीलिए नाटक के लिए स्वीकृत मंचन-प्रक्रिया और प्रस्तुति से अलग वे हर कहानी के पाठ के अनुरूप एक नयी मंचन-प्रक्रिया और पद्धति अपनाते नज़र आते हैं। 'तीन एकांत' की शैली और 'खानाबदोश' की शैली एक नहीं है। 'खानाबदोश' में अन्य उपकरणों की बात छोड़िये, अंकुर प्रकाश से भी मुक्ति की तरफ उन्मुख दिखते हैं। 'तीन एकान्त' में 'नैरेशन' को मंच पर दिखाने का जो प्रारंभिक तरीका अपनाया गया था, 'खानाबदोश' में उसका विधान अधिक अन्तरंग और सघन है और 'महाभोज' में वह अभिनेताओं की मानसिकता के भीतर से इस तरह उभरता दिखता है कि कहीं कोई फांक नहीं दिखती। नैरेशन के साथ निर्देशकीय सलूक के कई रूप हो सकते हैं पर अधिकतर प्रयोगों में पात्रों के अतीत को याद करने की पद्धति को अंकुर ने बेहतर ढंग से अपनाया है।

अंकुर मानते हैं कि रंगमंच निर्देशक का नहीं, अभिनेता का माध्यम है। निर्देशक की अगर कोई भूमिका हो सकती है तो "वह उत्प्रेरक की भूमिका हो सकती है क्योंकि रंगमंच पूरी तरह से अभिनेता का माध्यम है।" कहानी के रंगमंच में, निश्चय ही, निर्देशक नहीं, अभिनेता केन्द्र में है। अंकुर सही कहते हैं कि "अन्ततः हमारे माध्यम का उपादान अभिनेता है, उसकी आवाज है, उसका शरीर है और उसकी संवेदना है। यहीं से मूल शुरुआत होती है। हम रंगमंच से चाहे बाकी सब चीजें काट दें, लेकिन क्या कोई ऐसे रंगमंच की कल्पना कर सकता है जो अभिनेता की उपस्थिति को नकार दे।"

कहानी की प्रस्तुति-प्रक्रिया का स्वरूप क्या हो- इस बारे में कोई एक मत नहीं है। ठीक है कि हर कहानी अपनी प्रस्तुति-प्रक्रिया खुद तय करती है, इसलिए इसकी कोई सामान्य विधि निर्धारित नहीं की जा सकती। अंकुर स्वयं इसे कहानी से निर्धारित होने देते हैं और इसे अभिनेताओं पर छोड़ देने के पक्ष में हैं। नेमि जी को लगता है कि कहानी को हमारे पारम्परिक कथा-मूलक नाट्यों से जोड़ने की कोशिश हो रही है। उनकी सलाह है कि "संगीत और किसी हद तक नृत्य को कहानी के प्रस्तुतीकरण में लाया जाये। ऐसी कहानी चुनी जाए जिसमें ये तत्त्व पहले से ही मौजूद हैं या कि निहित हैं और प्रस्तुतीकरण में उनका इस्तेमाल किया जाए।" नेमि जी की सलाह अगर मान ली जाए तो कहानी के प्रस्तुतीकरण में ही नहीं, मंचन के लिए उनका चयन करते हुए भी संगीत और नृत्य का आधार जरूरी हो जायेगा जब कि कहानी के रंगमच में न कहानी के चयन में, न उस के प्रस्तुतीकरण में इस तरह के आग्रह की गुंजाइश है। प्रस्तुति में दृश्यबंध और प्रकाश की जरूरत है या नहीं, नृत्य और संगीत का विधान उसमें हो या नहीं, इन सबमें यानी कहानी की प्रस्तुति-प्रक्रिया में अभिनेताओं का अनुभव ही निर्णायक है।

यह पुस्तक विगत पच्चीस वर्षों में देवेन्द्रराज अंकुर द्वारा कहानी को रंगमंच पर उतारने की दिशा में किये गये

रंगकार्यों और प्रयोगों का आकलन भर नहीं है, यह उस कार्य का लेखकों, अभिनेताओं और समीक्षकों द्वारा लिया गया आलोचनात्मक जायजा भी है। इस कार्य का अपना महत्व है लेकिन अभी बहुत कुछ करना शेष है यानी कहानी के मंचन के साथ कहानी का पाठ कैसे बदलता है, उसमें क्या कटौती या अभिवृद्धि होती है? इससे मंचन-प्रक्रिया में क्या परिवर्तन घटित हो रहे हैं? परम्परागत विधियों की जगह क्या नयी विधियां आ रही है? प्रचलित छवि के स्थान पर अभिनेता की बिल्कुल नयी छवि इन प्रस्तुतियों से कैसे उजागर हो रही है? वह एक साथ कई भूमिकाओं में कैसे उतरता है? ये मामूली प्रश्न नहीं है। इनके साथ आधुनिक रंगमंच के कई महत्वपूर्ण प्रश्न संलग्न हैं जिन्हें यों ही चलते-चलते नहीं, गहराई से जांचने की ज़रूरत है।

एक लम्बी कालावधि में कहानियों को मंचित करने के लिए जो प्रयोग हुए हैं, प्रस्तुतीकरण की जो विधियां सामने आयी हैं और जो मंचन-आधार ग्रहण किये गये हैं, उनकी तरफ इस पुस्तक में संकेत तो हैं पर उन्हें किसी सिद्धांत में बंद किये बिना व्यवस्थित करने का कार्य (जो संपादक कर सकते थे!) अभी तक नहीं हुआ है। यह समझ में आता है कि अंकुर जी इसके सिद्धांत बनाने के चक्कर में न पड़ें पर नाट्य समीक्षकों को निर्देशक के अनुभवों का लाभ उठाकर एक लम्बे दौर की प्रस्तुतियों के इतिहास से गुजरते हुए, जरूरी हो तो कहानियों और प्रस्तुतियों को आमने-सामने रखते हुए, समग्र और सम्यक् मूल्यांकन की तरफ बढ़ना होगा। यह कम महत्वपूर्ण नहीं है कि यह पुस्तक एक ऐसी रूपरेखा प्रस्तुत करती है जिसका उपयोग करके नये निर्देशक एक और शुरूआत कर सकते हैं और नये नाट्य-समीक्षक अब तक के कार्य का जायजा लेकर नयी नाट्य विधियों और आधारों की खोज में जुट सकते हैं।

कहानी का रंगमंच : (संपादक) महेश आनन्द; राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, बहावलपुर हाऊस, भगवानदास रोड, नई दिल्ली-110001; प्र.प्र. 1997, मूल्य : 300 रुपये

239-डी, एम. आई. जी. फ्लैट्स, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-27

डॉ. सुभाष रस्तोगी

जीवन के प्रति आस्था जगाती कविताएं

'एक वर्ग आकाश' उषा आर. शर्मा की कविता-यात्रा का पहला पड़ाव है। लेकिन इनमें व्यक्त कवयित्री के अनुभव का फलक अत्यंत व्यापक है और जीवन की सघन अनुभूतियां इनमें नितांत मौलिकता लिए पाठकों से मुखातिब होती हैं। कवयित्री ने किसी भी कविता में दार्शनिक शब्दावली का तो प्रयोग नहीं किया है, लेकिन प्रत्येक कविता में एक दर्शन निहित है जो जीवन के प्रति रागात्मक लगाव को रेखांकित करता है। विभिन्न मनोदशाओं के तनावों को उद्घाटित करती और फिर उनमें समरसता स्थापित करतीं इन कविताओं में चिंतन का एक विशेष धरातल पाठक का निरन्तर पीछा करता चलता है।

उषा आर. शर्मा की इन कविताओं में स्मृतियों का एक अद्भुत जखीरा मौजूद है। इन स्मृतियों में फैले इन्द्रधनुषी रंग कवयित्री को निरन्तर जीवन की विपरीतताओं से जूझने की ताकत देते हैं और उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उनकी स्मृतियां ही इन्द्रधनुष बन क्षितिज में फैल गई हैं।

उषा आर. शर्मा को इन कविताओं में व्यतीत का संताप नहीं है, बल्कि कालप्रवाह का सातत्य इन कविताओं के परिप्रेक्ष्य को बहुत व्यापक बना देता हैं। इन कविताओं की अलग से दिखाई देने वाली विशेषता इनमें मौजूद पारदर्शिता है, जिसकी वजह से इतिहास से वर्तमान की मुठभेड़ को, अतीत और वर्तमान को साथ-साथ इन कविताओं में चहलकदमी करते हुए सुना जा सकता है।

इन कविताओं में एक सादगी है, लेकिन जीवन की बीहड़ चुनौतियों और वीभत्स यथार्थ के कटुतम संदर्भों से इन कविताओं ने आंख नहीं चुराई है। हालांकि इन कविताओं में एक ख़्याली परिन्दा बार-बार कवयित्री की स्मृतियों की दहलीज पर दस्तक देता है, उससे दर्द के दानों को खाता है, लेकिन वह किसी पिंजरे या हदबंदी में कैद नहीं है, वह आसमान में ऊंची उड़ान भी भरता है और कवयित्री की दृष्टि को विस्तार देता हुआ, उनके सपनों की दुनिया को बेहतर बनाने की चिंता से भी जोड़ देता है। वे चाहती हैं कि- ''कोई रोक/क्यों नही देता/ इस वक्त को/ ताकि दुखों के/ पहाड़ी पत्थर/ डूबे रहें/ पानी में और हम/इन पत्थरों पर बैठ/ देखते रहें/ दूर दूर तक/ धवल चांदनी/और खेलते रहें/ खुशियों की/ बर्फ से/......''

इस संग्रह की कविताएं केवल कवयित्री की संवेदना के तरल मुकामों का ही पता नहीं बतातीं, बल्कि पाठक को उनके सामाजिक आधार के रु-ब-रु भी करती हैं। इन कविताओं में एक ग़जब का आत्मविश्वास है जो किसी समझौते का मोहताज नहीं है- 'आज मैं बहुत आगे आ गई हूं/ नहीं मोहताज किसी समझौते की/ सहारा नहीं दरकार कोई/ अब मैं तैयार हूं/ हर समझौते को तोड़ने/ के लिए।....'

नैराश्य के भंवर कवयित्री की हताशा और पस्तहिम्मती को कहीं-कहीं उकेरते अवश्य हैं, लेकिन इन कविताओं का केन्द्रीय सरोकार है- मरुथल में हरियाली को खोजना और उसे निरूपित करना। इस प्रकार उषा आर. शर्मा की ये कविताएं मुख्यत: जीवन के प्रति आस्था जगाती हैं।

इसी प्रकार उषा आर. शर्मा पुरुष की जहनीयत का पर्दाफाश करती हुई नारी अस्मिता का प्रश्न भी बड़ी विश्वसनीयता से उठाती हैं- 'हम एक ही बीज से उपजे हैं/ हमें एक ही लहू ने सींचा है/ पर तुम हमेशा स्वच्छन्द/ और मैं/ पाबंदियों में क्यों रही/ तुम्हारे खिलौने बिखरे रहे/ और मेरी गुड़िया सिमटी रही।'

संग्रह की शीर्षक कविता 'एक वर्ग आकाश' केवल संग्रह की ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण कविता नहीं है, बल्कि नारी अस्मिता को इतनी प्रखरता और प्रामाणिकता से उद्घाटित करने वाली ऐसी कविताएं संपूर्ण समकालीन हिन्दी कविता परिदृश्य में कम ही लिखी गई हैं- 'नहीं चाहिए ऐसा महल/ जिसकी दीवारें बनी हों- सोने की/ जो कर दे सबसे अलग-अलग/ मुझे तो चाहिए एक ऐसा घर/ जिसकी न दीवारें हो/न छत/ न दरवाज़े हों, न देहरी/ मुझे तो चाहिए एक ऐसा घर/ जहां मैं/ जी सकूं अपने ढंग से।'

'एक वर्ग आकाश' की कविताएं निस्संदेह समकालीन कविता परिदृश्य में सोच की नई बानगी लिए होने के कारण अलग से दिखाई पड़ती हैं। भाषा की सांकेतिकता, टटकापन और सहजता तथा बिंबों की तरलता इन कविताओं का एक खास गुण है।

एक वर्ग आकाश : उषा आर. शर्मा; अवन्तिका प्रकाशन, चंडीगढ़; पृष्ठ संख्या : 88; मूल्य : सौ रुपये

2171/22-सी, चंडीगढ़ - 160022

डॉ. गुरचरण सिंह

फूल, पत्ते और बरगद का कटना

मोहन सपरा का पहला कविता संग्रह 'कीड़े' सन 1969 में प्रकाशित हुआ था। **बरगद को कटते हुए देखना** उनका सद्यः प्रकाशित कविता संग्रह है। लगभग तीस सालों से वे कविता लिख रहे हैं। उनकी कविता में निरन्तर विकास हुआ है तथा प्रौढ़ता, परिपक्वता आयी है। जिन विषयों को सपरा ने अपनी कविता के लिए चुना है, उससे वे अन्य कवियों से अपना अलग स्थान बना लेते हैं। वे अपने ढंग से जीना तथा लिखना चाहते हैं। इसके लिए जीवन से संघर्ष, मानसिक उद्वेलन तथा संस्कारों की जरूरत होती है। सपरा जिजीविषा के कवि हैं। उनका जुड़ाव पंजाब की मिट्टी के साथ है- विशेष रूप से नकोदर से जहां जीवन का एक लंम्बा हिस्सा उन्होंने बिताया है। मोहन सपरा का सरोकार आज का व्यक्ति है। इसीलिए व्यक्ति का संघर्ष, उसका तनाव, जीवन की विभिन्न समस्याएं, विसंगतियां, विडम्बनाएं उनकी कविता में स्थान पाती हैं। इसी कारण उनकी कविता में जुझारूपन है, तल्खी और आक्रोश है।

कवि व्यक्ति के तटस्थता तथा कायरता के भाव को दूर कर उसे संघर्ष के लिए तैयार करना चाहता है- 'कब तक पत्थर बने रहोगे/ अपनी जबान/खुद काटते रहोगे।' एक अन्य कविता में वह कहता है- 'पत्ते फड़फड़ाये/हवा में/ तुम तो आदमी हो/क्यों घबराये।' वह व्यक्ति के अन्दर गहरे जमे डर को निकाल फेंकना चाहता है। नाड़ियों में बहते रक्त को पहचानने की इच्छा कई कविताओं में व्यक्त हुई है। कवि रक्त के ठंडेपन का पक्षधर नहीं है, क्योंकि उससे आज के युग में व्यक्ति जी नहीं सकता। वह रक्त को गर्मी देना चाहता है, जिससे व्यक्ति जिंदगी से जूझ सके और अपना मनचाहा रास्ता बना सके। कवि व्यक्ति को प्रत्येक स्थिति में संघर्षरत रहने के लिए प्रेरित करता है- 'यह वक्त कैसा है/हथेलियां बैसाखियों पर हैं/ और मनुष्य एक लम्बी यात्रा पर निकल पड़ा है।' कुछ प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को सभी विषम स्थितियों का सामना करना ही होगा। वह दृढ़ता से कहता है- 'सुनो/हम हर युद्ध के लिए तैयार हैं। हमारे संकल्प ही/हमारे सुरक्षा कव होंगे/कर्म हमारा धर्म/ और मिट्टी हमारा दर्शन।' स का भाव इस संग्रह की अनेक कविताओं में व्यक्त हु है- 'अब तो युद्ध ही युद्ध/ मेरे भीतर-बाहर/आततायी/ दायें-बायें/शंकाएं/ मेरे चारों ओर हादसों में लिप्त।'

आज का व्यक्ति समस्त सुख-सुविधाएं होने प खुद को निपट अकेला तथा रिक्त अनुभव करता है- आसपास/ सब कुछ है/फूल, हरे पत्ते, चिड़िया/ बि ...../पत्नी, बच्चे, मित्र, सम्बन्धी/फिर भी/यह अन्धका किधर से/निसृत हो रहा है/ मुझे बार-बार/उचका है।' कवि जानता है कि वह अकेला कुछ नहीं कर सकत संघर्ष तथा बदलाव के लिए उसे अन्य लोगों का सहयोग चाहिए। इसी कारण बार-बार 'संग-संग चलने' का भ भी कई कविताओं में व्यक्त हुआ है। औरों के साथ मि कर वह किसी बड़े ध्येय को पा लेना चाहता है।

'बरगद को कटते हुए देखना' शीर्षक से लगता कि कवि प्रकृति या पर्यावरण की बात करेगा, पर ऐसी भी कविता संग्रह में नहीं है। कुछ कविताओं में पेड़, न समुद्र, चिड़िया की बात अवश्य हुई है, पर अलग संदर्भों नगर का कवि प्रकृति से कट गया है। वह कभी-क प्रकृति विषयक बात ही कर सकता है- 'आओ गु करें/ नदी के बारे में/किनारों पर उगे पेड़ों के मे/अथवा/ पहाड़ के पीछे से उगते/ सूरज के बारे लहलहाते खेतों के बारे में।' प्रकृति से सीधा साक्षात्कार उसके सौन्दर्य का वर्णन शायद ही किसी कविता में हो।

'सम्वाद-गाथा' इस संग्रह की लम्बी कविता इसे मित्र कंवर इम्तियाज को सम्बोधित करके लिखा है। कविता में पंजाब के इतिहास का वह दौर अभिव्य पाता है जब आतंकवादियों की दहशत पूरे पंजाब को रही थी। लोगों का घरों से बाहर निकलना कठिन हो था। सड़कों पर लाशें बिछ रही थीं। सपरा के शहर न की भी यही स्थिति थी। एक ओर नकोदर की मिट्टी

प्यार तो दूसरी ओर आतंक के बीच जीते जीवन का कारुणिक, मार्मिक चित्रण कविता में हुआ है। जीवन में व्याप्त विरूपता तथा क्रूरता जो व्यक्ति को अजनबी बनाती जा रही है, कवि को कहीं गहरे सालती है। सम्वेदना, आत्मीयता, प्रेम तथा स्नेह का भाव लुप्त होता जा रहा है - 'आत्मीयता, स्नेह और प्यार / पोस्टरों में तब्दील हो गये हैं।' कविता वर्तमान स्थितियों पर पाठक को गहराई से सोचने पर विवश करती है। इस स्थिति से मुक्ति कैसे सम्भव है - 'बहुत बार सोचता हूं / क्या मेरी बाहें / पुल की तरह फैल सकेंगी'। सम्वेदनशील तथा बुद्धिजीवी लोगों को समाज को ऐसा पुल देना ही होगा तभी सम्वाद की स्थिति पैदा हो सकती है। 'जन्मदिवस पर सम्वाद' कविता में भी आतंकपूर्ण स्थितियों का चित्रण हुआ है। कवि का विश्वास है कि कविता ही स्थिति में परिवर्तन ला सकती है - 'वृक्षों पर झूलते / हवा में लटके / सर्पो की मुझे परवाह नहीं / मैं उन्हें अपनी कविताओं में बंद कर लूंगा / अब कविताएं ही मेरा कवच हैं।'

भाषा के संकट तथा रचना-प्रक्रिया की बात भी कवि ने अपनी कविता में उठायी है, पर इस संग्रह की कविताओं में कवि न तो सुन्दर बिंबों की रचना कर पाया है और न ही तीखे मारक व्यंग्य की। कविता में शब्द तथा उसका समुचित प्रयोग महत्त्वपूर्ण होता है। यदि शब्द का प्रयोग सही स्थान पर या सही शब्द का प्रयोग सन्दर्भ विशेष के अनुरूप नहीं होता तो कविता बिखर जाती है। ऐसा बिखराव सपरा की कई कविताओं में है - 'अंधकार को / रेत पर पटखनी / किसने दी है' यहां, रेत पर पटखनी देना क्या अर्थ देता है - क्या यह कि अन्धकार को चोट न लगे और वह जीवित रहे। इन पंक्तियों का कविता के शेष अंश से भी कोई सीधा सम्बन्ध नज़र नहीं आता। इसका कारण कवि की शब्दों पर सही पकड़ का अभाव ही है। कवि को रचित कविता को बार-बार मांजने की जरूरत होती हैं। संग्रह की लम्बी कविता 'सम्वाद गाथा' में सपरा के कवि को देखा जा सकता है। इसमें भाषा का कौशल तथा शिल्पगत कसाव है।

बांहों में उगे पंख डॉ. मंजु गुप्ता का दूसरा कविता संग्रह है। इस संग्रह की कविताएं पहले संग्रह से बिल्कुल अलग मूड की कविताएं हैं। इन कविताओं में कवयित्री प्रकृति की गोद में खड़ी उसके विविध रूपों, रंगों को देख रही है। प्राकृतिक सौन्दर्य का इतना गहरा प्रभाव कवयित्री के मानस पर पड़ा है कि कविता फूट पड़ी है। उत्तरांचल के पर्वतों, घाटियों, नदियों, पेड़-पत्तों, फूलों तथा उनके रंगों का मनोहारी वर्णन इन कविताओं में हुआ है। जब प्रकृति कविता से विलुप्त होती जा रही है ऐसे समय में प्रकृतिपरक कविताएं सहसा ही हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेती हैं। विस्मयकारी आह्लाद से हमारा मन भर जाता है। यह सत्य है कि प्रकृति मनुष्य की आदिम सहचरी है। प्रकृति ही दुखद-त्रासद क्षणों में व्यक्ति को शान्ति और सुख के क्षण प्रदान करती है - 'मैं जब अकेली होती हूं / पेड़-पौधा के साथ होती हूं।' एक अन्य कविता में वह लिखती है - 'सूखी मिट्टी में पानी पड़ते ही / सोंधी महक का नथुनों में पहुंचना' उसे अच्छा लगता है। कवयित्री अनुभव करती है कि जहां प्रकृति है - 'वहीं-वहीं है जीवन / गति / तरलता।' नगरीकरण ने व्यक्ति को प्रकृति से काट दिया है, फिर भी प्रकृति से साक्षात्कार की इच्छा व्यक्ति के मन में रहती है और वह अवसर मिलते ही प्रकृति की गोद में खेलना-विचरना चाहता है। प्रकृति के साथ व्यक्ति का यह अटूट सम्बन्ध कवयित्री की कविताओं में जीवंतता के साथ व्यक्त हुआ है।

संग्रह में प्रकृति विषयक कविताओं की संख्या अधिक है, पर नगर में आते ही या नगर के स्मरण के साथ जीवन की सभी समस्याएं सामने उभर आती हैं। कवयित्री उनसे विमुख नहीं हो सकती। व्यक्ति को इन स्थितियों का सामना करते हुए ही जीना है। अतः ये समस्याएं भी कवयित्री की अन्य कविताओं में स्थान पाती हैं।

कवयित्री ने आलोच्य संग्रह को तीन खण्डों में बांटा है। पहले दोनों खंडों की कविताओं का सम्बन्ध प्रकृति से है तो तीसरे खंड की कविताएं नारी केन्द्रित हैं। नारी के बहाने समकालीन जीवन की विसंगतियों को उभारा गया है। 'फूलों ने ढक लिया है पहाड़' संग्रह का पहला खंड है। इस खंड में 'फूलों की घाटी' में खिले असंख्य फूलों के रूप-रंग की विविधता से प्रभावित होकर छब्बीस कविताएं दी हैं। ये कविताएं आकार में छोटी और बिंबधर्मी हैं। कवयित्री रंगों की इस दुनिया में विस्मित खड़ी है - 'पहाड़ पर सागर / वह भी फूलों का / रंगों का / खुशबू का' वह 'अपलक / अनिमेष / अवाक् / सहस्राक्ष बनी' 'रोम-रोम से सौन्दर्य / आनन्द / औदात्य' को पी लेना चाहती है। उसे लगता है वह 'फूलों के रेले में' खो गयी है। एक ओर सुकुमार फूल हैं तो दूसरी

तरफ बलिष्ठ पहाड़ जिन्हें देखते ही देखते बादल ढक लेते हैं, दृश्य बदल जाता है। फूल और पत्थरों में लगी होड़ को देख कवयित्री चकित है- 'पत्थर फूल उगा रहे थे/ फूल पत्थरों को ढकते जा रहे थे/देखते ही देखते फूलों ने ढक लिया पूरा पहाड़।'

संग्रह के दूसरे खंड 'फूलों ने फिर भी खिलना नहीं छोड़ा' में प्रकृति विषयक सैंतीस कविताएं हैं। इन कविताओं में फूल, पहाड़ के साथ-साथ नदी, झील, बरसात, चिड़िया, सूरज, बसन्त आदि का चित्रण भी है। 'सूर्योदय' कविता में उदित होते सूर्य का मनोहारी चित्र है तो 'बुझती क्यों नहीं भीतर दहकती आग' में नदी में बहते छोटे-बड़े हिमखंड हैं- 'हिम ओढ़े पहाड़/ सोये हैं गहरी नींद/ ढलानों पर हिम नद' तो कहीं पर पत्थरों को काटती नदी की तेज ध ार है जो छोटे-बड़े पत्थरों को साथ बहा कर ले जाती है। कवयित्री को नगर का प्रदूषित, विषाक्त वातावरण याद आता है तो पर्वतों पर वह- 'पारदर्शी हीरक-सा/निर्मल नीर देखती है।'

महानगर जिसे कंक्रीट के जंगल का नाम दिया गया है वहां वसन्त के आगमन का किसी को पता ही नहीं चलता- 'कहां थी हवा/ जिसे खुशबू से भरता/ कहां थे फूल जिन्हें रंगता/ कहां थी घास जिसे हरियाली मढ़ता' पर यही वसन्त जब पर्वतों या गांवों में आता है तो उसका रूप और ही होता है- 'वसन्त आया/फूल लाल/ सरसों पीली/आकाश हो गया नीला/ठूंठ में उग आयीं/ असंख्य आंखें' तो वर्षा ऋतु में आसमान में बादल कैसे छा जाते हैं उसका एक बिंब दृष्टव्य है- 'नटखट शिशु मेघों को/ग्राम में बिठाकर/वायु आयाएं घर ले गयीं'। पेड़ पर फुर्र-फुर्र उड़ती चिड़िया को मंजु गुप्ता अपने अन्दर महसूस करती है- 'नन्हीं-सी चिड़िया मेरे भीतर है/ चूं-चूं दाना चुगती/चोंच से फूलों का मधु पीती/ तिनका-तिनका जोड़ घोंसला बुनती।' चिड़िया का भीतर होना ही उसे मां बनाता है, नारीत्व प्रदान करता है, उसे स्नेह और ममता से भर देता है, सतत क्रियाशील रहने के लिए प्रेरित करता है। प्रकृति और व्यक्ति के अन्तर्सम्बन्धों को 'आदमी और फूल' कविता अधिक गहराई से व्यक्त करती है- 'आदमी : निर्गन्ध कैक्टस/ दुनिया : कंक्रीट का गमला/फूलों ने फिर भी खिलना नहीं छोड़ा।'

'लड़की की आंखों में समाया ब्रह्माण्ड' संग्रह का तीसरा खंड है। इस खण्ड की कविताएं नारी के विविध रू[illegible] उसकी समस्याओं, व्यथा तथा पीड़ा को अभिव्यक्ति देती हैं। इस खंड की पहली कविता 'रोई नहीं लड़की' भारती[य] समाज में नारी की स्थिति को स्पष्ट कर देती है। जन्म [पर] लड़की रोती नहीं- डाक्टर, नर्स, मां सभी परेशान हैं। उ[से] रुलाने के प्रयत्न जारी हैं। कविता की अन्तिम पंक्ति[यां] स्थिति को गहराती तथा आहत करती हैं, अन्दर त[क] झकझोर देती हैं- 'जब सारी जिंदगी/किस्मत में रोना लि[खा] हो/ तो अभी से क्यों करे शुरूआत/ जल्दी क्या है/ [रोने] को जिंदगी पड़ी है।' लड़की के जन्म पर किसी के चेहरे [पर] खुशी नज़र नहीं आती, उसके मरने पर किसी को ग़म न[हीं] होता- 'लड़की होने का अर्थ' कविता में मंजु गुप्ता [ने] लिखा है- 'अनचाही बच्ची/चमकती आंखों से/ सब कु[छ] देख/ कुछ इस अदा से मुसकरा रही थी/जैसे जन्मते [ही] जान गयी हो/ लड़की होने का अर्थ।' इसी कारण [वह] आजीवन स्थितियों से जूझती रहती है। कवयित्री लिख[ती] है- 'यह सच है/ कितनी ही कमजोर हों/ मरती न[हीं] लड़कियां/ मर-मर कर जीती हैं/ या मारी जाती/ ज[ला दी] जाती हैं' और वे अलग-अलग हादसों का शिकार होती [हैं।] लड़की चाहे अधिकारों, बराबरी की बात करे, वह 'स[शक्त] औरत/ मोहनी प्रिया/ ममतामयी मां/अन्नपूर्णा' चाहे कु[छ] भी बन जाये पर वह - 'नहीं हो सकती/लड़की छोड़ [कर] और भी कुछ।' लड़की चाहे सर्वोत्तम छात्रा, वक्ता, स्वर्णप[दक] विजेता हो पर उसकी नियति यही है कि विवाहोपरान्त [द्वार] पर खड़ी हो देर रात तक अपने पति की प्रतीक्षा करे। [आज] जबकि इक्कीसवीं सदी की बात हो रही है, पर नारी [की] स्थिति में कोई परिवर्तन नज़र नहीं आ रहा- 'वह अब [भी] मांज रही बासन/फूंक रही पनीली आंखों/गीली लकड़ि[यां] सेंक रही रोटियां/भूखी-प्यासी।' पर कवयित्री चाहती [है] औरत की 'आंखों में विश्वास/ मुट्ठी में भाग्य/ होंठों [पर] लोरियां/ नींद में ममता/ और पैरों में चलने की [अ]साध।' इक्कीसवीं सदी में वह औरत के ऐसे ही रूप देखना चाहती है।

मधु शर्मा के दूसरे कविता संग्रह **धूप अभी भी** [की] कविताएं वस्तु, शिल्प तथा सम्वेदना की दृष्टि से अ[धिक] परिपक्व हैं। कविताओं में व्यक्त अनुभव कृत्रिम नहीं [हैं।] कवयित्री भोगे तथा जिये हुए अनुभव को कविताओं [में] व्यक्त करती है। इसी कारण कविताओं में ताज़गी [है।]

विशिष्टता है। आलोच्य संग्रह की कविताओं में नारी की विसंगतिपूर्ण स्थितियों की अभिव्यक्ति खुल कर हुई है। दोहरी-तिहरी जिंदगी जी रही नारी की त्रासद स्थिति का कवयित्री को प्रत्यक्ष ज्ञान है। उसने इन विषम स्थितियों को गहराई से समझा तथा पहचाना है। स्त्री की समाज में बदली हुई भूमिका तथा परम्परागत मूल्यों से टकराव और उससे उत्पन्न पीड़ा तथा व्यथा का, सामाजिक स्थितियों के बीच उसके निरन्तर पिसते रहने का अनुभव कविताओं में विशेष स्थान रखता है। एक ओर चारदीवारी में घिरे रहने की परम्परागत भूमिका तो दूसरी ओर आधुनिक नारी का, उसकी आकांक्षाओं, उसके अपने अस्तित्व का चित्रण या इन दोनों के बीच टकराव तथा उससे उपजे मानसिक द्वंद्व या पीड़ा का चित्रण मधु शर्मा की कविताओं में हुआ है। मध्यवर्गीय स्त्री की स्थिति निम्न तथा उच्च वर्ग की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक दयनीय है। वह जीते हुए रोज ही मरती है। इस मौत का सम्बन्ध उसकी भावनाओं, कल्पनाओं, आकांक्षाओं से है जो समाज तथा विशेष रूप से पुरुष के संकुचित दृष्टिकोण के कारण पैदा होता है। मध्यवर्गीय स्त्री का यह मानसिक द्वंद्व कई कविताओं में उभरा है। अतीत तथा भविष्य के स्वप्न, वर्तमान का कटु यथार्थ आपस में बार-बार टकराते हैं। ऐसी कविताओं में अवसाद, उद्विग्नता तथा असंतोष का भाव अधिक है- 'एक लड़की / किरणों-सी / एक पांव धरती और/दूसरा बादल के सीने पर रख/ आसमान की दीवार के पीछे/झांकती है कुछ/अपना-सा/ जाने कब/ कब का खोया।' धरती पर पांव यथार्थ स्थिति या वास्तविकता है तो बादल के सीने पर पांव महत्त्वाकांक्षा, कल्पना, जीवन की विराटता तथा खुद को स्वतन्त्र देखने की इच्छा है। आसमान की दीवार के पीछे झांकना, खुद को अपने वास्तविक रूप में पहचानना है। इस पहचान में उसकी योग्यता तथा आत्मबल भी सम्मिलित है।

विवाहोपरान्त नारी का जीवन कैसा मोड़ लेगा-यह अनिश्चित है। इस अनिश्चितता से भी नारी को जूझना पड़ता है- 'तांगे पर बैठी नयी बहू/सोचती है/पगडंडियों पर उतरते/और ओढ़नी से चिपटा कंसुआ-सा कुछ/झाड़ती है बार-बार चुपके से।' विवाह मंजिल क्यों बन जाती है जहां पहुंच सभी कुछ बिखर जाता है, सभी कुछ ठहर जाता है। उसकी स्वतन्त्रता छिन जाती है और घर गृहस्थी ही जीवन का ध्येय बन जाती है। 'आग और पानी का खेल' में भी चौका बर्तन में जिंदगी को घिसती नारी का चित्रण है- 'और यों/ आग और पानी का खेल खेलती/ बर्फ हुई औरत/अपना सफर तय करती है।' इन कविताओं को पढ़ कर लगता है नारी निरन्तर युद्ध लड़ रही है- अन्तर्द्वंद्वों और अन्तर्विरोधों का युद्ध। इससे उसे गहरी मानसिक यातना को झेलना पड़ रहा है।

पति के साथ बिताये प्रेम पूर्ण सम्बन्धों, आत्मीयता या सुखी गृहस्थ जीवन का चित्रण कवयित्री ने एक-दो कविताओं में ही किया है। वहां भी लगता है मात्र औपचारिकता निबाहने के लिए, क्योंकि इन कविताओं में वैसी गहराई नहीं है जैसी नारी विषयक अन्य कविताओं में है। 'माटी की गंध' कविता में अपने प्रिय के प्रति कवयित्री के हृदय में उतना ही प्यार है जितना 'देश की माटी' के साथ। प्रिय में ही वह खुद को ढूंढ़ लेना चाहती है। 'मुझमें जितनी मिट्टी है' कविता में भी ऐसा ही भाव उसने व्यक्त किया है। कवयित्री का सब कुछ प्रिय का है। पूर्ण समर्पण का भाव इस कविता में अभिव्यक्ति पाता है।

नारी विषयक कविताओं को देख कर कवयित्री की चिंता समझ आती है, पर इस स्थिति से निपटने के लिए वह कोई रास्ता नहीं सुझाती। संघर्ष का या स्थितियों से टकराने का भाव आलोच्य संग्रह की कविताओं में नहीं है। 'पानी और पत्थर' कविता में शान्त झील में बार-बार पत्थरों का लुढ़कना स्थिरता या यथास्थिति को तोड़ने का प्रतीक माना जा सकता है। कविता में परिवर्तन की आकांक्षा है,पर- 'मछलियां नहीं दीखीं वहां फिर/बहुत देर' यथास्थिति टूटने के बाद की स्थिति की ओर संकेत करती है। कुछ खोकर पाने की स्थिति इसी रिक्तता में जन्म लेती है। अपने अधिकार पाने के लिए नारी को इस ठंडेपन से मुक्ति पानी होगी।

मधु शर्मा की कविताओं में मृत्यु की चर्चा बार-बार हुई है। मौत के विभिन्न रूप उभर कर सामने आते हैं। अपनी आकांक्षाओं, कल्पनाओं को बलिवेदी पर चढ़ाती औरत उसकी दृष्टि में रोज ही मरती है- 'एक और मौत दर्ज हुई आज/जीवन में'। मौत को वह चुपचाप झेल रही है। प्रतिरोध या विरोध का भाव नहीं उभरता है। आम भारतीय नारी की यह नियति है। 'मौत जब घेर ले/ चारों तरफ से/ आदमी/ जीने की कोशिशों में मरता है।'

कवयित्री को पहाड़, समुद्र, पेड़, झील, चिड़िया प्रिय

हैं। 'प्रतीक्षा' कविता में पहाड़, समुद्र, बर्फ जैसे आम शब्दों के माध्यम से वह अतीत से वर्तमान तथा भविष्य तक की यात्रा को समेट लेना चाहती है। पहाड़ और समुद्र के बीच का अनन्त काल सघन रूप से लहरा रहा है। आत्मा बर्फ हो गयी है जो जिस्मों में कैद हो गयी है। उसे पिघलाने के लिए, चेतना देने के लिए आग की जरूरत है। शब्दों तथा उन्हें विशिष्ट अर्थ देने की कला इस कविता में देखी जा सकती है। साधारण शब्दों में व्यापक अर्थ भर देना कुशल कलाकार के हाथों ही सम्भव है।

संग्रह की कुछ कविताएं कवि शमशेर को लेकर लिखी गयी हैं। ये कविताएं कवि व्यक्तित्व तथा उसके चित्रों से प्रेरित है। कवयित्री की कविताओं पर भी शमशेर की भाषा तथा शिल्प का प्रभाव देखा जा सकता है। रंगों और रेखाओं को शब्दों से पकड़ने का सार्थक प्रयास कवयित्री ने किया है। इन कविताओं में जो बिंब उभरता है उससे चित्र आंखों के सामने तैरने लगता है। इन कविताओं में कवयित्री शमशेर के प्रति आत्मीय अनुराग, गहरा लगाव व्यक्त करती है। कवयित्री के मन में कवि के प्रति जो भी धारणाएं रही हैं वे कविताओं में संकेत रूप से उभरती हैं- 'बंद लिफाफों में/ ये कैसी तहें हैं सच्चाइयों की/ जो उघाड़ती जाती है/ भीतर-भीतर दबी आग।'

काल की कोख से अलका सिन्हा का पहला कविता संग्रह है। कवयित्री व्यक्ति और समाज को बेहतर तथा सुन्दर बनाना चाहती है। इसी कारण व्यक्ति उसकी मुख्य चिंता है। समाज में व्याप्त विसंगतियों की उसे पहचान है। व्यक्ति तथा समाज के अंधकार को वह दूर करना चाहती है। वह ऐसे मूल्यों का निर्माण करना चाहती है जिससे एक आदर्श समाज की स्थापना सम्भव हो सके। इसी कारण खोखलेपन और स्वार्थपरता के विरुद्ध वह आवाज उठाती है। उसकी कविताओं में आक्रोश और विद्रोह का भाव है। कवयित्री ने स्वयं स्वीकारा है कि उनकी कविताओं में बौखलाहट तथा अकुलाहट अधिक है। इसका कारण उसका परिवेश है, जिसकी उसे गहरी पहचान है। उसके अनुभव तथा विश्वास गहरे हैं। उसकी कविताओं में इसी कारण विश्वसनीयता तथा ईमानदारी है। वास्तव में अलका सिन्हा की कविताएं अहसास और विश्वास की कविताएँ हैं। वह लिखती है- 'मैं महज भाषण नहीं अहसास हूं/ महज कविता नहीं, रचना नहीं, विश्वास हूं।' ये पंक्ति[illegible] कवयित्री के सरोकार को स्पष्ट कर देती हैं।

कवयित्री महसूस करती है कि 'औरत होना [illegible] एक औरत का मां होना उसे किस हद तक को[illegible] सहनशील और कभी-कभी बेबस बना देता है।' मा[illegible] विभिन्न रूपों को उसने कविताओं में चित्रित किया [illegible] सृजन के इन्हीं क्षणों में वह खुद को ब्रह्म के निकट [illegible] है या कभी-कभी उसे चुनौती भी देती है। 'विष कन्[illegible]' 'चुनौती', 'मरणोपरांत' आदि ऐसी ही कविताएं हैं।

नारी तथा उसकी समस्याओं को लेकर अ[illegible] सिन्हा ने इस संग्रह में तीन-चार कविताएं ही दी[illegible] 'आगन्तुक के नाम भी' कविता में रहस्य का एक झीना[illegible] आवरण उसने बुना है। यह आगन्तुक कौन है, जानने[illegible] जिज्ञासा कविता के अंत तक बनी रहती है। क्या [illegible] उसका प्रिय है जिसके 'साकार हो उठने की बेला/नजद[illegible] आती जा रही है।' अनेक स्मृतियां कवि मानस में उभ[illegible] हैं- 'जब रात आती है/ रात भर ख्वाब देखती [illegible] आंखें/ तब कोई कोमल पंछी/तुम्हारा पर्याय हो जाता [illegible] तुम्हें बांहों में भर लेती हूं/ मैं निस्सीम हो जाती हूं।' [illegible] ने कवयित्री के भावों को विस्तार दिया है, असीम अ[illegible] बनाया है- 'कई बार सोखा है तुमने/मेरी आंखों से [illegible] निकली/सारी पीड़ा को/झेला है बोझ/ भीतर ही [illegible] चुपचाप सहकर।' इस कविता में प्रिय के प्रति प्रेम [illegible] गहरा लगाव व्यक्त हुआ है तो एक अन्य कविता में [illegible] के लिए नारियों पर हो रहे अत्याचारों का वर्णन हुआ [illegible] 'आजकल/रावण जलने कम हो गये हैं/क्योंकि सारा [illegible] और दियासलाई तो/खर्च कर दिया जाता है गृहल[illegible] जलाने में/उसके पास 'सोने की लंका' जो नहीं है [illegible] इसीलिए।'

विद्रोह के भाव को कवयित्री की रचनाओं [illegible] अधिक स्थान मिला है- बौखलाहट, आक्रोश, [illegible] मान्यताओं का विरोध तथा कुछ कर गुजरने की [illegible] अलका सिन्हा की कविताओं में अभिव्यक्ति पाती [illegible] कवयित्री का संकल्प दृढ़ है, इतना दृढ़ कि काल पर [illegible] अपने चिह्न अंकित करता है- 'इसे भींचा है मैंने/ [illegible]

जोर से/ कि इस पर अंकित हो गयी हैं/मेरी हथेली की रेखाएं।' परमात्मा ने संसार की रचना की है तो आत्म में निहित आस्था की रचयिता वह स्वयं है। यह आस्था ही उसके आत्मबल का कारण है। उसकी कलम से विद्रोह तथा संघर्ष के भाव फूटते हैं- 'गोया मेरी कलम में स्याही नहीं/ज्वालामुखी का लावा भरा हो।' कवयित्री चाह कर भी अपनी कविता में कोयल की कूक व्यक्त नहीं कर पाती। उसके 'कंठ से सदा/विप्लव का गर्जन ही फूटता है।' शायद इसलिए कि क्रांति के बाद ही निर्माण सम्भव है। पतझर और बसन्त का उदाहरण देते हुए वह अपनी बात की पुष्टि करती है- 'यह कुरूप पतझर ही तो/सृजक है- पुष्पित/ पल्लवित, सुखकारी/मनोहारी बसंत का।' इसका कारण वह अपने बचपन में ढूंढ़ती है। उसे मां का प्यार, दुलार, लोरियां सुनने को नहीं मिलीं बल्कि उसकी 'निगाहें तो क्रेच की खिड़की से/अपलक निहारती रहीं राह/ मां के हड़बड़ाते पैरों की।' कष्टमय बचपन की स्मृतियां कई कविताओं में अभिव्यक्ति पाती हैं- 'कांटों की शय्या ने मुझ को पाला है/ प्रिय है मुझको दुविधाओं का, आलिंगन।' इसीलिए वह कहती है कि 'संघर्ष और यातनाओं की जमीन पर/पैनी हो गयी धार से/कैसे छेड़ दूं कोमल-सा गीत।' इसके साथ ही आज जब हम सभी बारूद के ढेर पर बैठे हुए हैं, ऐसी अवस्था में वंशी बजाने का, गाय चराने का या गोपियो से छेड़-छाड़ का कोई औचित्य नहीं है।

काव्य संसार की रचना के लिए जहां अलका सिन्हा ने पौराणिक कथाओं का, विशेष रूप से महाभारत के पात्रों का सहारा लिया है, वहीं प्रकृति के छोटे-छोटे उपादानों का, आसपास के परिचित सन्दर्भों का प्रयोग भी किया है। इसी कारण उसकी कविता में विविधता है। कवयित्री के पास भाषा तथा प्रौढ़ अनुभव हैं।

1. बरगद को कटते हुए देखना : मोहन सपरा ; आस्था प्रकाशन, नयी दिल्ली-18; सं. 1997; मूल्य 95रुपये

2. बांहों में उगे पंख : मंजु गुप्ता ; अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली-32 ; सं 1997 ; मूल्य 100 रुपये

3. धूप अभी भी : मधु शर्मा ; शांति पुस्तक मन्दिर, दिल्ली-51 ; सं. 1997 ; मूल्य 60 रुपये

4. काल की कोख से : अलका सिन्हा ; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली-2 ; सं. 1997 ; मूल्य 60 रुपये

6/15, अशोक नगर, नयी दिल्ली-110018.

चक्राचक्र

एक गुण्डे का समयबोध

मैं कानपुर में दो-एक दिन रहूं तो जगमोहन को पता लग ही जाता है। फिर वह मुझे मिलने आता है। वह मेरे बचपन का साथी है, परन्तु दसवीं कक्षा के बाद से ही हमारी दिशाएं अलग-अलग हो गयी थीं। मैं डिग्रियों पर डिग्रियां लेता गया और और वह गुंडई-कैरियर में एक के बाद दूसरे सर्टिफिकेट जीतता चला गया। मैंने कहानियां लिखनी शुरू कीं, उसने सराफे और बजाजे से माहवारी वसूल करनी शुरू की। मैं अध्यापक बनकर लड़के-लड़कियों को पढ़ाने लगा, वह गुरु बनकर नए 'टैलेन्ट' को अपना शागिर्द बनाने लग गया। गरज़ यह कि हम दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में लगातार आगे बढ़ते चले गये।

वैसे मेरे से उसका पेशा अधिक प्रभावशाली है, उसका व्यक्तित्व भी मुझसे ज्यादा प्रभावशाली है, उसकी आमदनी सदा मुझ से कई गुना ज़्यादा रही है, परन्तु पता नहीं क्यों वह सदैव मेरा प्रभाव स्वीकार करता रहा है। बस यहीं मैं भारतीय संस्कृति की महानता का कायल हो जाता हूं। नहीं तो कहां जगमोहन उर्फ जग्गू गुरू और कहां मैं उर्फ माट सा'ब।

इस बार जब वह मुझे कानपुर में मिला तो मैंने देखा वह कुछ उदास है। मैंने पूछा- ''क्यों जग्गू गुरु, क्या बात है?''

वह बोला- ''कुछौ नहीं भइया, आजकल हिंआ 'हमार धंधा कछु ठीक-ठाक चलि नहीं रहा।''

''आखिर बात क्या है?'' मैंने आश्चर्य व्यक्त किया- ''मैं तो समझता हूं कि अब तुम्हारे धंधे का स्कोप बहुत बढ़ गया है। राजनीति में तुम्हारे पेशे की आजकल तूती बोल रही है। और अब तो साहित्य में भी लोग इसका महत्व समझने लगे हैं।''

वह और उदास हो गया। उसके चेहरे पर आई हुई उदासी को किसी साहित्यिक शब्द से अलंकृत करने के लिए मैं अंदर ही अंदर तड़फड़ाने-सा लगा।

जग्गू बहुत धीरे-धीरे बोल रहा था- ''यहै तो बड़ी मुसिकिल हुई गई है भइया। पहिले हमार पेसा बहुत सीधा सादा रहै। सरीफ आदमी सकल से सरीफ लगत रहै गुंडा सकल से गुंडा लगत रहै। अब पतै नहिं लगत कि को कउन गुंडा है अउर कउन सरीफ है।''

मुझे लगा, जग्गू ठीक कह रहा है। हमारे देश का सामाजिक जीवन आजकल बिल्कुल गड्डमड्ड होता जा रहा है। यहां फिर प्राचीन भारतीय संस्कृति की महानता के सम्मुख मेरा सिर झुकने को हुआ (सामने जग्गू बैठा था इसलिए मैंने झुकने नहीं दिया)। हमारे यहां कैसी बढ़िया व्यवस्था बनी हुई थी। समाज में बहुत से काम थे। हर काम के लिए एक जाति बनी थी और हर जाति के लिए एक विशेष प्रकार की शक्ल भी बन गयी थी। जग्गू की परेशानी बड़ी अजीब थी। शराफत का रूप धरे एक नई किस्म की गुंडई सभी ओर पनप रही है। परन्तु गुंडई का रूप धरे शराफत के पनपने की कहां सम्भावना है?

मैंने कहा- ''जग्गू गुरु, समय बड़ी तेज़ी से बदल रहा है। पुराने धंधे भी नये परिवेश और युगबोध के अनुरूप नया संदर्भ ग्रहण कर रहे हैं। जो व्यक्ति जीवन की संश्लिष्टता के विविध आयामों में व्याप्त विसंगति को झेलता और भोगता नहीं है, वह उसे रूपायित भी नहीं कर सकता''

मैं बीच में ही रुक गया। जग्गू मुझे टुकुर-टुकुर देख रहा था। मैंने अपने आप से कहा- यह क्या बदतमीज़ी है। बेवकूफ कहीं के, तुम जग्गू से बातचीत कर रहे हो कि किसी कहानी गोष्ठी में भाषण दे रहे हो? मैंने अपने आपको संभाला और कहा-''जग्गू गुरु, मेरा मतलब है कि समय के हिसाब से तुम्हें अपने आपको थोड़ा बदलना होगा। देखो, सुनारी का काम ओरनामेन्ट हाउस में बदल चुका है, सूदखोर अब फाइनैन्सर कहलाते हैं, नाचने-गाने वाले मिरासी अब सांस्कृतिक कार्यक्रमों के महान कलाकार बन गये हैं। तुम्हें भी अपने काम का रंग-ढंग बदलना चाहिए।''

जग्गू कुछ देर सोचता रहा। फिर बोला- ''अच्छा भइया, तुम तो दुई-चार दिन हिआं रहिहौ? हम तुमसे कल मिलब। अब हम अपन आज की कमाई करै जाइत हन।''

मैंने ऐसे ही पूछ लिया- "कहां जा रहे हो?"

वह बोला- "अइसे है, एक छोटा-सा काम है। अब पहिल जइस धन्धा तो रहा नहीं जब बड़े लोग हजार-दुइ हजार दइ के अपने दुस्मन की हड्डी-पसली तुड़वाए देत रहे। अब तो बहुत छोटा-मोटा काम मिलत है। एक मकान मालिक है। उइ हमका सो रुपया देवे का कहिन है कि उनके एक किराएदार का हम दस-पांच जूता लगाइ देइ।"

जग्गू अपनी रोज़ी कमाने चला गया। परन्तु दूसरे ही दिन वह सुबह ही सुबह फिर आ गया। आते ही बोला- "भइया, हमने रात भर आप की बात पर बहुत विचार किया है। अब हम अपने धंधे के रंग-ढंग को जरूर बदलेंगे।"

मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने उसे कभी खड़ी बोली में बातचीत करते नहीं सुना था। उसमें यह परिवर्तन देखकर मुझे लगा, सचमुच वह अपने काम-धंधे का रुख बदलना चाहता है।

वह बोला- "भइया, अब आप मुझे समझाइए कि मैं अपनी गुंडालत को नये तरीके से कैसे जमाऊँ?"

"गुंडालत..." मैं हंस पड़ा- "यह बात हुई न। जैसे वकालत वैसे गुंडालत। और वैसे भी इन दोनों पेशों का आधारभूत सिद्धान्त एक ही है- दूसरों के लड़ाई-झगड़े से अपनी जेब भरो।"

फिर मैंने कहा- "में देख रहा हूं कि एक परिवर्तन तो तुमने कर ही लिया है। अवधी की जगह खड़ी बोली बोलने लगे हो। थोड़ा परिवर्तन तुम्हें अपनी वेश-भूषा और शक्ल-सूरत में भी करना होगा।"

वह कुछ महीने बाद मुझे मिला। उस दिन भी काफी उदास था। उसकी शक्ल-सूरत देखकर मैंने अंदाज़ा लगाया कि उसने मेरे सुझावों पर पूरी तरह अमल करने की कोशिश की है। मैंने पूछा, "कहो, क्या हाल है?"

वह बोला- "क्या बताऊँ भैया? आप मुझे बड़े मुश्किल रास्ते पर डाल गये। अपने कहा कि मैं राजनीति में घुसूं क्योंकि वहां मेरे जैसों की बड़ी पूछ है। पर वहां तो काम्पटीशन बहुत ज्यादा है। मैंने जिन्दगी में बड़े-बड़े गुंडे देखे हैं। बड़े-बड़ों का शागिर्द रहा हूं और बड़े-बड़े गुंडों को अपना शागिर्द बनाया है। पर भैया, ऐसे लोग मैंने कहीं नहीं देखे।"

मैंने पूछा- "क्यों, आखिर हुआ क्या?"

"पूछो मत।" वह बोला- "वहां तो समझ में ही नहीं आता कि कौन क्या है। हर आदमी इस गुंताड़े में है कि दूसरे को लंगड़ी लगा दे। हम गुंडों में इतनी ईमानदारी तो हमेशा रही है कि अपने गुरु से दगा न करो, अपने साथियों को धोखा न दो। अलग होना ही है तो ताल ठोंक कर, लड़-झगड़ कर अलग हो जाओ। परन्तु वहां तो यही समझ में नहीं आता कि गुरु कौन है और चेला कौन है। हर चेला गुरु को गुड़ बनाकर खुद शक्कर बनने की कोशिश करता है। कभी-कभी सोचता हूं कि पुराना धंधा ही अच्छा था- न लेनी एक न देनी दो। बड़े आराम से गुजर-बसर हो रही थी।"

मैंने कहा- "जग्गू गुरु, नाउम्मीद मत हो। नये क्षेत्र में नये रोज़गार को जमने में कुछ समय लग ही जाता है। पंजाबी में एक कहावत है- पहिले साल चट्टी, दूजे साल हट्टी, तीजे साल खट्टी। मतलब यह कि पहले साल नुकसान उठाना पड़ता है, दूसरे साल दुकान बनती है और तीसरे साल फायदा होता है। थोड़े दिन और कोशिश करके देखो।"

इसके बाद मैंने सुना कि जग्गू आम-चुनाव में विधान सभा का चुनाव लड़ने के लिए किसी पार्टी का टिकट पाने की कोशिश कर रहा है। फिर सुना कि वह निर्दलीय उम्मीदवार के रूप में ही चुनाव लड़ रहा है।

चुनाव सम्पन्न हो गये। मैंने अखबार में पढ़ा- जमानत जब्त हो जाने वाले उम्मीदवारों में जग्गू का नाम भी था।

मुझे बड़ा अफसोस हुआ....बिचारा जग्गू, न गुंडा ही रह सका, न नेता ही बन सका।

पर अभी पिछले महीने जब मैंने सुबह-सुबह उसे अपने दरवाज़े पर देखा तो भौंचक्का रह गया। जग्गू खादी सिल्क के कुरते और चूड़ीदार पायजामे में बहुत जंच रहा था।

मैंने पूछा- "कहो जग्गू गुरु, दिल्ली कैसे आना हुआ?"

परन्तु जग्गू के मुंह से तो खुशी के फौव्वारे छूट रहे थे। बोला-"भैया, दिल्ली तो अब मैं हर महीने-दो महीने बाद आता हूं। यहां मैं इतना बिज़ी रहता हूं कि आपसे मिलने का मौका ही नहीं मिल पाता। इस बार थोड़ा समय मिला तो सोचा आपसे भी मिल लूं।"

मैं मुंह बाये उसे देख रहा था।

वह बोला- "पिछले चुनाव में मैं हार ज़रूर गया था। हज़ारों की चपत भी लग गयी थी। पहले तो मैं बहुत पछताया, पर भगवान तो बड़ा दयालु है। हाथी से लेकर चींटी तक वह सभी का पेट पालता है। मेरे लिए उसने एक दरवाज़ा बन्द किया तो सौ खोल दिये। बस आजकल बड़े मज़े में हूं।"

"आजकल क्या कर रहे हो?" मैंने पूछा।

"पूछो मत।" वह बोला- "अब तो गुंडालत के धंधे में बड़ी जान आ गयी है। पिछले कुछ समय में विभिन्न पार्टियों के सांसदों और विधायकों ने जगह-जगह जो कारनामे किये हैं, वह तो आपने देखे ही हैं। विधायक दल बदल रहे हैं और अपनी चांदी हो रही है।"

मैं और असमंजस में पड़ गया। विधायकों के दल बदलने से भला जग्गू को क्या लेना-देना है।

जग्गू ने मेरी असमंजस की स्थिति से कोई सरोकार नहीं दिखाया। वह बड़े मज़े से बता रहा था- "किसी पार्टी या नेता के इशारे पर किसी विधायक को दो-तीन दिन के लिए गायब कर दो और बीस-पच्चीस हज़ार रुपये ले लो। दल-बदलू विधायक की रक्षा करो और उसे उसकी पहली पार्टी के लोगों से बचाओ और मजे से हज़ारों पर हाथ साफ कर लो। इसी तरह के सैकड़ों धंधे हैं अपने पास।"

मैंने कहा- "जग्गू गुरु, ऐसी स्थिति तो अधिक समय तक नहीं रहेगी। फिर.....?"

तब जग्गू ने वह बात कही जो समयबोध को पहचानने वाला कोई जागरूक चिन्तक ही कह सकता था। वह बोला- "जो चीज़ लम्बे समय तक रहती है वह बेजान होती है। जिंदगी की सच्ची हरकत उस चीज़ में है जिसके बारे में यह भी भरोसा न हो कि अगले पल में वह हमारे हाथ में होगी या नहीं। इसीलिए अपने देश का राजनीतिक जीवन कितनी हरकत से भरा हुआ है। राजनीतिज्ञों से ही मुझे एक बड़े 'गुर' का ज्ञान हुआ है- वह 'गुर' है- समय थोड़ा है, इसलिए एल.एम.बी. फंड का समय रहते भरपूर इस्तेमाल कर लो।"

मुझे लगा जगमोहन के सामने मैं एकदम बुद्धू हूं। मैं अपने को समझदार व्यक्ति समझता हूं, परन्तु मेरी सारी समझदारी किताबी है। जगमोहन मुझसे कहीं ज्यादा समझदार है। उसने जो कुछ भी सीखा है, सीधा जीवन से सीखा है।

"यह एल.एम.बी. फंड क्या है?" मैंने पूछा।

"तुम नहीं जानते?" उसने आश्चर्य से मेरी ओर देखा- "लूटो मेरे भाई फंड।" कहकर वह सोफे पर अधलेटा हो कर सिगरेट सुलगाने लगा।

०००

दलित साहित्य लेखक-सम्मेलन

पिछले दिनों रमणिका फाउन्डेशन एवं विनोबा विश्वविद्यालय, हजारीबाग के तत्त्वावधान में स्थानीय कोलम्बा महाविद्यालय हिटले हॉल में दलित सा लेखक-सम्मेलन सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में महा डॉ. ए.आर.किदवई, राज्यपाल, बिहार एवं महामहिम श्री प्रसाद, राज्यपाल, अरुणाचल प्रदेश ने भाग लिया।

रमणिका फाउन्डेशन की अध्यक्षा रमणिका गु अतिथियो का परिचय कराने के बाद सम्मेलन के उ पर प्रकाश डालते हुए कहा कि दलित साहित्य लेखक सम्मेलन को लेकर बुद्धिजीवियो में बहुत भ्रम फैला हु उन्होंने कहा कि इसक लेखन को बिना पढ़े ही पूर्वा ग्रसित होकर इसकी आलोचना हो रही है, जबकि यह समानता, आजादी की भावना से प्रेरित सच्ची मानव ओर अग्रसर है। दलित साहित्य को खेमेबाजी की स जाती है। सच तो यह है कि दलित वर्ग को अभिव्यक्ति ताकत मिल गयी है। गैर दलित मंच से दो संस्था संयुक्त रूप से यानी विश्वविद्यालय और एक न्यास मिलकर दलित साहित्य लेखक-सम्मेलन हिन्दी पट्ट पहली बार आयेजित किया गया है। यह दलित साहि नये समाज की कल्पना है जिसमें न जातीय गुटबा न ऊंच-नीच और न अन्य विकृत सोच हो। तात्पर्य कि दो मापदंडों वाली संस्कृति का पोषक होने की बजा आपसी भाईचारे एवं समानता पर आधारित है। उन्होंने कि विश्व में जब नीग्रो साहित्य आया, तो इस पर कि शोर नहीं मचाया, लेकिन प्रगतिशील एवं जनवादी नये प्रतीक और बिंबों को लेकर आया, तो उस स काफी हंगामा हुआ। बाद में वह स्वीकार्य हो गया। दलित साहित्य पर भी ऐसे बावेला मचाया जा र रमणिका गुप्ता ने कहा कि अब बड़ी संख्या में शिक्षित होकर आ रहे हैं और अपने समाज को हीन व मनुवादी सोच से मुक्त कर मानववादी सोच की जाने की चेष्टा कर रहे हैं। ऐसे में एक जातिविहीन बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वे लोग भी आगे जिन्होंने जातीय व्यवस्था का पोषण किया है।

मोहनदास नैमिशराय ने कहा कि देश में

का सूरज उगा तो समूचे दलित वर्ग ने राहत की सांस ली। भारतीय संविधान के माध्यम से बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने जाति के आधार पर चली आ रही श्रेष्ठता और झूठे बड़प्पन पर जबर्दस्त चोट करते हुए समतामूलक समाज की रचना के लिए नये पथ का निर्माण किया। विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा में दलित समाज के शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों का ही अभाव है। वहां तक पहुंचने में उन्हें अच्छी-खासी दिक्कतें आती हैं।

अध्यक्षीय भाषण में डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर ने कहा कि दलितों के विकास के बिना भारतीय समाज के विकास की कामना नहीं की जा सकती है। दलितों को हर क्षेत्र में सहभागी होने की आवश्यकता है। दलित जब तक पूर्ण रूप से शिक्षित नहीं होंगे तब तक उनका विकास संभव नहीं है, इसके लिए नये पाठ्यक्रम निर्माण की जरूरत है।

हंस के सम्पादक राजेन्द्र यादव ने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि रमणिका जी से पहले मेहरुन्निसा ने भी आदिवासी महिलाओं पर उपन्यास लिखा था। वास्तव में 'मौसी' और 'सीता' को एक ही उपन्यास होना चाहिए था। 'मौसी' उसका आंतरिक रूप है और 'सीता' उसका बाह्य रूप। मैं बधाई देना चाहूंगा गुप्ता जी को कि उन्होंने नयी जमीन तोड़ी है। ऐसे तो मैत्रेयी पुष्पा ने भी गांव की औरतों पर लिखा है लेकिन आदिवासी महिला मजदूरों पर इन्होंने ही शुरुआत की है, वह भी कोयला खदानों में कार्यरत महिलाओं पर।

द्वितीय सत्र में 'दलित साहित्य की अवधारणा और सौंदर्यशास्त्र' विषय पर चर्चा में भाग लेते हुए रमणिका फाउन्डेशन की अध्यक्षा तथा चर्चित साहित्यकार रमणिका गुप्ता ने कहा कि दलित साहित्य स्वाभिमान का साहित्य है।

प्रस्तुति : डॉ. महथा रामकृष्ण मुरारी

नानक सिंह की कृतियाँ सामाजिक सवालों का हल बताती हैं

विख्यात साहित्यकार डॉ. महीप सिंह ने कहा है कि सच्चा साहित्य वही है जिसमें लेखक की दृष्टि के साथ-साथ अंतर्दृष्टि को भी पाठक महसूस करे। वे कानपुर की साहित्यिक संस्था 'अर्चना' तथा नानक सिंह जन्म शताब्दी समारोह समिति के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित विख्यात पंजाबी साहित्यकार स्वर्गीय नानक सिंह की जन्म शताब्दी पर आयोजित कार्यक्रम को संबोधित कर रहे थे। कार्यक्रम की अध्यक्षता सुप्रसिद्ध शल्य चिकित्सक एवं साहित्यकार डॉ. विक्रम मारवाह ने की।

डॉ. महीप सिंह ने कहा कि नानक सिंह की कृतियों को पढ़ने के बाद उस में पाठक लेखक की अंतर्दृष्टि को सहज ही महसूस करने लगता है। उनकी कृतियों में एक न एक पात्र ऐसा अवश्य मिलेगा जो लेखक के उद्देश्य को साकार करता दिखाई देगा। यह पात्र विभिन्न सामाजिक समस्याओं तथा रूढ़ियों को लेकर सवाल खड़े कर देता है। नानक सिंह इन सवालों के जवाब पाठकों पर नहीं छोड़ते थे बल्कि उनकी कृतियों में इन प्रश्नों के उत्तर भी मिल जायेंगे।

उन्होंने कहा कि नानक सिंह पहले कवि थे लेकिन बाद में उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द जी से प्रेरित होकर वह उपन्यासकार बन गये। उन्होंने 80 उपन्यास लिखे और वे सारे पंजाबी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। उनकी कृतियों का अन्य भाषाओं में भी अनुवाद होना चाहिए।

इस अवसर पर इस महान पंजाबी साहित्यकार के पुत्र तथा पंजाब विश्वविद्यालय में पंजाबी भाषा विभाग के पूर्व प्रमुख डॉ. करतार सिंह सूरी; पंजाब अकादमी, महाराष्ट्र के अध्यक्ष राजेन्द्र सिंह 'राज'; अमरदीप कौर तथा महताब सिंह तुली ने भी विचार व्यक्त किये। सुश्री कौर ने नानक सिंह जी के जीवन पर आधारित एक कविता सुनाई। प्रस्ताविक भाषण 'अर्चना' के अध्यक्ष डॉ. हरभजन सिंह हंसपाल ने दिया। अतिथियों का सत्कार डॉ. हंसपाल, नरेन्द्र परिहार 'एकांत', नारायण चेलानी 'प्यासा' तथा श्रीमती हंसपाल ने किया। कार्यक्रम का संचालन डॉ. गोविन्द प्रसाद उपाध्याय एवं आभार-प्रदर्शन शताब्दी समिति के अध्यक्ष कुलदीप सिंह सूरी ने किया।

इस अवसर पर डॉ. ओमप्रकाश मिश्र, रज्जन त्रिवेदी एवं पूर्व महापौर अटल बहादुर सिंह, सूरजलाल साहनी आदि प्रमुख रूप से उपस्थित थे।

प्रस्तुतिः डॉ. हरभजन सिंह 'हंसपाल'

डॉ. महीप सिंह

माया महाठगिनी हम जानी

धर्म मनुष्य के संवेगों को नियमित, नियन्त्रित करने और दिशा देने में अहम भूमिका निभाता है। ईश्वर और परलोक का अस्तित्व ही मनुष्य को नियन्त्रित करने, भय में रखने, अनदेखे-अनजाने भविष्य के प्रति सचिंत रखने के लिए हुआ। हिन्दी में जिसे हम 'धर्मभीरु' और अंग्रेजी में 'गाड-फियरिंग' कहते हैं—वह समाज का भला और सज्जन अंग माना जाता है।

धर्म हो और अंधविश्वास न हो, यह संभव नहीं दिखता। अंधविश्वास हो और भ्रष्टता न आए, यह भी संभव नहीं है। क्या इसका निष्कर्ष यह है कि सभी प्रकार की धार्मिकता कुछ समय बाद भ्रष्टाचार के घेरे में घिरना शुरू हो जाती है? संसार का कोई भी धर्म ऐसा नहीं है जिसके अगुवाओं में, उन्हीं के जीवनकाल में या उनकी मृत्यु के कुछ समय बाद उनके उत्तराधिकारियों में, उनके समीपस्थ लोगों में भ्रष्टाचार न फैलने लगा हो।

संसार भर में भ्रष्ट आचरण के दो ही मुख्य केन्द्र बिंदु हैं—कंचन और कामिनी। सृष्टि के सभी जीव पहले अपने पेट की भूख मिटाने के लिए गतिशील होते हैं, फिर अपनी कामतृप्ति की ओर बढ़ते हैं। दोनों प्रकार की क्षुधाएं सहज और प्राकृतिक हैं। पशु जगत इन्हें सहज और प्राकृतिक ढंग से पूरा करता है। मनुष्य के पास सोचने, समझने, बनाने, संवारने और उसके लिए नए से नए उपायों और साधनों को निर्मित करने की शक्ति है, इसलिए उसकी महत्वाकांक्षाएं अपरिमित हैं। उसे केवल रोटी नहीं चाहिए—कंचन चाहिए; उसे केवल स्त्री नहीं चाहिए—कामिनी भी चाहिए। इस दृष्टि से भरसक वह किसी सीमा को नहीं मानता।

धर्म मनुष्य के इन संवेगों को नियमित, नियन्त्रित करने और दिशा देने में अहम भूमिका निभाता है। ईश्वर और परलोक का अस्तित्व ही मनुष्य को नियन्त्रित करने, भय में रखने, अनदेखे-अनजाने भविष्य के प्रति सचिंत रखने के लिए हुआ। हिन्दी में जिसे हम 'धर्मभीरु' और अंग्रेजी में 'गाड-फियरिंग' कहते हैं—वह समाज का भला और सज्जन अंग माना जाता है।

जीवन के सभी क्षेत्रों में भीरुता नकारात्मक मूल्य रखती है, किन्तु धर्म के क्षेत्र में आते ही वह सकारात्मकता ग्रहण कर लेती है। यह भी विचित्र विरोधाभास है कि जिस धार्मिकता को, आत्मानुभूति को और ईश्वर-आस्था को व्यक्ति को 'भयमुक्त' करना चाहिए, वह उसे पाप-पुण्य, नरक-स्वर्ग, इहलोक-परलोक, सुख-दुख, अमीरी-गरीबी, स्वास्थ्य और रोग की कितनी कथाएं सुनाकर 'भयभीत' बनाती है। भयभीत व्यक्ति अपनी सुरक्षा के लिए इधर-उधर दौड़ता है। धर्मगुरु, धर्मोपदेशक, पण्डे, पुरोहित, मौलवी, ग्रंथी और प्रीस्ट कहते हैं—अपनी सुरक्षा के लिए 'प्रभु' की शरण में आओ। बिचारा 'प्रभु' तो कहीं दिखाई नहीं देता। सामने दिखाई देते हैं व्यक्ति और प्रभु के बीच के ये बिचौलिए (दलाल)। प्रभु को खोजता हुआ व्यक्ति इन्हीं के चरणों में पहुंच जाता है। ये अपने आपको मार्गदर्शक कहते हैं और दावा करते हैं कि लक्ष्य (प्रभु) तक पहुंचने में ये व्यक्ति का मार्गदर्शन करेंगे। किन्तु धीरे-धीरे ये स्वय लक्ष्य बन जाते हैं, प्रभु का रूप धारण कर लेते हैं। प्रारम्भ में व्यक्ति जिन्हें साधन मान कर स्वीकार करता है, उनके मोहपाश में फंस कर उन्हें ही साध्य मान लेता है। इन्हीं की पूजा, इन्हीं की अर्चना, इन्हीं की सेवा उसकी सम्पूर्ण चिंता का केन्द्र बन जाती है।

इसी बिंदु से दुनियादारी और कंचन-कामिनी की माया अपना रंग दिखाना शुरू करती है। हाड़-मांस के बने इन संतों, महन्तों, आचार्यों, धर्मगुरुओं के सामने प्रभु की खोज में आए श्रद्धालुओं की जमात धन-दौलत के ढेर लगाना शुरू करती है। कितनी विचित्र बात है। संसार में किसी भी व्यक्ति अथवा स्थान के प्रति अपना आदर या सम्मान व्यक्त करने का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन 'धन' है। जो जितना धन चढ़ाए वह उतना ही बड़ा भक्त या श्रद्धालु समझा जाता है। 'दरबार' में उसे उतना ही बड़ा सम्मान या 'सिरोपाव' दिया जाता है। मज़े की बात यह भी है कि धार्मिक परिवेश में सबसे ज्यादा निंदा धन अथवा माया की होती है और सबसे ज़्यादा बोलबाला भी इसी का होता है। वही मंदिर, दरगाह या गुरुद्वारा अधिक महत्वपूर्ण होता है जिस में 'चढ़ावा' ज्यादा आता है, जहाँ कंचन की वर्षा होती है। किसी समय इस देश के अनेक धर्मस्थानों में देवदासियों की भरमार होती थी। देवता को समर्पित ये कन्याएं धर्मस्थानों से जुड़े आचार्यों, पुरोहितों और पुजारियों को ही समर्पित हो जाती थीं। फिर वे राजाओं और धनपतियों को समर्पित होने लगीं। स्थिति यह आई कि उनकी हालत

वेश्याओं जैसी हो गई। दक्षिण भारत के देवस्थानों में इनका विकृत और घिनौना रूप आज भी देखा जा सकता है।

यह सारी बात मुझे कुछ समय पूर्व पश्चिमी बंगाल के सुखचर आश्रम धाम के बालक ब्रह्मचारी वीरेन्द्र चक्रवर्ती की मृत देह के सम्बन्ध में उत्पन्न विवाद और अवसाद-भरे अंत को देखकर याद आने लगी। कहा जाता है कि बालक ब्रह्मचारी के सात करोड़ अनुयायी हैं, जिन्हें 'संतान' कहा जाता है। संतानों की इस चर्चा को सुनकर मुझे बंकिमचंद्र चटर्जी के उपन्यास 'आनन्द मठ' के संन्यासी-विद्रोहियों की याद आ गई। उन्हें भी 'संतान' कहा जाता था। कुछ वर्ष पूर्व बंगाल में 'आनन्द मार्ग' नाम से इसी प्रकार के संन्यासियों का एक प्रबल आन्दोलन उठा था और भगवे वस्त्रधारी, केश-दाढ़ी और केसरिया रंग की पगड़ी वाले संन्यासियों की जमातें बंगाल से बाहर भी बहुत बड़ी संख्या में दिखाई देने लगी थीं। बाद में उनकी हिंसात्मक गतिविधियों और गैर कानूनी ढंग की सरगर्मियों की भी ढेर सारी चर्चा पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ने को मिलती रही थी।

यह भी कितनी विचित्र और रोचक बात है कि धर्म जगत में अपना विशिष्ट पंथ, मत या मार्ग चलाने वाला, जिसका प्रारंभिक दावा प्रभु की प्राप्ति अथवा प्रभु की अनुभूति कराना होता है, धीरे-धीरे स्वयं भगवान या भगवान का अत्यन्त निकटस्थ स्वरूप बन जाता है। लोग उसी को अपना भगवान, इष्ट, गुरु या रहनुमा मानकर उसकी पूजा करना शुरू कर देते हैं। उसके चारों ओर भक्तों की जितनी बड़ी भीड़ जमा होती जाती है, उसकी अलौकिक और चमत्कारी शक्तियों की चर्चा भी बढ़ती चली जाती है। उसके चारों ओर 'मिथ' का ऐसा मायाजाल बनना शुरू हो जाता है कि आम लोग तो उससे प्रभावित होते ही हैं, अच्छे-खासे पढ़े-लिखे, साधन-सम्पन्न, बुद्धिजीवी समझे जाने वाले, उच्च सरकारी पदों पर काम करने वाले, यहां तक कि जज और प्रोफेसर भी उसके प्रभामण्डल में आ जाते हैं।

मैंने यह भी देखा कि जिसके जीवन और धंधे में जितना अधिक जोखिम, अस्थिरता, अनिश्चितता और अनैतिकता होती है, वह इन महापुरुषों और इनके मठों, आश्रमों, डेरों और गद्दियों पर उतना ही अधिक जाता है, अधिक 'सेवा' करता है, अधिक नाक रगड़ता है, अधिक भरोसा करता है और इनके मायाजाल का विस्तार करने में अधिक सहायक होता है। राजनीतिक सट्टाबाजारियों, काला धंधा करने वालों, फिल्मी हस्तियों, रिश्वतखोर अफसरों को 'भगवान' की ज़रूरत सब से अधिक होती है। कौन-सा ऐसा राजनीतिकर्मी है जो किसी स्वामी, तांत्रिक या आचार्य का सहारा नहीं लेता। नामांकन-पत्र भी इनसे पूछकर दाखिल कराए जाते हैं, अपनी जीत के लिए इनकी चौखट पर जाकर माथा रगड़ा जाता है और यदि कोई ऊँचा पद मिल जाए तो कोशिश यह होती है कि उनके आदेश और परामर्श से ही पद-ग्रहण का मुहूर्त निकाला जाए। ऐसे व्यक्तियों के नाम से धर्म-स्थानों और मठों-डेरों पर निरन्तर पूजा-पाठ, प्रार्थना और अरदास होती रहती है।

यह स्थिति भी कम रोचक नहीं कि जैसे-जैसे इस देश में राजनीति से लेकर सामान्य व्यवसाय में नम्बर दो का धंधा उन्नति कर रहा है, वैसे ही वैसे देश में गुरुओं, साधुओं, बाबाओं, योगियों, साध्वियों और इनकी अंतिम परिणति 'भगवानों' की संख्या बढ़ती चली जा रही है। इस देश में इस समय जितने भगवान और सिद्ध पुरुष हैं उतने शायद इससे पहले कभी नहीं थे। पुराण-कथाओं के अनुसार पहले सहस्रों वर्षों के अंतराल और बड़े आर्तनाद के बाद एक 'अवतार' जन्म लेता था। उस अवतार की लीलाओं के कारण उसे 'भगवान' मान लिया जाता था। सम्पूर्ण पुराण-साहित्य में दस प्रमुख और चौदह गौण अवतार स्वीकारे गए। पिछले दस वर्षों में जितने अवतारों और भगवानों का डंका इस देश में पिटा, उनकी गिनती चौबीस से कहीं ज्यादा है।

इस प्रसंग में एक बात और अचंभित करने वाली है। प्राचीन और मध्यकाल में कुछ लोगों/ व्यवसायियों को अपनी चीज़ों को बेचने के लिए प्रचार के कुछ साधन अपनाने पड़ते थे। घोड़ों के व्यवसायियों को राज-दरबारों में जाकर अपने घोड़ों के लिए कन्वैसिंग करनी पड़ती थी। कई बार कवियों को भी अच्छा आश्रयदाता ढूंढ़ने के लिए दस स्थानों पर अपना काव्य-पाठ करना पड़ता था। गली-मोहल्लों में घूम-घूम कर और हांक लगाकर माल बेचने वालों की परम्परा तो बहुत पुरानी है ही।

आधुनिक युग में व्यवसायी अधिक आधुनिक प्रचार-साधनों का सहारा लेते है। अखबारों, रेडियो, दूरदर्शन पर होने वाले विज्ञापन सड़कों-बाज़ारों में लगने वाले होर्डिंग, बैनर और पोस्टर सभी जीवन की दैनिक ज़रूरतों में इस्तेमाल की जाने वाली चीज़ों का जोर-शोर से प्रचार करते हैं।

व्यावसायिक तंत्र में मुनाफे के लिए वस्तुओं का उत्पादन होना और प्रचार-साधनों के माध्यम से उन्हें बेचना आज की उपभोक्ता संस्कृति का अंग है। किन्तु क्या ईश्वर, धर्म, आत्मोन्नति, भक्ति आदि विषय भी इस उपभोक्ता संस्कृति के अंग बन गए हैं? लग यही रहा है। वर्ष में दो-तीन बार ऐसे अवसर आते हैं जब कुण्डलिनी जागृत कराने वाली एक माता के विज्ञापनों से दिल्ली के अखबार भरे दिखाई देते हैं। शहर में उनके इतने होर्डिंग, बैनर और पोस्टर लगे और चिपके दिखाई देते हैं कि बहुत-से लोगों की कुंडलिनी अपने आप जागृत हो जाती है। फिर एक बाबा का दौर चलता है। केवल दिल्ली में ही नहीं, देश के कोने-कोने में उनकी चार-छह रंगों वाली तस्वीर से बने लाखों पोस्टर देखकर ऐसा नहीं लगता कि यह बाबा लोगों का कष्ट दूर करने, उन्हें किसी प्रकार का आत्मिक ज्ञान देने वाला व्यक्ति है। ऐसा लगता है कि देश में राष्ट्रपति का चुनाव हो रहा है और यह व्यक्ति उस पद का उम्मीदवार है।

ऐसे उदाहरण दो-चार नहीं हैं। जाने कितने संत, स्वामी [illegible] अवधूत, तान्त्रिक और माताएं करोड़ों/अरबों खर्च करके अपनी आध्यात्मिकता, धार्मिकता और दैवी शक्तियों का प्रचार उसी ढंग और तर्ज़ पर कर रहे हैं जैसे साबुन और टूथपेस्ट बनाने वाले करते हैं। दोनों ही प्रकार के व्यवसायी खूब खर्च करते हैं और खूब कमाते हैं। अंतर केवल इतना है कि साबुन-टूथपेस्ट बेचने वाले व्यवसायी को अपने व्यवसाय में बहुत-सी पूँजी लगानी पड़ती है, कुछ हिसाब-किताब भी रखना पड़ता है और बहुत-से कर भी देने पड़ते हैं, किन्तु धर्म का व्यवसाय करने वालों के लिए यह सब कुछ माफ है।

ऐसे मठों, आश्रमों, डेरों और दरगाहों में धीरे-धीरे जो सम्पत्ति जुट जाती है, वह बड़े-बड़े पूँजीपतियों की सम्पत्ति से होड़ लेती है। पुट्टापार्थी के साई प्रशान्ति निलयम के साई बाबा का धन-साम्राज्य लगभग 1500 करोड़ का है। उनके भक्त उन्हें भगवान का अवतार मानते हैं। पिछले वर्षों में उनकी जान लेने की कथित कोशिश में चार नौजवान पुलिस की गोली के शिकार हुए। ये चारों ही अपने 'भगवान' के परम भक्त थे। कहा यह जाता है कि साई बाबा की अथाह सम्पत्ति के कारण उनके चारों ओर स्वार्थी तत्वों का एक जबरदस्त जाल तैयार हो गया है। ये नौजवान उस जाल को तोड़ना चाहते थे। उसी में इनकी जानें चली गईं। इनमें से एक सुरेश शान्ता राम प्रभु की विधवा पत्नी विनीता प्रभु कहती है कि उसके पति की हत्या किसी न किसी साजिश के तहत की गई है। उसका कहना है कि आश्रम में हर जगह ईर्ष्या का वातावरण है और रुपये-पैसे का बोलबाला है।

कलकत्ता के एक बालक ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में भी ऐसे ही समाचार आते रहे हैं। उन्होंने भी करोड़ों की सम्पत्ति इकट्ठी कर ली थी और उसकी रक्षा तथा बढ़ोतरी के लिए एक ओर अपने पाले हुए 'शिष्यों' के भुजबल पर भरोसा करते थे, दूसरी ओर राजनीतिक और प्रशासनिक सम्बन्धों का पूरा लाभ भी उठाते थे।

संत कबीर का एक पद है— 'माया महाठगिनी हम जानी'। इस पद में उन्होंने माया के विभिन्न रूपों और सभी स्थानों में उसकी गहरी पैठ का वर्णन किया है। यह पैठ केवल संसारी कहे जाने वाले व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है, जिसकी अनंत चर्चा अपने आप को साधु, संत, संन्यासी, पीर, गुरु कहलाने वाले लोग भयकर दोष और पाप के रूप में करते रहते हैं। दिलचस्प बात तो यह है कि माया की गहरी पैठ इन मायाविरोधियों के घर में कहीं ज्यादा और भयावह दिखाई देती है।

घूम-फिरकर बात 'अंधविश्वास' पर आकर टिकती है। धर्म के लिए 'विश्वास' या आस्था ज़रूरी तत्व समझे जाते हैं। ये तत्व ज़रा-सी फिसलन पाकर अंधविश्वास और अंध-आस्था की सीमा में सहज ही प्रवेश पा जाते हैं। लगता है, आदिकाल से ही धर्म का सारा कारोबार इस अंधविश्वास पर ही टिका हुआ है। यह भी अपने आप में विचित्र विरोधाभास है कि अनेक धार्मिक संत और महापुरुष इस क्षेत्र [illegible] के अखंड साम्राज्य का विरोध करते हुए व्यक्ति को ज्ञान और तर्क का सहारा लेकर अंधविश्वास त्यागने और प्रेम तथा सेवा को आधार बनाकर प्रभु की भक्ति का मार्ग अपनाने की प्रेरणा देते रहे हैं, किन्तु समय पाकर उन्हीं के अनुयायी उन्हीं के नाम और उपदेशों का सहारा लेकर अंधविश्वास की नींव पर ठगिनी माया का महल उसारने लगते हैं।

बालक ब्रह्मचारी के प्रसंग ने एक और स्थिति भी उत्पन्न कर दी थी। उनकी मृत्यु हो गई किन्तु चेलों ने घोषित किया—मृत्यु नहीं हुई है, बालक ब्रह्मचारी 'निर्विकल्प समाधि' में हैं, और जब चाहेंगे फिर जागृत-अवस्था में आ जाएंगे। निर्विकल्प अवस्था में केवल एक ही तत्व (ब्रह्म) पर एकमात्र ध्यान केन्द्रित होता है और ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान के विभेद का बोध नहीं रहता, यहाँ तक कि आत्मचेतना का भी भास नहीं होता। ऐसी स्थिति पाने वाले योगी संभवतः प्राचीन काल में हों। वर्तमान काल में भी शायद किसी में यह शक्ति और सिद्धि हो, किन्तु ऐसी शक्ति और सिद्धि का दावा करके छह फुट धरती में गड़ने, आकाश में उड़ने और जल पर उतराने का ढोंग करने वाले बाबाओं की नित्यचर्या से हम सभी परिचित हैं। अंत में ये सभी पाखंडी सिद्ध होते हैं किन्तु उस समय तक ये अपने चारों ओर कंचन-कामिनी की भरपूर प्राप्ति कर चुके होते हैं।

क्या यह स्थिति आश्चर्यजनक नहीं है कि इतनी शिक्षा, वैज्ञानिक प्रगति, वैज्ञानिक सोच और लम्बी धार्मिक/सामाजिक जागरूकता के बावजूद इस देश का अनपढ़ जनसमुदाय ही नहीं, अपने आपको प्रबुद्ध मानने वाला शिक्षित वर्ग भी बुरी तरह इन बाबाओं की कथित अलौकिक शक्तियों के मोहपाश में बुरी तरह जकड़ा हुआ है। किसी की भभूति, किसी की मिठाई, किसी का गंडा-तावीज़, किसी का प्रसाद ऐसी चमत्कारिक बातों से गुंथे हैं कि लोग आंखें बंद करके उनकी ओर दौड़ते हैं। निहित स्वार्थों से ग्रस्त कुछ लोग ऐसे भगवानों, बाबाओं, संतों और पीरों के दलाल बन कर किसी भी हर्षद मेहता को चुनौती देने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेते हैं।

बालक ब्रह्मचारी की मृत देह को 55 दिन बाद पुलिस ने जबरदस्ती अपने कब्ज़े में लेकर उसका दाह-संस्कार किया। उस समय तक वह देह हड्डियों की ठठरी मात्र रह गई थी। पुट्टापार्थी, बंगलोर के साई बाबा के 'भगवानत्व' पर प्रश्न-चिह्न उसी समय लग गया जब उन्हें अपनी सुरक्षा के लिए पुलिस और निजी सुरक्षाकर्मियों का सहारा लेना पड़ा।

किन्तु यह व्यापार तो रुकेगा नहीं। संत कबीर की बात याद आती है—हे भाई, माया ऐसी मोहिनी है कि वह सभी जीवों को भटका देती है—

माया ऐसी मोहिनी भाई
जेते जीऊ तेते भटकाई।।

एच - 10४, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली - 26

किस बात पर गर्व करें?

काशी से जयशंकर प्रसाद को

(काशी) 24-1-30

प्रिय प्रसाद जी, पहले मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं 'कंकाल' पर आपको बधाई दूं। मैंने इसे आदि से अंत तक पढ़ा और मुग्ध हो गया। आपसे मेरी जो पुरानी शिकायत थी वह बिलकुल मिट गई। मैंने एक बार आपकी पुस्तक 'समुद्रगुप्त' की आलोचना करते हुए लिखा था आपने इसमें गड़े मुर्दे उखाड़े हैं। इस पर मुझे काफी सजा भी मिली थी, पर जो लेखनी वर्तमान समस्याओं को इतनी आकर्षक ढंग से जनता के सामने रख सकती है, इस तरह दिलों को हिला सकती है, उसे फिर वही बात मेरे मुंह से निकलती है, क्षमा कीजिए। **पूर्वजों की कीर्ति का भविष्य के निर्माण में भाग होता है और बड़ा भाग होता है, लेकिन हमें तो नए सिरे से दुनिया बनानी है। अपनी किस पुरानी वस्तु पर गौरव करें—वीरता पर? दान पर? तप पर? वीरता क्या थी? अपने ही भाइयों का रक्त बहाना। दान क्या था? एकाधिपत्य का नग्न नृत्य। और तप क्या था? वही जिसने आज कम-से-कम 80 लाख बेकारों का बोझ हमारी दरिद्र जनता पर लाद दिया है। अगर 5 रु. प्रतिमास भी एक साधु की जीविका पर खर्च हो तो लगभग 20 करोड़ रुपये हमारी गाढ़ी कमाई के उसी पुराने 'तप' के आदर्श की भेंट हो जाते हैं। किस बात पर गर्व करें वर्णाश्रम धर्म पर, जिसने हमारी जड़ खोद डाली।** 'कंकाल' में एक समाज के सच्चे हितैषी की आंखों का गर्म, बड़ी-बड़ी बूंदों वाला आंसू है। घंटी और यमुना दोनों का क्या कहना। मैं 'हंस' में इसकी वृहद आलोचना करूँगा।

'हंस' का नाम आ गया। आपसे उसके लिए कुछ याचना करूँ? मैं छोटे-छोटे 'कंकाल' चाहता हूं या कोई उपन्यास हो तो वह भी बड़े प्रेम और आदर से प्रकाशित करूँगा। काशी से कोई साहित्य की पत्रिका न निकलती थी। काशी के लोगों के कलम से दूसरे नगरों को फ़ैज़ पहुँचता है और काशी में सन्नाटा! मस्जिद में दिया जले और घर में अंधेरा! मैं धनी नहीं हूं, मजदूर आदमी हूं लेकिन काशी का यह अभाव मुझे लज्जास्पद जान पड़ा और मैंने हंस निकालने का निश्चय कर लिया। धन तो आपसे अभी नहीं मांगता, शायद कभी वह भी मांगूं, लेकिन आपकी लेखनी की विभूति अवश्य मांगता हूं। होली तक पत्र निकाल देना चाहता हूं। सबसे पहला हक काशी का है इसे खयाल रखिए। पत्र का इंतजार कर रहा हूं। भवदीय—धनपत राय।

बनारस से बनारसीदास को

(?)/12-1-34

प्रिय बनारसीदास जी, धन्यवाद। मैंने वह टुकड़ा 'जागरण' में दे दिया है जो कि परसों शनीचर के दिन निकलेगा।

निर्मल जी को जवाब देते हुए मैंने जो लेख लिखा था, क्या आपने उसे देखा? यह निर्मल बिल्कुल सिद्धांतहीन आदमी है। जिन दिनों पाक्षिक 'जागरण' बाबू शिवपूजन सहाय के हाथों में था, मेरे और 'जागरण' के बीच एक विवाद उठ खड़ा हुआ। पं. नंददुलारे वाजपेयी ने कुछ लिखा था उसी को लेकर यह झगड़ा खड़ा हो गया। उस समय निर्मल ने 'जागरण' में एक लेख लिखा था और मुझको सलाह दी गयी थी कि अब मैं और कुछ न लिखूं। क्योंकि मेरे दिन बीत चुके और अब मैं पुराना पड़ गया। शिवपूजन सहाय ने इस लेख को नहीं छापा। कुछ समय बाद जब 'जागरण' मेरे हाथ में आया, तो इन्हीं निर्मल ने एक लेख मेरी तारीफ़ में ज़मीन और आसमान के कुलाबे मिलाते हुए लिखा जिसको मैंने छाप दिया। इससे पता चलता है कि वह आदमी किस धातु का बना है। **उसने मुझ पर यह दोष लगाया है कि मैं ब्राह्मणवर्ग का द्रोही हूं सिर्फ इसलिए कि मैंने इन पुजारियों और महंतों और धार्मिक लुच्चे-लफंगों के कुछ पाखंडों का मजाक उड़ाया है। उनको वह ब्राह्मण कहता है और ज़रा भी नहीं सोचता कि उनको ब्राह्मण कहकर वह अच्छे-भले ब्राह्मणों का कितना अपमान करता है। ब्राह्मण का मेरा आदर्श सेवा और त्याग है, वह कोई भी हो। पाखंड और कट्टरता और सीधे-सादे हिन्दू समाज के अंधविश्वास का फायदा उठाना इन पुजारियों और पंडों का धंधा है और इसलिए मैं उन्हें हिन्दू समाज का एक अभिशाप समझता हूं और उन्हें अपने अधःपतन के लिए उत्तरदायी समझता हूं। वे इसी काबिल हैं कि उनका मखौल उड़ाया जाय और यही मैंने किया है। यह निर्मल और उसी थैली के चट्टे-बट्टे दूसरे लोग ऊपर से बहुत राष्ट्रीयतावादी बनते हैं मगर उनके दिल में पुजारी वर्ग की सारी कमजोरियां भरी पड़ी हैं और इसीलिए वे हम लोगों को गालियां देते हैं जो स्थिति में सुधार लाने की कोशिश कर रहे हैं।**

मैं कुछ समझ नहीं सका कि आप किस चीज में पंच बनने जा रहे हैं और मेरे खिलाफ़ फर्दे जुर्म क्या है। क्या वे कहानियां जिनमें मैंने इन पाखंडियों का मखौल उड़ाया है? बराय मेहरबानी उन्हें पढ़ जाइए बहुत नहीं हैं। मखौल की असल चीज़ बात को बढ़ा-चढ़ाकर नमक-मिर्च लगाकर कहना होता है। और यही मैंने किया है। मगर यह काम मैंने साफ दिल से, हँसी-दिल्लगी के रंग में किया है। वह द्वेष और विष से पूरी तरह मुक्त है।

आशा है, आप मजे में हैं। आपका—धनपत राय।

डॉ. कमलेश सचदेव

अपराध-केन्द्र हैं साधुओं के डेरे

धर्म मनुष्य की आवश्यकता है। बहुधा कुछ तथाकथित संत और भगवान आम आदमी की इस आवश्यकता को भुनाना शुरू कर देते हैं। धन और प्रतिष्ठा प्राप्त करने का आसान रास्ता होने के कारण इस पर चलने वालों की आपसी प्रतिस्पर्धा, अहं का टकराव और राजनीति इसमें हिंसा और अपराध के आयाम भी जोड़ देती है। 'दि वीक' के 23 नवम्बर 1997 के अंक में 'मठ्स आफ क्राइम' शीर्षक से एक लंबा लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें उत्तर प्रदेश और बिहार के मठों में पनपते अपराध और हिंसा का विस्तृत विवरण था। प्रस्तुत लेख उसी जानकारी के आधार पर लिखा गया है। पिछले दिनों इस शताब्दी के अंतिम कुंभ के अवसर पर हरिद्वार में साधुओं के दो अखाड़ों के बीच उभरी हिंसा ने इस मुद्दे को और अधिक उजागर कर दिया है।

धर्मगुरुओं को जिन उच्च गुणों से जोड़कर देखा जाता है, वे आज एक मिथ अधिक हैं, वास्तविकता कम। आज की वास्तविकता यह है कि जिस मठ, आश्रम या गद्दी के जितने अधिक अनुयायी हैं और उसके पास जितनी अधिक सम्पत्ति है, उसके महंत और उसके आसपास के लोग आम तौर पर उतने अधिक भ्रष्ट हैं।

अयोध्या और बिहार में कुल मिलाकर लगभग 5000 मठ हैं जो अपने आप में एक व्यवसाय बन चुके हैं। किसी भी व्यवसाय में इस्तेमाल किए जाने वाले सभी हथकंडे इसमें इस्तेमाल होने लगे हैं। कई मामलों में तो ये मठ अपने आप में माफिया का रूप ले रहे हैं।

मठ की स्थापना भी बहुत आसान है। कोई भी व्यक्ति अपने घर में या अपनी किसी भी जगह पर मठ बना सकता है। इसके लिए करना केवल यह होता है कि किसी मठ से किसी महंत को वहां बुलाकर भगवान की मूर्ति या मूर्तियां स्थापित करवा ली जाएं। इस नए मठ का मालिक स्वयं महंत बन जाता है और जनता की धर्मभावना का शोषण करने लगता है।

अधिकांश महंत अपनी धन-सम्पत्ति का खुलकर उपभोग करते हैं। अयोध्या में लगभग दो सौ महंतों के पास कारें हैं जिनमें मारुति 1000 और फोर्ड जैसी महंगी कारें भी हैं, पच्चीस के पास जीपें हैं और लगभग एक हजार महंतों के पास दुपहिया स्कूटर हैं। कलर टी. वी., फ्रिज और टेलीफोन तो उनके घरों में आम हैं। गोरखपुर मंदिर के महंत अवैद्यनाथ अपने बहुमंजिला भवन के बड़े हाल में अपना दरबार लगाते हैं। प्रतिदिन 50000 रुपये के अनुमानित चढ़ावे के साथ-साथ मंदिर के पास एक हजार एकड़ भूमि और 400 दुधारू गायें हैं। इतनी सम्पत्ति होने पर उत्तराधिकार संबंधी झगड़े होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

इन महंतों के शिष्यों में उत्तराधिकार के लिए आपसी स्पर्धा चलती रहती है जो बहुधा हिंसक रूप ले लेती है। बिहार के वैशाली जिले के 31 मठों में से 27 और अयोध्या में 50 से अधिक मठों में सम्पत्ति सम्बन्धी मुकदमे चल रहे हैं। मठों के महन्त प्रायः आपसी झगड़ों में गुंडों का सहारा लेते हैं। किन्हीं दो मठों के महन्तों के गुंडों की आपस में हिंसक मुठभेड़ें आम बात हैं। होता यह है कि महन्त मठ की सम्पत्ति को किन्हीं अन्य हाथों में न जाने देने के लिए शादी करके घर बसा लेते हैं। सम्पत्ति का उत्तराधिकार परिवार में ही जाता है। इससे उनके शिष्यों में आक्रोश पैदा होता है और वे अपने गुरु के विरुद्ध षडयंत्र रचने लगते हैं। पतेपुर के महन्त श्रीकान्त दास ने जब शिया देवी से शादी कर ली तो उनके शिष्य विद्रोह कर उठे। श्रीकान्त दास ने शिया देवी को हाजीपुर के रामजानकी मठ में रख दिया और वहां हरिनारायण सिंह को प्रबन्धक नियुक्त कर दिया। श्रीकान्त दास ने मठ की सम्पत्ति अपने बेटे रविशंकर के नाम करवा ली। शिया देवी ने श्रीकांत दास को छोड़ दिया और हरिनारायण सिंह के साथ रहने लगी। पुलिस का कहना है कि इस बात से क्रोधित होकर श्रीकांत दास ने रामजानकी मठ पर डकैती की और हरिनारायण की हत्या कर दी। उसने शिया देवी के साथ बलात्कार भी किया। उसके बाद से वह अब तक फरार है।

मठों के महन्त अपराधी तत्त्वों का इस्तेमाल ही नहीं करते, उन्हें पनाह भी देते हैं। कहा जाता है कि श्रीप्रकाश शुक्ला पिछले वर्ष मार्च में बसपा नेता वीरेन्द्र प्रताप शाही की हत्या करने के बाद दो सप्ताह तक अयोध्या के एक मठ में रहा था। पहली अगस्त को कथित रूप

से लखनऊ के एक होटल में एक पुलिस अफसर की हत्या करने के बाद उसने एक बार फिर मठ में शरण ली थी।

अयोध्या के हनुमानगढ़ी मठ में अपराधियों की खासी पैठ बताई जाती है। वहां के वर्तमान कर्ता-धर्ता महंत ज्ञानदास का कहना है, "पहले पहल 1960 के दशक में उज्जैनिया पट्टी का महंत त्रिभुवनदास अपराधियों को गढ़ी में लाया था। जैसे ही मुझे त्रिभुवनदास की आपराधिक पृष्ठभूमि का पता चला मैंने उसे निकाल बाहर किया।" त्रिभुवनदास ने बिहार में अपने जिले बेगूसराय में बहादुरपुर मठ बना लिया और साथ ही और भी कई मठों पर कब्जा कर लिया। कहा जाता है कि उसके खिलाफ आधा दर्जन से अधिक फौजदारी मुकदमे दर्ज हैं लेकिन वह ठाठ से अपने आश्रम में रह रहा है। वह धड़ल्ले से बड़े-बड़े राजनेताओं से अपने सम्पर्कों की बात बताता है। कहा जाता है कि वह अपने सिर की उलझी हुई जटाओं में रिवाल्वर छिपाकर रखता है। उसने अपने समय में हनुमानगढ़ी की एक सीढ़ी पर अशोक सम्राट का नाम खुदवा दिया था जो आज भी वहां देखा जा सकता है। अशोक सम्राट एक शातिर अपराधी था जिस पर सौ से भी अधिक अभियोग थे। दो वर्ष पूर्व वह पुलिस के साथ मुठभेड़ में मारा गया।

जानकी घाट के महन्त देवराम दास वेदान्ती को तो दो वर्ष पूर्व पुलिस ने एक लड़की के साथ भागलपुर के एक होटल में गिरफ्तार किया। भागलपुर के पुलिस सुपरिंटेंडेंट ए.एस. राजन का कहना है कि उसके पास लड़कियों के बहुत सारे अंतरंग पत्रों के अतिरिक्त लड़कियों की बहुत-सी तस्वीरें भी बरामद हुईं। उन्होंने बताया कि देवराम दास पटना जाता रहता था। वहां इस लड़की की मां उसकी अनुयायी थी। एक दिन देवरामदास ने धमकी दी कि अगर लड़की उसके साथ भागलपुर नहीं जाएगी तो वह पूरे परिवार को खत्म कर देगा। होटल में उसके कमरे से एक स्पैनिश पिस्तौल, 3.7 लाख रुपये और एक लाख रुपये के हीरे भी पुलिस को मिले। इस समय वह जमानत पर है।

मठों की बेहिसाब सम्पत्ति तथा आय के प्रलोभन में बहुत से अपराधी तत्त्व मठों में आकर महन्तों के शिष्य बन जाते हैं। फैजाबाद के एस.एस.पी. विजय कुमार मौर्य के अनुसार, "अपराधी पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार से अयोध्या में आकर विभिन्न महन्तों के शिष्य बन जाते हैं और मौका पाते ही मठ की सम्पत्ति पर कब्जा कर लेते हैं। कुछ अपराधी तो महंत होने की आड़ में हथियारों की तस्करी तक करते हैं। 17 जनवरी 1997 को फैजाबाद पुलिस ने तीन साधुओं-सुदामा दास, लक्ष्मण दास और बजरंग दास को आधुनिक हथियार रखने के जुर्म में गिरफ्तार किया। इन साधुओं ने बताया कि उन्होंने बांग्ला देश से अमरीकी रिवाल्वर खरीदे थे जिनकी कीमत दो लाख रुपये प्रति रिवाल्वर थी। उन्होंने यह भी बताया कि वे छह साल से हथियारों की तस्करी कर रहे हैं।

राजनेताओं और महंतों के आपस में कई परतों वाले सम्बन्ध बन गए हैं। महंत राजनेताओं से संरक्षण पाते हैं तो राजनेता उन्हें अपने वोटबैंक को बढ़ाने के लिए इस्तेमाल करते हैं। जनवरी 1997 में जब उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन चल रहा था, फैजाबाद प्रशासन ने अयोध्या के मठों में रहने वाले ऐसे 86 महन्तों की सूची तैयार की थी जिन पर आपराधिक मुकदमे चल रहे थे। कहा जाता है कि यह सूची तत्कालीन रक्षा मंत्री मुलायम सिंह यादव के कहने पर फैजाबाद के एस.एस.पी. राजकुमार विश्वकर्मा ने बनाई थी। राजनेताओं के हस्तक्षेप और सम्बन्धों ने कहीं-कहीं महन्तों को जाति के आधार पर भी बांट दिया है।

अयोध्या के मठों से अपराध और अपराधियों को हटाने के लिए दो वर्ष पूर्व कुछ साधुओं ने 'अयोध्या विकास मंच' बनाया था। इसके पदाधिकारियों में महन्त राममनोज शरण और साकेत शरण मिश्र भी

पंजाब में भी...

पंजाब भी उत्तर प्रदेश और बिहार से ज्यादा पीछे नहीं है। रोपड़ में डेरा जमाकर बैठे एक संत की एक भूतपूर्व केन्द्रीय मंत्री के साथ दांत काटी रोटी है। संगरूर जिले के एक संत ने एक जलूस के दौरान भारी फायरिंग की। फिलौर के पास एक 60 वर्षीय साधु ने 16 वर्षीय किशोरी के साथ ब्याह रचाकर काम वासना से मुक्ति प्राप्त की। चमकौर साहिब के पास एक प्रभु-भक्त संत ने अपनी पत्नी को नंगा करके सरहिंद नहर में डुबोने की कोशिश की क्योंकि चार लड़कियों को जन्म देने के बाद भी वह एक लड़का पैदा नहीं कर पाई थी। इसी क्षेत्र में तथाकथित ज्ञानियों ने अपने संत की मृत्यु के पश्चात 18 वर्ष तक उसकी लाश को तहखाने में रखा और ऊपर गुरु ग्रंथ साहब का पाठ करते रहे। उन्हें विश्वास था कि संत जी एक दिन फिर से उठकर विश्व का उद्धार करेंगे।

जो विश्व हिन्दू परिषद और बजरंग दल से सम्बन्धित हैं, की आपराधिक गतिविधियों पर अंकुश रखने में इस मंच को मिली सफलता से अपराधी साधुओं में रोष और आशंका व्याप्त हो गई। परिणामस्वरूप साकेत शरण मिश्र का अपहरण कर लिया गया। अयोध्या विकास मंच के पदाधिकारियों ने अयोध्या के तत्कालीन ए.एस.पी. बी.के. सिंह के कहने पर मंच को विघटित कर दिया। बी.के. सिंह को लगता था कि वे उन्हें समुचित सुरक्षा नहीं दे पाएंगे।

उनका यह कहना ठीक ही था। पटना में पुलिस खुद अपने एक कांस्टेबल मनोज कुमार को एक महंत के हाथों खो बैठी थी। फतुहा मठ में एक अपराधी के छिपे होने की सूचना पाकर पुलिस वहां छापा मारने गई तो वहां के महन्त श्यामसुन्दर दास ने गोली चला दी जिससे कांस्टेबल मनोज कुमार मारा गया। श्यामसुन्दर को गिरफ्तार किया गया लेकिन वह जमानत पर छूट गया।

शिखर पर भी टकराव

हिन्दू धर्म के सर्वोच्च धार्मिक पद भी अब सत्ता एवं सम्पत्ति के संघर्ष में फंसते दिखाई दे रहे हैं। वहां भी अब अहं के टकराव हिंसक रूप ले सकते हैं। पिछले दिनों इस शताब्दी के अंतिम कुंभ के दौरान हरिद्वार में दो अखाड़ों के साधुओं के बीच हुई हिंसक झड़पों से इस आशंका को बल मिला है। ज्योतिष्पीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी माधवाश्रम जी महाराज ने इस घटना के पीछे द्वारिका के शंकराचार्य स्वरूपानंद सरस्वती और अपने आपको ज्योतिष्पीठ के शंकराचार्य कहने वाले वासुदेवानंद सरस्वती का हाथ बताते हुए इन शंकराचार्यों पर धर्म में राजनीति मिलाने का आरोप लगाया। उन्होंने दो शंकराचार्यों से अपनी जान का खतरा होने की आशंका भी व्यक्त की।

बड़े-बड़े आश्रमों और मठों के ये महन्त लगभग अपनी समानान्तर सत्ता चला रहे हैं। फिल्म 'मृत्युदंड' में प्रकाश झा ने इसका यथार्थवादी अंकन किया है। उसमें इस प्रकार के महन्त के खिलाफ अंत में जनान्दोलन उठते दिखाया गया है। क्या इसमें भविष्य का संकेत देखा जा सकता है?

सी-25, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-26

नीलपंथी सिखों ने 18 साल से संभाल रखी है अपने संत की मृत देह

सिखों के नील पंथ संप्रदाय के अनुयाइयों को आज भी विश्वास है कि 18 वर्ष पूर्व देह त्याग चुके उनके संस्थापक संत हरनाम सिंह पुनः प्रकट होंगे। इसी उम्मीद से उन्होंने उनकी मृत देह को एक भूमिगत हवारहित कमरे में अभी तक संभाल कर रखा हुआ है।

बटाला और धारीवाल के मध्य स्थित नौशहरा माझासिंह कस्बा नीलपंथियों का मुख्यालय कहा जाता है। वैसे तो इस संप्रदाय के अनुयायी पंजाब, दिल्ली और हिमाचल प्रदेश और देश के अन्य भागों में भी फैले हुए हैं, परन्तु लुधियाना, जालंधर और आस-पास के क्षेत्रों में इनकी संख्या काफी है। यह लोग वैसे तो सिखों से ही संबंधित हैं परनतु यह सिर पर पगड़ी के स्थान पर नीला पटका और कमर में नीले रंग का ही कमरकसा बांधते है। इस संप्रदाय के अनुयायी श्री गुरुग्रंथ साहब को ही मानते हैं। गुरुओं में इनकी गहरी निष्ठा है। इस संप्रदाय के संस्थापक संत हरनाम सिंह ने अपनी मृत्यु से पूर्व ही एक ट्रस्ट का गठन कर दिया था। इसके वर्तमान प्रमुख संत भगवान सिंह हैं जिनकी आयु 97 वर्ष है। ट्रस्ट के महासचिव हरभजन ने बताया कि संत हरनाम सिंह का देहांत 1980 में हुआ था। संत जी की इच्छा थी कि उनके पार्थिव शरीर को नष्ट न किया जाए, बल्कि संभाल कर रखा जाए। उनकी इच्छानुसार ही हमने उनकी मृत देह को संभाला हुआ है। उन्होंने बताया कि पहले एक गहरा गड्ढा खोद कर उसमें एक कमरा बनाया गया। यह कमरा तहखाने जैसा है। इसमें एक पलंग पर गद्देदार बिस्तर बिछा कर रजाइयों की सहायता से उस पर संत जी को बिठा दिया गया है। शव पर कुछ सुगंधित वस्तुएं और रसायन भी लगाये गये थे। उसके बाद इस कमरे पर पक्का लिंटर डाल दिया गया था। इसे पूर्ण रूप से हवाबंद कर दिया गया था। यह देह अभी तक कमरे मु ही 'सुरक्षित' पड़ी है। ट्रस्ट के महासचिव ने बताया कि संत की मृत्यु के बाद पांच दिन तक अनुयाइयों में इस बात को लेकर झगड़ा चलता रहा था कि देह का सिख रिवायतों के अनुसार संस्कार किया जाए या इसे संभाल कर रखा जाए। परन्तु कुछ अनुयाइयों ने यह धमकी दे डाली थी कि यदि उनकी देह संभाल कर न रखी गयी तो वह स्वयं को चिता में जला लेंगे। उनका कहना है कि किसी ने एक बार इस तहखाने की एक ईंट उखाड़ कर अंदर की स्थिति जानने का प्रयास किया था। अंदर से अत्यधिक बदबू आ रही थी। इसलिए इसे पुनः बंद कर दिया गया।

(राष्ट्रीय सहारा, 21 मार्च 1998)

गणेश शंकर विद्यार्थी

धर्म की आड़

(27 अक्तूबर 1924 को 'प्रताप' में प्रकाशित इस लेख में विद्यार्थी जी ने कहा था, "हमारे देश में धर्म के नाम पर इने-गिने आदमी अपने हीन स्वार्थों की सिद्धि के लिए करोड़ों आदमियों की शक्ति का दुरुपयोग किया करते है।" 1924 वह साल था जब उत्तर प्रदेश के विभिन्न इलाकों में 14 बार साम्प्रदायिक दंगे फूटे थे। 1923 से '27 के बीच सबसे ज्यादा (27) दंगे आखिरी साल हुए थे और उसके बाद दूसरा स्थान 1924 का था। यह वह दौर था जब असहयोग का जादू टूट चुका था और आज के राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद की तर्ज पर मुसलमानों की मस्जिदों के सामने से हिन्दुओं के धार्मिक जुलूसों का बाजेगाने के साथ निकलना साम्प्रदायिक कलह का गम्भीर कारण बना हुआ था। आज जो राजनीति और धर्म के घालमेल का सवाल चर्चाओं के केंद्र में है, इसका सूत्रपात दरअस्ल स्वाधीनता आंदोलन के दौरान ही हो गया था। तभी गणेश जी को कहना पड़ा था, "देश के स्वाधीनता संग्राम ही ने मौलाना अब्दुल बारी और शंकराचार्य को देश के सामने दूसरे रूप में पेश किया, उन्हें अधिक शक्तिशाली बना दिया..." तीसरे दशक का यही माहौल कानपुर के 1931 के बीभत्सतम साम्प्रदायिक दंगों का आधार-बिन्दु बना। भगत सिंह और उनके साथियों की शहादत के ठीक दो दिन बाद 25 मार्च को, साम्प्रदायिक दंगों को शांत करने के प्रयास करते हुए विद्यार्थी जी शहीद हुए थे। देश के राष्ट्रीय इतिहास में साम्प्रदायिक सद्भावना के लिए शहीद होने वाले संभवतः वही पहले व्यक्ति थे। साम्प्रदायिकता के सवाल पर उन्होंने बहुत-से लेख लिखे, जिनका प्रत्येक शब्द विद्यार्थी जी के हृदय से निकला था। इसकी एक बानगी प्रस्तुत लेख है।—सं.)

इस समय, देश में धर्म की धूम है। उत्पात किए जाते हैं, तो धर्म और ईमान के नाम पर, और जिद की जाती है, तो धर्म और ईमान के नाम पर। रमुआ पासी और बुद्धू मियां धर्म और ईमान को जानें या न जानें, परन्तु उसके नाम पर उबल पड़ते है और जान लेने और देने के लिए तैयार हो जाते हैं। देश के सभी शहरों का यही हाल है। उबल पड़ने वाले साधारण आदमी का इसमें केवल इतना ही दोष है कि वह कुछ भी नहीं समझता-बूझता, और दूसरे लोग उसे जिधर जोत देते हैं उधर जुत जाता है। यथार्थ दोष है, कुछ चलते-पुरजे, पढ़े-लिखे लोगों का, जो मूर्ख लोगों की शक्तियों और उत्साह का दुरुपयोग इसलिए कर रहे है कि इस प्रकार, जाहिलों के बल के आधार पर उनका नेतृत्व और बड़प्पन कायम रहे। इसके लिए धर्म और ईमान की बुराइयों से काम लेना उन्हें सबसे सुगम मालूम पड़ता है। सुगम है भी। साधारण से साधारण आदमी तक के दिल में यह बात अच्छी तरह बैठी हुई है कि धर्म और ईमान की रक्षा के लिए प्राण तक दे देना वाजिब है। बेचारा साधारण आदमी धर्म के तत्वों को क्या जाने? लकीर पीटते रहना ही वह अपना धर्म समझता है। उसकी इस अवस्था से चालाक लोग इस समय बहुत बेजा फायदा उठा रहे हैं। पाश्चात्य देशों में धनी लोग गरीब मजदूरों के परिश्रम से बेजा लाभ उठाते हैं। उसी परिश्रम की बदौलत गरीब मजदूर की झोपड़ी का मजाक उड़ाती हुई उनकी अट्टालिकाएं आकाश से बातें करती हैं। गरीबों की कमाई से वे मोटे पड़ते हैं, और उसी के बल से वे सदा इस बात का प्रयत्न करते हैं कि गरीब सदा चूसे जाते रहें। यह भयंकर अवस्था है। इसी के कारण, साम्यवाद, बोलशेविज्म आदि का जन्म हुआ।

हमारे देश में, इस समय धनपतियों का इतना जोर नहीं है। यहां, धर्म के नाम पर कुछ इने-गिने आदमी अपने हीन स्वार्थों की सिद्धि के लिए, करोड़ों आदमियों की शक्ति का दुरुपयोग किया करते हैं। गरीबों का धनाढ्यों द्वारा चूसा जाना इतना बुरा नहीं है, जितना बुरा यह है। वह है धन की मार, यह है बुद्धि पर मार। वहां धन दिखाकर करोड़ों को वश में किया जाता है, और फिर मन-माना धन पैदा करने के लिए जोत दिया जाता है। यह है बुद्धि पर परदा डालकर पहले ईश्वर और आत्मा के नाम पर अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए लोगों को लड़ाना-भिड़ाना। मूर्ख बेचारे धर्म की दुहाइयां देते और दीन-दीन चिल्लाते हैं, अपने प्राणों की बाजियां खेलते और थोड़े से अनियंत्रित और धूर्त आदमियों का आसन ऊंचा करते और उनका बल बढ़ाते हैं। धर्म और ईमान के नाम पर किए जाने वाले इस भीषण व्यापार को रोकने के लिए साहस और दृढ़ता के साथ उद्योग होना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होगा, तब तक भारतवर्ष में नित्य प्रति बढ़ते जाने वाले झगड़े कम न होंगे। धर्म की उपासना के मार्ग में कोई भी रुकावट न हो। जिसका मन जिस प्रकार चाहे, उसी प्रकार धर्म की भावना को अपने मन में जगावे। धर्म और ईमान, मन का सौदा हो, ईश्वर और आत्मा के बीच का संबंध हो, आत्मा को शुद्ध करने और ऊंचे उठाने का साधन हो। वह, किसी दशा में भी, किसी दूसरे व्यक्ति की स्वाधीनता के छीनने या कुचलने का साधन न बने। आपका मन चाहे, उस तरह का धर्म आप मानें और दूसरे का मन चाहे उस प्रकार का धर्म वह माने। दो भिन्न धर्मों के मानने वाले कहीं जबरदस्ती टांग

अड़ाते हों, तो उनका इस प्रकार का कार्य देश की स्वाधीनता के विरुद्ध समझा जाए। देश की स्वाधीनता के लिए जो उद्योग किया जा रहा था, उसका वह दिन निःसंदेह अत्यंत बुरा था, जिस दिन, स्वाधीनता के क्षेत्र में, खिलाफ़त, मुल्ला, मौलवियों और धर्माचार्यों को स्थान दिया जाना आवश्यक समझा गया। एक प्रकार से उस दिन हमने स्वाधीनता के क्षेत्र में, एक कदम पीछे हटकर रखा था।

अपने उसी पाप का फल आज हमें भोगना पड़ रहा है। देश की स्वाधीनता के संग्राम ही ने मौलाना अब्दुल बारी और शंकराचार्य को देश के सामने दूसरे रूप में पेश किया, उन्हें अधिक शक्तिशाली बना दिया, और हमारे इस काम का फल यह हुआ है कि इस समय, हमारे हाथों ही से बढ़ाई इनकी और इनके से लोगों की शक्तियां हमारी जड़ उखाड़ने में लगी हैं और देश में मजहबी पागलपन, प्रपंच और उत्पात का राज्य स्थापित कर रही हैं। महात्मा गांधी धर्म को सर्वत्र स्थान देते हैं। वे एक पग भी धर्म के बिना चलने के लिए तैयार नहीं परन्तु उनकी बात ले उड़ने के पहले, प्रत्येक आदमी का कर्तव्य यह है कि वह भलीभांति समझ ले कि महात्मा जी के धर्म का स्वरूप क्या है? धर्म से महात्मा जी का मतलब धर्म के ऊंचे उदार तत्वों ही का हुआ करता है। उनके मानने में किसे एतराज हो सकता है। अजां देने, शंख बजाने, नाक दाबने और नमाज पढ़ने का नाम धर्म नहीं है। शुद्धाचरण और सदाचार ही धर्म के स्पष्ट चिह्न हैं। दो घंटे तक बैठकर पूजा कीजिए और पंच-वक्ता नमाज भी अदा कीजिए, परन्तु ईश्वर को इस प्रकार की रिश्वत के दे चुकने के पश्चात, यदि आप अपने को दिन भर बेईमानी करने और दूसरे को तकलीफ पहुंचाने के लिए आजाद समझते हैं तो इस धर्म को अब आगे आने वाला समय कदापि नहीं टिकने देगा। अब तो आपका पूजा-पाठ न देखा जाएगा, आपकी भलमंसाहत की कसौटी केवल आपका आचरण होगा। सबके कल्याण की दृष्टि से आपको अपने आचरण को सुधारना पड़ेगा, और यदि आप अपने आचरण को नहीं सुधारेंगे तो नमाज और रोजे, पूजा और गायत्री आपको देश के अन्य लोगों की आजादी को रौंदने और देश भर में उत्पातों का कीचड़ उछालने के लिए आजाद न छोड़ सकेंगी। ऐसे धार्मिक और दीनदार आदमियों से तो वे ला-मजहब और नास्तिक आदमी कहीं अधिक अच्छे और ऊंचे है, जिनका आचरण अच्छा है, जो दूसरों के सुख-दुख का ख्याल रखते हैं और जो मूर्खों को किसी स्वार्थसिद्धि के लिए उकसाना बहुत बुरा समझते हैं।

ईश्वर इन नास्तिकों और ला-मजहब लोगों को अधिक प्यार करेगा, और वह अपने पवित्र नाम पर अपवित्र काम करने वालों से यही कहना पसंद करेगा, ''मुझे मानो या न मानो, तुम्हारे मानने ही से मेरा ईश्वरत्व कायम नहीं रहेगा, दया करके, मनुष्यत्व को मानो, पशुपना छोड़ो और आदमी बनो!''

(सुरेश सलिल द्वारा संपादित पुस्तक 'युगधर्म, स्वाधीनता और जातीय संस्कृति' से साभार)

अंधविश्वासों का संसार

शंकर जी का अदभुत चमत्कार

सिंगपुर (सम्भल) के मन्दिर में एक पुजारी पूजा कर रहा था। तो अचानक एक सर्प निकला उसकों देखकर पुजारी डरने लगा सर्प देवता ब्रह्मण के रूप में आ गये और कहा डरो मत डरने की कोई बात नहीं जो कुछ कहता हूं उसे ध्यान से सुनो मैं कुछ दिनों बाद पृथ्वी पर अवतार लूंगा और जो धर्म का नाश करते हैं मैं उनका संहार करुंगा और जो व्यक्ति मेरे नाम पर एक हजार पर्चे छपवाकर बांटेगा उसकी 24 दिनो के अन्दर मनोकामना पूरी होगी और जो 24 दिन में नहीं बांटेगा उसको काफी नुकसान होगा। इतना कहकर सर्प रुपी ब्राह्मण देवता 3 कदम पीछे हट कर अर्न्तध्यान हो गये।

इस खबर को सुनकर बम्बई के एक आदमी ने एक हजार पर्चे छपवा कर बांटे तो उसको 62 लाख रुपये की लाटरी निकली धनबाद के एक रिक्शा चालक ने 650 पर्चे बांटे तो उसको अपने घर में अशरफियों से भरा घड़ा मिला। इस प्रकार एक आदमी छपवाने की सोच रहा था तो उसे एक अच्छी नौकरी मिली तब उसने भी एक हजार पर्चे छपवा कर बांटे। एक आदमी ने इसे झुठ समझ कर फाड़ दिया तो उसका लड़का मर गया। बाबूलाल गुप्ता आगरे वाले को पर्चा मिला तो उसने एक माह तक पर्चे नहीं बांटे तो उसे व्यापार में हानि हुई और उसकी पत्नी चल बसी। इस बात को सही मानकर शंकर जी का प्रचार करना जिस किसी सज्जन को यह पर्ची मिले उनसे ये निवेदन है कि वे इस पर्चे को छपवा कर बांट दे। इसे झूठ समझ कर आपत्ति मोल न लें इस होने वाले चमत्कार का लाभ उठाये।

प्रायः देशभर में डाक से बांटा जाने वाला एक पत्र

डॉ. हरीसिंह पाल

धर्म का समाजशास्त्र

सामाजिक परिस्थितियां ही धार्मिक विश्वासों और व्यवहारों को प्रेरित करती हैं। इस प्रकार धर्म सामाजिक जीवन में एकता और संगठन स्थापित करने तथा समूह के सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। धर्म का स्रोत स्वयं समाज है क्योंकि धर्म समाज में ही विकसित, पल्लवित, पोषित तथा संरक्षित होता है। धर्म एक समाज में प्रचलित और मान्य आदर्शों, नैतिक मूल्यों, पाप-पुण्य और पवित्र-अपवित्र के वर्गीकरण में प्रतिबिम्बित होता है।

मोटे तौर पर, धर्म को किसी अलौकिक शक्ति पर विश्वास से सम्बधित तथ्य माना जा सकता है। विभिन्न धर्मावलम्बी अलौकिक शक्ति की प्रसन्नता के लिए विभिन्न प्रकार की क्रियाएं करते हैं। इस प्रकार धर्म एक सामाजिक घटना है। धर्म और समाज के कार्य-कारण सम्बन्धों की व्याख्या करने वाले शास्त्र को धर्म का समाजशास्त्र कहा जाता है।

जब मनुष्य के जीवन में आकस्मिक रूप से कुछ दुखद घटनाएं या दुर्घटनाएं घटित हो जाती हैं जैसे—भूकम्प, बाढ़, अकाल, सूखा, आंधी-तूफान; रेल, बस, जहाज दुर्घटनाएं आदि, जिन पर मनुष्य का, विशेष रूप से पीड़ित होने वाले मनुष्य का कोई नियंत्रण नहीं होता है तब वह यह सोचने को बाध्य होता है कि कोई अलौकिक और मानवेतर शक्ति मानवीय जीवन और सम्पूर्ण विश्व को नियंत्रित कर रही है। उस शक्ति को वश में करने या प्रसन्न करने के सामाजिक प्रयत्न को धर्म माना जा सकता है। सामाजिक परिस्थितियां ही धार्मिक विश्वासों और व्यवहारों को प्रेरित करती हैं। इस प्रकार धर्म सामाजिक जीवन में एकता और संगठन स्थापित करने तथा समूह के सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। धर्म का स्रोत स्वयं समाज है क्योंकि धर्म समाज में ही विकसित, पल्लवित, पोषित तथा संरक्षित होता है। धर्म एक समाज में प्रचलित और मान्य आदर्शों, नैतिक मूल्यों, पाप-पुण्य और पवित्र-अपवित्र के वर्गीकरण में प्रतिबिम्बित होता है।

लेकिन जब धर्म को बाह्याडम्बरों में व्यक्त किया जाने लगता है तो धर्म एक व्यवसाय बनता चला जाता है। तब आचरण-शुद्धि के स्थान पर, धर्म के नाम पर दिखावा शुरू हो जाता है। धर्म-प्रचारकों यह अपेक्षा की जाती है कि वे चिन्तन-मनन, त्याग और तपस्या करके समाज का मार्गदर्शन करेंगे और आदर्श स्थापित करेंगे किन्तु वे तो धार्मिक जीवन के स्थान पर, अपने सुरक्षित मठों और आश्रमों में ऐशोआराम का जीवन यापन करने लग जाते हैं। धनोपार्जन के लिए अनेकानेक ढोंग किए जाने लगते हैं और उन्हें किसी शास्त्र में लिखी बात कहकर आम जनता को बहकाया जाता है। उदाहरण के लिए रामेश्वरम् के रामनाथपुरम मंदिर में वहीं से खरीदकर लाए गए गंगाजल को चढ़ा दिया जाता है। अपनी श्रद्धा से उत्तर से ले जाए गए गंगाजल को नहीं चढ़ाने देते। तिरुपति में पैसे देकर शीघ्र दर्शन किए जा सकते हैं और वहां का प्रसाद पैसे देकर ही मिलता है। अधिकांश मंदिरों में अच्छी दक्षिणा देकर विशेष दर्शनों का लाभ प्राप्त किया जा सकता है। रामकथा, कृष्णकथा, और भागवतकथा कहने वाले संत-महात्मा, भागवतकार हजारों रुपए अग्रिम मिल जाने पर ही व्यास गद्दी पर बैठते हैं। अब तो उनके आडियो और वीडियो कैसेट भी बिकने लगे हैं।

धर्म का व्यवसाय करते हुए कुछ लोगों ने भव्य मठ और आश्रम स्थापित कर लिए हैं जहां बंद कमरों में धर्म को छोड़कर सब कुछ होता है—राजनीति की मंत्रणा, विलासिता का जीवन, दूसरे लोगों को पछाड़ने का कुचक्र, पाखंड यानी सांसारिक जीवन के सभी दंदफंद। फिर कहां रहा धर्म का सामाजिक सरोकार?

वस्तुतः बाह्याडम्बर धर्म है ही नहीं, धर्म तो अपने लिए होता है, आत्मानन्द के लिए होता है, आत्मशुद्धि के लिए होता है। हो सकता है कि इस लक्ष्य के लिए कुछ क्रियाएं (पूजा-पाठ, ध्यान, मंत्रोच्चार) और कुछ प्रक्रियाएं (धूप-दीप, स्नानादि, भोग, प्रसाद) पूरी कर ली जाएं लेकिन यह होता सब कुछ आत्मानन्द के लिए ही है।

पहले निरक्षरता के कारण लोग धर्मशास्त्रों के ज्ञान से अनभिज्ञ रहते थे। संसार के सुखों का त्याग करने वाले कुछ संत, महात्मा, फकीर इस ज्ञान का प्रचार-प्रसार आम जनता में करते थे जिससे मनुष्य

की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति हो, समाज में अनुशासन हो, और मानवीय गुणों का विकास हो, आज धर्म के नाम पर प्रदर्शन और दिखावा प्रमुख होता जा रहा है। जो ज्यादा दान दे वही धर्मात्मा और वही पुण्य का भागी। धार्मिक संस्थाओं को दिए जाने वाले दान पर 80 -जी के तहत आयकर में छूट का प्रावधान धनाढ्यों को अधिक से अधिक दान देने के लिए प्रेरित ही नहीं, आकर्षित भी करता है। मंदिरों में ऐसे दानदाताओं के नाम पर पत्थर लगाए जाते हैं (भले ही उस पर लोगों के पैर पड़ें), धार्मिक आयोजनों में ऐसे लोगों के बैनर लगाए जाते हैं, नाम पुकारे जाते हैं। इससे लोगों में दान देने की प्रतिस्पर्धा बढ़ती है। प्राप्त धन का शायद ही जनकल्याण कार्यों में उपयोग होता हो। आज के भौतिकवादी युग में तनावग्रस्त मनुष्य की रुचि जैसे-जैसे धर्म के प्रति बढ़ रही है वैसे-वैसे धर्म का व्यवसायीकरण हो रहा है। धर्म खरीदने और बेचने की वस्तु बनता जा रहा है। धर्म की इन दुकानों में सब कुछ बिक रहा है—झूठ, पाखंड, अनैतिक व्यापार और वह सब कुछ जो भोग-विलास के लिए आवश्यक है। धार्मिक लोग संतों के चोले पहनकर शांति के नाम पर बंदूकों का व्यवसाय कर रहे हैं। ये लोग डटकर धर्म को बेच रहे हैं और अज्ञानी लोग इसे खरीदने के लिए उतावले हैं।

धर्म के नाम पर स्वयंभू गुरुओं तथा भगवानों का प्रभुत्व होता जा रहा है। अलग पंथ, सम्प्रदाय या कोई नया धर्म खड़ा करना उनके लिए बड़ा ही सरल कार्य है। शस्त्र और शास्त्र, युद्ध और शांति, हिंसा और आतंक को अपने चोले में छिपाए धर्म के ये ध्वजवाहक घृणा, संकीर्णता, अशांति तथा असंतुलन पैदा कर अपने लिए बेहिसाब सम्पत्ति और भोग-विलास की सामग्री के ढेर लगा रहे हैं।

लेकिन आज भी ऐसे धर्मात्मा लोगों की कमी नहीं है जो निस्वार्थ भाव से लोक कल्याण के लिए-समर्पित हैं। सूखा, बाढ़, अकाल जैसी दैवी आपदाओं में ये संत बढ़-चढ़कर राहत कार्य सम्पादित करते हैं। अनेक शिक्षा-संस्थाएं, धर्मार्थ चिकित्सालय, धर्मशालाएं, लंगर भी चला रहे हैं। निर्धन छात्र-छात्राओं के लिए छात्रवृत्तियां दे रहे हैं और पुस्तकों तथा भोजन-वस्त्रादि की सहायता भी की जा रही है। ये लोग अपने उपदेशों के माध्यम से जनमानस में नैतिक शिक्षा का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था से पीड़ित मानव मन आज भी इनके सत्संग में शांति प्राप्त करता है। ऐसे लोगों के योगदान को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। ऐसे लोगों में वे लोग भी शामिल हैं जो धर्म-सम्प्रदाय की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर सभी वर्ग के लोगों के लिए सेवा-कार्य कर रहे हैं।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि धर्म को आश्रमों, मठों, मंदिरों, मस्जिदों से बाहर लाकर मानव-कल्याण के लिए समाज में प्रतिष्ठापित किया जाए। धर्म प्रदर्शन और दिखावे से दूर हटकर आचरण में व्यक्त हो, मानवीय गुणों का विकास करे, मानसिक शुचिता को बढ़ाए जिससे, व्यक्ति में व्यवस्थित आचरण, ईमानदारी, परिश्रम, कुशलता, सच्चाई, वफ़ादारी और विश्वास जैसे तत्व आ सकें और हम सभी की यही मनोकामना रहे--

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुखभाग भवेत्॥

आर. जेड. 684/4 डी, 9 इन्द्रा पार्क, पालम रोड, नई दिल्ली-110045

धर्म की आड़ में गांजे की बिक्री

अपने अवैध धंधों के निर्बाध संचालन के लिए लोग तमाम किस्म के हथकंडे अपनाते हैं पर वणी के एक महाशय ने दो कदम आगे बढ़ते हुए धर्म को अपने अवैध कारोकार की ओट बनाया है।

क्षेत्र के शिवराम लोंजेकर नामक व्यक्ति ने गांजा जैसे नशीले पदार्थ की अवैध बिक्री के लिए साधू होने का ढोंग रचाया हुआ है। वह अपने घर व दुकान के आगे त्रिशूल गाड़ कर रखता है। अंदर एक बड़ी अजीब सी सिंदुर पुती मूर्ति रखी है। अपने बाल बढ़ाए हुए व भगवा वस्त्र धारण किए यह ढोंगी बड़ी चालाकी से गांजा बेचने का धंधा करता है।

स्वयं को भगवान का अनन्य भक्त बताने वाला यह ढोंगी बाबा अपने बनाए मंदिर को भगवान शिव का तेरहवां ज्योतिलिंग बताकर लोगों को बेवकूफ़ बनाता है। अफसोस यह कि लोग भी मूर्ख बनते हैं।

पूरे साधू समाज को बदनाम करने वाला और पुलिस की आंखों में धूल झोंकने वाला लोंजेकर क्षेत्र में कानून व्यवस्था के नाम पर बदनुमा दाग बना हुआ है। यह ढोंगी अगले महीने लगने वाले रंगनाथ स्वामी मेले को देखते हुए अपनी सक्रियता बढ़ा रहा है। थानेदार घनश्याम वालवदे के सामने चुनौती है कि वे किस तरह इस ढोंगी की करतूतों को बेनकाब कर क्षेत्र की जनता को शांति प्रदान करते है।

(निदर्भ चण्डिका, नागपुर)

डॉ. कृपाशंकर सिंह

हिन्दी और राजभाषा हिन्दी

पचास साल बीत जाने पर भी हिन्दी राजभाषा का दर्जा नहीं पा सकी। स्वतंत्र भारत की जनता तथा शासक वर्ग अंग्रेजी से चिपका हुआ है। अंग्रेजी के प्रति लोगों का लगाव कम होने के स्थान पर बढ़ता जा रहा है। अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों में निरन्तर वृद्धि हो रही है। अंग्रेजी के प्रति इस मानसिक दासता के कारणों को समझने-पड़तालने का प्रयास इस लेख में किया गया है।

बोलचाल की हिन्दी और राजभाषा हिन्दी के बीच किस तरह का सम्बन्ध है इस पर विचार करने से पहले बोलचाल की हिन्दी भाषा, जिसे आमतौर पर सामान्य भाषा कहते है, के बारे में मैं कुछ कहना चाहूँगा। सवाल है कि भाषा किसे कहें। मतलब यह कि किसी विषय को भाषा कहलाने के लिए या उसे 'भाषा' नाम देने के पीछे कौन-से तर्क हो सकते हैं।

जो भाषिक प्रक्रिया है, या कहिए कि संप्रेषण के लिए भाषा का जो इस्तेमाल है उस पूरी क्रियाविधि में तीन बातें सम्मलित होती है। पहली बात दुनियावी वस्तुओं को लेकर है। ये जो सांसारिक पदार्थ हैं, इन्हें देखने के बाद इनका अक्स हमारे मस्तिष्क पर बन जाता है, जो एक बिम्ब या इमेज के रूप में बना रहता है। ये बिम्ब या प्रतिरूप उन बातों के भी होते है जो ठोस रूप में नहीं है, केवल प्रतिबोध या धारणा के रूप में हैं, जो भावनाओं, अनुभूतियों और विचारों के रूप में हैं। जब हम किसी वस्तु, भावना, विचार आदि को लेकर कुछ कहना चाहते है, तो उन्हें प्रकट करने के लिए किसी माध्यम की ज़रूरत होती है, जिसके ज़रिये हम अपने को व्यक्त कर सकें। व्यक्त करने का यह माध्यम भाषा है। भाषा के शब्द दरअसल सांसारिक वस्तुओं, हमारी भावनाओं, हमारे अनुभवों के बदले में, उनके स्थानापन्न के रूप में प्रयोग किए जाते हैं, इसीलिए शब्द को वस्तु के बिम्ब का प्रतीक कहा जाता है। और इस तरह हम भाषा को प्रतीकों की व्यवस्था कह सकते हैं। प्रतीक व्यवस्थित रूप में भाषा में प्रयोग किए जाते हैं।

भाषा को लेकर एक और बात की तरफ भी ध्यान देना ज़रूरी है। वह यह कि बिम्बों के एवज़ में आने वाले जिन प्रतीकों या शब्दों की बात की जा रही हैं, उनमें जो आपसी सम्बन्ध है, उसका कोई तार्किक आधार नहीं होता। उदाहरण के लिए 'आग' पदार्थ को आग ही कहने के पीछे कोई तार्किकता नहीं है। इसे कोई भी नाम दिया जा सकता था। वस्तु को नाम देने के पीछे नाम देने वाले समुदाय की केवल इच्छा काम करती है। या यों कह लीजिये कि जो नाम उस वक्त सूझ गया और उस समुदाय में धीरे-धीरे चल पड़ा। पूरी भाषिक प्रक्रिया लगातार परिवर्तन की प्रक्रिया है, सैकड़ों वर्षो के इस्तेमाल से बनने की प्रक्रिया है। पर साथ ही शब्द-अर्थ का सह-सम्बन्ध अपनी जगह रूढ़ भी बना रहता है। एक ही पदार्थ के लिए विभिन्न भाषाभाषी समुदाय अपने-अपने ढंग से नाम रखते हैं। इसीलिए एक ही वस्तु के लिए विभिन्न भाषाओं में अलग-अलग नाम हैं। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि भाषा का निर्माण विभिन्न मनुष्य समुदायों ने अपने दायरे में अपनी इच्छा से किया है।

हर समाज की रहन-सहन की कुछ परम्पराएं होती हैं। उसकी एक सांस्कृतिक धरोहर होती है। जो समाज जितना प्राचीन होता है, जितना समृद्ध होता है, उसी अनुपात में सांस्कृतिक-सामाजिक गतिविधियों का उसका लेखा-जोखा रहता है। भाषा सांस्कृतिक धरोहर को संजोये रखने का एक मात्र ज़रिया है। भाषा न होती तो वेद, उपनिषद्, पुराण आज हमें कहाँ उपलब्ध होते, गीता का सार्वकालिक जीवन-रहस्य हमारे सम्मुख कैसे प्रकट होता। दरअस्ल भाषा मनुष्य समाज द्वारा निर्मित एक अद्भुत कृति है। यह भाषा दूसरी सभी सांसारिक वस्तुओं और जीवों की तरह सतत् परिवर्तनशील भी है। इस परिवर्तनशीलता के कारण ही पन्द्रहवीं शताब्दी ईसा पूर्व की वैदिक संस्कृत आज हिन्दी के रूप में हमारे सामने है। इस लम्बे समय के अंतराल में इसने कई नाम और रूप धारण किए हैं। सांचे में आमूल परिवर्तन आया है। पर मूलभूत इकाइयाँ उसी तरह पहचानी जा सकती हैं। समय के साथ हुए परिवर्तन के साथ-साथ क्षेत्र के अनुसार भी भाषा में बदलाव आता है। अगर एक बड़े इलाके में कोई भाषा बोली जा रही है तो थोड़ी-थोड़ी दूरी के बाद उसके रूपों में अंतर दिखाई देने लगता है। इन्हीं परिवर्तनों को ध्यान में रखकर बोलियों की अवधारणा सामने आती है। हिन्दी के अन्तर्गत भी अनेक बोलियाँ हैं। ये बोलियाँ अनौपचारिक स्तर पर बोलचाल के रूप में व्यवहार होती हैं लेकिन इन क्षेत्रों में औपचारिक आदान-प्रदान भाषा द्वारा ही होता है। इस औपचारिक

आदान-प्रदान की भाषा को ही मानक भाषा कहते हैं जिसके रूपों में अपेक्षाकृत अधिक एकरूपता दिखाई देती है। हिन्दी भी मानक भाषा है। सभी औपचारिक स्थानों में इसी मानक हिन्दी का व्यवहार होता है। कार्यालय, न्यायालय, विश्वविद्यालय– सभी जगह जिस हिन्दी का हम प्रयोग करते हैं वह मानक हिन्दी है। लेकिन इन सभी अलग-अलग स्थानों में भाषिक संरचना के मूलतः एक होने पर भी इनमें अंतर रहता है। यह अंतर थोड़ा-बहुत सांचे के स्तर पर भी रहता है पर अधिकतर अलग-अलग पारिभाषिक शब्द-भंडार को लेकर है।

सामान्य बोलचाल की हिन्दी और मानक हिन्दी में जो अंतर है वह रूपांतर को लेकर है। बोलचाल की भाषा शिथिल संरचना वाली भाषा होती है। भाषा-प्रयोग के समय प्रयोगकर्ता में भाषा-सजगता कम रहती है, वाक्य-गठन में शब्दों के क्रम में एकरूपता नहीं रहती है जबकि मानक भाषा में एकरूपता बनाए रखने के प्रति सजगता ज़रूरी हो जाती है। संरचना सुगठित रहती है।

मानक हिन्दी और राजभाषा हिन्दी के संबंधों पर विचार करते समय हमारा ध्यान सहज ही इस ओर जाता है कि हिन्दी को किस तरह का संवैधानिक दरजा प्राप्त है क्योंकि कार्यालयी भाषा वांस्तव में सरकार की भाषा सम्बन्धी सोच तथा भाषा सम्बन्धी राजनीति से प्रभावित ही नहीं होती, बल्कि पूरी तौर पर उसकी गिरफ़्त में रहती है।

संविधान में 'राष्ट्रभाषा' और 'राजभाषा' इन दो शब्दों का प्रयोग हुआ है। अनुच्छेद 344 (1) और अनुच्छेद 351 में और सन् 1992 के संशोधन के बाद अब आठवीं अनुसूची में अठारह भारतीय भाषाएं हैं जिन्हें 'राष्ट्रभाषा' कहा जा सकता है। ये हैं—असमिया, उड़िया, उर्दू, कश्मीरी, कन्नड़, कोंकणी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, नेपाली, पंजाबी, बंगला, मणिपुरी, मराठी, मलयालम, संस्कृत, सिंधी और हिन्दी। ये सभी भाषाएं अपने-अपने क्षेत्रों की सांस्कृतिक धरोहर को अपने अन्दर संजोये हुए हैं। जो क्षेत्रीय विशिष्टताएं हैं उन्हें इन भाषाओं के द्वारा ही जाना जा सकता है।

संविधान के अनुच्छेद 343 (1) में यह प्रावधान किया गया कि ''संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी।'' पर साथ ही अनुच्छेद 343 (2) में यह प्रावधान है कि ''इस संविधान के आरम्भ से पन्द्रह वर्ष की अवधि तक संघ के उन प्रशासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा, जिनके लिए उसका प्रयोग किया जा रहा था।''

संविधान में दिए गए विविध प्रावधानों को देखते हुए यह मुश्किल नहीं होना चाहिए था कि संविधान के लागू होने के पन्द्रह वर्ष की अवधि के अंदर हिन्दी पूरी तौर पर राजभाषा का दरजा हासिल कर ले। पर 47 साल बीत चुकने पर भी ऐसा नहीं हो पाया। केन्द्रीय सरकार के कार्यालय हों या राज्य सरकारों के या दूसरे प्रतिष्ठान हों, कहीं भी पूरी तौर पर हिन्दी में ही काम हो रहा हो, ऐसा नहीं है। सवाल है कि ऐसा क्यों है? जहाँ तक मैं समझता हूँ, इसके मुख्य रूप से दो कारण हैं। एक तो भाषा को लेकर सरकार की समझ अधूरी थी और दूसरा कारण यह है कि कार्यालयों की भाषा के रूप में हिन्दी की जगह अंग्रेजी को हमेशा ही बनाए रखने की राजनीति थी।

ज़रूरत इस बात को समझने की है कि भाषा केवल कार्यालय में काम करने या प्रशासन चलाने का माध्यम नहीं है बल्कि भाषा हमारी जातिगत पहचान है, हमारी सांस्कृतिक विरासत उसी में सुरक्षित रहती है, और भाषा से ही उसे हम जान पाते हैं। अपनी भाषा के बग़ैर हम पंगु और दृष्टिहीन हो जाते हैं। यह विचार और प्रचार विद्वेषपूर्ण है कि विभिन्न भारतीय भाषाओं के बोलने वाले लोगों को एकजुट करने के लिए अंग्रेजी की ज़रूरत है। इस तरह के कुटिल, दुष्टतापूर्ण और भ्रामक विचार को डेढ़ सौ साल पहले अंग्रेजों ने खड़ा किया था। इसी तरह के ख़्यालों ने हमारे सोचनेसमझने की शक्ति को कुंठित किया है और हमें विचारशून्यता में ला खड़ा किया।

भाषा एक तरह की आदत है, और भाषा की आदत दूसरी आदतों की तरह ही उसे अपना लेने के बाद ही बन पाती है। सन् '50 में यह निर्णय लिया गया कि '65 तक हिन्दी की बजाय अंग्रेजी में कार्यालयों का कामकाज चलता रहेगा। इस छूट के कारण अंग्रेजी में काम करने का जो ढर्रा बना हुआ था उसमें परिवर्तन की ज़रूरत किसी को महसूस नहीं हुई। '65 में एकाएक ऐसा परिवर्तन नहीं हो सकता था। संविधान निर्माताओं का ध्यान शायद इस ओर नहीं था कि 15 वर्ष बहुत लम्बा समय है, इसके लिए अधिक से अधिक 5 वर्ष का समय होना चाहिए था। मैकाले के प्रस्ताव से जब अंग्रेजी को इस देश की कार्यालयी भाषा बनाया गया तो उसे लागू करने के लिए केवल दो वर्ष का समय दिया गया था। 2 फरवरी 1835 को मैकाले ने 'अंग्रेजी शिक्षा' की अपनी योजना रखी थी, 7 मार्च 1835 को लार्ड विलियम बेंटिंक ने उसे अपनी स्वीकृति प्रदान करते हुए जो आदेश जारी किए उन आदेशों में यह था कि—''यहाँ के शिक्षा से सम्बन्धित सम्पूर्ण कोष (धन) को केवल अंग्रेजी शिक्षा पर खर्च किया जाए।'' उन्हीं आदेशों में यह भी था कि ''...सम्पूर्ण कोष को भारतीयों में अंग्रेजी साहित्य और विज्ञान के ज्ञान को अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पढ़ाने में खर्च किया जाए।'' यहाँ 'अंग्रेजी भाषा के माध्यम' पदबंध पर ध्यान देना

चाहिए। अंग्रेज इस तथ्य से बखूबी वाकिफ़ थे कि भाषा माध्यम के रूप में अपनाये बगैर नहीं आती। 1837 के 29वें एक्ट के मुताबिक फ़ारसी, जो अधिकांश मुस्लिम शासकों के दौर में प्रशासकीय भाषा थी, का प्रयोग ख़त्म कर दिया गया।

यह हम सभी अनुमान कर सकते हैं कि 1837 में इस देश की आबादी का बहुत ही नगण्य प्रतिशत अंग्रेजी जानता था। फिर भी बेंटिंक ने सभी महत्वपूर्ण कार्यालयों में अंग्रेजी को लागू किया। सन् 1950 में निश्चय ही देश की आबादी का एक खासा बड़ा भाग हिन्दी बखूबी जानता था। विभिन्न कार्यालयों और अदालतों में काम करने वाले लोग पाँच वर्ष से भी कम अवधि में कार्यालयी हिन्दी आसानी से सीख सकते थे। फिर इस तैयारी के लिए 15 वर्ष का समय देना भाषिक सूझबूझ और वास्तविकता को दरकिनार करने जैसी स्थिति थी। आखिर 15 वर्ष का समय 47 वर्षों में भी कहाँ पूरा हो पाया है। और भाषाविज्ञान का एक विद्यार्थी होने के नाते मैं यह कह सकता हूँ कि 15 वर्ष के समय के पूरे होने के कोई आसार नहीं हैं।

अपने कुख्यात प्रस्ताव को प्रस्तुत करते समय मैकाले ने यह भी कहा था कि अंग्रेजी भाषा इस देश में ऐसे भारतीयों को पैदा करेगी जो अपने "रंग-रूप और खून से भारतीय होंगे, लेकिन अपनी रुचियों में, अपने विचारों में, अपने आचार में और अपनी बौद्धिकता में अंग्रेज़ की तरह होंगे।" मैकाले का यह दावा कितना सच साबित हुआ है।

हिन्दी को राजभाषा का पूर्ण हक नहीं मिल पाने के पीछे दूसरा कारण राजनीति से प्रेरित था। साथ ही अंग्रेजों द्वारा हमारे मन में बिठाया गया यह कारण भी था कि शासक वर्ग विशिष्ट वर्ग (इलीट) होता है। उसकी विशिष्टता के कई रूप होते हैं जिन्हें व्यवहार में प्रदर्शित करना पड़ता है। भाषा उनमें से एक रूप है। विशिष्ट वर्ग की सबसे बड़ी पहचान भाषा है। अंग्रेजी भाषा शासकों के विशिष्ट वर्ग की पहचान थी। हिन्दुस्तानी शासकों ने उस वर्ग-पहचान को बनाए रखा। इसीलिए समान भाषा के बोलने वाले लोग जो अपने घरों में बखूबी अपनी ज़बान का प्रयोग करते हैं, जब औपचारिक स्तर पर मिलते हैं तो अंग्रेजी का सहारा लेते हैं– यह बताने के लिए कि उनकी पहचान भी शासक वर्ग से जुड़ती है।

हिन्दी शासन की भाषा क्यों नहीं बन पाई, इसके पीछे सबसे बड़ा कारण राजनीति के खेल से जुड़ता है। खास तौर पर कुछ राज्यों में। इससे राजनेता दोतरफ़ा फ़ायदा उठा रहे हैं। एक तरफ वे जनता का भयादोहन करके वोट की राजनीति करते हैं और दूसरी तरफ केन्द्रीय सरकार से पैसे का दोहन। अगर ऐसा नहीं है तो क्या कारण है कि हिन्दी को राजभाषा बनाने का प्रस्ताव जिस तमिलनाडु के संविधान सभा के सम्मानित सदस्य गोपाल स्वामी आयंगर ने रखा था उसी तमिलनाडु में 1965 में जब हिन्दी को पूर्ण रूप से प्रशासकीय भाषा का दरजा दिया जाना था, तब हिन्दी के विरोध में सबसे प्रचण्ड आन्दोलन हुआ और हद यह है कि तमिलनाडु की डी.एम.के. की सरकार 1965 के उस हिन्दी-विरोधी आन्दोलन में भाग लेने वालों को अभी पिछले वर्ष मई में सत्ता सँभालते ही फिर से पेंशन दे रही है। 1975 में भी राज्य सरकार ने हिन्दी-विरोधी आंदोलनकारियों को पेंशन देने की योजना पारित की थी जिसे सुप्रीम कोर्ट के ओदश से रद्द कर दिया गया था।

अंत में मैं यह कहना चाहूँगा कि मानक भाषा और प्रशासन की भाषा में कोई आत्यंतिक अन्तर नहीं होता, जिसे सीखने के लिए बहुत-से वर्षों की ज़रूरत पड़ती हो। अन्तर पारिभाषिक शब्द-भंडार का है जिसे कार्यालयी भाषा में अपनाना पड़ता है। दूसरा नगण्य-सा अंतर शैलीगत है जिसका अभ्यास आसानी से किया जा सकता है।

ज़रूरत इस बात को समझने की है कि भाषा केवल कार्यालय में काम करने या प्रशासन चलाने का माध्यम नहीं है बल्कि भाषा हमारी जातिगत पहचान है, हमारी सांस्कृतिक विरासत उसी में सुरक्षित रहती है, और भाषा से ही उसे हम जान पाते हैं। अपनी भाषा के बग़ैर हम पंगु और दृष्टिहीन हो जाते हैं। यह विचार और प्रचार विद्वेषपूर्ण है कि विभिन्न भारतीय भाषाओं के बोलने वाले लोगों को एकजुट करने के लिए अंग्रेजी की ज़रूरत है। इस तरह के कुटिल, दुष्टतापूर्ण और भ्रामक विचार को डेढ़ सौ साल पहले अंग्रेजों ने खड़ा किया था। इसी तरह के ख़्यालों ने हमारे सोचने-समझने की शक्ति को कुंठित किया है और हमें विचारशून्यता में ला खड़ा किया है। हमने अपने युगद्रष्टा नेताओं के प्रबोधनों पर भी ध्यान नहीं दिया है। गांधीजी ने बहुत पहले कहा था–"लाखों लोगों को जबर्दस्ती अंग्रेजी का ज्ञान कराना उन्हें गुलाम बनाना है।" आज़ादी मिलने पर गांधीजी ने कहा, "हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित करने में एक दिन भी खोना देश को भारी सांस्कृतिक नुकसान पहुँचाना है।" संविधान सभा के अध्यक्ष की हैसियत से डा. राजेन्द्र प्रसाद ने 1950 में कहा था–"राजभाषा हिन्दी देश की एकता को कश्मीर से कन्याकुमारी तक अधिक सुदृढ़ बना सकेगी।"

सभी दूरदर्शी नेताओं ने हमें भाषा के प्रति आगाह किया है। इसके बावजूद हम सजग नहीं हो पाए हैं और अपनी पहचान को सही रूप से स्थापित नहीं कर पाए हैं।

सी-4/86/2, सफदरजंग विकास क्षेत्र (हौज़ खास), नई दिल्ली-16

डॉ. गुरचरण सिंह

सवालों से जूझती प्रताप सहगल की कविता

वैयक्तिक और सामाजिक दुनिया के बीच इतना कुछ है जिसे कवि अपनी कविता का विषय बना सकता है। इससे बाहर जाने की उसे आवश्यकता ही अनुभव नहीं हो सकती क्योंकि वह उन्हीं के बीच जीता और संघर्ष करता है, टकराता और जूझता है। इन संघातों से पैदा हुई ऊष्मा को ही कवि पकड़ता और अभिव्यक्त करता है। आवश्यकता इन संघातों/ दबावों को झेलने और उनसे जूझने तथा उन्हें गहराई तक समझने की है। ये संघात और दबाव ही कवि को लिखने के लिए विवश करते हैं।

स्थितियों से टकराने और जूझने से प्राप्त अनुभव कवि मानस को उद्वेलित करते हैं एक तनाव की स्थिति को पैदा करते हैं। कवि उन अनुभवों को अपने तक सीमित न रखकर उन्हें सभी का बनाना चाहता है। प्रताप सहगल इन अनुभवों को सीधे ही पाठकों के सामने नहीं रखते, बल्कि परिवेश के यथार्थ तथा स्थितियों को उनकी वास्तविकता के साथ एक सवाल के रूप में पाठकों के सामने रखते हैं, जिससे पाठक उनसे रू-ब-रू होकर टकरा सके और अपना निर्णय ले सके।

प्रताप सहगल के तीनों कविता-संग्रहों की कविताएं एक लम्बे समय को खुद में समेटे हुए हैं, इसलिए उनमें विषय और भाषा-शैली की विविधता है। कविता पर भाषा, परिवेश तथा अनुभवों के दबावों में भी स्पष्ट अन्तर नज़र आता है। भाषा की दृष्टि से कविताओं में जहां सपाटबयानी भी है तो वहां प्रतीकों, बिंबों का प्रयोग भी खुलकर हुआ है। तीनों संग्रहों में पच्चीस-तीस साल की अवधि में लिखी कविताएं हैं। इससे स्पष्ट है कि कवि कई कविता-आन्दोलनों के बीच में से गुजरा है— नयी कविता, अकविता, विचार कविता आन्दोलनों के प्रमुख कवियों से उसके घनिष्ट सम्बन्ध भी रहे हैं। फिर भी सहगल की कविता का मुहावरा अपना है। कविता आन्दोलनों का प्रत्यक्ष प्रभाव उसकी कविता में नजर नहीं आता।

सामाजिक विरोधाभासों, विसंगतियों, विडम्बनाओं, रूढ़ियों, राजनीतिक प्रपंचों से कोई भी समकालीन कवि बचा नहीं है। सभी ने इन स्थितियों पर खूब लिखा है और इन स्थितियों की वास्तविकता को उभारने के लिए तीखे व्यंग्य का प्रयोग भी किया है।

व्यवस्था और सत्ता से लड़ने के लिए, परिवेश में व्याप्त विसंगतियों- विद्रूपताओं को दूर करने के लिए, नए मूल्यों तथा नए समाज की स्थापना के लिए कवि कविता का प्रयोग एक शस्त्र के रूप में करना चाहता है। उसका विश्वास है कि कविता ही ऐसा माध्यम है, जिससे परिवर्तन लाया जा सकता है। कवि– 'कविता के जरिए/कुछ तोड़ना और कुछ गढ़ना' चाहता है वह 'कविता के जरिए/ मन्दिरों में स्थापित बुतों/ मठों में स्थापित दृठों/ और मंचों पर स्थापित/नकली दांतों को तोड़ना' चाहता है। कवि के लिए 'कविता/ एक तेज अहसास की आग से/ गुजरना है।' यह अहसास की आग जितनी तेज, जितनी गहरी होगी, उतना ही वह पाठक के मर्म को छू पाएगी और सोचने-समझने के लिए विवश कर पाएगी। **आदिम आग में** भी कवि लिखता है— 'कविता भीड़ नहीं/ आदमी तैयार करती है/ कविता चमड़ी पर नहीं दिल पर मार करती है।' कवि यहां भी कविता के जरिए समाज को नया रूप देना चाहता है। पर समाज को बदलना सहज नहीं, दुष्कर कार्य है। सभी समकालीन कवि कविता के जरिए लोगों में विरोध का स्वर फूंकना चाहते हैं। लोगों को तैयार करना चाहते हैं, जिससे वे अन्याय, अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठा सकें। पर सोये हुए लोगों को देख कवि के मन में सन्देह पैदा होता है— 'लिख रहा हूं कविता/कविता सुनाऊंगा/जब/ तब/ क्या जाग जायेंगे लोग।' सोये लोगों में उत्साह, उमंग तथा उज्ज्वल भविष्य की किरण पैदा करना सरल नहीं।

व्यवस्था, सत्ता, राजनीति आज भी गांधी का नाम लेकर जो रही है—मतों को प्राप्त कर रही है, जबकि कवि का विचार है— गांधी जो एक बीज था/ उसकी कट चुकी है फसल/ आज भूमि खाली है।' अर्थात नए विचारों की आवश्यकता है। गांधीजी के विचार अप्रासंगिक नहीं हुए हैं, पर बदले माहौल के अनुरूप और आगे बढ़ने की आवश्यकता है। कवि खाली ज़मीन को नए विचारों से उर्वर करना चाहता है। साथ ही व्यंग्य करते हुए इस ओर भी संकेत करता है कि

गांधी का नाम लेने वाले वास्तव में गांधी के अनुयायी नहीं हैं। उन्होंने गांधी के विचारों-सिद्धान्तों को कभी जीवन में अपनाया नहीं। वे सभी मुखौटाधारी हैं—'सूखा और अतिवृष्टि की चर्चाएं/दमघोंटू वातावरण को और गम्भीर बनाकर/ समस्त देश को निगल लेती हैं।' ऐसी स्थिति में गांधी का नाम लेकर—'किसी रेस्तोरां के कोने में बैठकर/भयंकर अट्हास करते हैं।'

आजादी के बाद नेताओं ने जनता को मात्र आश्वासन दिए हैं। साधारण जन के जीवन में कोई अन्तर नहीं आया है। कवि का प्रश्न है—'तो तुम्हीं बताओ/जब करोड़ों पेट/ पापड़ हो रहे हों/ हड्डियों में हो गये हों सुराख/और आंखों में टपकते हों/सिर्फ सवाल/तब मेरे आरोपों के सामने/आपके आश्वासन कब तक टिकेंगे।' ऐसी स्थिति से उबरने के लिए एक ही रास्ता है—'तोड़ना ही होगा/विचारों का खूसटपन/बांधना होगा/ ठंडापन भाषा का/ और जमीन की तहों को चीर कर/ उठाना होगा एक नया आकाश।'

परिवर्तन के लिए कवि विरोध और विद्रोह को आवश्यक समझता है। उसमें आक्रोश है—यह भाव समाज को नया रूप देने के लिए है। पर जब भी 'भयानक उद्घोष' हुआ है, कवि देखता है—'तभी मेरा समाज/मृगशावक हो/ किसी भी टूटे या अधजले/ घरौंदे में अपना अस्तित्व छुपा लेता है।' कवि विरोध और विद्रोह के भाव को जन-जन का भाव बनाना चाहता है, उसके बिना परिवर्तन सम्भव नहीं। आवश्यकता डरपोक शावकों की नहीं बल्कि वीर सिंहों की है।

प्रताप सहगल की सत्ता और व्यवस्था से सम्बन्धित कुछ कविताओं में तीखा व्यंग्य है। राजनीति भ्रष्ट और स्वार्थी लोगों के हाथ में चली गई है। जनता के गुस्से का भी उन पर कोई असर नहीं होता। 'एक और विकल्प' कविता में कवि लिखता है—'जब-जब भी हमने तुम्हें गाली दी/ वह तुम्हारे हाथों के साथ चिपक गयी।' इस गाली के बदले में लोगों को मिला आतंक और दहशतपूर्ण वातावरण। शायद सत्ता ने लोगों को समझाना चाहा कि गाली देने का परिणाम क्या होता है। ऐसी स्थिति में सामान्य व्यक्ति तो 'चुपके से आंखें फेर' सकता है, पर संवेदनशील कवि स्थिति से तटस्थ नहीं रह सकता। वह 'चीख कर फिर/राजपथ और जनपथ के चौराहे के/बीच गाली देने लगता है।' पर वह देखता है कि सत्ता और व्यवस्था चिकने घड़े की तरह है। कवि के सामने अब एक ही विकल्प है—'क्यों न हम कोई और भाषा/ईजाद करें/क्यों न मान लें/कि भाषा सिर्फ शब्द नहीं होती/न कविता/न गाली/हथियार भी एक भाषा हो सकती है।'

कवि का अनुभव है कि व्यक्ति-विशेष की प्रतिष्ठा, सम्मान, ऐश्वर्य, प्रगति हजारों-लाखों इन्सानों के शोषण पर निर्भर करती है—'सवाल सिर्फ इतना ही है/ ऊपर उठता हुआ सूरज/ओस कणों को/चाट क्यों जाता है।' कवि इसी का विरोध करना चाहता है।

प्रताप सहगल कविता में जब भी विरोध या विद्रोह की बात करते हैं वे पाठक के सामने अनेक सवाल रख देते हैं। कविताओं में हाथ तनते हैं, मुट्ठियां बंधती हैं, नारे लगते हैं और लगता है कि हम क्रांति के कगार पर खड़े हैं। पर यह विद्रोह या विरोध का भाव जरा-सी सुविधा मिलते ही ठंडा पड़ जाता है। ऐसा क्यों? पाठक यह सवाल कवि से करना चाहता है।

'सवाल अब भी मौजूद है' कविता के हरिया का विद्रोह भाव क्यों दब गया? उसके सभी सवाल क्यों सवाल ही रह गए? केवल इस लम्बी कविता में ही नहीं, कुछ अन्य कविताओं को पढ़ने के बाद भी पाठक के मन में ऐसे सवाल उठते हैं। विद्रोह का स्वर या तो शान्त हो जाता है या दबा दिया जाता है। इसका कारण है—कवि दोनों तरह के स्वप्न देखता है। पहला सपना है—'बचपन के सपने थे/ एक सपना बड़ा होने लगा/ बंगला और कार की शक्ल/अख्तियार करने लगा।' और कवि के पास यह सब नहीं था या मिल नहीं पा रहा है तो वह दूसरा सपना देखने लगता है—'इन सब....सपनों/ के बीच से उभरती थी/ एक अग्निमय आकृति/आकृति के चारों ओर तूफान/ और हवा में तना एक हाथ/सीधा हमले के लिए तैयार/अपने होने का अहसास जगाता।' जब पहला सपना पूरा हो जाता है तो फिर दूसरे सपने की आवश्यकता ही नहीं रहती। 'बाहर कब आओगे' कविता की स्थिति भी यही है। इस कविता में कवि राजनीति और वर्तमान व्यवस्था पर गहरा व्यंग्य करता है, पर उसका विद्रोह भाव यहां भी ठंडा पड़ जाता है। राजनीति ने जनता को आश्वासन और कागजी योजनाएं दी हैं। लोग इन आश्वासनों से तंग आ चुके हैं। विद्रोह का स्वर उभरने लगता है—'हालांकि तुम बिल्कुल मेरे करीब थे/मैं तुम्हारी हत्या तक कर सकता था/सवाल यह भी है कि/ हत्या मैंने क्यों नही की।' यह इसी कविता का सवाल नहीं, सहगल की कई कविताओं का सवाल है।

धर्म, परम्पराओं, मान्यताओं आदि का वर्तमान समाज में क्या स्थान है, इस पर भी कवि ने कुछ कविताओं में विचार किया है। धर्म अपनी भूमिका न निबाहते हुए लोगों के हाथ का खिलौना हो गया है। कवि के मन में धर्म के इस विकृत रूप के प्रति वितृष्णा का भाव है। आज धर्म व्यक्ति-व्यक्ति के बीच खाई पैदा कर रहा है। धर्म इन्सान को इन्सान बनाने के स्थान पर—'इन्सान नाम की नस्ल को/धरती से मिटा रहा है।' धर्म ने आदमी को 'गिद्ध की आंख/हाथी के दांत/और कबूतर का दिल दिया है।' धर्म इन्सान को लड़ाने, साम्प्रदायिक दंगे करवाने या नेताओं का वोट प्राप्त करने का माध्यम बन गया है। धर्म के नाम पर सभी अमानुषिक काम हो रहे हैं। कवि को ऐसे धर्म पर विश्वास नहीं। कवि कहता है 'धर्म जहां भी नज़र आये/ उसके गले में पत्थर बांध कर/समुद्र में डुबो दो/ताकि आदमी की शिनाख्त मुमकिन हो।'

कवि का विश्वास है कि हम प्राचीन मान्यताओं या परम्पराओं को ढोते हुए नहीं जी सकते। आज वे पूर्ण अप्रासंगिक या अनावश्यक

हो गई है। 'परम्परा के खिलाफ' कविता का बूढ़ा परम्पराओं, रूढ़ियों और प्राचीन मान्यताओं का प्रतीक है जो कवि के कंधों पर चढ़ा हुआ है और कवि की जुबान पर नाचना चाहता है, पर कवि जानता है— 'यह साजिश है उसकी/मेरी आवाज के खिलाफ/मैं नहीं हो सकता उसका हिस्सेदार।' कवि का विवेक वह सब स्वीकारने के लिए तैयार नहीं है, जो प्राचीन मान्यताओं का प्रतीक 'बूढ़ा' चाहता है। एक अन्य कविता में भी कवि ने लिखा है कि नचिकेता के सत्य को हम आज लागू नहीं कर सकते, क्योंकि उसके और आंज के परिवेश में जमीन आसमान का अन्तर है। नचिकेता भी विद्रोही था— 'परम्परा को मानने से कर दिया था इन्कार/और अपने सत्य की तलाश स्वयं की थी।' कवि स्वीकारता है कि व्यर्थ परम्पराओं और रूढ़ियों का विरोध जरूरी है और जरूरी है सत्य की तलाश। 'निषेध' कविता में कवि नचिकेता और आज के युग के बीच की दूरी को देखते हुए कहता है कि यदि आज नचिकेता सत्य की तलाश के लिए निकलता तो— 'उसका सत्य कुछ और होता।' क्योंकि उस समय— 'किसी ने तुम्हारे कानों में बारूद नहीं उड़ेला/ जूठी पत्तलों पर टूटती हुई पसलियों को भी तुमने नहीं देखा/ और न ही बंटते-बिकते शरीर/तुम्हारी आंखों में तैरे।' नचिकेता ने 'रामकली' जैसी औरतों को नहीं देखा था जो परिस्थितियों की शिकार हैं— 'रामकली उन दिनों लहलहाता खेत थी/ एक भरा-पूरा गुलदस्ता/ और जिंदगी को जीने की/ एक अदम्य लालसा थी उसकी आंखों में।' पर समय ने उससे क्या कुछ नहीं करवाया। अब वह न तो— 'पहली जिंदगी में लौट सकती है/ और न ही अपने बच्चों को/दे सकती है/सभ्य दुनिया का परिवेश।' कविता रामकली की दारुण, व्यथापूर्ण कहानी कहती है। यह कहानी सिर्फ रामकली की ही नहीं है, बल्कि हजारों-लाखों विवश महिलाओं की है। वर्तमान परिवेश से जूझना और उसके सत्य को पहचानना नचिकेता के सत्य से नितान्त भिन्न है। आज व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए 'शतरंज का मोहरा बनने' और 'ताश का जोकर होने' को महत्त्वपूर्ण उपलब्धि समझता है। आज का व्यक्ति नचिकेता के सत्य को 'धीरे से टाल रहा है।' 'गाली से पैदा होने वाली/तकलीफ का अहसास' भी आज व्यक्ति को नहीं होता। ऐसी स्थिति में भी वह हँस और मुसकरा सकता है और गाली को प्रसाद के रूप में स्वीकार कर सकता है।

व्यक्तिगत अनुभवों, जीवन से जुड़ी प्रमुख घटनाओं और प्रेम सम्बन्धों की अभिव्यक्ति उन कविताओं में हुई है जिन्हें कवि ने 'व्यक्तिगत' खंड में रखा है। कविता जब पाठक के सामने आती है तो वह 'मैं' से 'वह' हो जाती है। कविता में सभी को कुछ-न-कुछ ऐसा मिल जाता है जो उनका निजी होता है। फिर भी निजता और सामाजिकता के द्वंद्व को इन कविताओं में खोजा जा सकता है। पर यह काम वही समीक्षक कर सकता है जो कवि की जिंदगी में दखल रखता हो। इससे स्पष्ट है कि कविता में निजता की तलाश सप्रयास होती है। सामान्य पाठक के रूप में जब कविताओं को पढ़ा जाता है तो वह हम सभी के अनुभवों की अभिव्यक्ति होती है।

अच्छी कविता वही है जो पाठक को अपने साथ इन्वाल्व कर ले। इन्वाल्वमेंट तभी सम्भव है जब कवि निजी अनुभवों को इस तरह अभिव्यक्त करे कि वह सभी का हो जाए। कवि की प्रतिभा सर्वसाधारण के अनुभव को नए मुहावरे, नई भाषा और शिल्प में अभिव्यक्त करने में होती है।

विरोध, विद्रोह तथा क्रांति की बातें करने से पूर्व अपनी शक्ति और सीमा की पहचान जरूरी है। इसके बिना व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता। व्यक्ति को केवल अपने चेहरे से ही नहीं, औरों के चेहरों से भी मुखौटे उतारने होंगे तभी निज की पहचान सम्भव है। जब तक व्यक्ति खुद मुखौटाधारी है तब तक उसे सभी मुखौटाधारी ही नज़र आते हैं।

वैयक्तिक और सामाजिक दुनिया के बीच इतना कुछ है जिसे कवि अपनी कविता का विषय बना सकता है। इससे बाहर जाने की उसे आवश्यकता ही अनुभव नहीं हो सकती। क्योंकि वह उन्हीं के बीच जीता और संघर्ष करता है, टकराता और जूझता है। इन संघातों से पैदा हुई ऊष्मा को ही कवि पकड़ता और अभिव्यक्त करता है। आवश्यकता इन संघातों/ दबावों को झेलने और उनसे जूझने तथा उन्हें गहराई तक समझने की है। ये संघात और दबाव ही कवि को लिखने के लिए विवश करते हैं।

व्यक्तिगत कविताओं में कवि जीवन के उन रोमांचकारी क्षणों को अभिव्यक्त करता है, जिन्होंने जीवन की धारा को बदला था, जो अचानक जीवन में घटित हुआ और जिसने जीवन को एक नई दिशा दी। ऐसी कविताओं में प्रेम-प्रसंग स्वभावतः अभिव्यक्ति पाते हैं— 'टूट गयी थीं उस रोज असहज स्थितियों में सभी शिलाएँ/जिस रोज दो जोड़ी अधर आपस में टकराये थे।'

कवि अनेक सामाजिक-पारिवारिक प्रतिबन्धों से घिरा हुआ है— 'मेरी हर अनबोली बात पर सैंसर का खतरा है/ मेरी धड़कनों का लेबाट्री में किया जाता है परीक्षण'। ऐसी स्थिति में कवि कहता है— 'अब तुम्हीं बताओ/मैं तुम्हें अकेले में कहां मिल सकता हूं।'

प्रेयसी से मिलन, उसके साथ धीरे-धीरे बतियाना, घूमना या साथ-साथ उठना-बैठना अब मात्र यादें रह गई हैं— 'तुम्हें याद है न/तुम गद्देदार कुर्सी छोड़ कर/ मुझमें समा जाती थीं/ और तुम्हारे हाथों को दबा कर/ तुम्हारे अधरों को चूम लेता था।' जीवन के व्यस्त क्षणों में,

महानगर के शोर और धुएँ में कई बार कवि–'अन्दर की ओर देखता हुआ/ कई बार दोहराई गयी बातों में/ फिर खो जाना चाहता है।' बार-बार यादों में खोना कवि को तनाव तथा अकेलेपन से राहत के कुछ क्षण देता है।

विरोध, विद्रोह तथा क्रांति की बातें करने से पूर्व अपनी शक्ति और सीमा की पहचान जरूरी है। इसके बिना व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता। व्यक्ति को केवल अपने चेहरे से ही नहीं, औरों के चेहरों से भी मुखौटे उतारने होंगे तभी निज की पहचान सम्भव है। जब तक व्यक्ति खुद मुखौटाधारी है तब तक उसे सभी मुखौटाधारी ही नज़र आते हैं। वह बेनकाब लोगों को भी नकाबपोश ही समझेगा–'चेहरों की भीड़ में मुश्किल हो गया/ अपना चेहरा ढूंढ़ना/ और इसी उलझाव में/ मैं हर आकार को शक की निगाह से देखने लगा।' पर जब वह खुद को पहचान जाता है तब–'मैंने आज ढूंढ़ लिया है एक चेहरा/ मेरा अपना/ वह चेहरा मेरा अपना है/ उसे मैं शक की निगाह से नहीं देखता।' खुद की पहचान के साथ ही व्यक्ति असीमित शक्ति को अपने अन्दर अनुभव करता है। तब उसे लगने लगता है कि वह समाज में परिवर्तन ला सकता है। जब तक व्यक्ति खुद को नहीं पहचानता, चारों तरफ से आ रही–'आवाजें, चीखें, अस्पष्ट ध्वनियां/ जो मेरी नहीं हैं/ मात्र एक आवाज।' पर खुद की पहचान के बाद व्यक्ति औरों की आवाज नहीं बनता, बल्कि अपनी आवाज बुलन्द करता है।

'पिता की मौत पर' एक अन्य कविता है जो कवि के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित है। यह कविता मौत के साथ जुड़े अहसास को अभिव्यक्त करती है। यह अहसास हम सभी का है। कविता के अन्त में कवि का दार्शनिक रूप उभरता है–'किसी की भी मौत/छीन नहीं सकती जीवन/ पिता की भी नहीं।'

नगर में रहने वाला कवि एक साथ कितने तनावों, मुसीबतों को झेल रहा है। 'नींद नहीं आती' कविता में इसी का चित्रण है। उसे चोरों का, हत्यारों का डर है, बच्चा बीमार है, मित्र का ऑपरेशन होना है, चारों ओर दंगे हो रहे हैं, कारखाने गैस और धुआं उगल रहे हैं। सड़कों पर पुलिस और फौज तैनात है। ऐसी स्थिति में कवि को ही क्या, किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को नींद नहीं आ सकती।

महानगरों में रहने वाले कवियों का ध्यान प्रकृति और उसके सौन्दर्य की तरफ नहीं जाता। इसका मुख्य कारण है कंक्रीट के जंगलों में प्राकृतिक सौन्दर्य का अभाव तथा जीवन की व्यस्तता। नगरों में प्राकृतिक सौन्दर्य गमलों तक सीमित रह गया है। प्राकृतिक दृश्यों में शांति के क्षण तलाशने वाले कवि प्रातःकालीन या डूबते सूर्य की अरुणिमा, चमकते चांद की शीतलता, आसमान में विभिन्न आकृतियां धारण करते श्यामल बादलों में सौन्दर्य ढूंढ़ लेते हैं। ऊंचे मकानों की छत पर खड़े होकर दूर-दूर तक फैले वातावरण में सौन्दर्य के दर्शन कर लेते हैं।

प्रताप सहगल ने 'बादल' पर चार छोटी-छोटी कविताओं की रचना की है। बादलों का स्वागत केवल कृषक ही नहीं बल्कि गर्मी से राहत पाने के लिए पशु-पक्षी भी करते हैं। आसमान में छाए, अनेक चित्र उभारते बादल कितने सुन्दर लगते हैं। 'बादल' पर लिखी कविताएं सुन्दर बिंबों को उभारती हैं। महानगरों में रहने वाला कवि नदियों, झरनों, पेड़-पौधों का वर्णन तो कर नहीं सकता, पर बादलों के सौन्दर्य को देखकर तो मुग्ध हो सकता है। बादलों को देख कवि को लगता है–'जमीन का शोर/ गुथ-गुंथा कर/ चढ़ गया/ आकाश में/ और धुएं की घाटी में बदल गया।' बादलों का सौन्दर्य-चित्रण भी महानगरीय संवेदना को लिए हुए है।

कश्मीर की यात्रा करते समय प्रकृति के साथ कवि का सीधा साक्षात्कार हुआ है। पृथ्वी के स्वर्ग ने कवि की अन्तरात्मा को कहीं गहरे प्रभावित किया है। वह हर दृश्य में डूब जाना, स्नान कर लेना और उसे पी जाना चाहता है। 'शिकारे की सैर', 'चश्मेशाही पर थोड़ा वक्त' कविताएँ प्रकृति की गोद में जीने के अहसास को व्यक्त करती हैं। पर्वतों की ऊंचाइयों पर कवि ने बादलों से बात की है–'भर लिया था, उन्हें अपनी बांहों में/महसूस किया था उनकी सपनीली ठंडक को।' अनुपम, अद्भुत प्राकृतिक सौन्दर्य को शब्दबद्ध करना सरल नहीं है–'खूबसूरती पर लिखना बहुत मुश्किल है/ उसे देखा जा सकता है/ जिया जा सकता है।'

तीसरे कविता संग्रह में अन्धेरे को लेकर कवि ने कुछ कविताएँ लिखी हैं। रोशनी का फैलाव होते भी व्यक्ति अन्धकार से ग्रस्त है। शायद वह अन्धेरे में ही रहना चाहता है। उससे बाहर निकलने से वह डरता है। आदमी का उस अन्धेरे में होना या न होना एक ही अर्थ का द्योतक है क्योंकि ऐसा आदमी हिल-डुल नहीं सकता–अपना अस्तित्व या अपनी पहचान नहीं बना सकता–'वह, अन्धेरे में लिपटा रहा/ जैसे अन्तहीन काले कम्बल में/ लिपटा हो एक ताबूत' शायद यही था उसका अस्तित्व। अन्धेरे में लिपटा व्यक्ति यदि हिले, चले या खड़ा हो जाए तब भी स्थिति वही रहेगी क्योंकि–'हिलना, खड़ा होना और चलना/ मात्र क्रियाएँ हों/ तो कैसे होगी घटना।' कवि स्वीकारता है कि अन्धेरे के सैलाब को काटना कठिन है, पर अपने वजूद को सिद्ध करने के लिए अन्धेरे को काटना जरूरी है। पहचान उसी की उभरती है जो रोशनी की पगडंडी पर चलने का साहस करता है और अन्धेरे को चीर कर बाहर आ जाता है।

'अन्धेरे में सूत्रधार' कविता में प्रताप सहगल का नाटककार सक्रिय रहा है। मंच की शब्दावली का सुन्दर प्रयोग इस कविता में हुआ है–मंच, स्पॉट लाइट्स, नाटक, सूत्रधार, दर्शक दीर्घा, नेपथ्य, विदूषक आदि अनेक शब्द हैं जो कविता को नया अर्थ देते हैं–'दर्शक-दीर्घा और नेपथ्य के बीच/अन्धेरे में डूबा मंच है/ और सूत्रधार खुद अन्धेरे में खड़ा/नाटक के सूत्र खोज रहा है।' प्रत्येक रचना

में यह स्थिति आती है। व्यक्ति की सही पहचान भी इन स्थितियों से गुजर कर ही पकड़ में आती है।

इसी संग्रह के 'प्रतिच्छाया' खण्ड में विश्वमोहन तिवारी की पारदर्शियों को देखकर जो भाव कवि-मन में उभरे, उन्हें ही सहगल ने अपनी कविताओं में व्यक्त किया है। ये कविताएँ हमें पारदर्शियों के संसार तक ले जाना चाहती हैं। ऐसी कविताएं प्रायः रेखाचित्र के करीब हो जाती हैं। कविता पारदर्शी के दृश्य या वस्तु के बिंब को हमारे सामने रखने का प्रयास करती है। कविता के साथ पारदर्शियां नहीं हैं, इसलिए यह कहना सम्भव नहीं कि पारदर्शियां अच्छी हैं या कविताएँ। इन कविताओं को इसलिए कविता के रूप में ही देखना उचित है। जब हम उन्हें कविता के रूप में ही देखते है तो पारदर्शी की प्रतिच्छाया के रूप में इनके चित्रण की बात करना व्यर्थ हो जाता है। कवि को इस प्रसंग को ही नहीं उठाना चाहिए था। 'आजादी का सिर', 'आकाश चित्र', 'देह भाषा', 'स्वप्नजीवी', 'एक फूल से बातचीत' आदि इस खण्ड की अच्छी कविताएँ हैं। ये कविताएँ निश्चित रूप से पारदर्शियों की अपेक्षा कहीं गहरा अर्थ देती हैं। 'अंधेरे की चादर से घिरे/इस आदमी को पहचानो' इन कविताओं में भी अन्धेरा उभरता है। लगता है, कवि पर अन्धेरा हावी है—कवि ने अपने चारों ओर फैले अन्धेरे को पहचान लिया है। व्यक्ति को वह उसके बाहर लाना चाहता है।

रोशनी का फैलाव होते भी व्यक्ति अन्धकार से ग्रस्त है। शायद वह अन्धेरे में ही रहना चाहता है। उससे बाहर निकलने से वह डरता है। आदमी का उस अन्धेरे में होना या न होना एक ही अर्थ का द्योतक है क्योंकि ऐसा आदमी हिल-डुल नहीं सकता—अपना अस्तित्व या अपनी पहचान नहीं बना सकता— 'वह, अन्धेरे में लिपटा रहा/ जैसे अन्तहीन काले कम्बल में/ लिपटा हो एक ताबूत' शायद यही था उसका अस्तित्व। अन्धेरे में लिपटा व्यक्ति यदि हिले, चले या खड़ा हो जाए तब भी स्थिति वही रहेगी क्योंकि—'हिलना, खड़ा होना और चलना/ मात्र क्रियाएँ हों/ तो कैसे होगी घटना।' कवि स्वीकारता है कि अन्धेरे के सैलाब को काटना कठिन है, पर अपने वजूद को सिद्ध करने के लिए अन्धेरे को काटना जरूरी है।

सवाल अब भी मौजूद है संग्रह में इसी शीर्षक से एक लम्बी कविता है। 'आदिम आग' में लम्बी कविता तो नहीं है पर 'अलग-अलग होने के बावजूद' संकलन में एक अन्य लम्बी कविता का पहला खण्ड 'प्रेम-प्रसंग' शीर्षक से प्रकाश में आया है। इसी कविता का दूसरा खण्ड 'गगनांचल' पत्रिका में 'मौसम की दस्तक' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। **अन्धेरे में देखना** संग्रह में कवि की एक अन्य लम्बी कविता 'बूचड़खाना' है। इन लम्बी कविताओं पर अलग से विचार करने की आवश्यकता है। 'सवाल अब भी मौजूद है' लम्बी कविता का नायक है हरिया। जैसे-जैसे हरिया बड़ा होता है, अनेक प्रश्न उसके दिमाग में उछलते हैं। बचपन से ही उसने निर्धनता, अभाव और भूख को देखा और सहा है। वह समझ गया है कि 'भूख सिर्फ लगती ही नहीं/तोड़ती भी है।' तभी तो—'वह लगाने लगा है प्रश्न-चिह्न /परम्परा के सामने/मां-बाप के सामने /ईश्वर के सामने /एक-एक करके प्रश्न बढ़ते गये/ और कोई भी जुटा नहीं पाया सामर्थ्य /जो काट सके इन प्रश्नों को।' ये प्रश्न उसके पिता या पूर्वजों के मस्तिष्क में जरूर उभरे होंगे, पर ईश्वर और परम्परा की ओट लेकर उन्होंने इन प्रश्नों को दबा दिया था। हरिया भाग्य और नियति को स्थिति का कारण नहीं समझता। उसने गांव ही नहीं, शहर भी देखा है। स्कूल भी देखा है। शहर और स्कूल ने उसके मस्तिष्क के कपाटों को खोला है। इसी कारण उसके तर्क अकाट्य हैं। वह स्थिति का सामना करने का संकल्प लेता है। ये सवाल क्या हैं जो हरिया को मथ रहे हैं— 'ये गाड़ियां किन लोगों की हैं/ कौन लोग सफर करते हैं हवाई जहाज में /कौन तोड़ते हैं मकान।' इन सभी से वह जूझना चाहता है। वे इस स्थिति में कैसे पहुंचे, इस सच्चाई को जानना चाहता है। इन सवालों से जूझते हुए हरिया के मन में ऐसा ही बनने का भाव भी घर कर जाता है।

कवि धीरे-धीरे विभिन्न परिस्थितियों के सामने हरिया को खड़ा करता है। हरिया के निरपराध पिता को जब पुलिस ने पीटा था तो उसे लगा था—'पुलिस और कसाई में सिर्फ वर्दी का फर्क है।' विभिन्न स्थितियों से हरिया का साक्षात्कार कवि विशेष उद्देश्य से करवाता है। वह उसके अन्दर की आग को भड़काना चाहता है—'उसने फैसला किया कि एक दिन/ वह पुलिस स्टेशन को आग लगा देगा।' हरिया की भूख के साथ लड़ाई प्रारम्भ हो जाती है। वह 'साइकल पर सवार हो कभी बेचता है संतरे/कभी सेब और कभी किताबें ।' फिर एक फैक्टरी के बाहर वह कुलचे-छोले बेचने लगता है। उसके बाद उसे एक फैक्टरी में नौकरी मिल जाती है और वह— 'चलाने लगा मशीनें/सुनने लगा फोरमैन की झिड़कियां/ पीने लगा बीड़ी और देखने लगा लड़कियाँ।' स्पष्ट है, 'वह युवावस्था की दहलीज पर खड़ा है। इस छोटी-सी आयु में हरिया ने दुनिया देख ली है। उसके अनुभवों का विस्तार हुआ है। विद्रोह का भाव बचपन से ही उसके मन में पनप रहा

है। आमूल परिवर्तन का भाव धीरे-धीरे जोर पकड़ने लगता है।

फैक्टरी में काम करते वह मालिक को रोज कार में आते-जाते देखता है, अब— 'सवाल यह पैदा हुआ कि यह आदमी/गाड़ी पर क्यों आता है।' हरिया ने मार्क्स को नहीं पढ़ा। उसने जीवन में जो देखा है या अनुभव किया है, वह उसी के आधार पर सोचता और निर्णय लेता है— 'कर्म के बहाने शोषण सदियों से जारी है।' और उसने खुद ही फैसला कर लिया— 'अब लड़ने की मेरी बारी है।' वह जानता है, तभी वह व्यवस्था को झुका सकता है। इसलिए वह मजदूरों का नेता बन जाता है और कुछ ही समय में हरिया— 'नाम नहीं विचार हो गया/ शब्द नहीं अर्थ हो गया।' उसके प्रभाव और शक्ति को व्यवस्था ने भी पहचान लिया।

व्यवस्था से लड़ना सहज नहीं। व्यवस्था काइयां है। वह लोगों को खरीदना, अपने पक्ष में करना, प्रलोभन देना और तोड़ना जानती है। हरिया के साथ भी ऐसा ही होता है। व्यवस्था ने 'हरिया को/ मिल की हालत सुधार कमेटी का अध्यक्ष बना कर अध्ययन करने के लिए जर्मनी भेज दिया।' उसके सामने एक नया अध्याय खुल गया जिसकी उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी। व्यवस्था नहीं चाहती थी कि वह शीघ्र वापस आए इसलिए उसे एक देश से दूसरे में उलझाए रखा गया। अब मजदूर हरिया होटलों में रहता था और बढ़िया शराब पीता था। विरोध, विद्रोह और मजदूरों के सुधार की सभी योजनाएँ बर्फ में लग गई— 'जो सवाल कभी उसने उठाये थे/ उनकी तह पर तह जमा कर/ ऊपर खुद बैठ गया/ वह अब नहीं उठाता/ मजदूरों की हिस्सेदारी का सवाल/ न ही करने देता है उन्हें हड़ताल/चुपचाप शराब पीता है।' हरिया का रूप वही हो जाता है जो मिल मालिक का है। वह चंद सुविधाओं के लिए उन्हीं के हाथ का खिलौना बन जाता है।

यह लम्बी कविता स्वार्थी और भ्रष्ट लोगों की दास्तान हमारे सामने रखती है। शोषण के खिलाफ आवाज उठाने वाले लोग छोटी-छोटी सुविधाओं के लिए खुद को बेच देते हैं। अन्त में जब चेतते है तो बहुत देर हो चुकी होती है।

हरिया या कुछ अन्य कविताओं का 'मैं' सवालों से जूझता तो है, पर यह टकराहट, यह संघर्ष और इन्हीं के संघातों से उभरने वाला आक्रोश और विद्रोह का स्वर टकराकर टूटता है—तोड़ता नहीं। विचार और विचार को क्रियान्वित करना—दोनों में अन्तर है। केवल विचार से परिवर्तन संभव नहीं। परिवर्तन तभी आता है जब विचार को क्रिया का जामा पहनाया जाए।

'सवाल अब भी मौजूद है' की तुलना में दूसरी लम्बी कविता कमजोर है। यह महीपाल की कथा कहती है जिसका जन्म आजादी से पहले हुआ था, पर देश-विभाजन के समय उसे अपने गांव को छोड़ अपने माता-पिता के साथ जान बचाकर भागना पड़ा था। कविता महीपाल के दुख, व्यथा तथा कष्टों का तो वर्णन करती है, पर तनाव कहीं गहराती नहीं है। [illegible] स्थिति मर्म को नहीं छूती। कविता का प्रथम खण्ड 'प्रेम-प्रसंग' महीपाल के जन्म, शरणार्थी के रूप में भारत आने और पुष्पा के साथ प्रेम-प्रसंग में समाप्त हो जाता है। कविता में वर्णन अधिक है। यही प्रेम-प्रसंग 'मौसम की दस्तक' में आगे बढ़ता है। पुष्पा की स्मृति अभी मिटी नहीं है। वह भोली की ओर आकर्षित होता है, पर पुष्पा का अस्तित्व कौंध कर सामने आ जाता है— 'कौंध में पुष्पा के यौवन की गंध थी/ उस गंध के साथ ही एक कसक'। पुष्पा के विचार को 'अपने गले से उतार' महीपाल, भोली के ठंडे हाथों को थाम लेता है। महीपाल सोचता है— 'प्रेम तो देना है/लेना नहीं।' पर भोली के प्रति आकर्षण प्रेम विषयक सभी मूल्योंधारणाओं को त्यागने के लिए विवश कर देता है। यह ऐसी स्थिति थी जहां महीपाल के अन्तर्द्वंद्व को उभारा जा सकता था, तनाव की स्थिति को पैदा किया जा सकता था। पर महीपाल स्थितियों को बड़ा 'लाइटली' लेता है— 'कोई किसी के लिए नहीं मरता/ किसी के प्रेम में पागल होकर/मरने का तो प्रश्न ही निरर्थक है।' महीपाल के लिए 'प्रेम....सुख भोगने का एक औजार है।' महीपाल के इस कथन से लगता है कि वह प्रेम और वासना में अन्तर नहीं कर पा रहा। पुष्पा या भोली के प्रति आकर्षण में प्रेम का नहीं, वासना का भाव है। इस लम्बी कविता के माध्यम से कवि किस आदर्श या मूल्य की स्थापना करना चाहता है, स्पष्ट नहीं हो पाता।

कवि ने लम्बी कविताओं की रचना एक बहाव में की है, मोह के वशीभूत। लम्बी कविता के लिए जिस तनाव, अनुभव की परिपक्वता, शब्दों की पकड़ तथा गहराई की आवश्यकता होती है, वह सहगल की लम्बी कविताओं में नहीं है। 'बूचड़खाना' कविता के साथ भी ऐसा ही हुआ है। इसमें भी विवरण अधिक है। कविता के कुछ अंश अच्छे बन पड़े हैं पर अपनी समग्रता में कविता गहरा प्रभाव नहीं डाल पाती।

अन्त में कविता की भाषा पर दो शब्द कहना अनुचित नहीं होगा। समकालीन कवियों के समक्ष भाषा की समस्या है। इसे वे स्वीकार भी करते हैं। वे शब्द के अर्थ को विस्तार देना चाहते हैं। परम्परागत भाषा उनके विचारों-भावों को वहन करने में असमर्थ है। 'बयान' में भाषा की कठिनाई को अनुभव करते हुए प्रताप सहगल ने लिखा है— 'लड़ाई है शब्दों से जो अर्थ ढोने से इन्कार कर देते हैं।' कवि चाहता है— 'नये सिरे से/शब्दों से हम/अर्थ लगाएँ।' कवि जानता है— 'शब्द की सत्ता की पहचान/सिर्फ नाद से नहीं होती / होता है हर शब्द के पास/ अपना एक प्रभा भाल।' इस प्रभा भाल को पहचानने की आवश्यकता है। शब्द की तलाश करते हुए अनेक भाव-विचार जो मन-मस्तिष्क में कौंध रहे होते हैं, आकार नहीं ले पाते। उन्हें आकार देने के लिए कवि शब्दों से, भाषा से जूझता है। शब्दों को नया अर्थ

देता है, नई भाषा को गढ़ता है— तोड़ सकते हो/ तो तोड़ो शब्द/ टूट कर गिरेगा शब्द/ तभी गूंजेगा अर्थ/ खनखनाहट के साथ।'

'बयान' में कवि की रचना-प्रक्रिया सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण बातें भी सामने आई हैं जो कवि को समझने में सहायक हो सकती हैं। मन-मस्तिष्क में— 'कहीं कुछ कौंध जाता है।' कवि उसे ही लिपिबद्ध करने का प्रयास करता है। इससे स्पष्ट है कि कवि कविता को भावनात्मक प्रवाह स्वीकारता है। पर कवि इस कौंध को पूरी तरह लिपिबद्ध नहीं कर पाता। क्योंकि— 'जब तक कलम कागज हाथ में आये और दिमाग पर घिरे आकार उन पर छपने लगें तभी दिमाग से हाथ तक की यात्रा में कहीं कुछ फिसल जाता है।'

अर्थ-विस्तार या अर्थ-गाम्भीर्य के लिए कवि पौराणिक बिम्बों का खुलकर प्रयोग करता है। नचिकेता, द्रोण, एकलव्य, अभिमन्यु, युधिष्ठिर आदि कवि को प्रिय हैं। 'प्रेम-प्रसंग' में— 'इसी बीच चौथा भाई आया/और महीपाल युधिष्ठिर हो गया' पंक्ति में 'युधिष्ठिर' का प्रयोग सार्थक नहीं कहा जा सकता। युधिष्ठिर जैसे व्यापक अर्थ वाले शब्द को भी यहां सीमित कर दिया गया है। धर्मराज, सत्यवादी, आदर्श के प्रतीक युधिष्ठिर का प्रयोग मात्र इसलिए किया गया है कि महीपाल भी पांच भाइयों में बड़ा है। महीपाल अपने भाइयों के साथ अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध आवाज नहीं उठाता। उसमें ऐसा कोई गुण नहीं है जिससे उसे युधिष्ठिर के समान माना जा सके। इसके विपरीत 'पट-परिवर्तन' में कवि ने युधिष्ठिर का सार्थक प्रयोग किया है। यहां कवि वर्तमान सत्ता तथा उसकी नीतियों पर गहरा प्रहार करता है—उसके खोखलेपन पर तीखा व्यंग्य करता है— 'हे युधिष्ठिर! अब तुम्हें क्या कहूं/ आज होते/ तो सदाचार समिति के अध्यक्ष होते/ साधु समाज के बनते संरक्षक' और 'तुम्हारी प्रतिमा चौराहे पर स्थापित की जाती और लोग तुम्हें पूजते।'

प्रताप सहगल की कुछ कविताएँ बिल्कुल सपाट लगती हैं। पहले पाठ में प्रभावित भी नहीं करतीं। पर कविता को दूसरी या तीसरी बार पढ़ने पर ये सपाट कविताएँ भी अर्थसम्पन्न तथा नई भंगिमाओं के साथ सामने आने लगती है। दूसरे कविता-संग्रह में सपाटता कहीं अधिक है। भावों या विचारों का गुंफन इनमें नहीं है। कविता की पहली शर्त है कि वह अनेक अर्थछवियों तथा सम्भावनाओं के साथ सामने आए। तीसरे संग्रह की कविताएं इस दृष्टि से अधिक परिपक्व हैं। यहां कविता के साधारण शब्द भी कहीं गहरे जाकर मर्म को छूने लगते हैं और पाठक उनमें डूबने-खोने लगता है। प्रताप सहगल की भाषा कहीं भी कृत्रिम नहीं लगती। भाषा सहज-सरल तथा स्वाभाविक है, इसी कारण मिठास युक्त भी।

6/15, अशोक नगर, नयी दिल्ली - 110018

डॉ. ए.जी. खान

भारतीय आंग्ल साहित्य में दलित समस्या

जब दलित आंदोलन ने महाराष्ट्र में बल पकड़ा तो मराठी भाषा में आक्रोश व व्यथा को व्यक्त करने वाली रचनाओं का सिलसिला जारी हो गया। धीरे-धीरे यह दौर अन्य भाषाओं में भी आया, पर इनका दायरा सीमित रहा। अतः पूरे देश में या फिर विश्व में उनके प्रति जनमत जागृत नहीं हो पाया। हाल ही में प्रकाशित दो अंग्रेजी उपन्यासों ने पूरे संसार में धूम मचा दी है और इन्हें सराहा भी गया है। इन दोनों रचनाओं में दलित दमन की दास्तान बड़े विस्तार से रेखांकित की गई है। पुरस्कार और सराहना के कारण अब यह व्यथा संसार की कई भाषाओं के माध्यम से और इन पर बनने वाली फिल्मों के द्वारा जग तक पहुँच जाएगी।

मशहूर उर्दू शायर फैज अहमद फैज ने संघर्षशील शोषितों की भावनाओं व संकल्प को व्यक्त करते हुए कहा थाः—

'यूँ ही हमेशा से उलझती रहती है जुल्म से खल्क
न उनकी रस्म नई है न अपनी रीत नई
यूँ ही हमेशा खिलाये है, हमने आग में फूल
न उनकी हार नई है न अपनी जीत नई''

और अंततः आज दलित समाज इस स्थिति में आ गया है कि अपनी जीत को सहेजना प्रारंभ करे।

अंग्रेजी भाषा में दलितों के दमन के प्रति सबसे पहले ध्यान आकृष्ट कराया था डा. मुल्कराज आनन्द ने अपनी अमर कृति **'दि अनटचेबल'** द्वारा। सारे संसार में 50 से अधिक भाषाओं में अनूदित यह रचना आनन्द जी ने महात्मा गांधी के आश्रम में रहते हुए लिखी थी और बाद में भी वे जनचेतना उभारने का काम निरंतर करते रहे। उसी तारतम्य में राजाराव के उपन्यास 'कांतापुरा' में भी शोषितों के प्रति गांधी जी की सहानुभूति को रेखांकित किया गया।

जब दलित आंदोलन ने महाराष्ट्र में बल पकड़ा तो मराठी भाषा में आक्रोश व व्यथा को व्यक्त करने वाली रचनाओं का सिलसिला जारी हो गया। धीरे-धीरे यह दौर अन्य भाषाओं में भी आया, पर इनका दायरा सीमित रहा। अतः पूरे देश में या फिर विश्व में उनके प्रति जनमत जागृत नहीं हो पाया। इस दिशा में सार्थक प्रयास किया अर्जुन डांगने ने जिन्होंने अंग्रेजी में तीन पुस्तकों का संपादन किया— (1) **'नो एंट्री फार द सन'** (2) **'होमलेस इन माइ टाउन'** और (3) **कार्प्स इन द वेल,** क्रमशः कविता, कहानियों एवं मार्मिक व्यथा-कथाओं के द्वारा ये कृतियां शोषण व अत्याचार की कहानी सारे संसार में पहुँचा पाई क्योंकि इनका प्रकाशन अंतर्राष्ट्रीय संस्था ओरियंट लौंगमैन्स ने किया था।

इसी बीच जब अपने अमेरिका-प्रवास की अवधि में स्व. दया पवार दलित चेतना जागृत करने में सफल हो गए तो उनकी प्रेरणा से भारत में आकर इलीनर जेअलट नामक महिला ने मराठी रचनाओं का अनुवाद किया जो डा. आनन्द व इलीनर के संयुक्त संपादन में **'एंथोलॉजी आफ दलित पोएट्री'** के रूप में प्रकाशित हुआ। फिलहाल यह पुस्तक भारत में उपलब्ध नहीं है। इस पुस्तक में 14वीं शताब्दी के संत कवि चोखामेला, 19वीं सदी के गोपाल बाबू वागणकर एवं पागा बांदाले के साहसिक प्रयास संकलित हैं तो मराठवाड़ा विश्वविद्यालय के नामकरण से जुड़े संघर्ष-स्वर भी विद्यमान हैं। मीरा बँसोड़े, ज्योति लांजेवार, अनुराधा गौरव, मीना लोंढे जैसी कवयित्रियों की रचनाएं हैं तो दलित पैंथर नामदेव ढसाल, जे.वी.पवार, अरुण कामले व अर्जुन डांगने का आक्रोश भी गरजता है।

हाल ही में प्रकाशित दो उपन्यासों ने पूरे संसार में धूम मचा दी है और इन्हें सराहा भी गया है। इन दोनों रचनाओं में दलित दमन की दास्तान बड़े विस्तार से रेखांकित की गई है। पुरस्कार और सराहना के कारण अब यह व्यथा संसार की कई भाषाओं के माध्यम से और इन पर बनने वाली फिल्मों के द्वारा जग तक पहुँच जाएगी।

शुरुआत की जाए इसी अक्टूबर माह में ख्याति-प्राप्त बुकर पुरस्कार से प्रतिष्ठित अरुंधती राय के उपन्यास **'दि गॉड आफ स्माल थिंग्स'** से। अपनी तमाम शैक्षणिक उपलब्धियों के बावजूद केरल जैसे प्रगतिशील राज्य में भी दलित समस्या मौजूद है, यह जानकारी इस उपन्यास से उजागर होती है। धर्म-परिवर्तन कर सीरियाई ईसाई बन जाने पर दलितों के भाग्य नहीं संवरते क्योंकि सवर्ण हिन्दू धर्मांतर के बाद सवर्ण ईसाई बन गए और दलित हिन्दू धर्मांतर के बाद दलित ईसाई बने रहे। (यही व्यथा डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह ने अपने नवीनतम उपन्यास **'मुखड़ा क्या देखे'** में बयान की है।) भेदभाव

उसी तरह से जारी रहता है। लिहाजा सवर्णों का चर्च भी अलग और पादरी भी, उसी तरह दलितों का अपना चर्च और अपने बिशप। 'परवन' समुदाय के व्यक्ति सड़क पर चलते समय अपने हाथों में झाड़ू रखने पर बाध्य थे, ताकि जैसे ही उनका सामना किसी सवर्ण से हो, वे उल्टे पांव लौट जाएं और लौटते समय अपने पैरों के निशान मिटाते जाएं। यह करना इसलिए जरूरी था कि कहीं उन निशानों पर किसी सवर्ण के पैर न पड़ जाएं और वह अपवित्र न हो जाए। अछूत मजदूरों की दरें सवर्ण मजदूरों से कम रखी जाती थीं, लिहाजा जब एक विशेष पात्र को उसके असाधारण कौशल के लिए कुछ अधिक मजदूरी देने की व्यवस्था की गई तो यह श्रमिक आंदोलन का मुद्दा बन गया।। दुःख की बात तो यह है कि कम्युनिस्ट पार्टी एक ओर तो धर्म को अफीम मानकर धिक्कारती है, वहीं दूसरी ओर वह सामाजिक विद्वेष को बरकरार रखने पर मजबूर भी है ताकि राजनीतिक या सामाजिक वर्ग संघर्ष जातीय/धार्मिक वर्ण संघर्ष में न बदल जाए और यथास्थिति बरकरार रहे।

रचना की नायिका एक विद्रोही ईसाई महिला है जिसने एक बंगाली हिन्दू से शादी करके अपना संघर्ष प्रारंभ किया। शराबी पति से तंग आकर वह अपने दो बच्चों के साथ वापस मायके चली आती है और यहां पर उसका अवैध संबंध एक अछूत श्रमिक से हो जाता है। यह श्रमिक वेलुता कई कौशल जानता है और साथ ही कम्युनिस्ट पार्टी का कार्डधारी सक्रिय सदस्य भी है। अहसानों के बोझ से दबा उसका पिता जब मालकिन को इस अवैध संबंध की जानकारी देता है तो परिवार अपना सम्मान बचाने के लिए पुलिस की शरण लेता है। पुलिस का दारोगा स्वयं ईसाई है लिहाजा ज्यादा गहराई में जाए बगैर ही अपना दस्ता भेजता है। यह दस्ता अत्यन्त निर्ममतापूर्वक पीटकर उसे अधमरी हालत में थाने में ले आता है। यहां बच्चों से तफतीश करने पर पता चलता है कि दर्ज कराई गई रपट झूठी है और कार्डधारी सदस्य की निर्मम पिटाई करने के परिणामस्वरूप कम्युनिस्ट सरकार दारोगा को बर्खास्त भी कर सकती है। लिहाजा तुरत-फुरत मासूम बच्चों को बरगलाकर उस मरणासन्न व्यक्ति के खिलाफ अपहरण का आरोप लगवा दिया जाता है। वह बेचारा उसी रात में मर भी जाता है। यह रचना हमें संदेश देती है कि धर्मपरिवर्तन भी दलित समस्या का समाधान नहीं है क्योंकि व्यवस्था में तो कोई बदलाव नहीं आता बल्कि धर्म-परिवर्तन के कारण हरिजन अपने पहले के संवैधानिक अधिकारों से भी वंचित हो जाते हैं। दूसरी बात कि वर्ग-संघर्ष को बरकरार रखने में ही कम्युनिज्म की भलाई है क्योंकि अगर सचमुच समानता आ गई तो कम्युनिस्ट अपना औचित्य खो बैठेंगे।

दूसरा उपन्यास कनाडा में बसे भारतीय मूल के पारसी लेखक रोहिण्टन मिस्त्री का **'ए फाइन बैलेंस'** है। लेखक को इससे पहले 1992 में उपन्यास 'सच ए लांग जर्नी' पर कनाडा सरकार का 'गवर्नर जनरल अवार्ड' मिला था। इसके बाद वाले उपन्यास पर 1996 के 'गवर्नर जनरल अवार्ड' के साथ-साथ 'कामनवेल्थ प्राइज' भी मिला। इस उपन्यास में एक दलित परिवार के सदस्यों के साथ आपातकाल में घटी दमनात्मक कार्यवाहियों का लोमहर्षक चित्रण है जिसमें परिवार के सदस्य जिन्दा जला दिए जाते हैं, स्त्रियां बलात्कार की शिकार होती हैं और पलायन कर भागने वाले चाचा-भतीजे ईश्वर व ओमप्रकाश बम्बई आकर भी पुलिस आतंक से बच नहीं पाते। उनका अपराध मात्र इतना ही था कि ठाकुर व उनके गुर्गों के दिए शराब, साड़ियों के प्रलोभन को ठुकरा कर वे अपना वोट खुद डालने का दुःसाहस दिखाते हैं। चमड़ा कमाने के पुश्तैनी धंधे की बजाय टेलर मास्टर बन बैठते हैं। बम्बई से भागकर गांव आने पर दुबारा उत्पीड़न शुरू होता है। चुनाव जीतकर ठाकुर माफिया-संरक्षक हो जाता है। लिहाजा पुलिस और डाक्टर की मिलीभगत कुंवारे की नसबंदी करा देती है। बम्बई की जेल उन्हें अपंग बनाकर भगा देती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि अपंग भिखारी होने पर भी उनमें जिजीविषा है जबकि मध्यमवर्गीय परिवार का शिक्षित नायक मध्यपूर्व से लौटकर अपने दो परिचितों की यह दुर्दशा देखकर इतना उद्विग्न हो जाता है कि रेलगाड़ी के सामने कूदकर आत्महत्या कर लेता है।

दोनों उपन्यासों में बुजुर्ग यथास्थिति बनाए रखने का आग्रह करते हैं ताकि अत्याचार की विभीषिका से बचा जा सके क्योंकि उन्होंने अपने बुजुर्गों के साथ गू से सनी चप्पल मुंह में भरने का उत्पीड़न देखा था, औरत की अस्मत को लुटते देखा था।

यह संक्षिप्त परिचय देने का उद्देश्य यह था कि अंग्रेजी में लिख रहे भारतीय रचनाकार संसार को इस गफलत से उबारना चाहते हैं कि भारत में सब कुछ हरा ही हरा है। ये रचनाएं विदेशों में मान्यता और पुरस्कार इसलिए पा रही हैं कि इनमें उस कड़वी सच्चाई के दर्शन हैं जिसे सरकारी ढिंढोरची छुपाए रखते हैं। दलितों की वेदना से विश्व अवगत हो रहा है, यह एक अच्छा संकेत है। यह तथ्य स्वीकार करना जरूरी है कि—

> ''भूख से रिरियाती हुई फैली हथेली का नाम 'दया' है
> और भूख से
> तनी हुई मुट्ठी का नाम
> नक्सलबाड़ी है'' (धूमिल)

लिहाजा दलित समाज को दया नहीं, अधिकार चाहिए। साहित्य यह चेतना जगाने का कार्य करता है। विभिन्न दलित अकादमियां यदि इन पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद प्रकाशन का बीड़ा उठाएं और भारतीय रचनाओं के अंग्रेजी अनुवाद का प्रयास करें तो दलित साहित्य को विश्वमान्यता मिल सकती है।

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन—456010

डॉ. कृष्ण चन्द्र गुप्त

चिन्तन और समीक्षा के विशाल वटवृक्ष : डॉ. रामविलास शर्मा

डॉ. शर्मा हिन्दी आलोचना के शीर्षस्थ और सक्रिय व्यक्तित्व हैं। पिछले पांच दशकों से उनके प्रखर वैचारिकता से युक्त युगान्तरकारी चिन्तन-मनन ने साहित्य ही नहीं, भाषाविज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र में भी हलचल पैदा की है। मार्क्सवाद, आर्यों के मूल स्थान तथा वेदादि के विषय में अपने मौलिक चिन्तन से उन्होंने इतिहासकारों, दार्शनिकों, विचारकों और समाजशास्त्रियों को भी आन्दोलित किया है।

आखिरकार डॉ. रामविलास शर्मा से मिलना हो ही गया। पिछले कई वर्ष से मिलने की इच्छा तीव्र होती जा रही थी। इस इच्छा के पीछे कई कारण थे।

डॉ. शर्मा हिन्दी आलोचना के शीर्षस्थ और सक्रिय व्यक्तित्व है। पिछले पांच दशकों से उनके प्रखर वैचारिकता से युक्त युगान्तरकारी चिन्तन-मनन ने साहित्य ही नहीं, भाषाविज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र में भी हलचल पैदा की है। मार्क्सवाद, आर्यों के मूल स्थान तथा वेदादि के विषय में अपने मौलिक चिन्तन से उन्होंने इतिहासकारों, दार्शनिकों, विचारकों और समाजशास्त्रियों को भी आन्दोलित किया है। भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, शुक्लजी, निराला, हिन्दी नवजागरण, हिन्दी जातीयता विषयक उनकी स्थापनाओं ने भी ठहरे हुए वैचारिक जगत में हलचल मचाई है।

निराला विषयक उनका लेखन तो अद्भुत है ही, इस अर्थ में कि साहित्य साधना (भाग-एक) हिन्दी की निर्विवाद श्रेष्ठतम जीवनी है। इसका दूसरा भाग हिन्दी की सर्वाधिक गम्भीर, तलस्पर्शी, तटस्थ, विस्तृत, सूक्ष्म विवेचना है, जिसे तत्कालीन सामाजिक, दार्शनिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक सन्दर्भों में प्रस्तुत किया गया है। इधर उनके पत्र, संस्मण और आत्मकथात्मक लेखन 'अपनी धरती : अपने लोग' ने नया कीर्तिमान स्थापित किया है।

ऐसे व्यक्तित्व से मिले बिना मुझे कुछ अधूरापम लगता था। कहीं आशंका भी थी क्योंकि वे अत्यन्त व्यस्तता के कारण सभा-सम्मेलनों में नहीं जाते जब तक कि अपरिहार्य ही न हो जाए। भूमिका या पुस्तक-समीक्षा, सम्मति-लेखन, औपचारिक बैठकबाजी और टिप्पणीबाजी से भी बचते हैं। उन्होंने अपने को योजनाबद्ध रूप से गम्भीर और सार्थक लेखन-मनन में पूर्णतः लगा लिया है।

इनके अलावा कुछ निजी कारण भी थे।

आज के अर्थप्रधान युग में, व्यावसायिकता, जोड़तोड़, पुरस्कार-सम्मान झपटने के माहौल में डॉ. शर्मा ने पुरस्कार की धनराशि अस्वीकार की है, सम्मान लिया है। राशि को यह कहकर ठुकरा दिया है कि हिन्दी प्रदेशों में साक्षरता बहुत कम है, वहां हिन्दी के नाम पर पुरस्कार या सम्मान-राशि लेना उन्हें अनुचित लगता है। कई लाख रुपयों के अनेक पुरस्कार उन्होंने अस्वीकार कर दिए हैं। यहां वे मुझे ज्याँ पॉल सार्त्र की परम्परा में लगते हैं, जिन्होंने नोबल पुरस्कार आलू के बोरे के समान समझकर ठुकरा दिया था क्योंकि उन्हें यह साहित्यकार या विचारक की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण लगता था।

इसके अलावा हिन्दी जातीयता के आधार पर हिन्दी प्रदेशों के एकीकरण विषयक उनकी धारणा की व्यावहारिकता पर भी उनसे बात करना चाहता था। जहाँ हिन्दी प्रदेशों के विभाजन की मांग अनेक कारणों से जोर पकड़ती जा रही है वहां भारत के आधे से अधिक भू-भाग और जनसंख्या वाले हिन्दी प्रदेशों के एकीकरण की क्या तुक है?

डॉ. शर्मा ने कहा—हिन्दी प्रदेश सबसे अधिक पिछड़े हुए हैं। आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से अन्य प्रदेश इनका शोषण करते हैं। जब तक इनका संगठन नहीं होगा तब तक इनकी सर्वांगीण उन्नति नहीं हो सकती।

मैंने कहा—कहाँ तो छोटे प्रदेशों की अवधारणा और कहां आधे से अधिक भारत और भारतीयों का एक प्रदेश। प्रशासनिक दृष्टि से अव्यावहारिक।

डॉ. शर्मा—केन्द्रीय सरकार है कि नहीं, प्रदेशीय सरकारों में तालमेल और विदेशी संबंधों आदि के लिए? अब भी तो कमिश्नरियां हैं, इनका गठन आंचलिकता के आधार पर हो और उन सबका एक संघ बने। अब भी तो इतने हिन्दी प्रदेशों में विधान मंडल, सचिवालय, राज्यपाल, हाईकोर्ट और दुनिया भर के आयोग और निगम हैं।

आज के राजनीतिक माहौल में क्षेत्रीय नेताओं की सुरसामुख जैसी महत्त्वाकांक्षा के रहते मुझे यह सम्भव नहीं लगा, भले डॉ. शर्मा को धारणा इस दृष्टि से तर्कसंगत हो। हिन्दी के प्रयोग पर उन्होंने कहा—

जब तक विदेशी पूंजी है, विदेशी भाषा का वर्चस्व रहेगा। विदेशी पूंजी

को निकालिए या नियन्त्रित कीजिए। वहीं से विदेशी संस्कृति का प्रदूषण आ रहा है। आज चीन में भी वही अमेरिकी अपसंस्कृति अपना भोगविलासवादी मीठा जहर फैला रही है। मैं यह नहीं कहता कि चरखा-तकली चलाओ। अपने देश का औद्योगिक तन्त्र है, जिसे आज बहुराष्ट्रीय कम्पनियां निगलती जा रही हैं या उसे अपना दलाल या गुमाश्ता बनाती जा रही हैं। इसका विरोध होना चाहिए, जो जन-संगठन के बिना सम्भव नहीं होगा। भाषण, लेख, सम्मेलन या प्रस्तावों से यह काम नहीं होगा। जमीन का बंटवारा हो भूमिहीनों में, भोगविलास की सामग्री के उत्पादन और आयात पर रोक लगे, वरना आर्थिक गुलामी हमें राजनीतिक उपनिवेश बनाकर अधिक घातक सिद्ध होगी।

डॉ. शर्मा ने 'राम की शक्ति-पूजा' में विभीषण के उद्‌बोधन में उसकी राज्य-लिप्सा बताई है अनेक प्रसंगों में।

मैं ने कहा—विभीषण की लोकमानस में छवि है लंका ढहानेवाले घर के भेदी की। लगता है, वही आपके मन में भी है। वरना विभीषण को क्या कष्ट था निजी स्तर पर। वह तो नैतिक और राजनैतिक दृष्टि से अपने वंश को भावी विनाश से बचाने के लिए रावण से सीता लौटाने को कहता है। उक्त उद्‌बोधन में सीता-मुक्ति ही प्रमुख है जिसके कारण वह राम को प्रताड़ना की सीमा तक उद्वेलित करता है। क्या यह उसकी सदाशयता के प्रति अन्याय नहीं है?

डॉ. शर्मा—विभीषण के व्यक्तित्व के महिमा-मंडन के पीछे तुलसी की रामभक्ति है। फिर 'राम की शक्ति-पूजा' में विभीषण राज्य-लिप्सा से प्रेरित होकर ही "मैं भला लंकपति धिक् राघव धिक्। धिक्। धिक्।" कहता है। उसका अपना स्वार्थ ही यह कहलवाता है। राम के प्रति सहानुभूति जामवन्त में है।

मैंने कहा—जितना विभीषण को मालूम था उसके अनुसार वह राम को उद्‌बुद्ध करता है—

"तुम फेर रहे हो पीठ हो रहा जब जय रण
कितना श्रम हुआ व्यर्थ, आया जब मिलन समय,
तुम खींच रहे हो हस्त जानकी से निर्दय"

जामवन्त जैसी मेधा उसकी नहीं है लेकिन उसकी नीयत में संदेह करना मुझे उचित नहीं लगता।

डॉ. शर्मा—'राम की शक्ति-पूजा' में ऐसा ही है, आपको भले ही न लगता हो।

बड़े धैर्य, तर्क और सहनशीलता से डॉ. साहब ने अपने बात कही। उनसे यह संवाद मेरे लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा क्योंकि प्रायः इस शिखर पर पहुंचे व्यक्ति प्रवचन की मुद्रा धारण कर लेते हैं, असहमति व्यक्त करने पर प्रायः उखड़ जाते हैं, विवाद की स्थिति आ जाती है लेकिन डॉ. शर्मा के साथ ऐसा नहीं हुआ। उनके अध्ययन-मनन और दृष्टि की निर्भ्रान्तता सहज ही आकृष्ट करती है। जो उन्हें तर्कसंगत, वांछनीय, सार्थक लगता है, उसका मुक्त कंठ से समर्थन और जो अशुभ, तर्कहीन, अवांछनीय, उसका खंडन। और उस खंडन को हास्य, व्यंग्य, कटूक्ति, वक्रोक्ति इतना तीक्ष्ण और मारक बना देती है कि इनके आघात को संभालना आसान नहीं होता।

डॉ. शर्मा ने यह भी कहा कि भारतीय साहित्य की भूमिका के रूप में संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला और स्थापत्य का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से बड़ा योगदान है—सबसे अधिक संगीत का। उसका सामंतीय अंश निकाल देने पर भी बहुत कुछ बचता है, जो हमारे बहुधर्मी, बहुभाषी, बहुजातीय, वर्गों में विभाजित समाज में सौमनस्य स्थापित कर सकता है। भारतीय एकता संस्कृति के माध्यम से ही संभव है, साहित्य-कला-संगीत के माध्यम से विशेष रूप से। राजनीति, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा और प्रादेशिकता इसमें बाधक ही बनती है संकीर्णता, कर्मकाण्ड, महत्त्वाकांक्षा या सर्वश्रेष्ठ की ग्रंथि के कारण।

> **जब तक विदेशी पूंजी है, विदेशी भाषा का वर्चस्व रहेगा। विदेशी पूंजी को निकालिए या नियन्त्रित कीजिए। वहीं से विदेशी संस्कृति का प्रदूषण आ रहा है। आज चीन में भी वही अमेरिकी अपसंस्कृति अपना खोगविलासवादी मीठा जहर फैला रही है। मैं यह नहीं कहता कि चरखा-तकली चलाओ। अपने देश का औद्योगिक तन्त्र है, जिसे आज बहुराष्ट्रीय कम्पनियां निगलती जा रही हैं या उसे अपना दलाल या गुमाश्ता बनाती जा रही हैं। इसका विरोध होना चाहिए, जो जन-संगठन के बिना सम्भव नहीं होगा।**

हिन्दी भाषा और साहित्य, हिन्दी भाषाभाषी जाति की धारणा, भारत की प्राचीन परम्परा के पुनर्मूल्यांकन, प्राचीन से लेकर अधुनातन साहित्य और दर्शन के उज्ज्वल एवं कल्याणकारी पक्षों के विवेचन एवं संपोषण में डॉ. शर्मा ने अनेक नए-पुराने विचारकों से निरन्तर और कड़ी टक्कर ली है और दी भी है।

पाँच दशक से अधिक से सक्रिय इस अबाध अनथक सारस्वत यात्री को इतने आत्मीय वातावरण में इतने सहज रूप से देखना एक ऐसा अनुभव है जिसे भुलाया तो जा ही नहीं सकता, बल्कि उसके आलोक में अपनी सृजनात्मक यात्रा का भी पथ प्रशस्त किया जा सकता है।

व्यक्तित्व का यह स्पर्श पुलकित और प्रेरित किए बिना नहीं रह सकता।

186/12, आर्यपुरी, मुजफ्फरनगर-251001

सतसिंह सेखों

बच्चे

भय से रहित कोई नहीं। हम सभी के मन में किसी-न-किसी तरह का भय है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। जैसे-जैसे समझ आती है, कुछ भय दूर हो जाते हैं। बच्चे अबोध होते हैं इसलिए उनके मन में कई काल्पनिक भय भी होते हैं। यहां तक कि वे अन्धेरे तथा छायाओं से भी डरते हैं। बच्चों के मन में कुछ डर उनके माता-पिता भी पैदा कर देते हैं।

तो वे भय से निजात पाने को कैसे-कैसे मौलिक उपाय खोज निकालते हैं।

लगभग बीस साल पहले की बात है। मैं सात साल का था। और मेरी बहन ग्यारह साल की। हमारे खेत घर से लगभग एक मील की दूरी पर थे। इन दोनों के बीच से एक राजमार्ग निकलता था जिससे कबायलियों, पठानों और बलोचों का आना-जाना होता था। हम सब बच्चे जो कि कबायलियों और बलोचों से बहुत डरते थे, इस सड़क से किसी बड़े के साथ के बिना नहीं निकलते थे। मुश्किल यह थी कि हमें दिन में एक या दो बार खेत में बापू और उनके कामगारों के लिए खाना देने ज़रूर जाना पड़ता था। ऐसे में हमारी दशा एक भयावह घाटी से गुज़रने जैसी होती थी।

हम आम तौर पर घर से तो बड़े उत्साह, बड़े हौसले के साथ निकल पड़ते थे पर जब सड़क एक-आध फर्लांग की दूरी पर रह जाती तो हम रुककर खड़े हो जाते और नहर पार करने से पहले इधर-उधर ताकने लगते ताकि गांव से आता हुआ कोई बड़ा आदमी दिख जाए तो उसके साथ का सहारा लेकर सड़क पार कर जाएँ, यानी किसी तिनके के सहारे इस भय-सागर से पार उतरने की तरकीब सोचते थे।

हमारी मज़हबी मानसिकता भी कुछ ऐसी थी कि भय हमारे स्वभाव की आवश्यक प्रवृत्ति बन गया था। हम अपने बुजुर्गों से नरक-स्वर्ग की कहानियां रोज़ शाम को सुना करते। स्वर्ग तो हमें अपने खेल-खिलौनों से बाहर कहीं कम ही दिखाई देता था पर हां, नरक की तो कहीं कमी न थी। सबसे बड़ा नरक मदरसा था और किसी दिन उससे जान छूटती तो खेत में बापू को रोटी देने जाने का नरक सामने खड़ा हो जाता। यह समझो कि हमारे बचपन की हर राह के हर मोड़ पर नरक मौजूद था। पता नहीं शायद इस सड़क का भय-सागर पार करने के कारण हमें खेत पर जाना नरक लगता था या कि इस सड़क को पार करना ही सागर पार करने जैसा लगता था, मैं इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकता। यह मुझे पता है कि खेत स्वर्ग था और खेत पर बापू के लिए रोटी लेकर जाने का सारा परिश्रम नरक था और वह राजमार्ग पार करने का भय हमारे लिए सागर पार करने के समान था।

जाड़े के दिन थे। हम दोनों बहन-भाई बापू की रोटी लेकर खेत की तरफ चल पड़े। सुहावनी धूप खिली थी। चलते-चलते हम उस धूप की हल्की गरमाहट का आनंद ले रहे थे, परन्तु अन्तःमन में सड़क पार करने का भय हमें चूहे की तरह कुतर रहा था।

हमने डर को भगाने का एक आम-सा तरीका अपनाया। बहन
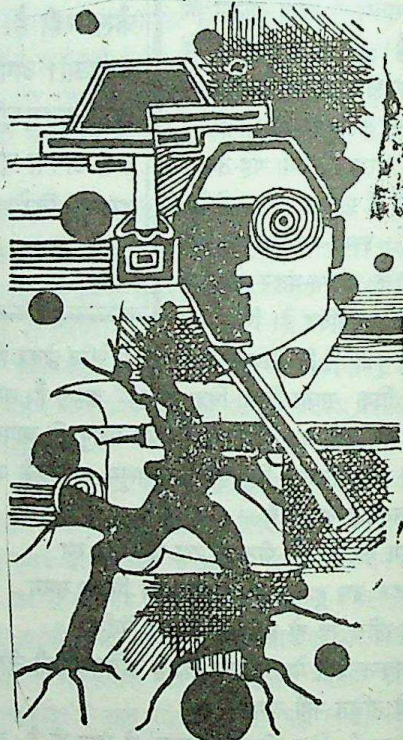
मुझे कहानी सुनाने लगी, "एक था राजा। उसकी रानी मर गई। मरने से पहले उसने राजा को कहा, 'तुम मुझे एक वचन दो।' राजा ने पूछा, 'क्या?' "

मैंने कहानी से ध्यान हटाकर गांव से आने वाले रास्ते को देखा कि शायद कोई गांव से खेत की तरफ जाने वाला आदमी आता दिखाई दे।

"तुम सुन नहीं रहे हो, वीर!" बहन ने मेरा कंधा झिंझोड़ कर पूछा।

"नहीं, मैं सुन रहा हूँ...तुम कहो...।" मैंने भाइयों वाली गुस्ताखी के साथ कहा।

"हां फिर जब रानी मरने लगी तो उसने राजा को बुला कर कहा– 'तुम मुझे एक वचन दो।'

'क्या?' राजा ने पूछा।

'तुम दूसरा ब्याह नहीं करोगे' रानी ने कहा।

"अरे हां, मैं तो बताना भूल गई, उसके दो बच्चे थे–एक लड़का और एक लड़की।"

हमें अपने मां-बाप राजा और रानी जैसे लगते थे। अगर हमारी मां मरने लगे तो वह भी हमारे बापू से ऐसा ही वचन लेगी–यह सोच कहीं मेरे और मेरी बहन के मन में अचेतन रूप से काम कर रही होगी। मुझे अपनी बहन उस रानी की बेटी लग रही थी और वह बेटा मैं खुद।

मेरी बहन की निगाहें गांव से आने वाले रास्ते पर टिकी हुई थीं। मैंने कहा, "अब आगे सुना न!" मैंने उसे पहली बार झुंझलाहट के साथ कहा था।

"सौतेली मां मेरे बेटे और बेटी को दुख देगी..." बहन ने सयानी मां की तरह ममता-भरे स्वर में यह बात कही कि इसलिए रानी ने राजा से वह वचन मांगा।

"तो क्या रानी न मरती अगर राजा वचन न देता?" मैंने बहन से पूछा।

"हूं....।" बहन ने सिर हिलाया।

हम दोनों को ही पता था कि दिन में कहानियां सुनने और सुनाने वाले रास्ता भूल जाते हैं (ग्रामीण समाज में यह धारणा प्रचलित है) पर हम दोनों ही चुप रहे और दोनों में से किसी ने भी एक दूसरे को यह बात याद नहीं दिलाई और न ही इस विचार का अपने ऊपर कोई प्रभाव पड़ने दिया।

"पर राजे ने जल्दी ही दूसरा ब्याह करवा लिया।"

"हूँ...।"

हम दोनों ने मुड़कर गांव से आने वाले रास्ते को देखा। एक आदमी आता हुआ दिखाई दिया। हमने चैन की सांस ली और रुक कर उसका इंतजार करने लगे। हमारी कहानी भी रुक गई पर वह आदमी कहीं और जा रहा था। वह हमारी तरफ आने से पहले ही दूसरे रास्ते पर मुड़ गया।

जिस काम को पूरा करने के लिए हमने यह कहानी शुरू की थी वह पूरा न हुआ। हमें लगा था कि कहानी सुनते-सुनाते हम सहज ही सड़क पार कर जाएंगे पर अब जबकि सड़क सिर्फ कुछ ही गज पर रह गई थी तो हमारी कहानी भी ठिठक कर रुक गई और किसी बड़े साथी के आने की आस भी टूट गई। हम दोनों सहम कर खड़े हो गए।

हौसला करके हम करीब दस-बारह कदम और आगे बढ़े होंगे कि हमारा डर और बढ़ गया। हमने देखा–सड़क के एक किनारे पठानों जैसी पोशाक पहने एक आदमी लेटा हुआ था।

"वह देख दीदी! एक पठान..." आधा-अधूरा वाक्य ही मैं बोल पाया था। उस आदमी ने करवट बदली।

"यह तो हिलता है, जग रहा है....अब क्या करें?" मेरी बहन

ने सहम कर कहा।

"यह हमें पकड़ लेगा...कहीं ले जाएगा," मैंने कहा

"और क्या?..." उसने जवाब दिया।

हम रात में घर से बाहर कम ही निकलते थे, पर यह सुना हुआ था कि अगर डर लगे तो वाहिगुरु को याद करना चाहिए, डर अपने आप भाग जाता है। हमारी मां ने यह बात हमारे मामा की एक कहानी सुनाकर हमें कही थी। एक बार मेरे मामा और और गांव का एक ब्राह्मण कहीं जा रहे थे। रास्ता गांव के श्मशान से होकर निकलता था। मामा और ब्राह्मण जब श्मशान से निकल रहे थे तो उनके ऊपर अंगारे बरसने लगे। ब्राह्मण ने हमारे मामा से पूछा, 'अब क्या करें?'

उसने कहा, 'पंडित जी! रब्ब का नाम लो, बला टल जाएगी।' हमारा मामा वाहिगुरु-वाहिगुरु जपने लगा और पंडित राम-राम रटने लगा। फिर क्या था, अंगारे गिरते रहे पर उनसे दूर-दूर। हमें इसके लिए अपने मामा पर बड़ा गर्व था।

इस गाथा को याद करके मैंने बहन से कहा, "हम वाहिगुरु-वाहिगुरु करते हैं।"

"वाहिगुरु से तो सिर्फ भूत-प्रेत ही डरते हैं, आदमी नहीं डरते।" मेरी बहन ने कहा।

मुझे उसकी बात सही लगी। सड़क पर पड़ा पठान तो आदमी था, वह वाहिगुरु से भला क्यों डरने लगा।

"फिर, अब क्या करें?"

हम पांच-सात मिनट सहम कर खड़े रहे। हमें अभी तक यह आस थी कि सड़क के किनारे लेटे हुए इस पठान को डराने वाला कोई आदमी हमारे साथ आ मिलेगा। पर यह आशा पूरी होती दिखाई नहीं देती थी।

हम एक दूसरे के मुंह की तरफ ताकते रहे। मुझे याद है कि हम एक दूसरे के चेहरे में कुछ नहीं ढूंढ सके थे। हमारा साहस, हमारी एकता सब बेकार लगने लगे थे। कुछ पलों की बेबसी में मेरा रोना निकल गया।

मेरी बहन ने अपने पल्लू से मेरे आंसू पोंछते हुए कहा, 'न वीर, रोता क्यों है, देखना गांव से अभी कोई न कोई आदमी आ जाएगा।"

मैं चुप हो गया।

हमने कुछ क़दम सड़क की तरफ़ उठाए पर फिर उतना ही पीछे लौट आए।

फिर मेरी बहन को एक युक्ति सूझी, वह बोली, "हम उस पठान को कहेंगे—हम तो पेमी के बच्चे हैं, हमें न पकड़ना।"

उसके मुंह से 'पेमी' शब्द बहुत रसीला-सा होकर निकलता था। अब जबकि वह मेरी तरफ झुककर मुझे दिलासा दे रही थी, वह एक तरह से खुद ही पेमी बन गई थी।

मेरे दिल को तसल्ली हुई थी। कुछ सुरक्षा-सी महसूस होने लगी थी कि पठान को जब पता चलेगा कि हम तो पेमी के बच्चे हैं तो वह हमें कुछ नहीं कहेगा, हमें पकड़ेगा भी नहीं। 'पेमी' हमारी मां का नाम— हमारा रक्षाकवच।

जिस तरह कांपते हृदय, डगमगाते पैरों से भी आदमी वाहिगुरु या रामनाम का सहारा लेकर श्मशान भूमि के बरसते अंगारों से सुरक्षित निकल जाता है, जैसे हिन्दू गऊ की पूंछ पकड़ कर भवसागर से पार उतर जाता है, हम पेमी का नाम लेकर सड़क से पार निकल गए। वह पठान उसी तरह सड़क के किनारे पड़ा रहा।

मूल पंजाबी से अनुवादः डॉ. कीर्ति केसर

1086/ ई, गोबिंदगढ़, जालन्धर - 144001

हरदर्शन सहगल

लपटें

व्यक्ति खुद को सुरक्षित रखे या इंसानी फर्ज पूरा करे। व्यक्ति अन्दर से इतना डरा हुआ है कि मूक द्रष्टा बनने के सिवाय उसके पास कोई चारा नहीं। पर लियाकत बाबू अपनी इन्सानियत को दबा कर नहीं रख सके। मरते-पिटते व्यक्ति की सहायता के लिए वे आगे बढ़ते हैं।

दो घंटे बीत चुके थे, लियाकत बाबू को घर लौटे हुए। उनकी कनपटी की नसें अब तक भी बज रही थीं—चक-चक। टपकता गर्म लहू। जैसे छुरों का प्रहार उन्हीं पर हुआ हो।

पत्नी से विशेष बात नहीं की। उसको किसी बात की भनक न पड़े, इसलिए बेदिली से खाना तो खा लिया और आदत मुताबिक आराम करने को भी लेट गए। लेकिन जल्द ही बेजारी के आलम में उठ कर आंगन-कमरों के चक्कर लगाने लगे। फिर टैरेस पर जा पहुंचे।

अपने आपसे कहने लगे—उम्रदराज और तजुर्बेकार आदमी वह नहीं होता और न ही यह उम्र और अक्ल का तकाज़ा है कि जो मुंह में आया, अंट-शंट बक दिया। वे अपने पर खीझने लगे। कुछ घंटे पहले अपने सामने देखा सारा दृश्य रह-रहकर साकार होने लगा—चक-चक। मन द्रवित होने लगा—बेचारा। मगर मैं ही क्यों?

बुरा मत देखो। बुरा मत सुनो। बुरा मत बोलो। अगर मैं भी औरों की तरह बुरा न देखता तो काहे को बुरा बोलता और इस वक्त शायद मेरी हालत दूसरी तरह की होती। खैर, अब उम्र के शुरूआती दौर से निजात पानी होगी और हौसला बुलंद रखना होगा।

लियाकत बाबू ने अपनी कनपटियों पर दोनों हथेलियों का दबाव डाला—चक-चक।

—तो गलती कहाँ पर हुई। झूठ कहाँ बोला। अपनी आंखों के सामने जो कुछ भी, दूर से देखा था उसे साफगोई से बयान भर कर दिया था। बस। क्या बुरा किया। किसी को जानता नहीं हूँ। अब भी किसी को पहचान नहीं सकता। निष्पक्ष, निष्कलंक।

—कैसे सह सकता था, उस बेबस इंसान की चीख को जो एकाएक सरेबाज़ार तीन-चार जनों द्वारा जकड़ लिया गया था। उसकी निरीह चीखों को सुन कर अंगुलियां कानों में चली गई थीं। फिर भी दूर से, हाय मार डाला, बचाओ, कोई बचा लो, की गुहार सुनाई देती रही थी। मगर कौन बचाता? मैं भी कहां बचा पाया? खटाक-खटाक दुकानों के शटर बंद होने की आवाज़ें—सरपट भाग खड़े होते लोगों की आवाज़ें घोड़ों के टापों जैसी सड़क को हिला रही थीं. टप-टप-टप .....। जब तक नज़दीक पहुँचा, कुछ लोग चाकुओं से लथपथ घायल को खींच ले गए और मारने वाले भी वहाँ से रफूचक्कर।

—बस यही कुछ हुआ था वहां। थोड़ी देर बाद पुलिस की जीप आ पहुँची थी। वहाँ पर कोई नहीं था। अगर कोई था तो महज़ लियाकत बाबू। हाँ, मैं लियाकत बाबू। अपने आपको उम्रदराज़ और तजुर्बेकार कहने वाला। अपने नागरिक कर्तव्य का पालन करने वाला। क्या बुरा किया।

—जो मंज़र आंखों के सामने गुज़रा था, पुलिस को कलमबंद करा दिया। कांपते हाथों से नीचे दस्तखत कर दिए। मुकम्मल पता दर्ज करा दिया। कराना ही था।

—तो घबराहट किस बात की? अपने लंबे कद को तानते, टोपी को उतारते-पहनते आहिस्ता-आहिस्ता कदम उठाते हुए घर पहुँच गए। अब भी उनके कानों में उस कत्ल किए जाते आदमी की चीखें बरकरार थीं, कोई बचाओ। फिर वही—चक-चक।

अब धैर्यपूर्वक फिर से पूरे माहौल का जायज़ा लेना चाह रहे थे। अपने को आश्वस्त कर रहे थे। तसल्ली दे रहे थे। आज तक गुंडों को करीब से नहीं देखा था। पुलिस के नज़दीक नहीं फटके थे। तो क्या हुआ। अपना किसी से क्या लेना-देना। कैसे मुमकिन है—एक तरफ तो सच के पैरोकार बनें, दूसरी तरफ सच से आंखें फेर लें। इस सोच के बावजूद, एक डर, एक दहशत उनको घेरती रही। बुरा हुआ। अच्छा होता, एक घंटा पहले या बाद में घर से निकलते।

टैरेस पर से ही देखा, तीन लड़कों को। गली के मोड़ से पूछते-पूछाते, इधर ही बढ़ आए हैं। उनके मकान के सामने। कोई नहीं बोला। बस इशारे से लियाकत बाबू को नीचे आने को कहा।

पैरों को कांपने से बचाते हुए, लियाकत बाबू सीढ़ियां उतर आए। बाहर गली में आकर गौर किया। तीनों बीस-बाईस साल के मज़बूत कद-काठी के युवक। एक ने सख्त नीले धब्बों वाली पैंट पहन रखी है और चौड़ी बैल्ट कंधे पर झूल रही है। बैल्ट पर मोटे-मोटे नुकीले कील जड़े हुए हैं। वही लड़का सब से पहले, लियाकत बाबू

के एकदम सामने आ खड़ा हुआ। बोला कुछ नहीं। चुपचाप खड़ा, उन्हें घूरता रहा।

दूसरा लड़का देहाती पोशाक पहने था। उसने कुछ झुकते हुए विनम्रता से पूछा–''क्या ऐ ही लियाकत जी रो ठिकानो हो!''

लियाकत बाबू ने जबाब दिया–''जी हां। फरमाइए।''

तीसरा लड़का, इस गरमी में भी लंबे झूलते हुए कोट में था। उसने झट-से जवाब-तलब किया–''तो आप ही लियाकत अली हो।''

लियाकत बाबू ने गरदन के इशारे से हामी भरी, ''हाँ।''

पहले वाला लड़का, अब भी उन्हें उसी अजीब ढंग से घूरे जा रहा था। उसकी लंबी-लंबी मूंछें थीं, होंठों को लपेटे हुए। कंधे से बैल्ट हाथ मे आ गई थी। उसे धीरे-धीरे झुलाने लगा।

लियाकत बाबू उन सबको समझ-परख रहे थे। एक-एक के हाव-भाव और नाटकीयता का जायज़ा ले रहे थे। दिल की धड़कन मामूल पर आ गई थी। इंतज़ार में थे कि अब इन में से कौन मुंह

खोलता है और क्या फरमाइश रखता है। तब उन्हें क्या उत्तर देना होगा, और किस टोन में।

घर में इस वक्त कोई बेटा नहीं था। दोनों ही अपने-अपने ऑफिस गए हुए थे। पत्नी आंगन के पिछवाड़े गेहूँ साफ करने में व्यस्त थी। वे उसे इस प्रत्याशित या अप्रत्याशित स्थिति की झलक से दूर ही रखना चाहते थे। आह बेचारी...सहम जाएगी।

–''क्या खिदमत कर सकता हूँ?'' किसी को भी न बोलता देख आखिरकार उन्होंने ही ज़बान खोली। स्वर यथासंभव नियंत्रित और विनम्र था।
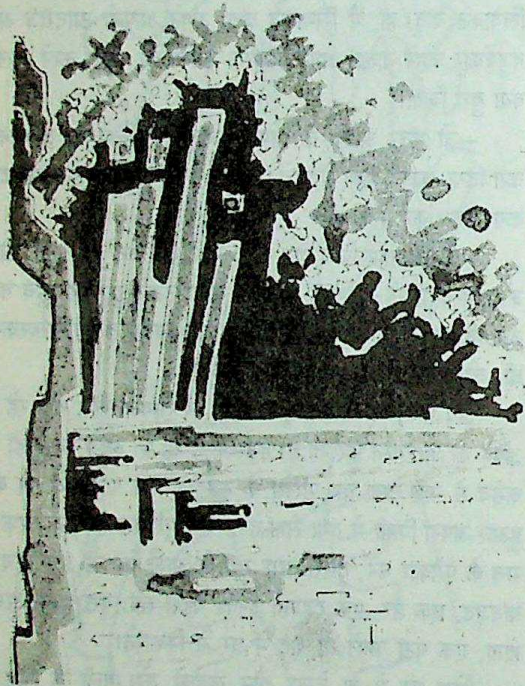
इस पर देहाती वेशभूषा वाला युवक ऐसे बोला जैसे मुद्दत से जान-पहचान हो–''चाचा जी, तो अब हम यह समझ लें कि आप दुश्मन से मिल गए हैं।''

लियाकत बाबू में अब तक काफी दम लौट आया था। उस छोकरे के अजीबोगरीब अंदाज़, जल्दी-जल्दी पलटते रुखोलहजे को देखकर मुस्करा पड़े–''भतीजे, जब रिश्ता ही कायम हो गया तो संकोच कैसा? सब को लेकर बैठक में आ जाओ। वहीं बैठ कर बात करो। वैसे बता दूं, यहां पर नया आया हूं। यहां या कहीं पर मेरा कोई दुश्मन नहीं है।''

–''सच कहते होंगे जनाब। अब तक तो कोई नहीं होगा।'' पहले लड़के ने बैल्ट को अपने होंठों से चूमा–चड़, आवाज़ जैसे होंठों से नहीं, मूंछों से आ रही हो–''मगर यह ज़रूर समझ लें, अगर आपने अपना स्टेटमैंट नहीं बदला तो हम ही आप के दुश्मन हो जाएंगे।''

–''आपको हक है बरखुरदार। मैं फिर भी किसी को अपना दुश्मन नहीं समझूंगा।''

अब कोट वाले युवक को हस्तक्षेप करने का मौका मिला। उसने देहाती वेशभूषा वाले लड़के की तरफ इशारा करते हुए कहा–''अभी लतीफ ने जो रिश्ता कायम किया, वही कायम रहे। कसम खुदा की। आप हम तीनों के ही चाचा बने रहें। आपको किसी तरह की आंच नहीं आने देंगे।''

इससे पूर्व कि लियाकत बाबू कोई प्रतिक्रिया व्यक्त करते, गली में बढ़ती हुई पुलिस जीप की घरघराहट सुनाई दी। बड़ी फुर्ती से तीनों ही लड़के ड्योढ़ी के रास्ते लियाक़त बाबू की बैठक में चले गए।

पुलिस का एक सिपाही, साथ ही कोई इंस्पैक्टर था।

–''आप ही लियाकत अली हैं?''

–''जी हाँ।''

–''आप ही का बयान बाज़ार में दर्ज हुआ था?''

–''बेशक।''

–''आपसे कुछ पूछना है।''

एक बार फिर से लियाकत बाबू के सामने उस रक्तरंजित, बिलखते हुए शख्स का चेहरा साकार हो उठता है–बचाओ। कोई बचा लो....।

थोड़ी देर पहले लड़कों से बातचीत के दौरान वे उसे भूल-से रहे थे। अब फिर से पुलिस का सामना होने पर तड़प-से उठे–''उसका क्या हाल है?''

–''हमें क्या मालूम! किस-किस का ध्यान रखें। अगर वह मर गया तो हमें 325 धारा को बदलना पड़ेगा।'' थोड़ा रुककर सोचते हुए जोड़ा–''फिर धारा 302 लगानी होगी।'' फिर ज़रा रुककर

हां-हूं-हूं की ध्वनियां निकालने लगा। चिमटी वाली तख्ती पर नज़र डालते हुए, जैसे धाराओं में उलझ गया। कौन-कौन सी कितनी धाराएं।

—''बेचारा...'' लियाकत बाबू फुसफुसाए।

—''छोड़िए उसे। क्या आप उसे जानते है?''

—''बिलकुल नहीं।''

—''कोई बात नहीं। उसी केस पर आपसे कुछ सवाल पूछने हैं। सही-सही बताना होगा।''

—''गलत क्यों बताऊंगा?''

—''ज्यादा बनिए नहीं। आपको हमारे साथ थाने चलना होगा,'' गर्म लहजे में एक नर्म लफ़्ज़ जोड़ दिया, ''भाई साहब।''

—''जितना कुछ जानता था, वहीं मौकाए-वारदात पर ही सब बता दिया था...'' लियाकत बाबू थोड़ा अटके, अब वहां पर क्या पूछेंगे।
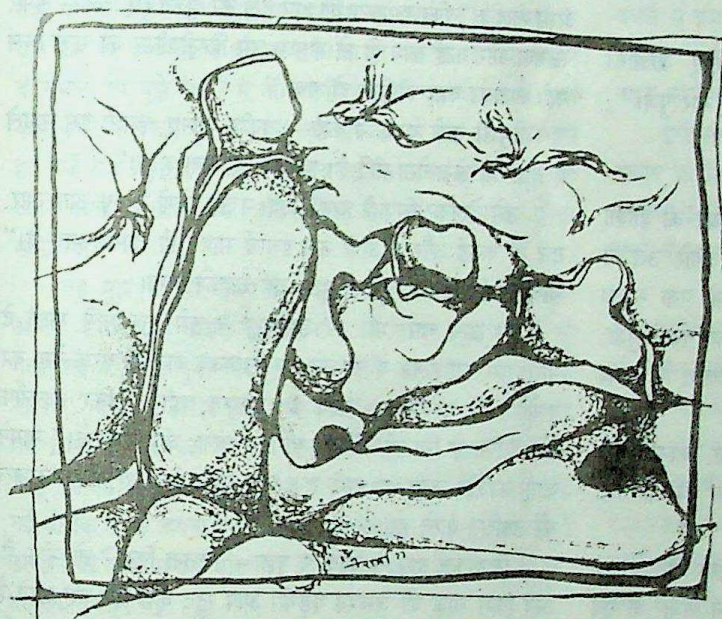
—''यह दस्तखत आप ही के है न?'' इंस्पैक्टर ने तख्ती से कागज़ निकालते हुए उनकी ओर बढ़ा दिया, ''पहचानिए।''

—''जी हां, मेरे ही है।''

—''तो फिर चलिए हमारे साथ।''

गली सुनसान थी। एकदम गर्मी थी। कभी-कभी हवा का कोई झोंका ज़रूर आ जाता था। उसी झोंके के साथ हाथ में झोला लटकाए काकू काजल दिखाई दिए। शायद सब्जी वगैरह लेने जा रहे थे। लंबा कद। काला गठा हुआ जिस्म। छः-आठ महीने पहले पुलिस विभाग से रिश्वत के इलज़ाम में बर्खास्त हुए थे। मुस्कराते हुए सबको हाथ उठा कर अभिवादन करने लगे। फिर लियाकत बाबू को एक तरफ ले गए। लियाकत बाबू ने एक-दो वाक्यों में बात खत्म कर दी और वापस मुड़ने लगे।

—''देखिए,'' काकू काजल ने पूरे आत्मविश्वास से कहा—''घबराइए नहीं। मामुली-सी बात है। हां, प्लीज़ इनसे ज़्यादा उलझिए भी नहीं। जो कुछ मांगते है, देकर अभी पिंड छुड़ाइए। बाद में हम इन्हें सस्पैंड करा देंगे।''

इस नेक सलाह पर ज़्यादा ध्यान दिए बिना कहा—''पहले आप बाज़ार हो आएं।''

काकू काजल मुंह उचकाते हुए चले गए। इंस्पैक्टर ने फिर से आ घेरा—''देखिए, यूं वक्त ज़ाया न कीजिए। बदमाश है साला, और उसकी बातों में मत आइए। आप हमारे साथ चलिए।''

—''किसलिए?''

—''पूरी कार्रवाई तो वहीं इंचार्ज साहब के सामने होनी है।''

—''केस, कार्रवाई, थाना-कचहरी...'' वे बड़बड़ाए। आज तक इनसे साबका नहीं पड़ा था। किसी तरह घबराहट को काबू में कर मज़बूत लहजे में कहा—''इंचार्ज साहब यहां नहीं आ सकते क्या?''

—''ऐसा नहीं होता।'' डपट-भरा स्वर था।

—''नहीं चलूं तो?'' लियाकत बाबू ने सुन रखा था कि दबने से ये लोग ज़्यादा परेशान करते हैं।

—''चलेंगे कैसे नहीं। जितनी बार बुलाएंगे, आपको आना पड़ेगा। फिर कचहरी में भी तो आप ही को गवाही देनी पड़ेगी। आप तो पढ़े-लिखे मालूम होते है।''

—''जो कुछ मेरी तरफ से आपके लोग लिख कर ले गए हैं, वह?''

—''वह महज़ सरसरी तौर पर है। पक्की कार्रवाई तो इंचार्ज साहब के सामने होगी। आप शरीफ आदमी हैं इसीलिए आपको बहुत वक्त दे चुके हैं, भाई साहब। वरना हमारी आँखों से कोई छुप कर जा नहीं सकता। सच-सच बताइए, हमारे यहाँ पहुँचने से पहले कौन लोग आपके पास खड़े थे?''

—''आपके भतीजे।''

—''क्या मज़ाक है भाई साहब?'' इंस्पैक्टर ने इधर-उधर झांकते हुए आश्चर्य प्रकट किया।

लियाकत बाबू ने तटस्थ भाव से उत्तर दिया—''जैसे आपने मुझे ...ई साहब मान लिया, उसी तरह उन्होंने चाचा मान लिया है। इस ...रह वे आपके भी तो भतीजे हुए न।''

—''बुलाइए उन्हें फौरन।'' दोनों एक साथ पूरे तेवर में आ ...ए,''लगता है, आप भी साज़िश में शामिल हैं।''

इतनी देर तक, तीनों ही खिड़की के पल्ले से, सब कुछ सुन रहे ...। एकदम आ प्रकट हुए। आते ही उन दोनों के पाँव छूने लगे—''प्रणाम ...चाचा जी।''

वही लड़का फिर से अपनी कीलदार बैल्ट घुमाने लगा। दूसरे ने अपना कोट उतार दिया। तीसरे ने मूंछों पर ताव देते हुए कहा—''अच्छा अंकल, ज़रा दिखाइए तो इन वाला कागज़।''

पुर्ज़ा तो इंस्पैक्टर के हाथ में ही था, जिसे दिखा-दिखाकर वह लियाकत बाबू को चेतावनी दे रहा था। लड़के ने फौरन पुर्ज़ा झपट लिया। बड़े धैर्य से पढ़ा, फिर चिंदियों में तबदील कर दीवार के सहारे फैंक दिया और उस पर पेशाब करने लगा।

''तुम सबूत नष्ट करने की धारा...धारा में धर लिए जाओगे। धारा...अभी बताता हूँ। हवालदार साहब, ज़रा उठाइए सारे पुर्जे।''

—''मैं तो ब्राह्मण हूँ महाराज। आप ही ज़रा...''

—''शट अप...''

—''विवाद किस बात का?'' एक लड़के ने स्प्रिट की शीशी कागज़ों पर छिड़की और दियासलाई दिखा दी—''वैसे हमारे 'उस' में भी काफी अल्कोहल होता है। अगर आप चाहेंगे तो नया रुक्का लिखवा देंगे। इस बात से आप भी वाकिफ हैं कि वागीश पक्का गुंडा, दस नंबरी, चार सौ बीस है। कई चोरियों और बलात्कारों में उसका नाम आपके यहाँ दर्ज है।''

—''यह एक अलग पहलू है।'' इंस्पैक्टर बोला,''कानून सबूत इकट्ठे कर रहा है। आपके लोगों ने उसकी नाक और कान ही काट डाले।''

—''हाँ, उस जगह से भी छेड़छाड़ कर दी। अब कौन-सा मुंह लेकर किसी लड़की के पास जाएगा साला। उस वक्त बाज़ार के सब लोग खुश-खुश थे। इसीलिए भाग खड़े हुए कि बदमाश को सज़ा मिल रही है। यह चाचा जी तो यहां नए-नए आए हैं। सो भोलेपन की वजह से फँस गए। इनसे क्या। बस इंसानियत। होगा यह किसी के लिए जान का सवाल। किसी के लिए 'केस' और बदला।'' वह तैश में बोले जा रहा था।

लड़के के लंबे भाषण पर सोचते-सोचते लियाकत बाबू की कनपटी फिर से बजने लगी, चक-चक। गिरे कि अभी गिरे। उन्हें लेकर सब जने बैठक में आ गए। कोट वाला लड़का बोला—''चाचा, बेफ़िक्र रहिए। इन साहब लोगों की लड़कियां, यानी हमारी बहनें हमारे ही मकान के आगे से कॉलिज जाती हैं।''

तभी वहां पर बुर्का पहने बेगम आ गई—''इतनी देर से क्या गुफ्तगू चल रही है?'' पुलिस को देखकर बेचारी घबरा रही थी।

लियाकत बाबू थोड़ा संभलकर बेगम को संभालने लगे—''बेगम, ये मेरे स्कूल के पुराने साथी के लड़के जलालुद्दीन हैं।'' उन्होंने सिपाही की तरफ देखते हुए हड़बड़ी में कह दिया—''और ये सब इनके साथी। ज़रा चाय-वाय तो तैयार करो।''

बेगम के वहाँ से हटते ही ध्यान आया, यह क्या बोल गए। अभी थोड़ी देर पहले यह अपने को ब्राह्मण बता रहा था। और ये सब साथी कैसे हुए। निगाह उठाई तो सब मुस्करा रहे थे।

चाय पीते हुए कोट वाला लड़का कह रहा था—''चाचा, आप को रैस्ट की ज़रूरत है। यह तो बड़ी ही मामूली बातें हैं। होती रहती हैं। दरअसल, बदला लेने वाले की मौसी की लड़की से वागीश ने बुरा काम किया था। बजाए कानूनी चक्कर के, हाथोंहाथ उसने अपने साथियों के साथ मिलकर बदला ले डाला। यह सब तो इन लोगों के लिए खेल है।'' फिर इंस्पैक्टर की ओर देख कर झुकते हुए बोला—''हमारे लायक और कोई काम हो तो बताएं। उस हिस्ट्रीशीटर को सज़ा मिल गई। आपका काम आसान हो गया।''

मूंछों वाले युवक ने कहा—''यकीन मानिए, हमारा इस मामले में कुछ भी लेना-देना नहीं है। पर बुरा भी क्या हुआ।''

उसे देखकर सिपाही हंसा—''हा। न उन लोगों ने एफ.आई.आर. दर्ज ही कराई और न अभी तक इंचार्ज साहब ही दफ्तर आए थे।'' चाय को बिस्कुट में डुबाता हुआ वह चहकने लगा।

—''अबे चुप, भो....'' इंस्पैक्टर ने उसे एक भारी गाली दे मारी। पूरा कप हलक में उंडेलते हुए लियाकत बाबू की तरफ देख कर पसोपेश में मुस्कराया—''ठीक है। ज़रूरत पड़ी तो फिर तकलीफ देंगे।'' फिर से सिपाही को डांट मारी—''चलो, जीप चलाओ।'' सामने काकू काजल खड़ा था। सभी एक साथ बाहर हो लिए, काकू काजल को उपेक्षित करते हुए।

लियाकत बाबू से काकू ने पूछा—''कितना दिया? तो ठीक है। अब किस चीज़ की ज़रूरत पड़ेगी। आप खुद कुछ देते हुए डरते हैं तो मुझे दे देना। आपकी तसल्ली के लिए मैं ही उन्हें दे दूंगा। और फिर रंगे हाथों पकड़वा भी दूंगा। फ़िक्र न करें। आपके सारे पैसे वापस मिल जाएंगे। आपने गौर किया। मुझे देखते ही कैसे दुम दबाकर भाग खड़े हुए। हा...हा।'' वह हंसने लगा, ''यह तो इनका हर रोज़ का धंधा है।''

लियाकत बाबू ने माथा पकड़ा। तेज़ी से अंदर आकर दरवाज़ा बंद कर दिया।

बाहर अब भी हंसने की आवाज़ आ रही थी।

5-ई-9 ...सहाय ... कॉलोनी, बीकानेर—334 003

सन्तोष गोयल

सम्भवतः

व्यक्ति अपने निर्णय खुद लेकर स्वयं को स्वतंत्र मानता है। उसे हालात अपनी मुट्ठी में लगने लगते हैं। लेकिन कब वह उनके द्वारा संचालित होने लगता है, क्या वह जान पाता है? और जान पाए भी तो क्या वह कुछ करने के लिए स्वतंत्र होता है?

हांगकांग का बिजनेस संभाल लेने का सुझाव तो बहुत पहले से था किन्तु वहाँ जाकर रहने की व्यवस्था, टिकट, अधिकार व निर्देश पत्र आदि—यानी सब प्रकार से वहाँ का कार्यभार संभाल लेने एवं उसके बिजनेस की साझीदारी के कुछ प्रपत्र मेरे सामने पड़े थे। अपनी कुल स्कीम की सफलता हाथ बढ़ा कर उठा लेने की दूरी पर थी। उसने कहा था कि अन्तर्राष्ट्रीय ड्राइविंग लाइसेंस भी बनवा लूँ ताकि वहाँ पर एक कार की व्यवस्था भी की जा सके। था तो मछली को चारा डालने के समान, पर मुझे क्या? मैं तो अपनी पूर्व-निश्चित योजना के तहत काम करने में सफल रही थी। इस एक सफलता ने मेरा आत्मविश्वास हद दर्जे तक बढ़ा दिया था। लग उठा था कि अब जिन्दगी संभवतः अपने तरीके से ढाल पाऊँ। अपने लिए जीने की कला मुखर होकर सामने थी।

वह मुझ पर मर मिटा है, किसी भी तरह मेरे करीब, और अधिक करीब होना चाहता है—यह तथ्य भी पिछले कुछ महीनों की मुलाकातों से समझ चुकी थी। मुलाकात ...इसे मुलाकात कहा भी जाए या नहीं...यह एक उलझा हुआ प्रश्न है। उलझा हुआ...शब्द तो मानो मेरी जिन्दगी से चिपक गया है, पता नहीं छूट भी पाएगा या नहीं। 'उसे' ही लो। मैं तो दोस्ती के नाम पर 'कॉफी हाउस' में मिलने चली गई थी कि उसने अपनी पत्नी, बच्चे, घर-बीमारी—न जाने किस-किस उलझन की कथा सुनाना शुरू कर दिया और हमारे मिलने में 'सुकून' तलाशने लगा।

उससे मिलने जाना एक प्रतिक्रिया का परिणाम था। मैं जिन्दगी के जिस मोड़ पर आ खड़ी हुई थी, वहाँ कुछ देर और खड़े रहना मुश्किल लग उठा था। जरूरी था कि उस मोड़ से मुड़ कर किसी और राह पर बढ़ लूं। पर सफर क्योंकि अकेलेपन का था, सड़क भी अकेली और अनजान थी, अतः डर रही थी। हिम्मत ही नहीं हो रही थी कि अचानक उसका फोन आ गया था।

आठ वर्ष से भी अधिक...हाँ, शायद आठ-नौ वर्ष पहले ही की तो बात थी जब हम 'अमेरिकन पीस कोर' में साथ-साथ काम करते थे। मुझे स्कूल में पक्की नौकरी मिल गई और साथ छूट गया था। इतने वर्ष बाद उस दिन जब फोन पर उससे बातचीत हुई तभी फैसला कर लिया था कि नई सड़क पर चलने के लिए उसे साथ ले ही लिया जाए। सफर के लिए साथी कुछ बुरा भी न था। फिर उम्र में दस-बारह वर्ष बड़ा...एक प्रकार से अच्छा ही था। एक परिपक्व व्यक्ति का साथ सुरक्षा ही देगा। यूँ तो मैं भी कोई अपरिपक्व बच्ची न थी। दस वर्ष नौकरी करते हो गए थे। पर भावनात्मक स्तर पर इतना टूटी हुई थी कि बच्ची से कम 'बिहेव' नहीं कर रही थी। सोचा—'चलो, एक परिपक्व व्यक्ति....नहीं, 'कलीग' का साथ रहेगा। रास्ता भटक जाने या फिसल पड़ने की स्थिति में कोई संभालने वाला तो होगा।'

इसी सोच के वश उसे साथ चलने की छूट दी गई थी। तब क्या मालूम था कि गलतफहमी बढ़ जाएगी और बात यहाँ तक पहुँच जाएगी। इतनी दूर तक कि वह बारह वर्ष के विवाहित जीवन तथा बच्चे के बन्धन से छूटने को छटपटाने लगेगा।

जिस दिन पहली बार उसका फोन आया था उस दिन की याद आज भी सिहरा देती है। उसी दिन...मैंने वह अहम फैसला सुनाया था। घर भर के लोग हैरान-परेशान-सा विरोध कर रहे थे। सच में, किसी ने भी स्थिति की गम्भीरता को नहीं समझा था। फिर एक बीमार, जीवन से वंचित, लंगड़ी-लूली जिन्दगी वाले व्यक्ति के साथ सारा जीवन व्यतीत करना अकेले जीवनयापन की कठिनाइयों, दुविधाओं एवं शारीरिक व मानसिक यातनाओं से भी अधिक दुःखद हो सकता है, इसे वे सब समझ भी कैसे सकते थे? एक सर्द जिन्दगी जीने का फैसला मैंने अपने दम पर ही तो किया था। फैसला बहुत बड़ा था। सारी जिन्दगी का सवाल था...बल्कि सारी जिन्दगी कैसे जीने जैसा सवाल था। सभी तनावग्रस्त थे, चुप थे, गुम हो आए थे। इतनी गुमसुम चुप्पी कि मुझे लग रहा था, मैं समस्त भरे-पूरे संसार में अकेली पड़ गई हूँ और यह अहसास बहुत जोरों से सालने लगा था। किसी से बात करने की न स्थिति थी, न ही ताकत। माँ के चेहरे की ओर देखूँ सकूँ, यह इच्छा भी नहीं बची थी। टिंकू....मेरी छोटी बहन....जो प्रायः मेरे सभी रहस्यों की भागीदार रही थी, उससे भी बात कर सकूँ, अपने दुःख के दायरे में उसे ले आऊँ, यह भी संभव नहीं हो रहा था।

परिणाम, अपने कमरे में मैं अकेले लेटी रही थी। कान कोई

ाहट सुनने को आतुर थे, पर शरीर नीमबेहोशी की स्थिति में पड़ा ।। अपने फैसले के सम्बन्ध में मन ही मन कोई तर्क-वितर्क करूं, इस थति में नहीं थी कि फोन घनघना उठा। फोन उसी कमरे में था जहाँ लेटी थी। और कोई वक्त होता तो पड़ी रहती किन्तु उस दिन उठा नया।

फोन उसी का था...उसकी आवाज़ सुनकर आश्चर्य तो हुआ, र खुशी भी हुई। मैं, वास्तव में, उस समय सिर्फ ऐसे व्यक्ति से बात रना चाह रही थी जो मेरे फैसले के बारे में कुछ न जानता हो, जो झसे जवाब-तलब न करे, जिसके सामने खुद को गिल्टी न महसूसना ड़े। अतः फोन के माध्यम से ही उसे थाम लिया–

"कैसी हो, पहचान लिया न?"

"हाँ, हाँ, पहचानती क्यों नहीं? कैसे हैं आप?"

"ठीक ही हूँ...इधर 'एक्सपोर्ट' के काम में इतना व्यस्त रहा कि स। पिछले आठ वर्ष जापान, सिंगापुर, हांगकांग के चक्करों में ही ीते। अब की बार कुछ अधिक समय के लिए यहाँ था, पुराने कागज़ टोल रहा था, तुम लोगों के टेलिफोन नम्बर मिल गए तभी..."

"अच्छा...आ....आ, थैंक्यू सो मच"

"थैंक्यू की क्या बात है? तुम्हें तो शिकायत होनी चाहिए।"

"छोड़िए न...शिकायत क्यों? इतने वर्षों बाद तक आपके पुराने कागजात बच रहे तथा टेलिफोन नम्बर मिल गया, फिर आपको याद भी रहा कि फोन किसका है, यही क्या कम है।"

"चलो बाबा। यही सही...कैसी हो, क्या कर रही हो? ढेर-से प्रश्न हैं...अगर बिजी न हो तो कॉफी हाउस आ जाओ। कविता से भी बात हुई थी। उसे भी बुला लेते हैं...थोड़ी गप-शप सही..."

मैं जब तक स्थिति को समझ पाती, सोच पाती कि मुँह से निकल गया–

"ओ.के...कल तीन बजे...ठीक है, तीन बजे फ्री होकर सीधा कॉफी हाउस आ जाऊँगी। कविता से मिलने को भी बहुत मन कर रहा है।" कविता के बारे में मन में ढेर-से प्रश्न कुलबुला रहे थे, पर बोलने का मन न था।

"ठीक है...तो कल मिलते हैं।"

इतनी-सी बातचीत ने ही मुझे थाम लिया था।

"एट लीस्ट आई कैन गो समव्हेयर, विच आई नीडेड वेरी मच.... आखिर घर में घुटती तो नहीं बैठी रहूँगी।" घर के लोगों के व्यवहार ने मुझे तोड़कर रख दिया था या मैंने उन्हें हद दर्जे का तनाव दिया था, इसका निर्णय कौन करेगा?

मैं पुनः बिस्तर पर पसर गई थी। भावों में इतना बिखराव कि समेट पाना कठिन था।

"पर...पर उसने आठ वर्ष बाद भी यह सोचा कैसे कि मैं इसी नम्बर पर मिल जाऊँगी। क्या उसे मेरे विवाह के बारे में नहीं पता है...या फिर उसे सब कुछ पता हो तथा वह मुझ पर ट्रैक रखता रहा है....पर मेरा फैसला....यह तो मैंने आज ही लिया है...महज़ इत्तफाक होगा.....उसने चान्स लिया होगा।" सोचा। मन को तसल्ली मिली।

"किसका फोन था?"

पूछती-पूछती माँ कमरे में आ गई। मै जानती थी, माँ बेचैनी से कमरे के बाहर चक्कर लगा रही होगी। मन इतना बेचैन हो तो बैठा भी तो नहीं जा सकता। फिर माँ की तो यह पुरानी आदत है। अधिक दुविधा, द्वन्द्व तथा बेचैनी की स्थिति में प्रायः घर से बाहर निकल पड़तीं तथा गली के चक्कर लगातीं। उनकी रातों की नींद उड़ जाती जबकि इसके बिल्कुल उलट मैं भूख-प्यास भूल कर अहदियों की तरह बिस्तर पर पड़ी रहती। माँ भीतर आ गईं। मेरे पास बैठ गईं। उनकी आँखों में प्रश्नों का उलझा गुच्छा था।

उन्होंने आशाभरी निगाह मेरे चेहरे पर डाली। मेरी आँखों में क्या लिखा है, जानना चाहा।

"ऐसे ही अम्मी...एक पुरानी परिचिता का है। अमेरिकन पीस कोर में साथ थी।"

परिचित को परिचिता कहकर मन में कुछ चुभा। उसी चुभन को कम करने के लिए कहा, "एक्सपोर्ट के बिजनेस के कारण विदेश में थी। अभी लौटी तो फोन कर लिया...पुरानी डायरी में टेलिफोन नम्बर मिल गया शायद....आप मिली नहीं है उससे।"

माँ के अगले प्रश्नों की कल्पना करते हुए ही सारे उत्तर दे दिए थे।

माँ और मेरे सम्बन्ध अत्यन्त सहज व सरल थे। उनके और मेरे बीच साफगोई थी। याद नहीं पड़ता, कभी झूठ बोला हो। पर उस दिन जाने क्यों...सच बोला ही न गया। इतने करीबी सम्बन्धों के बीच के तन्तु कैसे बदल जाते हैं?

माँ ने एक लम्बी साँस ली। नहीं जानती...यह किस भाव का प्रतीक थी....निराशा, जो इस कारण मिली होगी कि फोन आकाश के घर से नहीं था या फिर सुकून, जो इस कारण मिला होगा कि 'चलो, किसी सहेली से मिलने चली जाएगी। घर में बिस्तर पर पड़ी झींकती तो न रहेगी।'

माँ ने जो भी सोचा हो, पर मेरा मन खाली था। शून्य था मेरे चारों ओर। जैसे जिन्दगी के पहिए अपनी धुरी से उतर कर लुढ़क आए हों। सब कुछ अयथा हो आया था।

माँ को कमरे में आया देख तथा माहौल में कुछ बातचीत का अन्दाज देखकर भैया-भाभी व रिंकू भी कमरे में आ गए। सभी अपने-अपने तनावों से बाहर निकलने की राह ढूँढ रहे थे। और मैं...तो तनी रस्सियों के जाल में फँसी तड़फड़ा रही थी। पहले फैसला करने के लिए तड़पती रही थी और कर लेने के बाद का घोंटू फन्दा मेरे गले में पड़ा

था। घुटती चीखें, दम तोड़ती [illegible] और [illegible] अंधेरा था मेरे चारों ओर।....उसी के बीच वे आवाज़ें भी सुनाई पड़ रहीं थीं।

"अब भई, हमने तो शादी कर दी...यही तो हमारे बस में था ....अब लड़की का भाग्य..."

'कभी-कभी 'मिरेकल' भी तो हो जाते हैं..."

"अब खुद संभाल लेगी....आ गई है संभालने वाली..."

'ईश्वर को यही मंजूर था..."

तथ्य उजागर होते देर न लगी। पुरुषत्वविहीन अपने पुत्र, भाई या देवर को सबने मिल-जुलकर मेरे साथ बाँध दिया था। मैं भौंचक रह गई थी। उन लोगों की पूर्व-निश्चित योजना का भागीदार नहीं बनने का भाव जोर पकड़ने लगा था, पर उससे भी अधिक शिकायत आकाश से थी, जिसने मेरे सारे जीवन को अपने स्वार्थ की अग्नि में होम कर दिया था। यह फैसला वास्तव में तो आकाश तथा उसके परिवार की समस्त योजनाओं को तोड़-फोड़ मसल डालने का था, अब उसका शिकार मैं तथा मेरा परिवार भी हो रहा था। मैं कुछ नहीं कर सकती थी। पिछले तीन महीने के नरक की व्याख्या किस-किस के सामने कर पाती और किन शब्दों में करती?

"पांच बज गए हैं। मम्मी जी...चाय बना लूँ?"

भाभी ने हवा में फैले भारीपन को कम करना चाहा।

"जीजी....आप चाय लेंगी या कॉफी..."

मैं प्रायः कॉफी लेती थी, अतः भाभी ने पूछा था। वे नार्मल होने तथा करने का प्रयत्न कर रही थीं।

"जो सभी लेंगे..." निरपेक्ष बनते हुए मैंने कहा।

मेरे सिर में बहुत दर्द था। कुछ गर्म लेना चाह रही थी। अक्सर कॉफी लेने वाली मैं आज अपने लिए अलग से कुछ बनवाऊँ, न तो हिम्मत, पड़ी न इच्छा हुई। पता नहीं, इधर इन तीन महीनों में कितना कुछ बदल गया था। मैं यहीं, इसी घर में रही हूँ, छोटी-छोटी बात पर, छोटी-छोटी चीज़ों के लिए लड़ी-झगड़ी हूँ, अपनी पसन्द की वस्तु पाने व बनवाने की ज़िद भी करती रही हूँ, प्रायः चाय बनने पर केवल अपने लिए कॉफी की फर्माइश करती रही हूँ, भाभी व रिंकू ने पूरी भी की है....पर आज....आज लगा, सब अधिकार समाप्त हो गए। धागा ही टूट गया। जोड़ने की कोशिश भी करूँ तो क्या जुड़ पाएगा? रिश्तों के धागे तो रेशम की डोरी होते हैं, उन्हें तोड़ दो तो जोड़ पाना मुश्किल। गाँठ लगाओ भी तो फिसल-फिसल जाए।

न भाभी ने कॉफी के लिए इसरार किया, न मैंने कहा। वे चाय बनाने चली गईं तो भैया ने पूछा—

"फोन किसका था?"

'किसी सहेली का था....ये पहले जहाँ काम करै थी न, वहीं की कोई लड़की....." मेरे उत्तर देने से पूर्व ही माँ कह उठी थीं।

भैया ने कुर्सी पास में ही खिसका ली। टेलीफोन की मेज़ के पास बैठ गए। अंगुलियाँ टेलिफ़ोन के डायल पर यूँ ही चलने लगीं। भैया का क्रोध अब कुछ कम हो गया है, यह मैंने कनखियों से देख लिया था। यूँ तो भैया का पास बैठे रहना ही माँ के चेहरे पर तनाव लाने के लिए काफी था। पता नहीं, घर की प्रबन्ध-प्रणाली में यह परिवर्तन कब और कैसे आ गया था। माँ और बाबू जी के समस्त अधिकार भैया की ओर धीरे-धीरे खिसकते चले गए थे। घर के सारे फ़ैसलों की बागडोर भैया के माध्यम से भाभी के हाथ में थी। पता ही नहीं चला कि किस दिन माँ-बाबू जी भैया से डरने लगे। दादी के अनुसार अत्यन्त बोल्ड व निडर माँ तथा बाबू जी अचानक चुप हो आए थे। नाना बताते थे कि माँ अत्यन्त गुस्सैल और दबंग थीं पर अब इतनी दब्बू कैसे हो गई थीं। इसके लिए तो शायद घर का इतिहास, भूगोल व समाजशास्त्र खोलना पड़ेगा....शायद नहीं। आज सब समझ में आ रहा है। भैया से बराबरी से लड़ने वाली मैं भी आज भयभीत थी। माँ के लिए तो जितनी देर भैया घर पर रहते वह वक्त स्वार्ड ऑफ डेमोक्लीज़ की तरह सिर पर लटका रहता। बेचैनी में वे कुछ न कुछ करती रहतीं तथा नार्मल दीखने की प्रक्रिया में 'एबनार्मल' दीखने लगतीं।

"कुछ प्याज की पकौड़ी तल लेना।"

किचन की ओर रुख़ करके भैया ने आवाज़ लगाई। माँ ने एक लम्बी शान्तिभरी सांस ली। भैया भी तनाव को ढील देना चाह रहे थे, अतः बोले—'चलो अच्छा है। थोड़ा घूम-फिर लेगी तो मन बदल जाएगा।"

भैया की इस कैजुअल बातचीत से मन को तसल्ली मिली पर ....परिस्थितियों के वश पतझड़ बना मन बसन्त ढूंढकर भी कहाँ से लाता? असल में, वस्तुएं कभी महत्त्वपूर्ण नहीं होतीं। उनका प्रभाव

अहम होता है। आकाश के घर के लोग...कितनी [illegible] प्रभावशाली रिसेप्शन, कितने आभूषण, साड़ियाँ, लेनदेन....चारों ओर से मेरे भाग्य के कसीदे काढ़ने के शब्द सुन पड़ रहे थे, पर असलियत में तो एक रेगिस्तान मिला था। रेगिस्तान को छोड़ तो आई थी पीछे, पर अब भी क्या है सामने। अब भी रेगिस्तान की धूल के उड़ते बगूलों के बीच ही तो बैठी हूँ। दृश्य वही रहे तो भी क्या, दृष्टि तो संदर्भ के साथ बदल ही जाती है न।

''पता नहीं, यह धूलभरी आँधी के बीच फंसी जिन्दगी निकल भी पाएगी या नहीं, इसी के बीच शायद दम निकल जाए....मेरे साथ यही सब क्यों हुआ, क्यों होता है.....'' यही सोच रही थी कि भाभी चाय ले आई। सब वहीं बैठ गए थे। भाभी के चेहरे का सामना करना मेरे लिए सदा ही मुश्किल रहा है। एक अजब दहशत-भरा व्यक्तित्व था उनका। एक अजीब-सा भाव आँखों में रहता—न दुलार, न प्यार, न सहानुभूति और न ही अजनबीपन। मुझे हमेशा आश्चर्य होता कि इतना भावहीन होकर भी किसी का चेहरा इतना भावपूर्ण हो सकता है। उनके होंठों की कोर पर हमेशा कोई कथन फड़फड़ाता रहता। 'अमेरिकन पीस कोर' के, फिर जर्नलिज़्म और मैनेजमेंट की क्लास के लड़के मित्रों के घर आने तथा उनके साथ मेरे खुले व्यवहार के बदले में जब उन्होंने मेरे लिए 'बिन्दास' शब्द का प्रयोग किया, तब से आज तक उनको लेकर मन में अजब-सा भयावना एहसास जमकर बैठ गया है, निकलने का नाम ही नहीं लेता।

अपने-अपने कोटर में अपनी गर्दनें छिपाए हम सब चाय पीते रहते यदि किशू और नीटू हुड़दंग मचाते भीतर आकर माहौल न बदल देते।

वह और कविता 'कॉफी हाउस' में टेबल घेरे बैठे थे। मैं भी वहाँ 'हैलो, हाय, कैसी हो', कहती हुई एक खुशनुमा दोस्तीभरी मुस्कराहट के बीच से गुज़र कर उनके पास जाकर बैठ गई। देर-देर तक रोते रहने तथा रातोंरात जागते रहने के अनेक चिह्न आँखों से झांक न लें इसलिए काला चश्मा पहने, अतिरिक्त हँसती-खिलखिलाती और गपियाती रही थी।

यह मुलाकात मात्र पिछले बीते वर्षों का अंतराल भरने जैसी थी। तभी उसके एक्सपोर्ट-बिजनेस का पता चला था। पहले ही दिन घर पर 'अगर आपको समाज का भय अधिक सताएगा, तो कहीं बाहर नौकरी का जुगाड़ कर निकल जाने की कोशिश करूँगी' जैसा वाक्य क्रोध व निराशा में बोल चुकी थी। उसके बिजनेस में औरों की जरूरत है, पत्नी की अधिक बीमारी और उदासीनता, मुझमें अधिक दिलचस्पी, जो शायद इसलिए अधिक हुई होगी कि मैं अभी तक अविवाहित थी (उसे मेरे विवाह का शायद पता नहीं चल पाया था)—कुल मिलाकर मेरे सम्मुख कुछ रास्ते खोल रहा था। कविता तो अपने पुत्र-पुत्री-पति व पति की माँ के परिवार में माँ, पत्नी, पुत्रवधू का कर्त्तव्य निभाती अत्यन्त प्रसन्न व सन्तुष्ट अपने में खोई थी। न उसने मेरे क्रियाकलापों और व्यस्तताओं में बहुत दिलचस्पी दिखाई और न ही मेरे पास कहने को बहुत कुछ था।

इधर मेरे व्यक्तित्व में कुछ परिवर्तन आ गया था। एक अजीब-सा 'सैडिस्ट' भाव आने लगा था। दूसरों का दुख आनन्दित करने लगा था बल्कि उन्हें जलाना, रुलाना, तड़पाना...मज़ा आने लगा था। मैं तो ऐसी न थी। क्या मैं दुखी हूँ, इसलिए दूसरे के सुख बर्दाश्त न होते थे? अतः जब उसने अपनी दुखी व अशान्त जिन्दगी की चर्चा के साथ थकी पत्नी तथा बीमार व पोलियोग्रस्त बच्चे तथा घर के मातमी वातावरण का जिक्र करते हुए जिन्दगी से ऊबने तथा संसार से भाग जाने की चर्चा की तो मुझमें न कोई दुख जागा, न अफसोस (उसके लिए) हुआ। यह अलग बात है कि वह कभी भी दोस्तों की उस कैटेगरी में नहीं आया था, जिसमें दोस्त मन के भीतर तक झाँक सकने की छूट पा लेते हैं। यह कारण भी हो सकता है कि वह मेरे मानसिक द्वन्द्व को नहीं पकड़ पाया और मैं भी उसके दुख से निर्लिप्त रही थी।

इधर मेरी व आकाश के अलगाव की लीगल कार्यवाही समाप्त होते न होते घर भर में कुछ उक्तियाँ लुके-छिपे सुनने को मिलने लगी थीं—

''किस्मत में यही होगा....भगवान की यही मरज़ी...''

''शादी-ब्याह तो माथे की लकीरों में लिखे होते है''

''सुख भी किस्मत से मिलता है...भाग्य का खेल है...सब प्रकार से सुखी...माता-पिता, भरापूरा परिवार, धन-सम्पत्ति, सुन्दर, पढ़ी-लिखी, नौकरी करती....बस, यही नहीं मिला....''

फिर यह भी कि ''अभी कौन-सा उम्र निकल गई है...आखिर कोई मोहर थोड़े ही लग गई...फिर दोष भी तो उनका है...दुबारा

विवाह क्यों नहीं कर सकते...आजकल तो सब होता है। जाने कितने ऐसे ही वाक्य। माँ के चेहरे पर एक 'गिल्ट' का भाव जब-तब दीख पड़ता। पर मैं क्या कर सकती थी। उस विवाह की चर्चा ही न करती।

धीरे-धीरे स्थिति के दंश से निरन्तर दंशित होते मन में एक भयावह भाव जनमने लगा था। जायज-नाजायज के तर्क अब मन में नहीं आते थे। अजीब-अजीब योजनाएं मन से सुगबुगाने लगतीं। किसी को देखते ही स्वार्थ के नाग फन उठाने लगते।

उसका मेरे प्रति आकर्षण दिल-लुभावना तो था, पर उससे कुछ नाता न रख, अपने लिए नई राहें खोल सकने की संभावना पर मन विचार करने लगा था। उसके विवाहित जीवन के टूटने या जुड़ने से न मुझे पहले फर्क पड़ता था, न ही आज। हाँ, आज यह दुर्घटना चाल चलने व बाजी जीतने का तह प्यादा साबित हो रही थी जिसे बाद में वज़ीर बनना था और मात देनी थी। पता नहीं...पहले एक...फिर दूसरा धोखा खाना, तीसरे के लिए तैयार रहना या फिर दूसरों को धोखा देने की योजना बनाना—शायद यही मेरी नियति हो गई थी, पर अब यह सब जानने की इच्छा भी न रही थी।

पिछले छः महीनों से उससे मिलने तथा मिलते रहने के पीछे जहाँ एक ओर बोर हो उठी ऊबती शामों के लिए कुछ मनोरंजन ढूंढ लेने का तर्क काम कर रहा था, वहीं नई राहों को खोज निकालने का स्वार्थ भी था। उसका मेरे प्रति बढ़ता आकर्षण मन के भीतर सैकड़ों रोंये खड़े कर देता, उत्तेजित करता और यह उत्तेजना लुभावनी भी लगने लगी थी। उसका लक्ष्य स्पष्ट था...शब्दबद्ध न किए जाने पर भी बहुत से मन्तव्य समझ ही जाते हम....। वह बार-बार समीप आने का प्रयत्न करता और मैं मछली-सा फिसल कर निकल आने लगी थी। ऊपर से अनजान बनना तथा भीतर सब कुछ जानना, एक शानदार खेल था। अभिनय करना अच्छा लगने लगा था। एक नामालूम तरीके से गर्दन को झटका देकर सब कुछ भुला देने की कला में अब मैं परिपक्व हो गई थी।

आज उसने समस्त व्यवस्था की फाइल मेरे हाथ में थमा दी थी। मन में हिलोर उठ रही थीं। प्यादा वज़ीर बन गया था। विजय की गेंद मेरे पाले में आ गई थी। थ्री व्हीलर में बैठी तो बल्लियों उछलते मन के घोड़ों की रास को खींचते-थामते अनेक द्वन्द्व थे, अनेक प्रश्न थे। पक्की सरकारी नौकरी छोड़-छाड़ निकल पड़ने, घर की सुरक्षा-भरे वातावरण से छिटके पत्ते के समान अलग हो जाने, फिर विदेशी अजनबीपन की दहशत....जाने कितने भयावह जाल सामने थे। योजना की सफलता होंठों की कोरों पर झाँक गई थी। पर...संभवतः यह उसकी भी योजना-पूर्ति का पहला पड़ाव हो....यह भी सोचा। सिर ने एक झटका-सा दिया, पता नहीं, शायद स्कूटर झटके से चल पड़ा हो।

3, टीचर्स फ्लैट, मिरांडा हाऊस, दिल्ली - 7

सूरजपाल चौहान

कब आएगा हैरी?

तमाम मानवीय कोमलताएं जब बद्धमूल धारणाओं के रूबरू आती हैं तो किस कदर छिछली साबित होती हैं! शब्द तब पाखंड बनकर रह जाते हैं और सब दावे हवाई किले। ऐसे में कोई हैरी वापस नहीं आता।

यह भी आफत है यार! भला प्रैक्टिकल के बिना एड्वरटाइजिंग पढ़ने की भी कोई तुक है। बस, काले अक्षरों से मारते रहो सिर। पर क्या करें, टॉप फाइव में न रहो तो बस मिल गई अच्छी नौकरी। अब एम.बी.ए. का ढोल गले में टांगा है तो बजाओ।' रवि सीढ़ियों के ऊपर खड़ा-खड़ा सोच रहा था।

"रवि, जल्दी नीचे आ, मैस में भीड़ हो जाएगी। हर समय न जाने किस सोच में डूबा रहता है।" सीढ़ियों के नीचे से आती संजय की आवाज ने रवि की विचार-शृंखला को तोड़ा।

रवि, संजय, विशाल और सेटी—यहाँ तो बस इतना-सा ही परिवार है इनका। एक दूसरे के सुख-दुख के साथी। चंडीगढ़ आए दो वर्ष होने को हैं इन्हें। यूँ तो रवि की कक्षा के सभी हॉस्टलर एक-दूसरे के बहुत करीब हैं, परन्तु ये चारों तो कुछ ज्यादा ही निकट हैं। एक दूसरे के दिल की गहराइयों में क्या छिपा है, चारों को विदित रहता है। एक दूजे की सच्ची साथी यह चौकड़ी पूरी पंजाब यूनिवर्सिटी में दोस्ती की एक मिसाल है।

संजय शर्मा हरिद्वार का रहने वाला है। उसके पिता वहीं के एक कॉलेज में प्रोफेसर हैं। उसका बड़ा भाई लंदन में विदेशी फर्म में उच्च अधिकारी है। संजय के पिता का हरिद्वार में बहुत बड़ा बंगला है। दो-दो कारें बंगले के द्वार पर हमेशा खड़ी रहती हैं। विशाल गुप्ता के पूर्वज तो शताब्दियों पहले उत्तर-प्रदेश के एक छोटे-से गाँव होशियारपुर आए और वहीं के होकर रह गए। विशाल गुप्ता के पिता का भी अपना कारोबार है। उसके पिता सिले-सिलाए वस्त्रों का व्यापार करते हैं। होशियारपुर में उनकी अच्छी-खासी फैक्ट्री है। विशाल से उसके पिता को बहुत उम्मीदें हैं। वे चाहते हैं कि वह एम. बी. ए. कर के उनके व्यापार में हाथ बटाए और वस्त्र-निर्यात के क्षेत्र में नए आयाम स्थापित करे।

'सेटी' असल में सतीन्द्र सिंह का उसके मित्रों द्वारा किया गया अंग्रेजीकरण है। उसके सभी मित्र उसे सेटी कहकर ही पुकारते हैं। यह सेटी बहुत दूर से आया है—सिलिगुड़ी से। पंजाब के रहने वाले सेटी के पिता इंडियन आर्मी में सेवा करते हुए देश के काम आए और उसके बाद उनका परिवार सिलिगुड़ी में ही बस गया।

रवि हिन्दुस्तान के दिल, दिल्ली का रहने वाला है। जीवन में बहुत संघर्ष किया है। उसके पिता कृषि मंत्रालय में क्लर्क हैं। टाइपराइटर की खट-खट और फाइलों में सिर खपाते जीवन का अर्द्धशतक पार कर चुके हैं। उपलब्धियाँ: सिर पर सरकारी फ्लैट की चरमराती छत, पेट में रोटी कम और भूख ज्यादा। महीने भर का ईंधन गृहस्थी की गाड़ी मात्र दस दिन में पी जाती है। शेष रहता है अभावों का विकराल पहाड़।

चार भाई-बहनों में रवि सबसे बड़ा है। बहुत उम्मीदें हैं माँ-बाप को उससे। जाति के अछूत और पैसे से गरीब इस परिवार की सबसे बड़ी चाह है मुट्ठी भर इज्जत। इस सपने को सच करने में रवि ने कोई कसर भी नहीं उठा रखी। चाहे कुछ भी करना पड़े—ट्यूशन पढ़ाने से अखबार बेचने तक। रवि ने जी-जान से खुद को पढ़ाई के लिए समर्पित कर दिया। न तो उसके पास मंहगी किताबें ही थीं और न पढ़ने के लिए पर्याप्त समय। सो वह साथियों से पिछड़ गया।

लम्बी लड़ाई आखिर काम आई। आज रवि सरकारी अनुदान प्राप्त कर देश के सबसे अच्छे संस्थानों में से एक में एम.बी.ए. कर रहा है। इतने लम्बे संघर्ष में बहुत कुछ खोया, बहुत कुछ पाया। मन में धंसकर बैठ गई एक ही बात—'कोटे का हूँ न।' साथी खूब समझते थे उसके बलिदानों से भरे संघर्ष को। कभी कोई चिढ़कर भी रवि को उसके एस.सी. होने के कारण न चिढ़ाता। रवि दिल्ली की प्रदूषित धूल फाँकता जब चंडीगढ़ पहुँचा तो अपने इन साथियों को पाकर घर को जैसे भूल ही गया। एक थाली में खाना, एक साथ पढ़ना, सब कुछ एक साथ। वक्त मरहम लगा रहा था और रवि धीरे-धीरे भूलता जा रहा था, 'कोटे का हूँ न।'

नित्य की भाँति, मैस का बेस्वाद खाना खाकर ये चारों मित्र सायंकाल

टहलने निकल पड़े। पंजाब यूनिवर्सिटी का कैम्पस देश के सबसे सुन्दर कैम्पसों में है। हरियाली से छनकर आती हवा की ठंडक और दूर से नजर आती शिवालिक की पहाड़ियाँ सहसा मन मोह लेती हैं। चारों मित्र चर्चा में खोए हुए थे। सिर पर आ चुकी परीक्षाओं पर बात चल पड़ी। माहौल कुछ बोझिल-सा हो उठा। बोझिल निशब्दता को तोड़ते हुए सेटी बोला–

''यार, ये यूनिवर्सिटी वाले तो हम पर घनघोर अत्याचार करने पर आमादा हैं। शाम को फोन करने वाली बालाओं को देखकर कितना अच्छा लगता था। जान के दुश्मनों ने एस. टी. डी. ही उठवाकर गर्ल्स हॉस्टल में लगवा दी।''

बस, ठहाकों का दौर शुरू हुआ तो थमा नहीं। यूँ ही हँसते-खिलखिलाते चारों मित्र हॉस्टल पहुँच गए। हॉस्टल के बाहर खड़ी चमचमाती यामाहा को देखते ही विशाल खिल उठा और चहककर बोला–

''हैरी आया है।''

संजय का कमरा सबसे पास पड़ता था, सब लोग वहीं जम गए। 'हैरी' भी अंग्रेजीकरण है—हरदेव सिंह का। हैरी विशाल का पुराना व घनिष्ठ मित्र है।

''और सुना हैरी, क्या हाल हैं तेरे?''

'मेरे हाल तो बहुत बुरे हैं भैया। सुबह से शाम तक आफिस के काम से दर-दर भटकना पड़ता है, तभी कहीं से आर्डर मिल पाते हैं। सच यार, बड़ी ही मेहनत का काम है।''

''कैसी बातें करता है हैरी। इतनी बड़ी कम्पनी में इंजीनियर है, मोटी तनख्वाह डकारता है, होम-टाउन में पोस्टिंग है और क्या चाहिए?''

''मोटी तनख्वाह जिस कीमत पर मिलती है, मेरा ही दिल जानता है। अगर पता होता, ऐसी जिंदगी मिलेगी तो कभी इंजीनियरिंग न करता।'' हैरी ने विशाल से कहा।

''अब भैया, ऐरो की शर्ट-टाई और रैंगलर की जींस पहननी हैं तो इतना सहना ही पड़ेगा।''

''क्या फायदा है इस टाई-शर्ट का, जब वो मेरी तरफ देखती तक नहीं। यार विशाल, तू उससे मेरा इन्ट्रोडक्शन कराएगा भी या नहीं?''

अब रवि, संजय और सेटी के चौंकने की बारी थी। विशाल के साथ मिलकर हैरी क्या खिचड़ी पका रहा है, इसका उन्हें कतई अनुमान न था। आँखों में प्रश्न-चिहन लिए तीनों ने विशाल की ओर देखा।

''यार, वो अपनी जूनियर मोनिका....।''

मित्रों के पैरों तले से जमीन खिसक गई। कहाँ हैंडसम हैरी और कहाँ थुल-थुल मोनिका! 'हैरी, तेरा भेजा तो ठीक है, यार तू... वो लड़की तेरे लायक नहीं है।''

''यार, तू समझता क्यों नहीं? तू चाहे तो एक तो क्या हजार लड़कियाँ, एक से बढ़कर एक लड़कियाँ तुझ पर मर मिटें। इंजीनियर है...मोटी तनख्वाह पाता है...तुझे लड़कियों की क्या कमी।''

''नहीं, यह दिल का मामला है। मैंने फैसला कर लिया है, शादी करूँगा तो उसी से वरना उम्र भर कुंवारा बैठा रहूँगा। तुम एक बार बात करवा दो उससे।'' हैरी ने विशाल से प्रार्थना के स्वर में कहा।

हैरी को समझाना अब फिजूल था। उसके दिलोदिमाग पर तो बस मोनिका का भूत सवार था। विशाल ने हैरी के कंधे पर हाथ रखते हुए कहा–

''यार, अब तो तेरे लिए कुछ करना ही पड़ेगा।''

विशाल का आश्वासन पाकर हैरी की बाँछें खिल गईं। विशाल ने उसे मोनिका से एक सप्ताह बाद मुलाकात करवाने का आश्वासन दिया। रात के दस बजे थे। हैरी को वापस पटियाला भी जाना था। विशाल चाहता था कि हैरी आज की रात उसके साथ हॉस्टल में बिताए। उसने हैरी से कहा–

''चल भई हैरी, अब सोने की तैयारी करें।''

''ओ सोना किथ्ये यार, मैं तो चला पटियाले।''

''रात हो गई है और ठंड भी बढ़ चली है। पटियाले पहुँचते-पहुँचते बहुत रात हो जाएगी।''

''नहीं, मैं निकलता हूँ। बस, मेरा काम याद रखना।''

हफ्ते बाद मिलने का वायदा कर हैरी मोटर-साइकिल स्टार्ट कर पटियाला की ओर चल दिया।

''भई, ये तो गया काम से। यदि वो इसे न मिली तो न जाने क्या कर बैठे। अपनी समझ में जितना आया, समझा दिया। यह दिल की लगी का मामला है...।'' विशाल की इस बात पर सभी मित्र
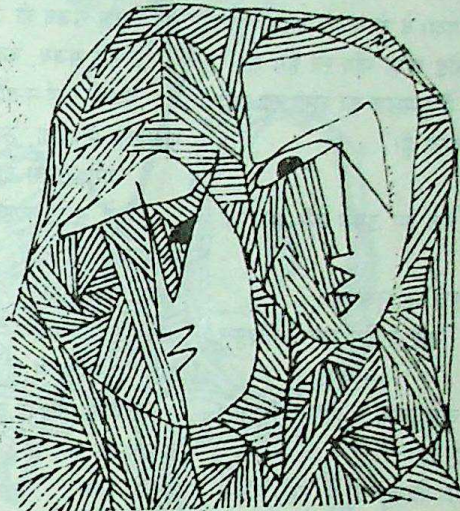
ठहाका लगाकर हँस पड़े।

एक सप्ताह कब गुजर गया, पता ही न चला। पढ़ाई का बोझ, सिर पर मँडराते पेपरों की वजह से बहुत बढ़ गया था। ऊपर से कॉलिज में वार्षिक उत्सव की तैयारी। बात आई-गई हो गई थी। अचानक एक शाम हैरी हॉस्टल में आ धमका।

"यारो, की हाल ए? तुसीं कित्थे पहुँचा दित्ती ए साड्डे इश्क दी गड्डी?"

चारों मित्रों के चेहरों का रंग उड़ गया। वे तो वायदा करके भूल गए थे। कुछ जवाब न बना तो हाथ जोड़ माफी माँग ली हैरी से।

"ओ देख ली तुम्हारी यारी। जब मैं सुसाइड कर लूंगा तब तुम्हें पता चलेगा कि मैं उसे कितना प्यार करता हूँ।"

"हैरी, सॉरी यार।"

"कान खोल कर सुन लो, जब तक तुम उससे मेरी बात नहीं कराते, मैं खाना नहीं खाऊँगा।"

चारों मित्र उलझन में थे। बात बहुत बढ़ चुकी थी।

"अब तो कुछ करना ही पड़ेगा।" सेटी ने धीमे स्वर में विशाल से कहा।

"हाँ यारो, अब तो हम चारों को कुछ करना ही होगा।" विशाल ने संजय और रवि की ओर देखते हुए कहा।

"चारों नहीं, तुम तीनों। मैं इस गोरख-धंधे में नहीं फँसना चाहता।" रवि ने कहा।

"यार कैसा गोरख-धंधा? हम कोई गड़बड़ करेंगे भला।"

"लेकिन फिर भी...।"

"अरे, छोड़ लेकिन-वेकिन को, हमें तो सिर्फ इतना ही पता करना है कि मोनिका किस तरह की लड़की है। कहीं उसका किसी से कोई चक्कर-वक्कर तो नहीं चल रहा।" विशाल ने अपनी बात आगे बढ़ाते रवि से फिर कहा—

"कहीं हैरी गलत जगह न फंस जाए। आजकल हालात बहुत बुरे हैं। स्टूडेन्ट्स ड्रग्स के भंवरजाल में फंस जाते हैं जहां से निकलना बहुत मुश्किल है। और फिर यार रवि....।" विशाल बात करते-करते अचानक बीच में रुक गया।

"...और फिर क्या विशाल?" रवि ने पूछा।

"कुछ नहीं, लीव इट यार।"

"नहीं विशाल, बात तो कुछ है। तू बात पूरी कहे बिना बीच में रुक क्यों गया?"

विशाल ने रवि से आगे बात करना उचित न समझा। उसे डर था कि कहीं रवि को बुरा न लग जाए। विशाल को पता था जो बात वह कहने वाला था, रवि सुनकर अवश्य बुरा मानता। ऐसी बातों का बुरा मानने के सिवाय कर भी क्या सकता था। विशाल ने अपनी बात वहीं [illegible] रवि से इतना ही कहा कि वह भी मोनिका की जांच-पड़ताल में उन्हें सहयोग प्रदान करे।

संजय अगर एम. बी. ए. न करता तो जासूस होता। मित्रों की जासूसी करने में उसका कोई सानी न था। अपने कैरियर में भी उसने मार्केट-इंटेलिजेंस चुना था। वह अपनी सर्वोच्च विशेषताओं के साथ मिशन पर निकल पड़ा। तीन दिन की मेहनत के बाद उसने मोनिका के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त कर ली। मोनिका कैमिकल इंजीनियर है और अत्यंत मेधावी भी—यह पूरा कॉलेज जानता था लेकिन अन्दर की बात केवल संजय ही जानता था। हैरी बार-बार पूछता—

"यार संजय, बता न, क्या कुछ किया तुमने मेरे वास्ते?"

संजय कोई-न-कोई बहाना बनाकर टाल जाता। हैरी जब भी पटियाला से आता, उसका बस एक ही सवाल होता—

"यारो, उससे बात की?"

मित्रों से टालमटोल मिलने पर हैरी उदास रहने लगा। उसका मुरझाया चेहरा देख, एक दिन संजय ने रहस्योद्घाटन करने का फैसला कर लिया।

हैरी को संजय ने अपने कमरे में बुलाया। रवि, विशाल और सेटी वहां पहले से ही मौजूद थे। सभी की नजरें संजय पर लगी थीं।

"हैरी, मोनिका बहुत अच्छी लड़की है। हम जिस्मानी खूबसूरती को ही सब कुछ समझते थे। लेकिन वह उससे बढ़कर है।" संजय ने हैरी से कहा।

"हमें तेरी पसंद पर फख्र है। बस एक प्राब्लम है..."

"अब हमारे बीच कोई प्राब्लम नहीं आ सकती। मैं दुनिया से भिड़ जाऊँगा। मैंने अपने माता-पिता से भी बात कर ली है। शादी करूँगा तो मोनिका से। वरना उम्र भर यूं ही..." हैरी लगातार बोले जा रहा था।

"नहीं यार, प्राब्लम वाकई बहुत बड़ी है।" संजय ने कहा

"क्या वह किसी और से..." हैरी ने पूछा।

"नहीं यार, ऐसा कुछ नहीं है...बस..." संजय ने हैरी को टोका।

"बस क्या?"

"वह एस.सी. है।"

ये शब्द रवि के हृदय पर अंकित हो गए। चार महीने बीत चुके हैं। रवि की सूनी आंखें आज भी हैरी को ढूँढ़ रही हैं। बार-बार यामाहा की आवाज सुन रवि गेट तक भागता है। उसे पूरी उम्मीद है, एक दिन हैरी आएगा और कहेगा, "यारो, क्या हुआ जो मोनिका एस.सी. है। वो मेरी जान है। मैं उसके बिना नहीं जी सकता।"

कब आएगा हैरी?

सी-130-ए, सैक्टर-20, नोएडा-201301 (उ.प्र.)

नरेन्द्र मोहन की चार कविताएं

चित्र में माँ

माँ के उरोजों के बीच
बहती-लहराती नदी में
डूबता-उतराता रहता था
बचपन में

आज मैं साठ की दहलीज़ पर हूं
कई तीखी-गहरी, मदमाती-उफनती नदियां
देख चुका हूं

कई नद, नाले, पहाड़
लांघ चुका हूं

आज न मां है न नदी
चित्र है नदी का
और मां याद आती है!

पीछे धुंध में

हिन्दूराव अस्पताल के आपरेशन थियेटर के ट्राली पथ पर
खड़ा हूं असहाय

धुंध में लिपटा रिज
रहस्यमयी पेंटिंग की तरह है
जो कई तरफ मुड़ती दिखती है
पर खुलती नहीं किसी भी तरफ
धुंध में जो दिख रही है
वह अंधी गली है।

घटाटोप है धुंध का
और शक्लों का भ्रम होता है
देखता हूं दख़ील हो रहे एक दूसरे में
पीर गायब और अशोक स्तंभ

भीतर सर्जिकल वार्ड नं. 5 बेड नं. 27 पर पड़े हैं पिता
आपरेशन के बाद की पीड़ा में कराहते
लाल कंबलों में लिपटे दीन और कातर
जिन्दगी की चौखट पर माथा रगड़ते पिता
ग्लूकोस और सोडियम वाटर की बोतलों में बंधे
मौत से जूझते पिता

सोचता हूं और
धुंध के अंबार में से
रास्ता टोहते हुए
कदम रखता हूं आगे
डग-डग

पीछे धुंध में
कहां रह गए हैं पिता!

संयोजन

रंगों की बारिश के बाद का
संयोजन
ऊपर पानी
नीचे आग!

जंगल

मेरे साथ-साथ
भाग रहा
जंगल—
दोनों तरफ
और मैं सीधा, सुरक्षित रास्ता छोड़
भाग जाना चाहता हूं
जंगल में

एक जंगल चित्र में
एक चित्र से बाहर
मैं बाहर आ खड़ा हुआ हूं चित्र से
जंगल में

कौन है मेरा वहां सगा
पुकारता मुझे!

239-डी, एम.आई.जी. फ्लैट्स, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-27

सर्दी

नीचे उस झाड़ी में
जाने कितनी चिड़िया
क्रीड़ा करती थीं, पिछली सर्दी—
सुबह-सुबह
धीरे से
उड़कर खुली हवा में
खोल पंख, फिर से वे
नीचे आन उतरतीं,
कुछ पत्तों में
बैठे-बैठे
बालों में कंघी करतीं

तुम आ जाते अपने
कमरे से, खड़े-खड़े
खिड़की में, दोनों हम,
उनको देखा करते—
खिली धूप के संग
पंख में
रंग चढ़ा करते

हरा, सुनहरी,
पीला, नीला, कुछ काला,
कुछ खाकी

लौट रही सर्दी फिर
लौट रहीं वे,
बाकी की क्रीड़ा करने

उनसे क्या न
कहा किसी ने,
सच ही क्या ये
नहीं जानतीं,
अपनी खिड़की में अब
इस सर्दी मैं
खड़ी अकेली?

सी-132 सर्वोदय एन्क्लेव, नई दिल्ली-17
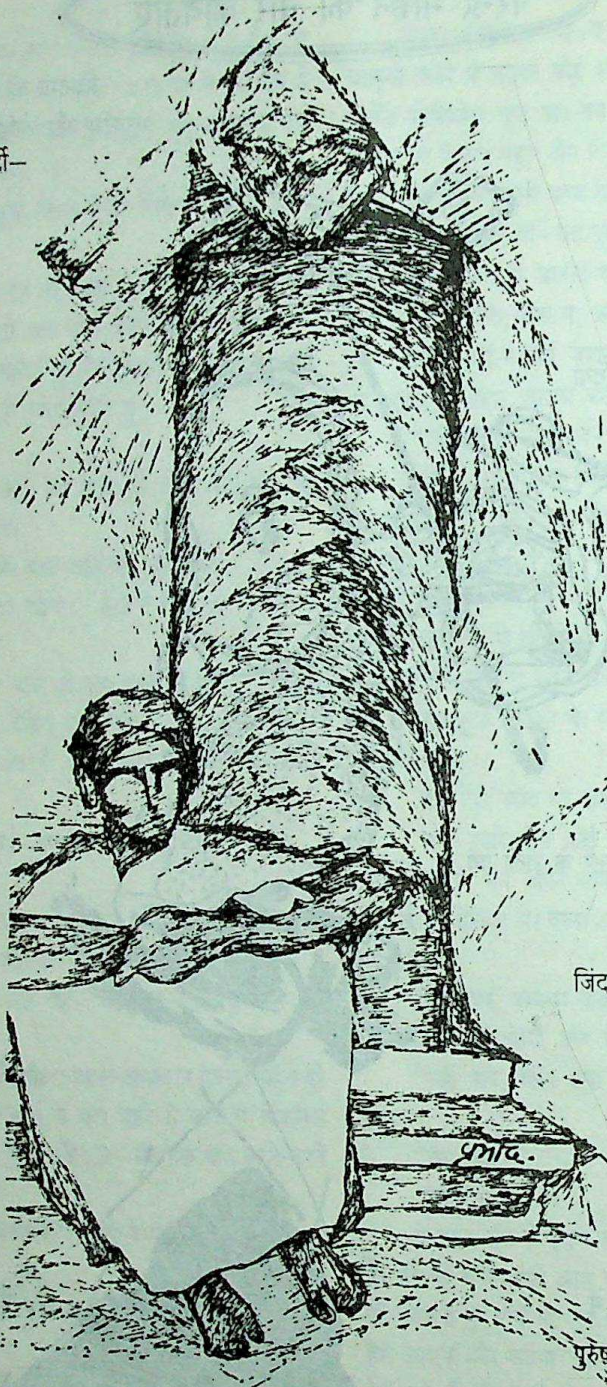
ज्यामिति रेखाएं

कैक्टसों से उगे जंगल में
तुम्हारी मासूमियत
मेरे चारों ओर
खींचती है—एक वृत्त

लेकिन
ज्ञात है मुझे
ज्यामिति का सूत्र
कि केन्द्र से परिधि
तक की दूरी
सम्पर्क रखते हुए भी
परस्पर बहुत दूर।

रंग

पुरुष—
प्रेम के नाम पर
हृदय से खेलता है—
जिंदगी के सबसे खूबसूरत रंग दिखाता है
सब कुछ पाना चाहता है
और एक दिन
बदल लेता है अपना रंग

नारी—
प्रेम के सहारे
संजोती है सपने
स्वयं मिटकर
पुरुष को आँधी, पानी, धूप से बचाती हुई
बनाती है बस
एक छोटा-सा घर।

2/28, गुप्ता मार्केट, लाजपत नगर -4, नई दिल्ली - 24

दाशनगर की दीवार

दाशनगर में लोग दीवार पर बैठे हैं
वह एक रुकी हुई गाड़ी है।
प्लेटफार्म चलता है गाड़ियों से
उतरता है यात्रियों के साथ
दीवार उनके हाथ खींचकर
लाइनों से ऊपर उठा लेती है।
फिर इंतज़ार करती है।
एक रुकी हुई गाड़ी है
दाशनगर में लोग गाड़ी का इंतजार
करते हैं गाड़ी पर बैठकर।

दाशनगर का तालाब

दाशनगर में एक तालाब है
उसका पानी दिखता है गाड़ियों को
लड़कियां अपने छिपाए बदन खोल देती हैं
जवाकुसुम का झाड़ आश्वस्त करता है उन्हें।
यात्री अड़हुल के फूलों से
पुंकेसर के दाने उड़ा देते हैं
तालाब बहुत दूर तक
गाड़ी का पीछा करता है।

खुद दाशनगर

दाशनगर
बहुत ज्यादा दूर नहीं है,
उसका ढेला धर्मतल्ला गिरेगा।
वह केले और पावरोटी भेजता है
सोनागाछी और बहूबाज़ार में छोटी लड़कियों के अलावा।
उसके यहां जब कोई चीखता है
नलपुर तक सुनता है।

1083/43 बी, चंडीगढ़-160022

प्रिय कविता

प्रिय कविता
मैं तुम्हें
पूरी तरह
भर देना चाहती हूं।

अपनी दोनों बांहें
फैलाकर
इस दुनिया का
अधिकतम से अधिकतम
सामान
मैं बटोर लेती हूं
और
दौड़ती आती हूं
तुम्हारे पास

इस दौड़ में
न जाने
क्या-क्या
गिरता रहता है
छूटता रहता है

और
हांफते-हांफते
जब मैं
तुम्हारे पास
आकर
रुकती हूं
तो देखती हूं
खड़ी हूं
खाली हाथ।

7/सी 7/230, रोहिणी, नई दिल्ली - 110085

डा. माहेश्वर
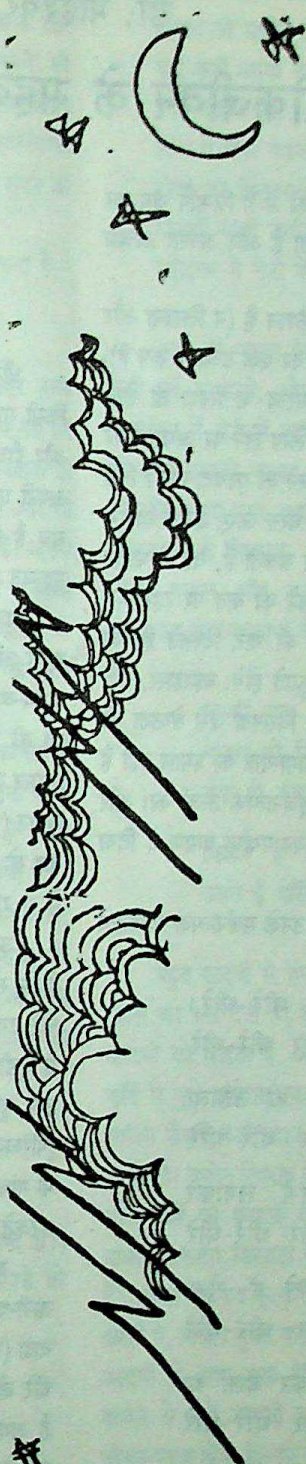
प्रकृति और लोकजीवन के सहज विन्यास की कविता

रामदरश मिश्र हिन्दी के उन विरल लेखकों में हैं जिन्होंने जम कर लिखा है और प्रायः हर विधा में लिखा है और अक्सर अच्छा लिखा है।

हिन्दी में आजकल कम लिखने का फ़ैशन है (न लिखना और न लिखने पर बहस चलाना भी इसी फ़ैशन का एक उच्चतर रूप है)। गुलेरी जी ने तीन कहानियां लिखकर अमरत्व पा लिया तो तेरह बनी-ठनी, सजी-संवरी, कटी-छंटी रचनाएं लिख लेने पर अमरत्व की गारंटी समझिए। फिर ज़्यादा कलमघिसाई करने का फ़ायदा क्या? तिस पर भी जो आदमी लिखे जाए, लिखता ही चला जाए, उसके बारे में अमरत्व के इन उम्मीदवारों की जो राय बन सकती है, वह स्पष्ट है। ऐसे लोग जब रामदरश जी के ज्यादा लिखने की बात पर रहस्यमय ढंग से मुस्कुराते हैं तो उन चालीस चोरों की याद दिलाते हैं, जो शायद अलीबाबा को देखकर ऐसे ही मुस्कुराते होंगे। बहरहाल, यहां इतना कह देना पर्याप्त होगा कि सृजन की विरलता जैसे श्रेष्ठता की गारंटी नहीं है, उसी तरह ज्यादा लिखना सामान्यता का प्रमाण नहीं है और अगर किसी बात का प्रमाण है, तो सृजनात्मक ऊर्जा का। और रामदरश मिश्र ने अपनी सृजनात्मक ऊर्जा का पर्याप्त प्रमाण दे दिया है।

रामदरश की एक ग़ज़ल की पंक्तियां उनके सर्जनात्मक व्यक्तित्व को बहुत सफाई से खोलकर रखती हैं—

बनाया है मैंने ये घर धीरे-धीरे।
खुले मेरे ख्वाबों के पर धीरे-धीरे

किसी को गिराया न खुद को उछाला
कटा ज़िंदगी का सफर धीरे-धीरे

जहां आप पहुंचे छलांगें लगाकर
वहां मैं भी पहुंचा मगर धीरे-धीरे

गिरा मैं कहीं तो अकेले में रोया
गया दर्द से घाव भर धीरे-धीरे

ज़मीं खेत की साथ लेकर चला था
उगा उसमें कोई शहर धीरे-धीरे

न रोकर, न हंस कर किसी में उड़ेला
पिया खुद ही अपना ज़हर धीरे-धीरे

मिला क्या न मुझको, ऐ दुनिया तुम्हारी
मुहब्बत मिली है मगर धीरे-धीरे।

(हँसी होंठ पर आंखें नम हैं, पृ. 63)

धीरे-धीरे, कड़ी मेहनत और अनवरत लेखन के बल पर, बिना किसी साहित्यिक गुटबाज़ी और उठा-पटक के, बिना किसी प्रतिद्वंद्विता और ईर्ष्या के, बिना किसी श्लाघा और चुनौती के रामदरश मिश्र ने अपनी एक जगह, अपना एक लेखकीय व्यक्तित्व बनाया है और यह सच है कि धीरे-धीरे सही, दुनिया (साहित्यिक तथा सामाजिक) की मुहब्बत उन्हें मिली है।

यहां रामदरश मिश्र के नवीनतम काव्यसंग्रह **बारिश में भीगते बच्चे** और ग़ज़ल-संग्रह **हंसी होंठ पर आंखें नम हैं** के बहाने उनके काव्य-व्यक्तित्व और काव्य-सृजन पर विचार किया जा रहा है। रामदरश जी की कविता पर कुछ भी कहने के पहले देखना होगा कि उनकी असल ज़मीन क्या है, उनकी संवेदनाओं का स्वरूप क्या है, वे जिस ज़ुबान (भाषा) में 'बात' कह रहे हैं वह कहां से आई है और जो 'बात' कह रहे हैं उसकी बुनियाद में हमारे समाज का कौन-सा हिस्सा है (इसी में से रचनाकार के सरोकार आकार ग्रहण करते हैं)।

ऊपर जो ग़ज़ल उद्धृत की गई है उसके एक शेर में कवि बताता है कि खेत की जो ज़मीन साथ लेकर चला था उसमें कोई शहर धीरे-धीरे उगा। इससे स्पष्ट है कि उनकी संवेदनाएं मूलतः गांव के जीवन से जुड़ी हैं, जिनमें धीरे-धीरे शहरी जीवन के प्रभाव घुले हैं। भाषा भी उन्हें मूलतः ग्राम-जीवन से मिली है, जिसका क्रमशः शहरीकरण (परिष्करण भी कह सकते हैं) हुआ है। और इसीलिए उनके सरोकार भी गांव छोड़कर रोज़ी-रोटी की तलाश में शहर आए, शहर-दर-शहर भटकते आदमी के दुख-दर्द, आशा और आकांक्षाओं से बनते हैं।

यहां एक बात ध्यान देने की है कि कवि ने खेत की मिट्टी (एक जानी-पहचानी, सुनिश्चित जीवन-पद्धति और मूल्यबोध) लेकर अपनी यात्रा (जीवन यात्रा और काव्ययात्रा दोनों) शुरू की थी, पर उसमें धीरे-धीरे जो शहर उगा है, वह 'कोई' शहर है, 'कोई ख़ास' शहर नहीं है अर्थात् आज भी कवि अपनी शहरी संवेदनाओं को ठोस आधार नहीं दे पाया है, शहरी जीवन के दबावों को आज भी वह स्वीकार नहीं कर पाया है। एक गृहविरह, एक विच्छिन्नता-बोध आज भी उस पर

तारी है। 'अजनबी' वह अभी तक नहीं बन पाया है, क्योंकि अपने खेत की मिट्टी से वह आज भी जुड़ा हुआ है (भावना और संवेदना के स्तर पर)। रामदरश की पुरानी कविताओं और 'बारिश में भीगते बच्चे' की अनेक कविताओं में संवेदनाओं की यही बनावट, प्रकृति और लोकजीवन के प्रति गहरा ममत्व, बुर्जुआ राजनीति, शहरी जेहनियत, स्वार्थपरता और पूंजीवादी उत्पीड़न के विरुद्ध गहरे आक्रोश के स्वर हमें सुनने को मिलते हैं।

लोकजीवन से गहरे जुड़ा हुआ कोई कवि ही कह सकता है—

"क्या रंग जवानी के उधर देख रहे हैं?
ये रंग नए औलिया पीपल के देखिए। "

जवानी के रंग (फ़ैशन परेड, सौंदर्य प्रतियोगिताएं और उच्च मध्यवर्गीय शहरी महिलाओं) को देखते शहरियों को कवि नए-नए हरे पत्ते से भरे, झूमते पीपल के पेड़ के सौंदर्य की ओर मोड़ना चाहता है। और वह हलके, चमकते हरेपन में डूबे इस पेड़ के चरित्र की ओर भी इशारा किए बिना नहीं चूकता। 'औलिया' है पीपल। फ़कीर है। अपना कुछ भी नहीं, सब कुछ दूसरों को लुटाता, मस्त है अपने फक्कड़ सौंदर्य में। शहर के बनावटी और विलास में डूबे नकली सौंदर्य के बरक्स पीपल के नए पत्तों और 'औलियापन' को समझने के लिए मध्यवर्गीय सौंदर्यदृष्टि काफी नहीं है।

मुझे याद है शीलजी की 'निकले हैं बकरी के थन' कविता में निम्नलिखित पंक्तियों को पढ़-सुन कर हमारे जनवादी लेखक साथी किस तरह मुस्कुराते थे—"यह अनजाने नहीं/गले में/निकले हैं बकरी के थन।/लोकतंत्र के बैर-बेर की/चबा पत्तियां, फूट रही है/में में में में!"

शहरों में बैठकर अंग्रेज़ी में मार्क्सवाद की डकार लेने वाले, उच्चमध्यवर्गीय मानसिकता के बौद्धिक बहेलिये इन पंक्तियों की सटीक बिंबपरकता को कैसे पहचानेंगे? उनके लिए तो 'औलिया पीपल' और 'बकरी के गले में निकले थन' भदेसपन और ग्रामीणता के प्रतीक हैं, इसीलिए असुंदर हैं।

मगर रामदरश मिश्र कहते हैं—

क्या हाल है शहर का, ये गांवों से पूछिए
कितना ज़हर लहू में, दवाओं से पूछिए

(हंसी होंठ पर, पृष्ठ 81)

उनकी 'बाग' कविता शहर और गांव के इस नए रिश्ते को परिभाषित करती हुई कहती है:

चारों ओर मशीनों की घरघराहट...
ईंट के भट्ठों से फूटता गंधीले धुएं का विस्तार
घरों की मासूम खिलखिलाहट को पीती हुई
पक्के मकानों की कसी हुई मुस्कान
लोगों के चेहरों पर पसरी हुई
बाजार की सपाट संपन्नता...
यहीं कहीं आमों का बड़ा सा बाग था/वह कहां गया?....
कहां गये वे पेड़...
शीत में पीले पड़कर झड़ते जिनके पत्ते
लोगों की ठिठुरन में आंच बन जाते थे
जिनकी सूखी टहनियां
रसोईघर में रोटी में बदल जाती थीं

(बारिश में भीगते बच्चे, पृ. 14)

'घरों की मासूम खिलखिलाहट' की जगह 'पक्के मकानों' की कसी हुई मुस्कानों, और 'ठिठुरन में आंच बनते सूखे पत्तों' और 'रसोईघर में रोटी में बदल जाती सूखी टहनियों' वाले पेड़ों के बाग की जगह उभरती 'बाजार की सपाट संपन्नता' के माध्यम से लोकजीवन को लीलते हुए नगर अर्थात् बाजार को यहां साफ देखा जा सकता है। बाजारवाद के खिलाफ रामदरश मिश्र ने बार-बार चेताया है। उनके गीत, ग़ज़ल और मुक्त छन्द की कविताएं इस बाजारवाद (पूंजीवाद/साम्राज्यवाद) के विरुद्ध जोरदार प्रतिवाद करती दिखाई देती हैं।

उनकी एक ग़ज़ल के दो शेर देखिए—

बाजार को निकले हैं लोग बेच के घर को,
क्या हो गया है जाने आज मेरे शहर को।

कितने हैं मेहरबान यहां के बहेलिये,
कहते है परिंदों से 'उड़ो' काट के पर को।

(हंसी होंठ पर आंखें नम है, पृ. 24)

बहुत सादगी से हमारे समय के एक बड़े सच को ये पंक्तियां खोल कर रख देती हैं। ज़मीन आदमी को जोड़ती है, जबकि बाजार आदमी को तोड़ता है, अलग-थलग करके उसे व्यक्ति बना देता है। कृषि से जुड़े परिवार एकजुट रहते हैं, पर ज्यों ही उनके घर से कोई व्यक्ति नौकरी करने शहर (यानी बाजार में) जाता है, वह परिवार टूटने लगता है। ज़मीन स्थिरता देती है, प्यार करना और जूझना सिखाती है, संवेदनाओं को फ़सलों की तरह हरा-भरा रखती है। इसके विपरीत बाजार तिकड़म सिखाता है, झांसा देकर अपना माल बेचना सिखाता है, उसका एकमात्र मूल्य है—पैसा या मुनाफ़ा। जमीन बांधकर भी मुक्त करती है, बाजार मुक्त करके भी मनुष्य को बांध देता है। जमीन से जुड़े आदमी के साथ कुछ नैतिकताएं, कुछ जीवन-मूल्य जुड़े रहते हैं; बाजार से जुड़े आदमी की कोई नैतिकता नहीं होती, और एक ही जीवन-मूल्य होता है—हर कीमत पर व्यक्तिगत पूंजी को बढ़ाते रहना।

रामदरश मिश्र की ग़ज़लें और कविताएं इस सत्य को उजागर करती हैं।

रामदरश मिश्र मूलतः गीति (लिरिक) के कवि हैं। गीतितत्त्व गांव की संवेदना से उपजता है। प्रकृति में एक सधी हुई लय होती है, छंद होते हैं, रंग होते हैं और खुशबू होती है, इसीलिए गांव की जिंदगी से जुड़े व्यक्ति में लय, छंद, रंग और खुशबू घुल-मिल जाते हैं। शहरी जीवन के मंथन में, भोग के आखेट में (निम्नवर्ग और निम्नमध्य वर्ग के लिए रोटी की तलाश में), मशीनों की जटिलता और गति के पागलपन में मनुष्य निर्वासित और अकेला होता जाता है, बदमिजाज और आत्मकेंद्रित होता जाता है। एक हाहाकार और पागलपन उसकी आत्मा में घर कर जाता है। इसीलिए गीति तत्त्व और लय-छंद उन्हीं कवियों और लेखकों में जीवित रह गए हैं, जो अभी भी गांव और प्रकृति से जुड़े हुए हैं। रामदरश मिश्र एक ऐसे ही रचनाकार हैं।

'घरः पांच कविताएं' में उच्चवर्ग, निम्नमध्यवर्ग, घुमंतू हुनरमंद वर्ग, निम्नवर्ग और पूर्णतया बेघर-बेसहारा लोगों के 'घरों' का वर्णन किया गया है। ये शहरी वर्ग और उनके घर हैं। आश्चर्य की बात है कि उन्होंने किसी किसान के घर का या गांव के अपने घर का वर्णन यहां क्यों नहीं किया?

रामदरश जी शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध तेजस्वी स्वर में प्रतिवाद करते हैं, कहीं-कहीं शासक वर्ग और उनके सहयोगियों के विरुद्ध व्यंग्य की तेज़ धार का इस्तेमाल करते हैं।

नितांत व्यक्तिगत भावनाओं और संदर्भों को पूरे माहौल की पीड़ा से जोड़ने का उनका अपना अंदाज है। 'चलो दरवाज़ा खोल दें', 'आशीष', 'हरसिंगार', 'तुम और मैं', 'डर', 'बड़प्पन—दो' आदि कविताएं इसकी अच्छी मिसालें हैं।

रामदरश जी मूलतः लोकजीवन और प्रकृति के चितेरे हैं। उनकी संवेदना मूलतः गांव से जुड़ी है। गीति तत्त्व (लिरिक) से बाहर आते ही लय-छंद का जादू गायब होने लगता है और उनकी मुक्त छंद की कविताएं गद्य जैसी सपाट होने लगती हैं, सूक्तियों और वक्तव्यों में ढलने लगती हैं। काव्य का रचाव श्लथ और बिखरा-बिखरा सा होने लगता है। बिंब विरल होने लगते हैं और प्रतीक सरलीकृत। इसके बावजूद रचना अपने कथ्य से प्रभावित किए बिना नहीं रहती। इन कविताओं की एक ताकत इनकी सादगी है, जो एक तरल, पारदर्शी और स्पष्ट काव्य-दृष्टि का पता देती है। कहीं, कुछ भी, दुरूह, जटिल और उलझा हुआ नहीं है। कुछ लोग इन पर जटिल स्थितियों के सरलीकरण का आरोप लगा सकते हैं, पर शमशेर जैसा जटिल और महीन कवि भी उनकी इस सादगी और सचाई का कायल है। रामदरश की कविता के बारे में शमशेर का कथन है—

''रामदरश मिश्र एक सच्चे कवि हैं। बहुत बड़े कवि नहीं, मगर बहुत संवेदनशील, सच्चे लिरिक कवि। जैसे कविता के अलावा उन्होंने अभिव्यक्ति की और भी विधाएं अपनाई हैं, मसलन उपन्यास, कहानी आदि और आलोचना को काफी समय दिया है, वैसे ही कविता में भी हैं ... करते हैं, यद्यपि मूल स्वर लिरिक ही माना जायेगा। प्राकृतिक वर्णन के लिरिक उच्छ्वास यानी ऋतुओं के नाना रूप रंग की नानाविध कोमल प्रतिक्रियाएंः फिर शायद अधिकतर पिछले वर्षों में मुक्त छंद की अनेक प्रायः छोटी रचनाएं और गीत, जिनमें मध्यवर्ग की टूटन, विडंबना, नैराश्य और संघर्ष की रचनात्मक प्रतिक्रियाएं हैं—सब स्पष्ट, सहज और सच्ची। प्रयुक्त शब्दावली का एक खासा हिस्सा आधुनिक शैली का परिचित रूप प्रस्तुत करता है, पर उनकी खुली सी स्पष्टता रामदरश की अपनी है, कहीं उनमें उलझन या दुरूहता नहीं। भावनाएं अपने खरेपन से हमें आश्वस्त करती हैं कि वे कवि की ही विशिष्ट हैं, धुनों का पुट भले ही परिचित परंपरा का हो, दुख-सुख कवि के अपने भोगे हुए हैं, व्यथाएं भोगी हुई हैं, सपने सब अपने हैं, उनका रंग लोक-कला का ज़रूर है। इसलिए पाठक की मन-तरंगों में भी वे सहज ही गृहीत हो जाते हैं।'' ('वातायन' पत्रिका से 'रामदरश मिश्रः मेरे प्रिय गीत' के प्रच्छद पर उद्धृत)

शमशेर के इस मूल्यांकन के बाद रामदरश मिश्र की काव्य-यात्रा की उपलब्धियों के बारे कुछ भी कहना आवश्यक नहीं लगता, पर एक बात कहने की धृष्टता करना चाहूंगा कि हिन्दी के अन्य बड़े कवियों त्रिलोचन, नागार्जुन, शील और केदारनाथ अग्रवाल के बड़प्पन के जितने भी और कारण हो सकते हैं, उनमें से एक प्रमुख कारण है—उनका प्रकृति और लोकजीवन से जुड़ाव, इसीलिए उनके यहां भी जो सर्वोत्कृष्ट है वह प्रकृति और लोकजीवन से जुड़ा हुआ है, रामदरश मिश्र की तरह। अगर इसे थोड़ा और 'पिन-प्वाइंट' किया जाए तो रामदरश जी की कविताओं को त्रिलोचन की काव्यकला के बहुत पास पाया जा सकता है, यद्यपि भाषा और शिल्प के स्तर पर त्रिलोचन कहीं ज्यादा सावधान और सक्षम हैं, पर लोकजीवन के प्रति गहरा लगाव, संवेदना और अभिव्यक्ति की सघनता और पारदर्शिता, सादगी और सपाटबयानी, सचाई और माटी से जुड़ाव दोनों में समान रूप से पाए जाते हैं।

अंत में एक बात और। सच्चा रचनाकार ही बड़ा रचनाकार होता है। काव्य में सचाई को भाषा के सात परदों के पीछे छिपाने की जो मध्यवर्गीय कला है, उसने कविता को आज प्रायः असंवेद्य, अननुमेय और अस्पृश्य बना डाला है। इसी कारण पाठक/श्रोता उन तुक्कड़ों और मसखरों की तरफ मुड़ रहे हैं, जिन्हें न तो सचाई से कोई वास्ता है, न कविता से। ऐसे में रामदरश मिश्र जैसे कवि हमें आश्वस्त करते हैं कि कविता का अंत अभी नहीं हुआ है, न होगा।

1. बारिश में भीगते बच्चेः रामदरश मिश्र; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करणः 1996; मूल्य : 75 रुपये; पृ. सं. 96
2. हंसी होंठ पर आंखें नम हैंः रामदरश मिश्र; परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली

बी-206, सादतपुर, दिल्ली - 110094

डॉ. हरदयाल

संवेदनों की संहिता

पुस्तक रूप में सुनीता जैन की कविताओं का प्रकाशन **हो जाने दो मुक्त** (1978) से प्रारम्भ हुआ। उसके बाद उनके एक-के-बाद एक कविता-संग्रह प्रकाशित होते रहे और अब तक डेढ़ दर्जन के लगभग कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इधर पिछले तीन वर्षों से तो उनके कविता-लेखन और उसके प्रकाशन की गति बहुत तीव्र हुई है। एक-एक वर्ष में उनके कई-कई कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। ऐसा लगता है जैसे उनके भीतर भावनाओं का ज्वार बहुत तीव्रता से उमड़ रहा है और वे उसे शब्द-बद्ध करने के लिए विवश हैं। वे अपनी कविताओं में जिन भावनाओं को व्यक्त कर रही हैं, उनका सम्बन्ध प्रेम, परिवार, प्रकृति और परमात्मा से है। इनके अतिरिक्त उनकी भावनाओं के कुछ आलम्बन और भी हैं, लेकिन वे विरल हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में उन लोगों की व्यथा-कथा भी कही है जो वंचित और शोषित हैं, किन्तु इनके सम्बन्ध में लिखते समय समाजवाद या साम्यवाद जैसी किसी विचारधारा से वे प्रभावित नहीं रही हैं। उनकी व्यथा को उन्होंने किसी विचारधारा के चश्मे से न देखकर शुद्ध मानवीय दृष्टि से देखा है। इस दृष्टि में मानवीयता तो है, मानवतावाद जैसी कोई रूढ़ दृष्टि नहीं है। वे मुख्यतः तीव्र इन्द्रियसंवेदनों, भावावेगों और आस्था की कवयित्री हैं। इसीलिए उनकी कविताओं को संवेदनों की संहिता कहा जाए तो अनुचित न होगा।

विगत दो दशकों (1978-1998) में उनके जो कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, उनमें एक स्पष्ट विकासक्रम परिलक्षित होता है, किन्तु हम इस लेख में उसकी चर्चा नहीं करेंगे, क्योंकि इस समय हम उनके तीन कविता-संग्रहों—**सच कहती हूँ** (1995), **लेकिन अब** (1996) और **इतना भर समय** (1998) तक ही अपने को सीमित रखेंगे। अगर उनके अन्य संग्रहों की कुछ चर्चा होगी तो प्रासंगिक तौर पर।

प्रेम सुनीता जैन की कविता का एक केन्द्रीय भाव रहा है। इन तीन संग्रहों में भी उनकी कुछ कविताएं ऐसी हैं जो प्रेम की भावना को अभिव्यक्त करती हैं। 'सच कहती हूं' संग्रह की 'रसना' शीर्षक कविता में वे कहती हैं—'किन्तु मुझको/लिखने योग्य मिला तो/केवल प्यार मिला।' (पृष्ठ 19) इसी संग्रह की एक अन्य कविता 'ढाई अक्षर प्रेम के' (वैसे 'प्रेम' में दो ही अक्षर होते हैं, ढाई नहीं) में वे अपने मन को प्रेरित करती हैं—'ढाई अक्षर/प्रेम के/मन, गाना/दोहराना/कभी झील में/कभी कमल में/ कभी हंस के/ धवल युगल में/इसको सुनने/जाना/मन/गाना।' (पृष्ठ 54-55) उन्हें आज भी किसी के पत्र की प्रतीक्षा है—'लेटर-बक्स भले खाली था/पर कहना क्या तुमने/ सच ही/ पत्र नहीं भेजा?'' (पृष्ठ 10) 'लेकिन अब' संग्रह की कविता 'यूं ही होना है' में शुक और शुकी तथा पिक और पिकी के बीच की शंका, प्रेम और उन्माद की अभिव्यक्ति की गई है, जो आसानी से स्त्री-पुरुषों के प्रेम पर घटित हो जाती है। इन संग्रहों की एकाधिक कविताएं विगत प्रेम की स्मृतियों को चित्रित करती हैं और पुराने प्रेमियों के बहुत दिन बाद मिलने पर उनके विभिन्न मनोभावों को पकड़ने की कोशिश करती हैं। 'चन्दन' शीर्षक कविता में कवयित्री प्रश्न उठाती है कि प्रेम की क्या कहानी है? उसे कब कहाँ किसको सुनाना है? आखिर प्रेम है क्या? और उत्तर देती है कि प्रेम आस्था है, भक्ति है, स्वयं शिव है—

मैंने लिया चन्दन/बूंद एक/माथे रखा/ कर जोड़, आंखें बन्द/
मैंने कहा—/ओम नमः शिवाय/ ओम नमः शिवाय/ओम नमः शिवाय/
पुनः कहा/पुनः कहा। (सच कहती हूं; पृष्ठ 14)

आज सुनीता जैन प्रेम की भावना को व्यक्त करने वाली जो कविताएं लिख रही हैं उनमें तीव्र भावावेग तो है, किन्तु इन्द्रियबोध कुछ क्षीण हुआ है। प्रारम्भ में उन्होंने प्रेम की जो कविताएं लिखी थीं, उनमें सघन इन्द्रियबोध था, प्रेम की तीव्र मांसल अनुभूति थी। 'सच कहना' शीर्षक कविता में उन्होंने पूछा था—''इस लम्बाई/गोराई/गदराई के/सूक्ष्म पारखी/अथक भोगी/ सच कहना/ कभी इनमें/ 'मैं' भी मिली?'' (कौन-सा आकाश; पृष्ठ 45) उस समय स्पर्श से तन के अंगार बनने की बात कवयित्री कहती थीं—

छुआ किसने फूल हो गया/धरती का मैला रंग/
चटक कर लागा किसके अंग/बीन-सा/कुहुक उठा
रस-धार भीग मन/ उमड़ा तन/अंगार हो गया। (हो जाने दो मुक्त; पृष्ठ 15)

अब लगता है कि 'लम्बाई, गोराई, गदराई का सूक्ष्म पारखी' दृष्टि से ओझल होकर पृष्ठभूमि में चला गया है और इस 'लम्बाई, गोराई, गदराई' में व्याप्त 'मैं' की खोज महत्त्वपूर्ण हो गई है। इसीलिए अब कवयित्री जीवन और जगत को एक दार्शनिक की तरह देखने लगी है। वह शंकराचार्य की तरह अनुभव करती है कि दृश्यमान वस्तुजगत मात्र सपना है—

उसने/सोचा था/वृक्षों पर/ पत्ते हैं/ पत्तों के नीचे/कलिका/
कलिका में/बीज-कोष/और बीजों में/अँखुआ/सहसा/खुल गयी/

आँख/भरी रात में/कुछ भी न था–/सपना था/बस! (लेकिन अब, पृष्ठ 17)

इसी प्रकार उसका यह कहना कि ''जान/लेना/ही/तो/अपनी/जान लेना है।'' (वही; पृष्ठ 49) एक दार्शनिक की सूक्ति जैसा है। 'मीना को जल' शीर्षक कविता में वह जैसे उस परमात्मा का आवाहन कर रही है जो भिन्न-भिन्न प्राणियों में और भिन्न प्राणियों के लिए भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है–

मीना को जल/पक्षी को दाना/तरुवर को रंग/मरुत् को गाना/
मुझमें कविता/कविता होकर/ आना/ आना/ आना। (वही; पृष्ठ 96)

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि कवयित्री जीवन और जगत से उपराम हो गई है। नहीं, वह जीवन और जगत में पूरी तरह संसक्त है। जीवन की नश्वरता, अपनी लघुता, सृष्टि की अनन्तता और दृश्य जगत की यथार्थता पर सन्देह करती हुई भी (सच कहती हूं; पृष्ठ 76-77, 79-80 आदि) पूरी कर्मठता के साथ जीवन जी रही है और अपने दायित्वों का निर्वाह कर रही है, यद्यपि उसे कर्मठता से कभी-कभी ऊब भी होती है–

दो कन्धों पर लिये हुए मैं
अपनी गृहस्थी और
स्वयं अपने को
चूर हो गयी, बंट-बंट इन गिद्धों को
इसीलिए जन्म अगले में
जन्म यदि तुम दो मुझको तो
देना न पैरों में अंगद
न हाथों
में निष्ठा
न भीतर यह सच की शक्ति
न रीढ़ ही कर्म की।
देना एक लचीला तन
चंचल आंखें, मक्कारी,
दिन-भर अलसा-
अलसा कर
क्षमता धूर्त भरी पाचन की...

(इतना भर समय; पृष्ठ 16-17)

सम्भवतः इसी ऊब का परिणाम है उनकी कविताओं की वह नस्ताल्जिया, जो बचपन की तथा निश्चिन्तता और सुख के बीते दिनों स्मृतियों से भरी हुई है। (इतना भर समय; पृष्ठ 29,31,39 आदि) संसारी लोगों की स्वार्थपरता, दिल्ली जैसे महानगर में रहने वाले लोगों की असंवेदनशीलता और क्रूरता, युवा पीढ़ी के द्वारा पुरानी पीढ़ी के लोगों की उपेक्षा, बूढ़ों की दुखद स्थिति, वंशजों का दुरंगापन आदि [illegible] की ओर और अधिक धकेलते हैं। नस्ताल्जिया की जड़ें अकेलेपन की अनुभूति में भी हैं। कवयित्री को लगता है कि उसका मन रिक्त है। वह रात और दिन के निर्वाक को तोड़ने के लिए अपने सभी दरवाजे, सभी खिड़कियाँ खोले रखती है, लेकिन किसी के आने की दूर तक कोई आहट नहीं सुनाई देती। खिड़की के नीचे झाड़ी में तरह-तरह की चिड़ियां क्रीड़ामग्न हैं, लेकिन–

सच ही क्या ये/ नहीं जानतीं/ अपनी खिड़की में अब/
इस सर्दी मैं/ खड़ी अकेली? (सच कहती हूं; पृष्ठ 34)

सुनीता जैन के इन तीनों कविता-संग्रहों में, जिन्हें आधार बनाकर हम उनकी कविता की चर्चा कर रहे हैं, मां को लेकर अनेक कविताएं संगृहीत हैं। इधर मां को लेकर उन्होंने इतनी अधिक कविताएं लिखी हैं कि उनका इन कविताओं का एक अलग संग्रह ही प्रकाशित हो गया है 'जाने लड़की पगली' (1996)। हिन्दी में शायद ही किसी कवि या कवयित्री ने मां को लेकर इतनी अधिक और इतनी संवेदनापूर्ण कविताएं लिखी हों। इस दृष्टि से उनकी ये कविताएं अप्रतिम हैं। उनकी इन कविताओं को पढ़कर लगता है जैसे वे मां-मय हो गई हैं। मां के प्रति उनमें जैसी आसक्ति है वैसी सामान्यतः नहीं होती। इस आसक्ति का मूल क्या है? फ्रायड की मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं में आस्था रखने वाले तुरन्त कह देंगे कि कवयित्री मातृग्रन्थि से ग्रस्त है। यह असम्भव नहीं है। हमें लगता है कि इस असामान्य मातृप्रेम का कारण खोजने के लिए इतनी दूर तक जाने की आवश्यकता नहीं है। कवयित्री की मां सम्बन्धी कविताओं से स्पष्ट है कि बदलती हुई स्थितियों में पुत्रों ने वृद्ध मां की उपेक्षा की है। उसने मां की इस उपेक्षाजनित दुरवस्था के अनेक करुण चित्र अपनी कविताओं में अंकित किए हैं। 'बिजनेस बड़े-बड़े' (सच कहती हूं) कविता में उन्होंने लिखा है कि वृद्धाएं भिनभिनाते अस्पताल के बिस्तर पर पड़ी-पड़ी नर्सों की झिड़की खाती हैं–''तुम्हारे घर का लोग आता काहे कू नहीं? दवा नहीं, जूस नहीं, फिर तुम क्यों मरने के वास्ते आता यहीं? अरे माई, तुम्हारा कोई है कि नहीं?'' वे नर्सों को बरजती हैं–'मैं कमला देवी/ मेरा बेटा अमरीका रहता/ दूर नौकरी करता/ मैं हीराबाई/ मेरे बेटों का बिजनेस बड़ा/ समय नहीं मिलता।'' इन मांओं के इन कथनों पर नर्सें मुंह बिचकाती हैं। कमला बर्फ में लगी शवगृह में पड़ी है। हीराबाई की अरथी गाड़ी की डिग्गी में हिलती-हिलती गंगा जा रही है। बेटे बड़ी-बड़ी व्यापारिक गतिविधियों में व्यस्त हैं और उनकी पत्नियां नौकरी में। अगर कोई कहता है कि मां बड़ी भारी होती है तो उत्तर मिलता है–''नान्सेन्स! इट इज अनसाइंटिफिक!'' (पृष्ठ 60-61) कवयित्री उन सारी मांओं की व्यथा का अनुभव करती है, जिन्हें उनकी सन्तानों ने छोड़ दिया है। तीर्थस्थलों पर छोड़ी गई वृद्धाओं की दुर्दशा उसने देखी है। (वही; पृष्ठ 70-71) वृद्धों-वृद्धाओं की यह दुर्दशा आज की पूंजीवादी-भोगवादी व्यक्ति केन्द्रित बाजारी सभ्यता का यथार्थ

है। इसके अपवाद भी मिलते हैं। ऐसे एक अपवाद का चित्रण उसने 'अपवाद' शीर्षक कविता में किया है। (इतना-भर समय; पृष्ठ ७७) अपनी मां की सेवा करने वाले बेटे के साथ उसने यह जोड़ दिया है कि उसकी पत्नी अपढ़ देहाती है। हमारे विचार से मां की सेवा करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि कोई स्वयं अपढ़ हो या उसका जीवनसाथी अपढ़ हो। वस्तुतः यह संस्कारों का मामला है, साथ ही संवेदनशीलता और मां की स्थिति में स्वयं को रखकर देख पाने की कल्पनाशीलता का।

सुनीता जैन ने अपनी मां सम्बन्धी कविताओं में मां की व्यथा के जो चित्र अंकित किए हैं, उनमें अपनी मां से सम्बन्धित अनेक स्मृतिचित्र हैं। इस व्यथा को वे अपनी गहन संवेदनशीलता और परदुखकातरता के कारण तो अनुभव कर ही सकी हैं; साथ ही स्वयं मां बनने पर मां को पहचान सकने के कारण भी। 'मैंने देखे' कविता में उन्होंने लिखा है—''धीरे-धीरे/जीवन ने/ सिखलाया/मां क्या होती है/ अपनी बेटी को/ जब मैया,/ मैंने मां हो/प्यार किया।'' (सच कहती हूं; पृष्ठ 68) इसीलिए उन्हें मां सबसे अधिक प्यारी लगने लगी और उन्होंने अनुभव किया कि मां कभी नहीं मरती है।

जैसे वैयक्तिक प्रेम की भावना में से सुनीता जैन की कविताओं में मांसलता कम हुई है उसी प्रकार उनके प्रकृति-प्रेम में भी चित्रात्मकता कम हुई है, यद्यपि प्रकृति के प्रति उनका आकर्षण कम नहीं हुआ है। अब भी वे प्रकृति को लेकर बराबर कविताएं लिख रही हैं और ऐसी मानवीकरणयुक्त चित्रात्मक कविताएं प्रस्तुत कर रही हैं—

> घोंसले से गिरे/ पिछले वर्ष के/ तिनके बीनती रही वह/
> चुपचाप/ छज्जे पर बैठी/ धूप को आखिर/कुछ काम था क्या/
> कहीं और भी? (लेकिन अब; पृष्ठ 87)

प्राकृतिक दृश्य एवं क्रिया-व्यापार उनमें तरह-तरह के मनोभाव जगाते हैं। जब वे सागर को देखती हैं तो उनका जी दहलता है; क्योंकि—

> खोया-सा/ जलपोत वहां था/ इतने अतल/ अंधेरे जल में/
> जाने कब-कब/ क्या-क्या डूबा! (सच कहती हूं; पृष्ठ 74)

उन्होंने प्रकृति को मानव-सन्दर्भ में देखा है। इसीलिए उनके प्रकृति-चित्रों में प्रकृति और मनुष्य में परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव मिलता है—

> आकाश पर/कसीदे-सा/इतने ऊँचे जाकर/फूल खिला यह/
> लाल ढाक का:/ उन दोनों के अनछुये प्यार-सा। (लेकिन अब; पृष्ठ 43)

सुनीता जैन की कविताओं को पढ़ते समय हम यह अनुभव करते हैं कि साहित्य के प्रति वे पूर्णतः समर्पित हैं। अपनी सारी व्यस्तता में वे पढ़ने-लिखने के लिए बराबर समय की खोज में रहती हैं। इसीलिए साहित्य की दुनिया में वे किसी अनाचार को घटित होते हुए देखती हैं तो उसे अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाती हैं। उन्हें आज की कविता की अर्थगत अस्पष्टता, लयहीनता आदि पसन्द नहीं है। वे नए कवियों की तत्काल स्थापित हो जाने की ललक को भी पसन्द नहीं करती हैं—

> पैंतीस वर्ष लगे/ अशक वाजपेयी को/ एक आकाश छूने में/
> पैंतीस दिन/ नहीं लगेंगे/ अब छोटे-मोटे/ अशोक वाजपेयिओं
> की/ भीड़ जमा होने में। (लेकिन अब; पृष्ठ 72)

अशोक वाजपेयी ने कोई आकाश छू लिया है, इस पर विवाद की पूरी गुंजाइश है। कवयित्री को अधिक निर्विवाद प्रतीक चुनना चाहिए था!

सुनीता जैन की कविताओं को समग्रतः दृष्टि में रखकर अगर हम प्रश्न पूछें कि उनकी संवेदना का स्वरूप क्या है तो हम बिना हिचक उत्तर दे सकते हैं—प्रगीतात्मक। उनकी संवेदना में प्रगीतात्मक संवेदना की वैयक्तिकता, तरलता, सघनता, अन्विति, तीव्रता और लयात्मकता की विशेषताएं प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। इन विशेषताओं को उनके सभी कविता-संग्रहों की कविताओं में विभिन्न स्तरों पर अनुभव किया जा सकता है। उनकी कविताएं इन्द्रियानुभवों और भावों से निर्मित हुई हैं। उनकी 'अंगने के फूल' कविता किसी भी श्रेष्ठ प्रगीत अथवा नवगीत से टक्कर ले सकती है—

> डूबता मस्तूल
> धीरे
> देखता बस
> कूल
> देखता चुपचाप
> झरते
> वृक्ष अपने
> फूल
> देखता घर लौट
> मितवा,
> अंगने की
> धूल!
> (लेकिन अब; पृष्ठ 22)

ऐसी प्रगीत जैसी उन्होंने तमाम कविताएं लिखी हैं। इस कविता में 'मितवा' और 'अंगना' शब्द विशेष रूप से हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। इन शब्दों के साथ जो संवेदना और संस्कार जुड़ा हुआ है, वह इनके तत्सम रूपों— 'मित्र' और 'प्रांगण' के साथ नहीं। सुनीता जैन की कविताओं में इस प्रकार की विशेष संवेदना और संस्कारों वाले बहुत-से शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो हमारे लोकजीवन से भी सम्बद्ध है और हमारी साहित्यिक-सांस्कृतिक परम्परा से भी। 'तुम' शीर्षक कविता में उन्होंने मां को 'सौहर में सौंठ-अजवायन' और 'नैहर में नेह का द्वार' कहा है। (लेकिन अब; पृष्ठ 90) यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये शब्द विशेष संस्कारों से जुड़े होने के कारण

पाठक के मन में विशेष प्रकार के संवेदनाचित्र उगाती है। आज जब अस्पतालों में बच्चे जन्म ले रहे हैं तब 'सौहर' और उसमें 'सौठ-अजवायन' अप्रासंगिक लगने लगे हों, यह अलग बात है; लेकिन कितने भारतीयों के लिए? भारत जैसे विशाल, वैविध्यपूर्ण और दीर्घ परम्परा वाले देश के कितने संस्कारों को बदला जा सकता है? घड़ौची, धैया, लाड़ो, पियवा, छप्पर, मड़िया इत्यादि शब्दों को जब हम उनकी कविताओं में पढ़ते हैं तब एक विशेष संवेदनालोक में पहुंच जाते हैं। क्या उनकी निम्नलिखित पंक्तियों को पढ़कर कालिदास का निम्नलिखित छन्द याद नहीं आता—

अनबींधे मोती/ अनचाखे मधु/ अनाघ्रात पुष्पों में/
पल-पल का विश्वास मिला।.... (सच कहती हूं; पृष्ठ 20)

अनाघ्रातं, पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादिरसम्
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमहि समुपस्थास्यति विधिः॥
(अभिज्ञानशाकुन्तल, 2/11)

भाषा की यह संस्कारशीलता सुनीता जैन की कविताओं में सर्वत्र विद्यमान है। उनकी कविताओं में हमें बिम्बात्मक प्रतीक या प्रतीकात्मक बिम्ब प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, जो उनकी सघन और तीव्र संवेदनशीलता का प्रमाण हैं। उनकी कविताओं में अलंकरण बहुत नहीं है, लेकिन उन्होंने अपनी कुछ कविताओं में मौलिक उपमानों का बड़ा सटीक प्रयोग किया है। दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(1) खेले गये कंचों-सा/हर दिन बिल्लौरी/ तेज-तेज बिखरा।
(सच कहती हूँ; पृष्ठ 35)
(2) नयी-नयी वधू-सी/घड़ी मेज की/ऊँघी-ऊँघी चलती है।
(इतना भर समय; पृष्ठ 43)

इन उदाहरणों में आए उपमान नए होने पर भी हमारी संवेदना को जाग्रत करने में समर्थ हैं। वे हमें चमत्कृत नहीं करते, संवेदित करते हैं।

इतने विवेचन के बाद यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि सुनीता जैन की कविताओं का अपना वैशिष्ट्य उतना अभिव्यक्ति का नहीं है जितना संवेदना का है; लेकिन अगर संवेदना विशिष्ट हो तो क्या अभिव्यक्ति निर्विशिष्ट हो सकती है?

1. सच कहती हूं : अभिव्यंजना, बी-70/72, डी.एस.आई.डी.सी. काम्प्लैक्स, लारेन्स रोड, नयी दिल्ली-110035; प्रथम संस्करण 1995; मूल्य 80 रुपये।
2. लेकिन अब : अयन प्रकाशन, 1/20, महरौली, नयी दिल्ली-110030; प्रथम संस्करण 1996; मूल्य 70 रुपये।
3. इतना भर समय : सार्थक प्रकाशन, 100ए, गौतमनगर, नयी दिल्ली-110049; प्रथम संस्करण 1998; मूल्य 90 रुपये।

एच-50, पश्चिमी ज्योतिनगर, दिल्ली-110094

डॉ. वीरेन्द्र सिंह

वैचारिकता और लालित्य को समन्वित करते निबंध

हिन्दी में ललित और भावात्मक निबंधों के रचनाकार अधिक नहीं हैं। इस दृष्टि से डॉ. दरवेश सिंह का प्रथम निबंध-संग्रह **भाव-चिंतन** उनके लालित्यपूर्ण व्यक्तित्व को व्यक्त कर चुका है और उनके नव-प्रकाशित दूसरे निबंध-संग्रह **विजन वन की सूर्यमुखी** से गुजरते हुए मुझे हमेशा यह लगता रहा कि प्रथम संग्रह की संवेदना का प्रसार एवं अर्थपूर्ण विस्तार इन निबंधों में प्रायः हुआ है। मन की तरंग का एक संयमित रूप हमें यहां प्राप्त होता है क्योंकि लेखक भाव की तरंग के साथ वैचारिकता को भी डाइल्यूट करता चलता है। ललित निबंध का मात्र एक ही रूप नहीं होता है, वे 'अभिव्यक्ति एवं मन की तरंग की दृष्टि से निर्बंध' होते हुए भी विषय में बंधे हुए भी हो सकते हैं। मैं समझता हूं कि आज के संदर्भ में ललित की भावना को 'मुक्तता' के साथ विषय से भी जोड़ना जरूरी है। मैं तो यह कहूंगा कि डॉ. दरवेश सिंह के अधिकांश निबंध इस 'निर्बंधता' और 'विषय' को इस प्रकार संयोजित करते हैं कि ललित निबंध का एक नया आयाम हमारे सामने मुखर होता है।

इस दृष्टि से मुझे उनके कुछ निबंध विशेष रूप से आकर्षित करते हैं। ये निबंध है—'करुणा', 'विनम्रता', 'पवित्रता और गरीबी', 'शक संदेह' तथा 'प्रेम'। इन निबंधों में लालित्य का रूप संवेदना और वैचारिकता के 'घोल' को प्रस्तुत करता है। 'करुणा' (तथा कुछ और भी निबंध) एक ऐसा निबंध है जिसमें विश्लेषण तथा संश्लेषण का क्रम चलता है, पर लेखक अक्सर किसी भाव या धारणा को इतना अधिक खींचता है कि उसका प्रभाव कम होने लगता है और लेखक पुनरावृत्ति का शिकार हो जाता है। मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि डॉ. दरवेश सिंह मनोविकारों, मनोवृत्तियों तथा अभिवृत्तियों के विश्लेषण में जितने पारंगत हैं, उतने अन्य विषयों में नहीं। वे यदि किसी भाव या धारणा (प्रतीक) को लेते हैं, तो उस भाव या प्रतीक के निकट मनोभावों तथा धारणाओं को सापेक्ष स्थिति में रखते हुए, उनके सूक्ष्म अंतर को स्पष्ट करते हैं। इस स्पष्टीकरण में उनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि का परिचय तो मिलता ही है, साथ ही साथ जीवन तथा जगत की क्रियाओं तथा प्रक्रियाओं से उनका सापेक्ष संबंध भी दृष्टिगत होता है। इस दृष्टि से करुणा, सहानुभूति तथा समानुभूति (एपेथी) का संबंध, विनम्रता और श्रद्धा में अंतर, 'काम' के भिन्न अर्थ, संदेह, विश्वास और श्रद्धा में अंतर तथा समानताएं, प्रेम और संदेह, प्रेम और शरीर का संबंध तथा अहंकार व अभिमान में अंतर आदि मनोवृत्तियों तथा धारणाओं के सूक्ष्म विवेचन का जो रूप इन निबंधों में प्राप्त होता है, वह एक गहरे अनुभव एवं अनुचिंतन से उद्भूत दृष्टि का परिचायक है। मैं यहाँ पर दो उदाहरण देना चाहूँगा जो मेरे उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं।

एक उदाहरण 'पवित्रता और गरीबी' निबंध से ले रहा हूं जहां श्रद्धा तथा विनम्रता के मध्य अंतर को मनोसामाजिक संदर्भ दिया गया है—''श्रद्धा अपनी वरमाला कभी भी किसी ऐरे-गैरे के गले में नहीं डालती, जबकि विनम्रता को जिस खूंटे से बांध दिया जाए उसी को अपना भाग्य समझकर अंगीकार कर लेती है। ज्ञान की आंख न हो तो श्रद्धा किसी खाई में गिर अपनी जान झोंक सकती है, लेकिन विनम्रता को इस आंख की आवश्यकता नहीं....।'' (पृ. 31) इसी प्रकार 'प्रेम' नामक निबंध में शांति को आत्मा का बिछौना और प्रेम को उसका ओढ़ना कहा गया है जो एक सूक्ष्म अंतर है जिसे सूत्र-वाक्य के द्वारा प्रकट किया गया है। आगे चलकर लेखक प्रेम के जैविक रूप को एक हल्के व्यंग्यात्मक रूप में संकेतित करता है—''ऐसे ही प्रेम है कुछ अनुरक्ति, कुछ तड़प, कुछ आकर्षण, कुछ चाहें, कुछ आहें, कुछ गीत...और अन्ततोगत्वा ''बोल बम''। इस संसार के व्यवहार में कुछ इसी कबाड़खाने का नाम प्रेम है।'' (पृ. 57) इन उदाहरणों से जहां एक ओर यह स्पष्ट होता है कि लेखक के पास भाषा का रूपकात्मक लालित्य है, वहीं यह भी प्रकट होता है कि वह सूत्र-वाक्यों के द्वारा अपने विवेचन तथा विश्लेषण को संश्लेषणात्मक निष्कर्ष-वाक्यों में प्रस्तुत करता है। कुछ अन्य उदाहरण लें—(1) ''यह वह गरीबी (आत्मिक) है जो बुद्ध-महावीर की तरह अमीर होने के बाद ही पैदा होती है।'' (पृ. 33) (2) ''काम स्वत्व में प्रवेश करता है और नाम पराए कानों में घुसता है।'' (पृ. 70) तथा (3) ''अपनी ओर मुंह करके खड़ा हुआ 'अहं' अहंकार है और जगत की ओर मुंह उठाए दौड़ता हुआ 'अहं' अभिमान है।'' (पृ. 94) इस प्रकार के वाक्य पुस्तक में बिखरे पड़े हैं जो यह स्पष्ट करते हैं कि 'पिंड में ब्रह्मांड' या 'गागर में सागर भरना' एक कौशल भी है जो चिंतन की अपेक्षा रखता है।

लेखक ने अपने निबंधों में जिस वैचारिकता या चिंतन को अर्थ दिया है, वह मेरे विचार से निरपेक्ष न होकर सापेक्ष स्थितियों तथा प्रक्रियाओं का ही एक विवेकसम्मत रूप है। चिंतन विवेक का पक्षधर है, न कि रूढ़ियों तथा अंधविश्वासों का। यह एक वैज्ञानिक दृष्टि है। लेखक के अधिकांश निबंध उसी विवेक को न्यूनाधिक रूप से प्रकट करते हैं।

विजन वन की सूर्यमुखी (ललित निबंध) : डॉ. दरवेश सिंह; कुसुम प्रकाशन, मुज़फ्फरनगर (उ. प्र.); मूल्य 100 रुपये

5 झ 15, जवाहर नगर, जयपुर-302004

पुष्पा गर्ग

रचना-कर्म के साथ चलता आलोचना-कर्म

जिस प्रकार अभिव्यक्ति मानवीय स्वभाव का एक अनिवार्य अंग है, उसी प्रकार आलोचना करना भी सहज मानवीय वृत्ति है। साहित्य को स्वान्तः सुखाय मानते हुए भी पाठक और समीक्षक उसे अपने दृष्टिकोण से जांचते हैं। इस दृष्टि से विधागत आलोचना एवं कृतित्वगत आलोचना में अन्तर होता है। डॉ. गुरचरण सिंह ने अपनी पुस्तक समकालीन सन्दर्भ और नरेन्द्र मोहन की कविता में इस दायित्व का कुशलतापूर्वक निर्वाह किया है।

इस पुस्तक में नरेन्द्र मोहन के कवित्व को उनके व्यक्तित्व के समानान्तर रखते हुए परखने का प्रयास किया गया है। इस सन्दर्भ में स्वयं कवि से लिया गया साक्षात्कार और उनकी टिप्पणियां एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।

पुस्तक में कवि की स्थापनाओं और साहित्य में विचार की भूमिका को उभारा गया है, जिसके द्वारा साहित्य एवं समसामयिक परिवेश की जांच-पड़ताल का कार्य सुगमता से किया जा सकता है। यहां 'विचार कविता' आन्दोलन के सन्दर्भ में कवि की महत्त्वपूर्ण भूमिका और जीवन से कविता में छनकर आते विचार की प्रामाणिकता पर बल दिया गया है। कृतिकार एवं कथ्य दोनों ही समाज से संदर्भित हैं, अतः कविता क्षणिक आवेग न होकर जीवन्त एवं निरन्तर प्रवहमान प्रक्रिया हो जाती है। इसलिए कविकर्म और रचना-प्रक्रिया का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकारा गया है। कविकर्म के प्रति सजग रचनाकार की चेतना को रचना की पूर्व स्थितियां प्रभावित करती हैं। इस प्रकार मस्तिष्क में विचार की उत्पत्ति और कविताओं में उसका प्रतिफलन एक सुविचारित क्रिया है। कविताओं में उपलब्ध सामाजिक सन्दर्भों की जांच-पड़ताल करते हुए गुरचरण सिंह ने कवि के सामाजिक सरोकार पर विस्तार से लिखा है।

कवि साहित्य में भाषागत दायित्व को भी महत्त्वपूर्ण मानता है। भाषा के द्वारा ही युगानुरूप भावाभिव्यक्ति सम्भव है, अतः युगानुरूप भाषागत परिष्कार भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कवि की इस स्थापना को आलोचक ने उनकी कविताओं के माध्यम से सिद्ध किया है। कविताओं से उदाहरण देते हुए डॉ. गुरचरण सिंह ने इनमें प्रयुक्त स्थितियों की आंतरिकता एवं जटिलता को पूर्णतः प्रकट किया है। साथ ही भाषा को एक रचनात्मक कार्यवाही के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है। भाषागत स्थापनाओं के सन्दर्भ में ही आलोचक ने कवि की लम्बी कविताओं से इतर कविताओं पर भी अपनी दृष्टि रखी है और उदाहरणों द्वारा भाषागत नवीन शब्द-प्रयोगों, नवीन बिंबों एवं प्रतीकों को रेखांकित किया है।

नरेन्द्र मोहन ने लम्बी कविताओं के शिल्प-विधान पर बहुत कुछ लिखा है और स्वयं भी लम्बी कविताओं की रचना की है। इस सन्दर्भ में कवि के उल्लेखनीय योगदान की आलोचक ने चर्चा की है। कवि के मतानुसार प्रबन्धकाव्यों का ढांचा काव्यानुभव को जकड़ता है, रचनात्मक चुनौतियों का सामना करने में असमर्थ होता है, लेकिन लंबी कविताएं स्थितिगत वैविध्य एवं समकालीन परिवेश की जटिलता को कुशलता से प्रकट करती हैं। आलोचक ने कवि-मानसिकता के अनुरूप लम्बी कविताओं में व्याप्त दीर्घकालीन तनाव, अनुभवगत वैविध्य, मानवीय स्वभावगत वैचित्र्य एवं मानसिक प्रभावों को गहराई से समझा और प्रकट किया है। इस दृष्टि से कवि की लंबी कविताओं को विभिन्न दृष्टियों से आलोचक ने विवेचित किया है।

नरेन्द्र मोहन की लम्बी कविता 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' विभाजन की त्रासदी पर आधारित है। कवि स्वयं इस अनुभव से गुजरा है, विभाजन से सम्बन्धित सभी अमानवीय स्थितियों का आतंक उसने स्वयं भोगा है, अतः कविता में व्याप्त स्थितियां अनुभवगत एवं वैचारिक प्रामाणिकता से पूर्ण हैं। डॉ. गुरचरण सिंह ने कविता के विस्तृत फलक, जो स्वतन्त्रता-प्राप्ति से लेकर स्वतन्त्रता के उपरान्त के मोहभंग तक फैला है, के प्रत्येक बिन्दु को उठाया है तथा उसे स्पष्ट किया है। मानवीय मूल्यों एवं नैतिकता के ह्रास तथा जनसाधारण में व्याप्त आतंक को जिस तरह यहां उभारा गया है, उसे आलोचक ने ऐतिहासिक-मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा है। जनसाधारण की इच्छा के विपरीत राजनेताओं के संकेत पर साम्प्रदायिकता का वृक्ष कैसे फलता-फूलता है और विभिन्न पीढ़ियों के सम्बन्धों को विषैला बना देता है, इसे आलोचक ने सांस्कृतिक दृष्टि से देखा है। जन साधारण तो अदम्य शक्ति एवं विवशता के बावजूद पराजित नहीं होता, बल्कि मानवीय हो पाने के लिए निरन्तर संघर्षरत रहता है। आलोचक ने इस आधार को ग्रहण करते हुए नरेन्द्र मोहन की कविता के वस्तु पक्ष का ही नहीं, शिल्प पक्ष का भी विवेचन किया है और तत्कालीन परिवेश,

परिस्थितिजन्य तनाव की संप्रेषणी[illegible] एवं प्रामाणिकता के लिए कवि द्वारा प्रयुक्त ऐतिहासिक सन्दर्भों, नवीन बिम्बों-प्रतीकों के सहज प्रयोग की ओर इसीलिए उसका ध्यान भी गया है।

'एक अदद सपने के लिए' लम्बी कविता में वर्तमान पंजाब की पृष्ठभूमि विद्यमान है, जो पंजाब में पनपती धर्मांधता, कट्टरता, आतंकवाद एवं अलगावादी ताकतों के समानान्तर मानवीय सरोकारयुक्त विकल्प की तलाश एवं स्थापना पर बल देती है। आलोचक ने इस कथ्य को कई तरह से देखा-समझा है। इस कविता में व्याप्त प्रदीर्घ तनाव और नाटकीयता को आलोचक ने उभारा है। संस्कृति की पहचान के उद्देश्य की पूर्ति के लिए कवि द्वारा प्रयुक्त सांस्कृतिक प्रतीकों और बिंबों के प्रयोग की अनिवार्यता को दर्शाया है। वह वर्तमान को इतिहास के द्वारा और इतिहास को वर्तमान के द्वारा पहचानने की बात पर बल देता है। वह कविता में निहित उद्देश्य को पात्रों के माध्यम से स्पष्ट करता है कि विविध परम्पराओं वाला देश आज आस्था और नैतिकता के किस संकट-बिन्दु पर खड़ा है। आलोचक को लगता है कि कवि इस संकट से जूझा है और सपनों को भाषा में ढालने की कला में वह समर्थ है।

'खरगोश और नीला घोड़ा' इतिहास के बजाय प्रेम के फलक पर विकसित लम्बी कविता है। आलोचक ने जीवन में प्रेम की व्याप्ति एवं अनिवार्यता को दर्शाते हुए सामाजिक दोहरेपन को स्पष्ट किया है कि आज भी विजातीय विवाह समाज में सहज स्वीकार्य नहीं है। इस प्रकार जीवन में धर्म की भूमिका नकारात्मक ही सिद्ध होती है—वह जोड़ने के बजाय तोड़ने का काम करता है।

आलोचक कवि-कर्म की महत्ता के सन्दर्भ में चिन्तन की अनिवार्यता के द्वारा रचनात्मक अभिव्यक्ति की आवश्यकता पर बल देता है ताकि समाज को नवीन तथा प्रेरक सृजन प्राप्त हो सके। साथ ही आलोचक कहता है कि आलोचना को भी बंधी-बंधाई परिपाटी से निकलकर रचना की आत्मा की गहराई तक जाकर उसे आत्मसात करना होगा। तभी रचना एवं आलोचना के मध्य संतुलन स्थापित हो सकेगा। इस प्रकार आलोचक ने समकालीन कविता में 'विचार' की भूमिका एवं लम्बी कविताओं के रचना-विधान की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है और कवि नरेन्द्र मोहन के रचना-कर्म की बड़ी गहराई से पूर्वाग्रहमुक्त होकर आलोचना की है। यह आलोचना-कर्म रचना-कर्म के साथ-साथ चलता है।

समकालीन संदर्भ और नरेन्द्र मोहन की कविताः डॉ. गुरचरण सिंह; जनप्रिय प्रकाशन, दिल्ली-110032; संस्करण 1995

बी-2170, सफदरजंग एन्क्लेव, नयी दिल्ली-110029

डॉ. सुभाष रस्तोगी

आस्था की डगर का सहयात्री बनाती तीर्थ-यात्रा

पत्रकारिता और सृजनात्मक लेखन को एक साथ लेकर चलना एक तरह से दो नौकाओं पर सवार होकर चलने के समान है और इन दोनों के बीच संतुलन बिठा पाना सचमुच अद्‌भुत कौशल का काम है। हिन्दी में सृजनात्मक लेखन और सक्रिय पत्रकारिता को एक साथ लेकर चलने वाले लेखक कम नहीं है, लेकिन दोनों के बीच संतुलन बिठाकर चलने वाले लेखकों की संख्या विरल है।

अनेक पुरस्कारों से सम्मानित हिन्दी के वरिष्ठ पत्रकार और जाने-माने साहित्यकार श्री विजय सहगल हिन्दी के कुछ ऐसे ही गिने-चुने लेखकों में से हैं जो पत्रकारिता और सृजनात्मक लेखन में अद्‌भुत संतुलन साध पाए हैं। उनका मानना है कि पत्रकारिता और सृजनात्मक लेखन दोनों एक दूसरे के पूरक हैं तथा सांस्कृतिक चेतना पत्रकारिता और सृजनात्मक लेखन के लिए जरूरी है।

श्री विजय सहगल के सद्यः प्रकाशित यात्रा-वृत्तान्त **आस्था की डगर पर** में सांस्कृतिक चेतना और मानवीय मूल्यों के प्रति पक्षधरता उनके रचना-सरोकारों के बीज-रूप में मौजूद है। इस यात्रा-वृत्तान्त के मूल में सत्य को अखंड रूप में देखने की दृष्टि विद्यमान है। प्रस्तुत यात्रावृत्त में ऋषिकेश से श्री बदरीनाथ तक की तीर्थयात्रा के दृश्यबंध जीवन की एक विशिष्ट अनुभूति के समान हैं। बीच-बीच में श्री सहगल के पत्रकार की तथ्यान्वेषी उत्सुकता से उपजी प्रश्न पूछने की प्रवृत्ति ने इस यात्रा-वृत्तांत में ऐसा वर्तमान रच दिया है जो कभी पुराना नहीं पड़ेगा। वास्तव में श्री विजय सहगल जैसा सिद्धहस्त रचनाकार विधा के साथ खेलता है, वह विधा के बंधनों से नहीं बंधता। इसलिए प्रस्तुत यात्रा-वृत्तांत के शब्द-शब्द में कहानी और उपन्यास की विधाएं और सत्यान्वेषण को समर्पित एक जागरूक पत्रकार की समसामयिक प्रश्नों के प्रति चौकस दृष्टि आत्मसात होती चली गई है।

हालांकि इस यात्रा-वृत्तांत में श्री सहगल आस्था और विश्वास की डगर पर चले हैं, लेकिन उनकी यह आस्था अंधश्रद्धा का पर्याय नहीं है। इसलिए उन्होंने पौराणिक प्रकरणों और जनश्रुतियों का प्रयोग वहीं तक किया है जहां तक वह इतिहास के कुहासे में लिपटे सत्य को उजागर करने में सहायक हुआ है। ऋषिकेश से श्री बदरीनाथ तक के इस यात्रा-वृत्तांत में केवल खाने-पीने, उठने-बैठने, सोने और जागने के एक ढर्रे पर चलने वाले नीरस ब्यौरे नहीं हैं, बल्कि यात्रा के एक-एक चरण से जुड़े पौराणिक संदर्भों को इस तरह से सूत्रबद्ध शैली में

उद्घाटित किया गया है कि लेखक की बहुज्ञता पर अचरज होता है। वे हर स्थान के अतीत को तलाशते है और फिर आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उसकी संगति बिठाते हैं। हेमकुंड तीर्थ का पुरातन शास्त्रसम्मत इतिहास जिस तरह से सर्वधर्मसमभाव की दृष्टि के साथ उद्घाटित हुआ है, वह पाठक के लिए स्वयं में एक विरल अनुभव है। पतितपावनी गंगा से जुड़ी जनश्रुतियां जिस तरह से पाठक की स्मृति का स्थायी हिस्सा बनती चलती हैं, वहां लेखक का सामान्य प्रसंगों में भी कथा-रस घोलकर उसे जीवन-संजीवनी से पुष्ट करने का कौशल देखते ही बनता है। यहां शब्द-शब्द में आस्था व्याप्त है इसलिए पाठक भी श्रीनगर गढ़वाल से हेमकुंड साहब तथा श्री बदरीनाथ तक की यात्रा में लेखक के साथ सहयात्री बना हुआ एक अलौकिक सुख का अनुभव करता है, लेकिन यहां एक पत्रकार की तथ्यान्वेषी उत्सुकता पाठक को यह भी बताती चलती है कि हिमाचल की तरह गढ़वाल का अभी उतना अधिक विकास न हो पाने का एकमात्र कारण यही है कि उसे अभी तक अलग पर्वतीय क्षेत्र का दर्ज़ा नहीं दिया गया है। विकास-योजनाओं पर भी लेखक की सत्यान्वेषी दृष्टि गई है। यही सत्यान्वेषी दृष्टि हेमकुंड तीर्थ के पवित्र दर्शन कराती हुई श्री गुरु गोबिन्द सिंह द्वारा लिखित काव्यात्मक 'विचित्र नाटक' की इन पंक्तियों पर जाती है—

अब मैं अपनी कथा बखानूं, तप साधत जेहि बिधि मोहि जाना
हेमकुंड पर्वत है जहां, सप्तशृंग सोहत है वहां
सप्तशृंग तोहि नाम कहावा
पांडुराज जहां जोग कमावा
तहं हम अधिक तपस्या साधी
महाकाल कालिका आराधी।

ये पंक्तियां हेमकुण्ड तीर्थ के महात्म्य और पुरातन इतिहास को तो उद्घाटित करती ही हैं, लेखक की उस कालवेधक दृष्टि को भी उजागर करती हैं जिसके चलते वह कहीं वर्णनों में, अपनी टिप्पणियों में, समुद्र तट से चुनींदा सीपियां उठाकर उन्हें इस तरह से अपनी बंद मुट्ठी में हिला कर फेंक देता है कि हमारी भव्य सांस्कृतिक विरासत अपनी संपूर्ण दिव्यता के साथ पाठकों के नेत्रों को चौंधियाती हुई मूर्तिमान हो उठती है।

फूलों की घाटी, जो खतरनाक भी है, की भाषा की चित्रात्मकता हिन्दी गद्य के अभूतपूर्व वैभव के रूप में देखी जा सकती है। कभी देखी न सुनी—फूलों की ऐसी असंख्य प्रजातियां इस अध्याय में पाठकों की जानकारी का हिस्सा बन कर उन्हें हतप्रभ करती है और यह तथ्य भी उद्घटित करती हैं कि एकोनाइटम, कोजरा, लिली और कोडानाकिस जैसे बेहद खुशनुमा, रंग-बिरंगे और आकर्षक फूल प्राणघाती भी हो सकते हैं। आपने उनके सौन्दर्य के वशीभूत हो जैसे ही उन्हें छुआ कि आपकी जीवनलीला समाप्त। अंग्रेजी के मुहावरे 'टच मी नॉट' के [illegible] फूलों की घाटी बेहद हैरतअंगेज अचरजों से भरी पड़ी है। फ्रैंक स्मिथ द्वारा साठ वर्ष पूर्व खोजी गई फूलों की यह घाटी धरती का 'नंदन कानन' है। लेखक देवोपम सौंदर्य वाली इस फूलों की घाटी के भविष्य के प्रति चिंतित है। उसे यह चिंता है कि कहीं हमारी जीवन शैली का अंग बन चुकी कुप्रबंधन की महामारी इसके सौंदर्य को भी न ग्रस ले।

बदरी विशाल के दिव्य-दर्शन तो पाठक की चेतना को अभिभूत कर देते हैं। समुद्रतल से 3133 मीटर की उंचाई पर नर-नारायण पर्वतों के मध्य स्थित बदरीनाथ की समतल घाटी से जुड़ी अनेक पौराणिक गाथाएँ यह तो प्रतिपादित करती हैं कि यह क्षेत्र देवभूमि अवश्य रहा होगा। श्री बदरीनाथ मंदिर में प्रतिष्ठित मूर्ति को बौद्ध अनुयायियों का बुद्ध की मूर्ति मानना, जैन धर्मावलंबियों का पारसनाथ की प्रतिमा और पौराणिक संदर्भों द्वारा प्रतिमा के श्री विष्णु भगवान यानी श्री नारायण की मूर्ति होने की पुष्टि करना गोसाईं तुलसी दास जी की उस वैष्णवी धारणा (जो भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र भी है) से अभिन्न प्रतीत होता है—

जाकी रही भावना जैसी,
प्रभुमूरति देखी तिन तैसी।

हिन्दी में राहुल के बाद ऐसे यात्रा-वृत्तांत कम ही आए हैं जिनमें हिन्दी गद्य का वैभव राहुल की भाषा जैसा विद्यमान हो। भाषा का ऐसा ही वैभव 'आस्था की डगर पर' में दिखाई देता है। देखें एक उद्धरण—'ऊंचे हिमाच्छादित पर्वतों तथा ग्लेशियरों से घिरी फूलों की घाटी अपने सुरम्य परिवेश और रंग-बिरंगी फूलों की असंख्य प्रजातियों की वजह से विश्व भर में अद्वितीय है। यह घाटी वर्ष में काफी समय बर्फ से ढकी रहती है। मौसम खुल जाने के बाद यहां असंख्य रंग-बिरंगे फूलों को देखकर ऐसा लगता है जैसे ऋतुराज बसंत ने अपना पूरा खजाना इस घाटी में लुटा दिया हो।'' (पृ. 50)

श्री सहगल ने अनेक स्थलों पर अपने धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक सांस्कृतिक विचार भी प्रक्षेपित किए हैं जिनसे उनकी लेखकीय/व्यक्तिगत रुचि, प्रकृति, दृष्टि की छाप उभरकर सामने आती है। भारत के ज्योतिपुंज श्री बदरीनाथ धाम के साथ ही हम विजय सहगल के अंतस में स्थित उस ज्योतिपुंज को भी देख पाते हैं जो अपने मानवीय आशयों में उदात्त और विराट है। वह देश के अभूतपूर्व सांस्कृतिक वैभव और उसकी दिव्यता से हमारा साक्षात्कार कराके हमारी निज की आस्था को पुष्ट करता है। हमें जोखिमों और चुनौतियों के सामने ला खड़ा करता है। हमें बनाता-संवारता है और विजय सहगल की आस्था की इस यात्रा का सहयात्री बनाता है।

आस्था की डगर पर : विजय सहगल; किताबघर, नई दिल्ली मूल्य - 50 रुपये

2171/22-सी, चंडीगढ़ - 160022

मंजुल भगत

ठहर-सबर कर लिखी गई कहानियां

इस संग्रह की शीर्षक कहानी 'सीढ़ियां' ''निगेटिव' शीर्षक से 'हंस' के दिसम्बर '96 के अंक में छपी थी। यह कहानी एक यात्रा है, यो तों साधारण-सी, कनाट प्लेस तक की, राजधानी की बस में, परन्तु इस बाहरी यात्रा के साथ-साथ, मुख्य पात्र 'मैं' यानी ऋता की जो अन्तर्यात्रा चलती रहती है, वही प्रभावित भी करती है और पाठक को अपने साथ लिए चलती है। कहानी में भाषा व भावों का सहज-सरल प्रवाह है जो कहीं भी बाधित नहीं होता। वास्तविक धरातल पर चढ़ती उम्र के तकाज़े हैं। तकाज़े और भी हैं—आधुनिक अर्थ में भौतिक सफलता अर्जित करने के....सियारपन और धुर स्वार्थ के, छलकपट को कला मानने-मनवाने के। दूसरे लोगों को थोड़ा गिराकर अपनी महानता सिद्ध करना 'द कान्ट्रास्ट गेनर' वाले व्यक्तित्व की खूबी है और आज का यथार्थ है। 'कैलकुलेटर' एक और सटीक शब्द है इंसानों के लिए जैसे शरद, जिसने प्यार ऋता से किया और अमेरिका में विवाह कर किसी अन्य लड़की को सफलता की सीढ़ी बना लिया। अलकनन्दा, एक और चरित्र है जिसको अपनी सुन्दरता व स्मार्टनस के बल पर, डॉ. कर्माकर एक सीढ़ी के रूप में मिल गए। स्वस्थ महत्वाकांक्षा प्रेरक और कर्मकाण्डी होती है किन्तु निर्मम और संवेदनाशून्य होकर वह टुच्ची हो जाती है। ऐसा खाका खींचते चलने में भय यही होता है कि लेखिका के मन में जड़ पकड़े पूर्वाग्रह हर किसी को लपेटे में ले सकते हैं। हरेक को एक ही तुला में तोलता यह दुराग्रह संभवतः स्वयं को भी उसी सांचे में ढाल ले जाए । इसी कारण दूसरे के प्रति भी एक संतुलित और भोला नज़रिया अपेक्षित है।

'लिंकिंग रोड' इस संग्रह की दूसरी अच्छी कहानी है। तलाकशुदा नज़्म अपने अतीत के प्रेमी-पति असीम से अनायास मिलती है और अपने आपको फिर से दोराहे पर खड़ा पाती है। उसके मन में ऊहापोह है क्योंकि असीम व उसकी मां उसे लौट आने का निमन्त्रण दे रहे हैं। नज़्म के बीते घाव अब भी टीसते हैं। सन्तोष ने इस ऊहापोह को बारीकी से संभाला है। कहानी के शुरू का बाहरी आनन्द अनायास दुविधा-द्वन्द्व में परिवर्तित हो जाता है। मुम्बई की यात्रा में चलते समय एक विरोधाभास छिपा था। ''मन चाहता था असीम, मम्मी के साथ लेने आए, फिर यह भी कि वे तब आएं जब ट्रेन छूट जाए।'' अनिर्णय की यह स्थिति ही सर्वाधिक पीड़ा पहुंचाने वाली होती है। इस कहानी का ताना-बाना बुनने में भी सन्तोष की वही सहज-सरल शैली और अभिव्यक्ति सम्मुख आती है।

'कोबरा' कहानी में कहीं कुछ छूटा रह गया है, जो ब्राउन धारियों वाले बैग के नाग जैसा डस लेने को स्पष्ट नहीं कर पाता। कहानी में नैरेशन बहुत अधिक है। जहां लेखक बोलने लगता है, वहां कहानी और पात्र बोलना बन्द कर देते हैं। पालने वाली मां को श्रीमती वर्मा का पत्र पढ़ते ही दिल का दौरा क्यों पड़ा—इस रहस्य को छिपाए कहानी कुछ फिल्मी हो गई है और धुंधली भी। मेरे हिसाब से पारदर्शी स्पष्टता कहानी की पहली शर्त है जो सन्तोष की अन्य कहानियों में है। 'रस्सी' एक अच्छी कहानी है। मन है तो मनोविज्ञान होगा ही। ऐसा कोई चरित्र नहीं होता जिसके पास मन न हो। इसीलिए ऐसी कोई कहानी नहीं होती जिसमें मनोविज्ञान न हो किन्तु अहम् है कहानियों पर ठहर-सबर कर कलम चलाना, एक दृश्य से अधबीच उठकर, दूसरे पर लपकना-उड़ना नहीं। सन्तोष में यह धैर्य है। परन्तु दीगर और दिलचस्प बात यह है कि सन्तोष जो कुछ भी अपनी कहानियों के लिए स्वयं कहती हैं उससे अधिक उनकी कहानियां कहती हैं। खरीदकर अथवा पुस्तकालय से लेकर पढ़ने योग्य कहानी-संग्रह है।

सीढ़ियां व अन्य कहानियां : सन्तोष गोयल; जगतराम एंड सन्स, 1997; पृष्ठ 87; मूल्य 60 रुपये

2428 - हडसन लाइन्ज़, दिल्ली - 110009

डॉ. साधना अग्रवाल

पर्वतीय अंचल के जीवन का प्रामाणिक चित्र

कसक कुमाऊंनी लोक साहित्य एवं संस्कृति के मर्मज्ञ डॉ. देवसिंह पोखरिया का पहला उपन्यास है। उपन्यास आत्मकथात्मक संस्मरण शैली में लिखा गया है जिसमें नायक दीपक प्रत्येक खंड में फ्लैश बैक में जाकर अपनी कथा पाठकों के सम्मुख रखता है। दीपक एक सीधा-सच्चा प्राध्यापक है जिसका विवाह उसके पिता उसकी मर्जी के बिना रूपा नाम की लड़की से कर देते हैं जिससे वह बिल्कुल भी प्यार नहीं करता। लाचारी में पति-पत्नी का सम्बन्ध निभाता है। असल में प्यार तो वह उपन्यास की नायिका ज्योति से करता है लेकिन विवाहित होने के कारण वह सामाजिक मान-मर्यादा से बहुत डरता है और अपने प्यार का इजहार नहीं कर पाता है। दीपक अपने विवाहित जीवन से बिल्कुल भी संतुष्ट नहीं है।

इस उपन्यास में लेखक ने भारतीय, खासकर पर्वतीय अंचल की, परम्पराओं पर प्रहार किया है—''हमारे पहाड़ में ऐसे कितने ही ब्याह होते हैं, जिनमें वर-वधू को मालूम भी नहीं होता कि हमारा ब्याह हो गया है। माँ-बाप को खेती के काम में हाथ बटाने के लिए लड़की चाहिए, बस। जैसे ब्याह वे अपने लड़के का नहीं, अपना कर रहे हों, अपने काम व खेती से कर रहे हों, लड़की छोटी हो या बड़ी उससे कोई फरक नहीं पड़ता। चाहे जोड़ा मिले या न मिले।'' (पृष्ठ 7) यहाँ पर्वतीय नारी का चित्र भी अनायास ही हमारे सामने आ जाता हैं

विवाहित जीवन से संतुष्ट न हो पाने और अपने प्रेम को न पाने के कारण ही दीपक शराब का सहारा लेता है और तरह-तरह के नशे का आदी हो जाता है। सफल दाम्पत्य जीवन के लिए यद्यपि यौन तृप्ति आवश्यक है लेकिन केवल यौन संतुष्टि ही सुखमय दाम्पत्य जीवन का आधार नहीं हो सकता। दीपक सामाजिक मर्यादाओं और सीमाओं में बंधा हुआ है, इसी कारण वह अपनी प्रेमिका ज्योति से कभी भी अमर्यादित व्यवहार नहीं करता। इस उपन्यास में लेखक ने अश्लीलता को कहीं भी स्थान नहीं दिया है। नायिका ज्योति यद्यपि सारे बंधनों को तोड़ देना चाहती है लेकिन दीपक ऐसा नहीं करता। ज्योति दीपक को पत्र लिखती है और अपने मन की व्यथा कहती है—''अब मैं तुम्हारे द्वन्द्व को समझ सकी हूं दीपक।....मेरी ओर से दिया गया आमंत्रण भी तुम्हें उद्दीप्त न कर पाया....। तुमने यह सब क्यों नहीं किया दीपक, क्यों नहीं किया? मैं आज भी छटपटा रही हूं...। मेरे अधर आज भी प्यासे हैं...। मेरी छाती आज भी तुम्हारे नाम से धड़कती है, मेरी आंखें आज भी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हैं। मैं ऐसी ज्योति हूं, जो दीपक में रह कर भी जल न पायी....।'' (पृष्ठ 165)

यह उपन्यास प्रेम के त्रिकोण को लेकर लिखा गया है जिसमें नायक दो नारियों के बीच मानसिक तनाव और द्वन्द्व से घिरा रहता है। उसमें इतना साहस नहीं है कि वह अपने विवाहेतर प्रेम को उजागर कर सके। यही कारण है कि नायक अपनी अतृप्त भावनाओं और कुंठाओं के कारण नशे का आदी हो जाता है।

इस उपन्यास में लेखक ने वर्तमान शिक्षक का चरित्र अनजाने ही उजागर कर दिया है—''भई हरामी कौन नहीं? आज का पूरा का पूरा अध्यापक वर्ग (पाँच प्रतिशत छोड़कर) इस श्रेणी में आ जाता है...। पढ़ाई नहीं...अध्ययन-अध्यापन नहीं...लड़कों को परस्पर लड़ाना... गुटबंदी...चमचागिरी, महत्व प्राप्ति का हर प्रयत्न करना....बैठे-बैठे तनख्वाह पचाना...लड़कियों की बातें करना, राजनीतिक पक्ष धरना, दूसरे के दोष तीसरे से कहना....छिद्रान्वेण...घर में बीबी को छोड़ मैडमों से गप्पें लड़ाना....बस यही सब तो उनके जिम्मे रह गया है...इन सब में ही वे अपने आचार्यत्व की इतिश्री समझ लेते हैं...। दायित्वहीन....कर्महीन....बेचारे अध्यापक।' (पृष्ठ 70)

लेखक का मानना है कि आज सम्पूर्ण शिक्षा-व्यवस्था चरमरा गई है, इसीलिए अध्यापक और विद्यार्थी दोनों के बीच कोई आत्मीय सम्बन्ध नहीं है। ज्ञानार्जन और ज्ञान प्रदान करने की कोई कड़ी नहीं। अतः मर्यादा, आदर्श, नैतिकता, ज्ञान ढूंढने से भी दिखाई नहीं देते। इसके लिए जिम्मेदार हम सब हैं, हमारा पूरा समाज है।

उपन्यास की भाषा तत्सम शब्दावली प्रधान है किन्तु विदेशी और तद्भव तथा स्थानीय कुमाऊँनी शब्दों को भी लेखक ने बखूबी व्यवहृत किया है। कहीं-कहीं कहावतों का प्रयोग भी देखने को मिलता है।

लेखक के हृदय की यह कसक (टीस) उभरकर हमारे सम्मुख आती है कि सामाजिक मान-मर्यादाओं और परम्पराओं में जकड़े हुए समाज ने एक व्यक्ति को क्या से क्या बना दिया। कुल मिलाकर 'कसक' में भारतीय पर्वतीय अंचल की जिन्दगी का प्रामाणिक स्वरूप उभरकर आया है।

कसक : डॉ. देवसिंह पोखरिया; श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, माल रोड, अल्मोड़ा; प्रकाशन वर्ष : 1995; पृष्ठः 185; मूल्य 140 रुपये

हवेली हाउस, टम्टा मुहल्ला अल्मोड़ा-263 601 (उ.प्र.)

मोहनदास नैमिशराय

दलित मुक्ति का सवाल

जय प्रकाश कर्दम का कविता-संग्रह **गूंगा नहीं था मैं** पिछले एक दशक से दलित साहित्य पर हो रही बहस की कड़ी बनकर पाठकों के सामने आया है।

कर्दम जी ने अपनी अधिकांश कविताओं को बेलाग और सपाट रूप में प्रस्तुत किया है। या यूं कहिए कि कविता के बहाने दलित समाज के एक पढ़े-लिखे व्यक्ति ने जातियों की गुफाओं में घुसकर अतीत को कुरेदते हुए अपने आक्रोश को बाहर निकाला है। यह बात लिखने की जरूरत इसलिए पड़ी कि शब्दों की सटीक अभिव्यक्ति पर अगर वे गंभीरतापूर्वक ध्यान देते तो कविता की प्रखरता तथा ओज में कुछ अधिक ही जुड़ता। उदाहरण के लिए 'किले' कविता का आरंभ बहुत अच्छे तथा सधे हुए शब्दों से हुआ, पर मध्य में आते-आते कविता बिखरने लगती है। वहां शब्दों की मार कम हो जाती है, इसलिए कि शब्दों की भीड़ से अलग-अलग तरह के हथियार निकलते दिखाई पड़ते हैं।

इस कविता में तथा अन्य कविताओं में भी हिन्दू और बौद्ध दर्शन का मिला-जुला प्रभाव मिलता है, जिससे पाठक एक बार तो भ्रमित-सा होने लगता है। भाग्य, भगवान, शुभ, अशुभ जैसे शब्दों का बार-बार प्रयोग होना इस बात की ओर संकेत करता है कि स्वयं कवि अपने भीतर से जीवित या मरी हुई आस्थाओं/ परपराओं/ विचारों को नहीं निकाल पा रहा है।

कवि के बार-बार भगवान/पंडों/मन्दिरों के आगे फिल्म की असहाय नायिकाओं की तरह आंखों में आंसू भरकर सर पटकते हुए कभी भगवान की महिमा की दुहाई देने और कभी कोसने से विरोधाभास ही झलकता है।

'गूंगा नहीं था मैं' कविता को तो सिर्फ संवाद की ही संज्ञा दी जा सकती है। दूसरी तरफ 'दरख्त' शीर्षक छोटी कविता बहुत खूबसूरत अंदाज में पाठकों पर प्रभाव छोड़ती है हालांकि न उसमें अलंकारों का प्रयोग है और न प्रतीकों का। बस सधे हुए शब्द हैं। इसके अलावा कुछ अन्य कविताएं भी मुक्ति और सामाजिक न्याय का सन्देश देती हैं तथा पाठकों को जुल्म और अत्याचार से सजग करती हैं। वास्तव में इस तरह की कविताओं की आज दलित साहित्य में जरूरत भी है।

कविताओं के आसपास रेखाचित्रों का प्रयोग होना अच्छी बात है। रेखाचित्र सामाजिक न्याय के आंदोलन का संदेश और शिद्दत के साथ देते हैं लेकिन उन में गंभीरता तथा पैनापन नहीं हो तो वे उपहास बन जाते हैं। अधिकांश रेखाचित्रों में वैसी गहराई नहीं है। लगता है, ये चित्र चलते-चलते बनाए या बनवाए गए हैं।

एक और महत्वपूर्ण बात यह कि कवि ने जिस आम आदमी की बात अपनी कविताओं में की है उसके हाथ में अगर 65 रुपये की किताब जाती है तो निश्चित ही यह अजीब लगने वाली बात है। किताब का मुखपृष्ठ तो माना जा सकता है कि सांकेतिक भाषा में ठीक है पर अन्दर के पृष्ठों की स्थिति वैसी नहीं। इससे प्रकाशक के कच्चेपन का ही पता चलता है जो पाठकों को पेपर बैक संस्करण के रूप में न तो सस्ती किताब ही उपलब्ध करा सका और न पुस्तकालय संस्करण में अच्छे कागज पर छपी पुस्तक ही।

जय प्रकाश कर्दम जी की 'कहना जरूरी है' को क्या उतने विस्तार से कहना जरूरी था? कविताएं ही सब कुछ कह देती हैं। उनके बारे में पृष्ठभूमि बनाने का कोई औचित्य नहीं। अंत में इस कविता-संग्रह के बारे में इतना तो कहा ही जा सकता है कि दलित मुक्ति के सवाल को कर्दम जी ने दलित साहित्य से जोड़ने का जो प्रयास किया है, वह प्रशंसनीय है। इस तरह की कोशिशें ही हिन्दी में दलित साहित्य की सृजनात्मकता को बल प्रदान करेंगी।

गूंगा नहीं था मैं: जयप्रकाश कर्दम; आतिश प्रकाशन, हरिनगर, दिल्ली-64; प्र. सं. 1997; पृष्ठ 72; मूल्य 65 रुपये

बी जी 5ए/30 बी, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-63

दुर्भाग्य दोष क्योंकर हुआ?

इस बार कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा **लगता नहीं है दिल मेरा** का उल्लेख करना चाहती हूं। इस पुस्तक में रुचि कसमसाई 'वैचारिकी संकलन' के फरवरी (1998) अंक में इसके विषय में वीरेन्द्र सक्सेना द्वारा लिखे लेख से। उन्होंने चुन-चुनकर खास तौर पर दो तरह के उद्धरण दिए थे—एक तो वे जिनमें कृष्णाजी अपने बचपन में किन्हीं संबंधियों की वासनात्मक चेष्टाओं की बात करती हैं और दूसरे वे जिनमें उन्होंने अपने समकालीन लेखकों-संपादकों के प्रेम-प्रस्तावों का जिक्र किया है।

सबसे पहले आत्मकथा का अंतिम अंश पढ़ा जिसमें इनका उल्लेख है। लगभग इन सभी में लेखिका के शरीर को पाने की लालसा थी। किसी ने उसे खुलकर व्यक्त किया तो किसी ने दबे-ढंके। कोई अस्वीकृति मिलने पर खुली दुश्मनी ठान बैठा, कोई भीतर से रंजिश रखने लगा तो कोई फिर भी मित्र बना रहा। ये सब मानव-स्वभाव के सहज विभिन्न रूप हैं। इनमें विश्वेश्वर का चरित्र पूरे खलनायक के रूप में उभरा है। दिल्ली में आई कृष्णा अग्निहोत्री को झूठ बोलकर वह आधी रात को अपने घर ले आया और जबरदस्ती करनी चाही। बाद में खंडवा में उन्हीं के घर में आश्रय पाया और जितने दिन वह उनके घर रहा, कृष्णा अपनी मां के घर रहीं, फिर भी बाद में इधर-उधर उनके साथ अपने सम्बन्धों की बातें फैलाने लगा। यह सारा लेखक-संपादक प्रसंग वितृष्णा जगाता है। पर इतना तो संबंधित व्यक्तियों में से कुछ से बात करने पर पता चला है कि कृष्णाजी ने इस प्रसंग में कहीं भी अतिरेक से काम नहीं लिया है।

लेकिन यह अंश उनकी आत्मकथा के 'आत्म' का बहुत थोड़ा-सा हिस्सा है। उनकी असली आत्मकथा उनके जीवन-संघर्ष के उन प्रसंगों में दिखाई देती है जहां वे पूरे समर्पण और निष्ठा के बावजूद अपने उच्चपदाधिकारी पति की श्रेष्ठता-ग्रंथि के चलते हमेशा तिरस्कार की शिकार होकर भी कभी शिक्षा पूरी करने का तरीका चुनकर तो कभी अपने परिवेश के प्रति जागरूक होकर अपनी पीड़ा को भुलाने का यत्न करती हैं। दुश्चरित्र पति उन पर सदा शक करता रहा और आखिरकार अपनी बदजबानी की वजह से नौकरी गंवा बैठा। ऐसे में और अधिक हिंसक तथा उग्र हो उठे पति से जान बचाकर वह माता-पिता के घर आ गईं तो यहां उन्हें और भी अधिक तिरस्कार झेलना पड़ा। नौबीस वर्ष की युवा लड़की पति का घर छोड़कर आई तो उसकी स्थिति पर सहानुभूति से विचार करने को कोई तैयार नहीं हुआ। सभी को लगा कि इससे उनकी बदनामी हो रही है। और बदनामी सचमुच इस हद तक हुई कि उनकी बहन को केवल उनकी वजह से अपने घर में बुरी तरह अपमानित होकर आत्महत्या कर लेनी पड़ी। अलग रहकर नौकरी करने पर वहां के माहौल में पतिगृह छोड़ने का लांछन साथ-साथ चलता रहा। पुरुष ऐसी स्त्री को सहज उपलब्ध हो सकने वाली मानने लगते हैं और उपलब्ध न होने पर और अधिक उग्र होकर अपमानित करते हैं। एक जगह प्रेम की किरण दिखाई देने पर कृष्णा जी ने उस ओर बढ़कर दुबारा शादी कर ली। इस एस.डी.एम. पति ने उन्हें कुछ दिन तो प्यार से भरपूर दिए जो पहले पति ने कभी नहीं दिए थे लेकिन जल्दी ही वह अपनी पहली पत्नी के बच्चों को ही अपना परिवार मानने लगा और कृष्णाजी को उसने बाहरी व्यक्ति बना दिया। कृष्णा इस शादी को किसी भी कीमत पर निभाना चाहती थीं, इसलिए उसकी सभी हरकतों, यहां तक कि दुश्चरित्रता को भी, नजरअंदाज करती रहीं लेकिन एक दिन उसकी नीचता इस हद तक बढ़ी कि उनके बीच का रिश्ता समाप्त हो गया। कृष्णा अग्निहोत्री के पास बची एक शत्रुता के-से माहौल में की जा रही नौकरी, एक मकान, एक बेटी और लेखन। बेटी की उन्होंने शादी कर दी है और नौकरी से रिटायर हो चुकी हैं।

कृष्णा अग्निहोत्री की ट्रैजेडी भारतीय मध्यवर्ग की औरत की ट्रैजेडी है जिसे अपने दोषों का दंड तो भुगतना ही होता है, अपने पति के दोषों का दायित्व भी उठाना पड़ता है। और कृष्णा अग्निहोत्री ने तो दो बार शादी की। दोनों बार उन्हें पति के दोषों के कारण पति को छोड़ने पर मजबूर होना पड़ा। उनके इस दोहरे दुर्भाग्य को उनकी दोहरी कलंक-कथा बना दिया गया। यहां तक कि उनकी बेटी भी अब मन ही मन मां के लांछन से दूर रहने की कामना करती है। परम्परा द्वारा दिया गया जीवन जीने योग्य न हो तो भी इसे छोड़ने का दुस्साहस करने का अधिकार यह समाज स्त्री को नहीं देता। महानगरों के उच्च और मध्यवर्ग में किसी हद तक उसे यह स्वीकृति मिल चुकी है लेकिन आम तौर पर पति से अलग हो जाने पर कृष्णा अग्निहोत्री जैसा जीवन ही अभी भारतीय मध्यवर्ग की स्त्री का भाग्य है।

कृष्णा अग्निहोत्री ने किसी भी व्यक्ति को एकदम एकपक्षीय रूप में प्रस्तुत नहीं किया। वे पहले पति के चरित्र के बुरे पहलू के साथ ही उसकी अच्छाइयों को भी सामने लाई हैं। स्त्री और शराब के व्यसन और श्रेष्ठता की ग्रंथि जहां उसके कमजोर पक्ष थे, वहीं उसकी ईमानदारी और कृष्णा पर आर्थिक मामलों में पूरा विश्वास उसके चरित्र की अच्छाइयां थीं। इसी प्रकार दूसरे पति ने बाद में चाहे जो भी किया हो, शुरू में उन्हें भरपूर प्यार दिया था जिसकी तृप्ति का चित्रण भी उन्होंने खुलकर किया है। अपने सौन्दर्य के आकर्षण का अहसास कृष्णा अग्निहोत्री में खूब रहा है जिसका प्रमाण इस पुस्तक में कई जगहों पर मिलता है। वे अपने क्रोधी स्वभाव के विषय में भी खुलकर कहती हैं।

'लगता नहीं है दिल मेरा' की शैली बहुत रोचक नहीं है और उसमें तारतम्य का अभाव भी लगता है पर यह आत्मकथा ईमानदार है। यही इसकी उपलब्धि है और हिन्दी आत्मकथा-साहित्य की भी।

— कमलेश सचदेव

चक्राचक्र

विष्णु और गर्दभ—फिर मिले

भगवान विष्णु ने पौराणिक काल में एक बार गर्दभ की सवारी की थी। गर्दभ जन्म-जन्मान्तर से उपेक्षित था। विष्णु का सम्पर्क पाकर वह धन्य हो गया। भगवान जिस तरफ से निकलते, लोग झुक-झुककर उन्हें प्रणाम करते। गर्दभ बहुत खुश होता। हर किसी के हाथ से मार खाने वाला, हर किसी द्वारा दुत्कारा जाने वाला गर्दभ आज स्थान-स्थान पर अपने सामने श्रद्धा से झुकते लोगों को देख रहा था।

कुछ समय बाद भगवान विष्णु ने उसकी सवारी त्याग दी। गर्दभ को परिवर्तित परिस्थिति का अहसास नहीं हुआ। उसने सोच रखा था कि वह जिधर से भी निकलेगा, लोग श्रद्धा से झुक जाएंगे। इस आशा से जब वह उन्हीं मार्गों से गुजरा तो पहले तो लोगों ने ध्यान ही नहीं दिया और जब उसने लोगों के सम्मुख रुक-रुक कर अपनी ओर उनका ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया तो लोगों ने उसे दुत्कारना और पीटना शुरू कर दिया।

उस बेचारे की समझ में कुछ नहीं आया।

लम्बे अंतराल के बाद भगवान विष्णु और गर्दभ एक बार फिर मिले। इस बार विष्णु ने एक लोकप्रिय पत्रिका के रूप में अवतार लिया था और अपना नाम 'वैष्णवी' रखा था। गर्दभ ने मनुष्य योनि में जन्म लेकर अपना नाम बैसाखदत्त रख लिया था। और संयोग यह कि बैसाखदत्त वैष्णवी का संपादक बन गया था।

बैसाखदत्त के बड़े नक्शे थे। उसने अपना प्रारंभिक जीवन बड़े कष्ट में व्यतीत किया था। किसी तरह ट्यूशन पढ़ा-पढ़ाकर उसने बी.ए. की डिग्री प्राप्त की थी। अपनी लम्बी गर्दन और भारी आवाज के कारण उसे अपमान और उपेक्षा को लगातार बर्दाश्त करना पड़ा था। मां-बाप बचपन में ही गुज़र गए थे इसलिए जिन मामा-मामी के हाथों वह पला था वे उसे प्रतिदिन अनेक बार 'गधा' कहकर उसे उसकी पूर्व योनि का स्मरण कराते रहते थे। कक्षा में अध्यापकगण उसे 'ऊंट' कहते थे और सहपाठी उसे 'शुतुरमुर्ग' जैसी संज्ञा से विभूषित करते रहते थे। जिस कालेज में वह पढ़ा था, वह सहशिक्षा का कालेज था। लड़के-लड़कियां इस तरह आपस में घुले-मिले रहते थे जैसे संसार से लिंगभेद पूरी तरह समाप्त हो चुका हो। परन्तु बिचारे बैसाखदत्त के लिए वह सब कुछ आकाश-कुसुम की तरह था। वह लगातार यह अनुभव करता था था कि उसकी सहपाठिनें उससे ज्यादा बातचीत तो करतीं नहीं बल्कि कभी-कभी उसकी ओर देखकर रूमालों को मुंह में दबाकर हंसने लग जाती हैं।

परन्तु अब वह वैष्णवी का सम्पादक था। वैष्णवी की कई हजार प्रतियां छपती थीं। रचनाओं के साथ लेखकों के चित्र भी छपते थे और लेखकों को अच्छा-खासा पारिश्रमिक भी मिलता था। लेखक बनने, कई हजार पाठकों तक पहुँचने और पारिश्रमिक पाने को आतुर लेखक-लेखिकाओं की अच्छी-खासी भीड़ उसके चारों तरफ इकट्ठी रहती थी। दत्त जी, दत्त साहब, दत्त भाई कहने वालों ने उसे यह अहसास करा दिया था कि उसके जैसा संपादक-शिरोमणि न इससे पहले कभी हुआ है, न कभी होगा। स्थान-स्थान पर उसके सम्मान में गोष्ठियां होती थीं, उसे अभिनन्दन-पत्र भेंट किए जाते थे, उसकी प्रशस्ति में जो कुछ कहा जाता था उससे अच्छे-अच्छे शब्दकोश लज्जित पड़ जाते थे।

बैसाखदत्त को यह विश्वास था कि लेखक अपने आप नहीं बनते, बल्कि बनाए जाते हैं और उन्हें बनाने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह संपादक करता है। उसे यह भी विश्वास था कि उसका वरदहस्त जिस किसी पर पड़ जाए वह लेखक बन जाता है। अपने इस विश्वास का प्रयोग वह प्रायः लड़कियों पर करता था और अपने वरदहस्तों के घेरे में लेकर उसने कितनों को ही लेखिका या कवयित्री बना दिया था।

बैसाखदत्त को यह विश्वास था कि लेखक अपने आप नहीं बनते, बल्कि बनाए जाते हैं और उन्हें बनाने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह संपादक करता है। उसे यह भी विश्वास था कि उसका वरदहस्त जिस किसी पर पड़ जाए वह लेखक बन जाता है। अपने इस विश्वास का प्रयोग वह प्रायः लड़कियों पर करता था और अपने वरदहस्तों के घेरे में लेकर उसने कितनों को ही लेखिका या कवयित्री बना दिया था।

बैसाखदत्त के आसपास लड़कियों का इतना बड़ा हजूम देखकर कुछ लोगों को ईर्ष्या भी होती थी। परन्तु वह मानता था कि उसका व्यक्तित्व ही ऐसा है, जिसकी तरफ लड़कियां इस तरह खिंची चली आती हैं जैसे गुड़ पर मक्खियां।

ऐसा लगता था कि चारों तरफ दत्त की तूती बोल रही है। ऐसी कोई सरकारी कमेटी नहीं थी, जिसमें दत्त न हो। विदेशों की यात्रा पर

जाने वाले हर प्रतिनिधिमंडल में दत्त का होना अवश्यंभावी था और लेखक-लेखिकाओं का यह हाल था कि जब वह चलता तो कोई उसका पोर्टफोलियो थाम लेता, कोई उसके चश्मे को अपने रूमाल से साफ करने लगता और कोई आगे बढ़कर उसकी कार का दरवाजा खोलने लगता। इतना मान-सम्मान, यश और प्रेम पाकर भला कौन धन्य नहीं हो जाएगा।

परन्तु एक दिन अजीब बात हुई। बात क्या हुई, बस यूं समझिए कि एक धमाका हुआ। पौराणिक काल में विष्णु जी गधे से उतर गए थे, इस युग में वैष्णवी बैसाखदत्त के नीचे से खिसक गई।

बात यह हुई कि बैसाखदत्त अब यह दावा जोर-जोर से करने लगा था कि वैष्णवी से बैसाखदत्त को कोई प्रतिष्ठा नहीं मिलती, बल्कि यह तो बैसाखदत्त है जो वैष्णवी को प्रतिष्ठा देता है। मतलब यह कि बैशाखदत्त वैष्णवी का संपादक नहीं है बल्कि वैष्णवी बैसाखदत्त द्वारा संपादित होती है।

वैष्णवी के संचालक बड़े पैसे वाले लोग थे। उनके बहुत बड़े-बड़े व्यापार थे। वैष्णवी को प्रकाशित करना उनका एक शगल मात्र था। अपने एक अदना-से कर्मचारी का यह बड़बोलापन जब उनके कानों में पड़ा तो पहले तो वे मुस्कुरा दिए, उसी तरह जैसे मदारी की जंजीर से बंधे बंदर को टोपी पहन कर अकड़-अकड़ कर चलते देख मदारी मुस्कुराता है। धीरे-धीरे दत्त की कर्कश आवाज का दंभ उन्हें दाल में आए कंकड़ की तरह खलने लगा और उन्होंने एक झटके में कंकड़ को पहले तालू से दबाया, फिर उसे उंगलियों से पकड़कर मुंह से बाहर फेंक दिया।

पहले तो बैसाख दत्त बहुत सिटपिटाया। उसने संचालकों की ईंट से ईंट बजा देने का अहद किया। कुछ संस्थाओं ने उसके प्रति किए गए अन्याय के विरुद्ध प्रस्ताव पारित किए। कुछ लेखक-लेखिकाओं ने अपने नियामक की इस दशा पर आंसू बहाए। स्वयं बैसाखदत्त ने उन अनेक मंत्रियों के दरवाजे खटखटाए जिनकी रंगीन तस्वीरें और दिलफेंक इंटरव्यू उसने अपनी पत्रिका में छापे थे। सभी मंत्रियों ने उसकी सहायता का आश्वासन दिया। परन्तु मंत्रियों के आश्वासनों की सच्चाई से इस देश में भला कौन परिचित नहीं है।

धीरे-धीरे बात ठंडी होने लगी और बैसाखदत्त भी ठंडा होता चला गया। वैष्णवी के संपादक की कुर्सी पर अब कोई और दत्त आ चुका था और उसकी पूजा-अर्चना और जय-जयकार की ध्वनियां वातावरण में छाने लगी थीं।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह कि लोगों को बीसियों वर्ष पुरानी बातें याद आने लगी थीं। मामा-मामी, जो अभी तक जीवित थे, फिर से उसे गधा कहने लगे थे। लोगों को उसकी गर्दन की लम्बाई फिर से ज्यादा नज़र आने लगी थी और महिलाओं का झुंड अपनी साड़ियों के पल्लू में अपनी हंसी दबाकर उसकी ओर ताकने लगा था।

सरोज वशिष्ठ

'कमीशन' और 'जलता हुआ रथ' का मंचन

11 फरवरी 1851 में अपनी संसद में भाषण देते समय बेन्जामिन डिजरायली ने कहा था ''न्याय सत्य की प्रतिमूर्ति होता है।'' क्या हम आज सच्चाई को पहचान नहीं चुके हैं? कानून से घटिया व्यापार आज दूसरा नहीं है। आज कचहरी के भीतर या बाहर न्याय नाम का पदार्थ एक दुर्लभ तत्त्व बन चुका है।

'वर्तमान साहित्य' के जुलाई अंक में सआदत हसन मंटो की अब तक अप्रकाशित रचना **कमीशन** को पढ़कर तो कम से कम न्याय के बारे में ऐसे ही विचार मन में उभरे थे। मंटो ज़िन्दा होते तो पाकिस्तान से शिमला ज़रूर आते। दो अक्तूबर '97 को शिमला कैथू कारावास में 'कमीशन' का मंचन किया गया। कलाकार थे वहां के बन्दीगण। जब अगस्त माह में मैंने बन्दियों को 'कमीशन' पढ़कर सुनाया तो सर्वसम्मति से यह तय पाया गया था कि इससे बेहतर नाटक दो अक्तूबर के लिए और हो ही नहीं सकता है। एक प्रभावपूर्ण आलेख जिसमें करारी चोट के लिए चुटीले संवाद, वाग्विदग्धता, हाज़िरजवाबी, विनोद, मौज, उमंग, कपट, व्यंग्य—हर अस्त्र का उपयोग बखूबी किया गया है। इसमें एक शहंशाह है, उसकी मलिका, एक हैडकुक और एक फरियादी भी है। न्याय की मांग लेकर आया फरियादी बताता है कि कैसे चांदमारी करते समय राजकुमारियों के हाथों 750 धोबियों का खून हो गया है। उसकी न्याय की मांग पूरी करने के लिए हैडकुक को जांच आयोग का अध्यक्ष नियुक्त करके कानून और न्याय की जिस तरह से धज्जियां उड़ाई जाती हैं, वह आज की ताज़ा स्थिति की एक जीती-जागती तस्वीर है। कैथू कारावास के बन्दियों को यह नाटक सम्भवतः इसलिए पसन्द आया होगा क्योंकि यह उनकी अपनी ही तो दास्तान थी।

सबने आनन-फानन में एक माह लम्बी नाट्य कार्यशाला के दौरान अपने-अपने संवाद याद कर लिए थे। लेकिन वह नाटक ही क्या जिसके भीतर एक और नाटक न चले! हुआ यूं कि पहली अक्तूबर को शहंशाह की भूमिका निभा रहा तीन साल से बन्दी बना कुलविन्दर सिंह रिहा हो गया। जब दो अक्तूबर को सुबह दस बजे मैं कैथू पहुंची तो कार्यशाला निर्देशक शेखर भट्टाचार्य भागा-भागा ड्योढ़ी पर मेरे पास आया। ''चिन्ता की कोई बात नहीं, विजय आ गया है, वह करेगा शहंशाह की भूमिका।'' हमने शिमला के तमाम रंगकर्मियों को कैथू जेल के वरिष्ठ अधिकारियों सहित आमन्त्रित किया था। मैंने सोचा, विजय भी उसी चक्कर में आया होगा। पता चला कि पिछली गत श्रीकृष्ण टी.वी. सीरियल के विदुर विजय ने अपने ही पिता-भाई-बहन के साथ जमकर महाभारत किया था। पिताश्री ने पुलिस बुलाकर विजय को कैथू में बन्द करवा दिया था। मैंने प्रश्न किया था, ''लेकिन दो घंटे में विजय इतने लम्बे व जटिल संवाद याद कैसे करेगा?'' शेखर ने पहले ही हल निकाल कर पूर्वाभ्यास शुरू भी करवा दिया था। सामने माइक पर विजय और मलिका की भूमिका निभा रही परवीन खड़ी थी। ''मैंने इसे रेडियो नाटक के रूप में पेश करने का फैसला किया है।'' बस जो समां उस दोपहर बंधा वह अपने में एक ही मिसाल है। आठ दिन पहले परवीन का गर्भपात हो गया था। रिपन अस्पताल के डाक्टर उसके आठ महीने के बच्चे को बचा न सके थे। परवीन के पति को सोलन जेल से पुलिस लाई तो थी लेकिन उसने साफ़ कह दिया कि यह न तो मेरी पत्नी है और न ही यह बच्चा मेरा है। एक सोलह साल की कोमल-सी सुन्दरी सिर्फ सात दफ़ाओं के कारण इन पीली दीवारों में बन्द फफक उठी थी। जेल कर्मचारियों और मैंने जा कर बच्चे का अन्तिम संस्कार तो कर दिया लेकिन 'कमीशन' की मलिका की भूमिका के लिए मैंने अपने साथ कैथू में कार्यरत जैनब चन्देल को तैयार कर लिया था। माइक पर खड़ी परवीन ने हरे रंग की सलमे-सितारों जड़ी सलवार-कमीज़ और मुकैश से चमचमाती ओढ़नी बिल्कुल मुगलाई अन्दाज़ में पहन रखी थी। बोली, ''मम्मी, मलिका का रोल तो मैं ही करूंगी।'' ज़िन्दा रहने का इससे बेहतर तरीका अगर किसी को मालूम हो तो मुझे ज़रूर बताए।

भ्रष्टाचार, निरक्षरता, आरक्षण, दंगे-फसाद, उग्रवाद, गरीबी, अन्धकार, बेरोज़गारी, चुनाव, मेंढक और मेंढकियां आज हमारे आभूषण बन चुके हैं। हम सब एक जलते हुए रथ से बंधे हैं, जो हमें सिर्फ़ दर्द देता है। दर्द और पीड़ा पहुंचाने वाले ये आभूषण बहुत ही विशेष कार्यशालाओं में निर्मित होते हैं और आम आदमी को बिन मांगे भेंट किए जाते हैं। स्वदेश दीपक रचित **जलता हुआ रथ** भी 'वर्तमान

साहित्य' के जुलाई अंक में प्रकाशित हुआ था। दीपक की सब रचनाओं का प्रमुख पात्र होता है सच—वह सच जो एक कोने में बिल्ली की तरह छिपा रहता है। पचास साल से हमने सिर्फ अलगाववाद, जात-पात, धर्म के नाम पर सर्वनाश को पनपने दिया है। आदमी वोट बैंक में बदल चुका है। फिर आया भ्रष्टाचार। न्यायपालिका का न सिर नज़र आता है, न पैर। एक ज़माना था जब लोग किसी की सेवा करने के लिए जमा होते थे, आज खौफ़ पैदा करने के लिए भीड़ जुटती है। प्रजातन्त्र के हिज्जे ही बदल गए हैं। हम अपने ही देश में विदेशी बने बैठे हैं। यानी ने हमारे ताजमहल से बलात्कार करके वह लुण्ठन मचाई, हम मुंह बाए वाह-वाह करते रहे। 'जलता हुआ रथ' इन्हीं मुद्दों को बड़े पुरज़ोर तरीके से उठाता है। स्वदेश दीपक देखने में बड़े शान्त स्वभाव के व्यक्ति लगते है लेकिन उनके भीतर जो लावा दहक रहा है वह उनके नाटकों में झलकता है।

वैसे तो सभी कलाकारों ने प्रभावित किया लेकिन युवती के रूप में अरुणा शेट्टी, किशन सिंह के रूप में राजेश तिवारी और युवक की भूमिका में राजीव रंजन ने बहुत उत्कृष्ट अभिनय किया। जगमोहन जोशी का संगीत और राम कुमार की मंच-व्यवस्था सरल लेकिन एकदम उपयुक्त और विशिष्ट सिद्ध हुई।

'जलता हुआ रथ' लिखने और उसे मंचित करने के लिए दीपक जी और पन्ना भरतराम को साधुवाद।

24-सिद्धार्थ एन्क्लेव, नई दिल्ली-110014

कविता व्याकरण को तोड़ने वाली विधा है

पिछले दिनों आस्था प्रकाशन द्वारा एक साथ प्रकाशित चार कविता-संग्रहों – **एक सुलगती खामोशी** (नरेन्द्र मोहन), **बरगद को कटते हुए देखना** (मोहन सपरा), **इस तरह से** (प्रताप सहगल) और **अलग-अलग कितने** (अनिल धीमान, कमलेश शर्मा और विनोद सागर) का लोकार्पण डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ने किया।

संगोष्ठी का प्रारम्भ डा. नरेन्द्र मोहन, मोहन सपरा, प्रताप सहगल, अनिल धीमान तथा विनोद सागर की कविताओं के पाठ से हुआ। डॉ. स्नातक ने चारों कविता-संग्रहों के रचना-सूत्रों को संयोजित करते हुए कहा कि इन संग्रहों की कविताओं में मस्तिष्क और हृदय, बुद्धि और विचार, ज्ञान और अनुभव परस्पर कलात्मक धरातलों पर चरितार्थ हुए हैं।

डा. रमेश कुन्तल मेघ ने अपनी अध्यक्षीय वार्ता की शुरुआत कविता के सरोकारों को लेकर की। उन्होंने कहा कि साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा कविता ही ऐसी विधा है जो व्याकरण को तोड़ती है। नरेन्द्र मोहन की कविता पर टिप्पणी करते हुए डा. मेघ ने उनकी लम्बी कविता 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' को उल्लेखनीय बताया और चित्र तथा भाषा को मिलाने की नई शैली को प्रशंसनीय माना। उन्होंने इसमें भाषा के एक नए प्रकार को भी रेखांकित किया और उनकी भाषा को नाटक की ओर जाने वाली भाषा बतलाया।

विख्यात उर्दू व हिन्दी-साहित्यकार डा. सादिक ने कविता के आकाश पर मंडराते मीडिया के खतरों पर दृष्टिपात करते हुए विज्ञापन की दुनिया में कवि की स्थिति पर अपने विचार प्रकट किए। डा. सादिक ने नरेन्द्र मोहन की कविता में सरलता व ताज़गी के साथ-साथ प्रयोग को भी रेखांकित किया। उन्होंने कहा कि नरेन्द्र मोहन ने चित्रकला के माध्यम को लेकर कविता का चित्रपट बनाने की कामयाब कोशिश की है। डा. सादिक ने मोहन सपरा की लम्बी कविता 'संवाद गाथा' का ज़िक्र करते हुए कहा कि साम्प्रदायिक नफरत के जो बीज आज बोये जा रहे हैं या बोये गये हैं उनका चित्रांकन इनमें एक नए अन्दाज़ में किया गया है। उन्होंने कहा कि इसमें केवल नकोदर की ही नहीं बल्कि उसके माध्यम से पूरे भारत की बात कही गई है। प्रताप सहगल के छः लम्बी कविताओं के संग्रह 'इस तरह से' पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने इन्हें असाधारण कविताएँ माना और कहा कि कवि ने इसमें अपनी बात बड़ी शिद्दत से कही है। युवा कवियों के संग्रह 'अलग-अलग कितने' पर उनका कहना था कि इनमें कुछ कहने की ललक व शब्दों पर गिरफ्त मालूम होती है जो इन्हें आगे ले जाएगी।

विख्यात साहित्यकार डा. तारक नाथ बाली ने कहा कि आज

कविता ही धर्म का स्थान लेकर हम अन्धी गली से बाहर निकाल सकती है। उन्होंने संग्रहों के कवियों को शुभकामनाएं देते हुए कहा कि ये कविताएं मनुष्य की अस्मिता व आत्मविश्वास को रेखांकित करती हैं और इनमें से एक विशेष ताज़गी झलकती है। डा. बाली ने कविता-संग्रहों के प्रकाशन का स्वागत करते हुए स्वीकारा कि ये संग्रह एक आन्दोलन स्थापित करने में समर्थ हैं।

सुप्रसिद्ध साहित्यकार डा. रामदरश मिश्र ने कविता को एक बारीक विधा बतलाया और संग्रहों के कवियों को शुभकामनाएं दीं।

अन्त में आस्था प्रकाशन के निदेशक विराट सपरा ने समारोह में पधारे समस्त रचनाकारों एवं अतिथियों का धन्यवाद किया।

प्रस्तुति—अलका

इन्द्रप्रस्थ महाविद्यालय में कवि-गोष्ठी

पिछले दिनों दिल्ली विश्वविद्यालय के इन्द्रप्रस्थ महाविद्यालय में कवि-गोष्ठी का आयोजन किया गया। इस अवसर पर डॉ. केदारनाथ सिंह, डा. बलदेव वंशी, डा. शेरजंग गर्ग, श्री उदय प्रकाश, श्री विजय किशोर मानव, श्री लक्ष्मीशंकर वाजपेयी, डा. अनामिका, डा. नीलिमा सिंह एवम् इन्दु जैन ने काव्य पाठ द्वारा श्रोताओं को मुग्ध कर दिया। गीतों, ग़ज़लों और कविताओं में उभरती हुई ज़िन्दगी अपने अलग-अलग अन्दाज़ से श्रोताओं को बांधे रही। प्रकृति की कोमलता, महानगरीय त्रास, जीवन का हास-उल्लास, शक्ति, विश्वास, रिश्तों की गरमाहट की आकांक्षा और बनारस की छवियां—कितने ही रंग शब्द-दर-शब्द कविताओं में घुलते चले गए। कवि-गोष्ठी के विशेष अतिथि के रूप में मारीशस-वासी हिन्दी लेखक श्री अभिमन्यु अनत को आमन्त्रित किया गया था।

प्रस्तुति—अलका

हिन्दी कार्यशाला का आयोजन

पिछले दिनों दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी द्वारा पुस्तकालय के अधिकारियों के लिए एक दिवसीय हिन्दी कार्यशाला आयोजित की गई। कार्यशाला का उद्घाटन संस्था के निदेशक डा. बनवारी लाल ने किया। इस अवसर पर उन्होंने कहा कि कार्यशाला में प्रशिक्षित अधिकारी हिन्दी में कार्य करने का वातावरण निर्मित करने का प्रयत्न करेंगे और अर्जित जानकारी का लाभ अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को भी प्रदान करेंगे। उन्होंने अधिकारियों से अपील की कि यदि वे हिन्दी में कार्य करना प्रारंभ कर दें तो अधीनस्थ कर्मचारी स्वतः ही हिन्दी में लिखने लगेंगे और हमें हिन्दी कार्यशाला/सप्ताह आदि का आयोजन करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। उन्होंने कहा कि हम हिन्दी के लिए सौहार्दपूर्ण वातावरण तैयार करें जिससे लोगों की मानसिकता को बदला जा सके।

कार्यशाला के अंतर्गत 'राजभाषा नीति के क्रियान्वयन एवं उसके विभिन्न पक्षों की जानकारी' तथा 'कार्यालयीन हिन्दी—कठिनाइयां एवं उनका समाधान' विषयों पर चर्चा की गई। कार्यशाला में 10 प्रतिभागियों ने सक्रिय रूप से भाग लिया। एक दिवसीय कार्यशाला के समापन समारोह में श्रीमती कानन बाला सिंह, अध्यक्षा, दिल्ली लाइब्रेरी बोर्ड को मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित किया गया था जिन्होंने प्रतिभागियों को प्रमाण पत्र वितरित किए। पुस्तकालय के कर्मचारियों/अधिकारियों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा कि हिन्दी हमारी राजभाषा है और अपनी राजभाषा में कार्य करते हुए हमें जो आनंद की अनुभूति होती है वह किसी अन्य भाषा में कार्य करके नहीं होती। अतः हम सबको मिलकर यह प्रयास करना चाहिए कि हम सरकारी कार्य हिन्दी में करें। उन्होंने पुस्तकालय द्वारा इस संदर्भ में किए जा रहे प्रयासों की सराहना करते हुए तथा आशा व्यक्त की कि भविष्य में भी पुस्तकालय इसी प्रकार कार्यशालाएं आयोजित करता रहेगा और इनमें प्रशिक्षित प्रतिभागी स्वयं तो लाभान्वित होंगे ही, इसके साथ-साथ वे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को भी हिन्दी में कार्य करने के लिए प्रेरित करते रहेंगे।

प्रस्तुति—सुषा सक्सेना

'शब्द यात्रा पर हैं' पर संगोष्ठी

पिछले दिनों जयपुर की प्रतिष्ठित अन्तःअनुशासनीय संस्था 'सन्दर्भ' के तत्वावधान में श्री मुकुट सक्सेना के नवीनतम गीत-ग़ज़ल संग्रह **शब्द यात्रा पर हैं** पर एक संगोष्ठी का आयोजन प्रख्यात साहित्यकार डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय की अध्यक्षता में किया गया। गोष्ठी को सम्बोधित करते हुए डॉ. उपाध्याय ने कहा कि आधुनिक कविता बोध की कविता है, इसमें मुग्धता की जगह दग्धता को प्रमुखता दी जाती है जो हमें मुकुट सक्सेना की रचनाओं में सृजनात्मक रूप में मिलती है। उन्होंने कहा कि मुकुट सक्सेना अपनी सभी रचनाओं में नए बिम्ब और नए प्रतीकों के प्रयोग सहज और सार्थक रूप से कर पाने में सफल रहे हैं।

इससे पूर्व राजस्थान विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग में रीडर डॉ. फ़िरोज अहमद ने ग़ज़ल के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए कहा कि ग़ज़ल का अर्थ मात्र माशूका से बातचीत नहीं है, आज की ग़ज़ल यथार्थ के भिन्न-भिन्न सरोकारों को अर्थ देती है जिसका संकेत हमें

बड़ी शिद्दत के साथ मुकुट जी की ग़ज़लों में मिलती है। इसी क्रम में वरिष्ठ समालोचक डॉ. मूलचन्द सेठिया ने कहा कि मुकुट सक्सेना ने वर्तमान यक्ष-प्रश्नों का हल कविता के माध्यम से खोजने का सफल प्रयास किया है।

'संदर्भ' के संस्थापक, संयोजक डॉ. वीरेन्द्र सिंह ने उपस्थित आगन्तुकों का स्वागत किया तथा श्री कृष्णवीर द्रोण ने सन्दर्भ एवं डॉ. आर.सी. मिश्रा ने कृतिकार का परिचय प्रस्तुत किया। गोष्ठी का संचालन प्रसिद्ध पुरातत्वविद श्री विजय कुमार ने किया।

प्रस्तुति : डॉ. राजेन्द्र शर्मा

'अपने अपने कोणार्क' पर विचार-गोष्ठी

पिछले दिनों ऋचा संस्थान की ओर से सुश्री चन्द्रकांता के उपन्यास **अपने अपने कोणार्क** उपन्यास पर एक विचार गोष्ठी का आयोजन 'हिन्दी भवन' में किया गया। गोष्ठी के अध्यक्ष वरिष्ठ कथाकार कमलेश्वर ने अपने वक्तव्य में कहा कि चन्द्रकांता ने उपन्यास में उड़ीसा के दो हजार वर्ष पुराने सांस्कृतिक परिवेश, ऐतिहासिक तथ्यों, पौराणिक कथाओं और लोक-विश्वासों को सामयिक संदर्भों से जोड़ कर जीवन्त कर दिया है। डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल ने कहा कि लेखिका ने मिथों को आत्मसात करके उनका सार्थक उपयोग किया है। डॉ. सुनीता जैन ने उपन्यास की भाषा तथा रचना कौशल की सराहना की। डॉ. कुसुम अंसल ने उपन्यास की नायिका के द्वंद्वों-तनावों की ओर ध्यान आकृष्ट किया और कहा कि वह एक परम्परागत समाज से विद्रोह करती अपनी राह तलाशती है। डॉ. महीप सिंह ने इस उपन्यास को एक क्लासिकल रचना कहा। डॉ. विनीता अग्रवाल ने अपने आलेख में कहा कि 'इस उपन्यास से गुजरते हुए हम उस दुनिया से गुजरते हैं जो एक साथ ही यथार्थ से अद्भुत साम्य रखता है और दूसरी ओर अपने निजत्व को संजोता है। श्री जगदीश चतुर्वेदी ने उपन्यास के सांस्कृतिक परिवेश, पृष्ठभूमि में परम्परागत स्त्री तथा उसके तनावों, संघर्षों की बात की। इस गोष्ठी में मंजुल भगत, अर्चना वर्मा, चित्रा मुद्गल, मीरा सीकरी, दिनेशनन्दिनी डालमिया, रश्मि मल्होत्रा, मीनाक्षी पुरी, नंदलाल मेहता आदि वरिष्ठ साहित्यकारों ने भी भाग लिया।

प्रस्तुति —गुरचरण सिंह

डॉ. रामदरश मिश्र का साहित्य

पिछले दिनों दिल्ली विश्वविद्यालय के श्री गुरु तेग बहादुर खालसा पी.जी. महाविद्यालय (सांध्य) में डॉ. रामदरश मिश्र के साहित्य पर [illegible] आयोजन किया गया। डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ ने मिश्र जी की कहानियों पर एक आलेख प्रस्तुत किया। अमिताभ ने मिश्र जी को प्रेमचंद की परम्परा का कहानीकार बताया और कहा कि मिश्र जी की कहानियों में ग्रामीण और महानगरीय परिवेश का यथार्थपरक चित्रण हुआ है। डॉ. प्रकाश मनु ने डायरी के बहाने से मिश्र जी के उपन्यासों पर गम्भीर विवेचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया। उनके उपन्यासों में ग्रामीण परिवेश, वहां के जीवन संघर्ष तथा द्वंद्वों का चित्रण तो है ही, वे अंचल के यथार्थ को भी उपन्यासों में उभारते हैं। डॉ. रमेश ऋषिकल्प ने प्रेमचंद के साहित्य की प्रासंगिकता के सवाल को उठाते हुए मिश्र जी के साहित्य का आकलन किया तो डॉ. किरण चंद्र शर्मा ने ऋषिकल्प के विचारों से असहमति व्यक्त करते हुए मिश्र जी के कथा साहित्य को प्रेमचंद की धारा को आगे बढ़ाने वाला साहित्य कहा। कालेज के एक छात्र ने मिश्र जी की एक ग़ज़ल को तरन्नुम में पेश करके सभी के मन को मोह लिया। प्रधानाचार्य डॉ. हरमीत सिंह और संयोजक डॉ. भूपेन्द्र सिंह ने भी अपने अपने विचार व्यक्त किए।

डॉ. रामदरश मिश्र ने श्रोताओं द्वारा उठाए गए सवालों का बड़ी शालीनता से जवाब देते हुए अपने लेखकीय जीवन पर प्रकाश डाला।

अपने अध्यक्षीय भाषण में डॉ. देवेन्द्र इस्सर ने साहित्य के सामाजिक सरोकारों और उत्तर आधुनिक नज़रिये से साहित्य पर विचार किया। डॉ. महीप सिंह, डॉ. विद्या शर्मा, डॉ. नरेन्द्र मोहन, डॉ. गुरचरण सिंह, राजकुमार मलिक, सुश्री अलका सिन्हा आदि ने रामदरश मिश्र के साहित्य के अलग-अलग पक्षों पर विचार किया।

प्रस्तुति—अजीत कौर

"साहित्य, संस्कृति, विज्ञान मनुष्य से बढ़कर नहीं..."

'कुमाऊँ महोत्सव 1997' के तहत 'मेरी रचनाओं में कुमाऊं' विषय पर नैनीताल में आयोजित एक संगोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए सुप्रसिद्ध कथाकार हिमांशु जोशी ने साहित्य से सम्बन्धित कई महत्वपूर्ण प्रश्नों की ओर इंगित किया।

उन्होंने कहा कि फणीश्वरनाथ 'रेणु' के अविर्भाव के पश्चात हिन्दी कथा-साहित्य में आँचलिकता का जो दौर शुरू हुआ, उसने यद्यपि समस्त हिन्दी कथा-जगत को प्रभावित किया, किन्तु जिस व्यापकता और गहराई की उससे अपेक्षा थी, वह पूरी नहीं हो पाई। गाँवों की प्रतिभाएं शहरों में विलीन हो गईं। गाँवों से उनका आन्तरिक एवं बाह्य सम्बन्ध समाप्त हो गया। किन्तु इसके बावजूद भी महानगरों में बैठ कर कुछ कथाशिल्पी अपने अंचलों को जीने का प्रयास करते

रहे। गत तीस-चालीस वर्षों में ग्रामीण अंचल भी कितने बदल गए हैं। परन्तु दुर्भाग्य से हमारे कथाकार उन्हीं ग्रामीण स्थितियों को अपनी रचनाओं के विषय बनाते रहे, जो तब थीं, पर अब नहीं।

उन्होंने इन स्थितियों पर गहराई से प्रकाश डालते हुए आगे कहा, "लेखक अपने अंचलों से पुनः जुड़ें, केवल इसलिए नहीं कि वहाँ की पृष्ठभूमि पर उपन्यास/कहानियां लिखें, बल्कि सचमुच में एक प्रकार के गहरे आत्म-भाव से उन्हें आत्मसात करें। अपना घर, अपना प्रदेश समझ कर उन की समस्याओं से एकाकार हों। और उन अनुभवों से जो साहित्य उपजेगा, वह सचमुच में कालजयी होगा।"

आंचलिक लेखन को व्यापक संदर्भों से जोड़ने की आवश्यकता पर बल देते हुए श्री जोशी का कहना था कि पर्वतीय लेखकों के साहित्य में पर्वतीय जन-जीवन तो होगा ही, परन्तु आज मात्र इतना ही पर्याप्त नहीं रहा। समग्र देश के परिप्रेक्ष्य में साहित्य का मूल्यांकन करना होगा। अंचल से, धर्म से, ज्ञान-विज्ञान, अध्यात्म, कला—इन सबसे बड़ा होता है आदमी। ये सारे उपकरण मनुष्य के लिए ही हैं। परन्तु आम आदमी को सम्पूर्ण देश में आज जिस संक्रमण से गुजरना पड़ रहा है, क्या उसकी व्यथा का वास्तविक प्रतिबिम्बन साहित्य में हो पा रहा है? ऐसी प्रखर प्रतिभाओं की आवश्यकता है आज, जो सारा अनाचार अपनी सशक्त लेखनी के माध्यम से उजागर कर सकें। उसके लिए कबीर की तरह सिर पर कफन बाँध कर चलना होगा।

संगोष्ठी में सुप्रसिद्ध सिने कलाकार निर्मल पाण्डे, साहित्यकार संजय खाती, देवेन्द्र उपाध्याय, हरिसुमन बिष्ट तथा डॉ. ओमप्रकाश गंगोला ने भी अपने विचार प्रकट किए। क्षितिज शर्मा तथा राकेश तिवारी ने अपनी-अपनी कहानियाँ पढ़ीं।

संगोष्ठी का उद्घाटन स्वतंत्रता-संग्राम सेनानी श्री डूंगरसिंह बिष्ट ने दीप प्रज्ज्वलित कर किया। गोष्ठी में कुछ देर के लिए उत्तर प्रदेश लोक निर्माण विभाग राज्यमंत्री रामप्रसाद 'कमल' भी शरीक हुए। कुमाऊँनी भाषा के कवि मोहन कुमाऊँनी ने सभी का स्वागत किया।

गोष्ठी के पश्चात कुमाऊँनी काव्य-संध्या का आयोजन किया गया

प्रस्तुति—डॉ. साधना अग्रवाल

'गोल लिफाफे' का लोकार्पण व समीक्षा गोष्ठी

पिछले दिनों साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्था 'सरोकार' व मरुधर हेरिटिज के संयुक्त तत्वावधान में होटल मरुधर हेरिटिज में वरिष्ठ कथाकार हरदर्शन सहगल के नए व्यंग्यकथा-संग्रह **गोल लिफाफे** का लोकार्पण व समीक्षा गोष्ठी मुख्य अतिथि वरिष्ठ कथाकार स.रा. यात्री के सान्निध्य में हुई।

इस अवसर पर बोलते हुए श्री यात्री ने कहा कि व्यंग्य लिखना हमेशा एक चुनौती है क्योंकि आपको एक महीन और प्रखर धार पर चलना पड़ता है और उसे निभाना बड़ा कठिन होता है। 'गोल लिफाफे' संग्रह के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि सहगल एक गम्भीर किस्म के रचनाकार हैं। इनकी कथाओं में जो व्यंग्य है, वह भीतर से उत्पन्न हुआ गहरा व्यंग्य व अस्वीकार है। सहगल का लेखन सिर्फ लिखने की पूर्ति न होकर सम्पूर्ण जीवन है।

समालोचक डॉ. उमाकान्त ने संग्रह 'गोल लिफाफे' पर अपने पत्र वाचन में कहा कि "साहित्य के प्रति घटती संवेदनाएं, व्यवस्था का खोखलापन, नपुंसक निष्क्रियता, अन्यायग्रस्त परिवेश, मानवीय सम्बन्धों के बीच चटकती मूल्यवत्ता एवं नर-नारी में घटता विश्वास और उसमें जुड़ता घोर स्वार्थी संकीर्ण नजरिया श्री हरदर्शन सहगल की कहानियों की कथा-बुनावट के मजमून हैं।

कथाकार रतन श्रीवास्तव ने संग्रह की रचनाओं पर पृथक-पृथक टिप्पणी करते हुए कहा कि 'गोल लिफाफे' की भाषा ऐसी नुकीली, तीखी और घुमावदार है कि पाठक को पग-पग पर रुक कर उसकी मारक क्षमता को सराहने की इच्छा होती है।

कवि नवनीत पाण्डेय ने सहगल को अपना प्रिय कथाकार बताते हुए कहा कि भाषाई बनावट और शिल्प के चकाचौंध में जहां वर्तमान साहित्य अप्रिय और उबाऊ होता जा रहा है वहीं सहगल जैसे कुछ रचनाकारों से लगातार उम्मीद व आशा बनी हुई है।

'नेगचार' के संपादक कवि नीरज दइया ने अपनी स्मृतियों के विगत पन्नों को टटोलते हुए कथाकार सहगल की पहचान और आत्मीयता के प्रसंग उजागर किए।

गोष्ठी में जिला सूचना एवं जनसंपर्क अधिकारी राजेश व्यास, कथाकार मुकेश पोपली, प्रमोद शर्मा एवं श्रीमती वत्सला पांडेय ने भी महत्वपूर्ण शिरकत की।

कथाकार हरदर्शन सहगल ने संग्रह की विभिन्न रचनाओं के संदर्भ में कहा कि जानबूझकर मैंने इन्हें कोई शक्ल अता नहीं की। व्यंग्य बना या कहानी या वास्तव में व्यंग्यकथा—जो कुछ भी बना, सबके सामने है।

गोष्ठी में अध्यक्ष पद से बोलते हुए एडवोकेट उपध्यान चंद कोचर का कहना था कि 'गोल लिफाफे' संग्रह अपनी सामाजिक सहभागिता और गहरे सरोकारों-संस्कारों के कारण पाठकों के बीच लोकप्रिय होगा।

गोष्ठी में कथाकार मुकेश पोपली ने कुशल सचालन करते हुए अपनी धारदार टिप्पणियों से कार्यक्रम को जीवंत बनाए रखा। अंत में सरोकार व मरुधर की ओर से नीरज दइया ने सबका धन्यवाद किया

प्रस्तुति—रतन श्रीवास्तव

संचेतना
संवाद एवं विचार का माध्यम
क्या साहित्य में भी
माफिया सरगरम है?
पूर्णांक
145
उत्तर दे रहे हैं—
रामदरश मिश्र, सुनीता जैन, हिमांशु जोशी, नासिरा शर्मा, नरेन्द्र कोहली, मृदुला गर्ग,
हरदयाल, कुसुम अंसल, चित्रा मुद्गल और प्रताप सहगल।
साथ में चक्राचक्र का चुभता

इस अंक (सित.-दिस) को देखकर कहना पड़ रहा है कि 'संचेतना' धर्म के नाम पर ठगी, शोषण तथा रक्तपात करने वालों के खिलाफ एक जिहाद है, एक पुरजोर आन्दोलन है। इसी संदर्भ में छपे अन्य उत्कृष्ट आलेखों तथा तथ्यगत सच्चाइयों के अलावा प्रेमचंद जी के दोनों पत्र भी कम प्रेरक या कहें शोचनीय, नहीं हैं। लगा, धर्म की आड़ में लाभ की लोलुपता कमोबेश पहले भी रही है और आने वाले दिनों में भी बनी रहेगी। कुल मिलाकर आपके संपादकत्व में 'संचेतना' 'यथा नाम तथा गुणः' को निश्चय ही मूर्त रूप दे रही है। एतदर्थ मेरी बधाई स्वीकारें। और अब थोड़ा मिश्र जी की बाबत। किसी लेखक के कथ्य या उसकी कथ्यजन्य संवेदनशील सच्चाई का किसी पाठक के लिए नितांत निजी लगना बहुत विरल होता है। 'बारिश में भीगते बच्चे' तथा 'हंसी होंठ पर आंखें नम हैं' काव्यकृतियों के बहाने डॉ. रामदरश मिश्र जी पर डॉ. माहेश्वर का संक्षिप्त किन्तु समीचीन लेख अत्यंत हृदयस्पर्शी लगा है। मैंने मिश्र जी की कई कृतियों (खासकर उपन्यासों) को पढ़ा है। पूर्वांचलीय लोकजीवन को पूरी सच्चाई के साथ अभिव्यक्ति देने की उनकी सहज, सुबोध एवं पारदर्शी अनन्यता सचमुच अद्भुत लगी है। वे आज के तथाकथित बड़े लेखकों की पांडित्यपूर्ण रचनात्मक बोझिलता, कृत्रिमता और उबाऊपन से निस्संग दूर खड़े लगते हैं। किंचित भीड़ से अलग होने की यही खासियत मिश्र जी की पहचान भी है।

राम बदन राय
जोगा मुसाहिब, गाजीपुर (उ.प्र.) 233233

'संचेतना' का मई '98 का प्रकाशित अंक मिल गया था। धर्म में पाखंड को लेकर बहुत ही उपयुक्त व तेवरदार रचनाएं देकर आपने मानो मेरे विचारों को उपस्थित किया। एक तरह से कबीर की छह सौवीं जयन्ती वर्ष में उनके कबीरपन को तस्दीक करते हुए याद किया गया। इस रुझान को पत्रिका में बनाए-चलाए रखें तो अच्छा लगेगा।

श्याम विमल
8-96/26, नोएडा-201301

आपकी पत्रिका के मई 1998 अंक में कवि-नाटककार प्रताप सहगल के कविकर्म पर प्रकाशित डॉ. गुरचरण सिंह का आकलन पढ़ा। सहगल साहब के साथ संबंध 'फ्रेंड, फिलासफर एण्ड गाइड' वाला रहा है, इस नाते उनकी रचनात्मकता के कई अधखुले पहलुओं पर भी दृष्टि जाती रही है लेकिन इस लेख ने सहगल साहब की कविता के बहाने से हिन्दी-जातीयता पर आए एक गहरे संकट की ओर संकेत किया है। यह संकट है—हिन्दी कविता और कवि के स्वाधीन विवेक के खोने का, 'इन्नोसेन्स' के गायब होने का। देखा जा सकता है समकालीन हिन्दी कविता को, जहां से स्वतंत्रता-पूर्व की बेबाकी और हिम्मत से कुछ कह पाने का साहस निरंतर छीज रहा है। अब कवि-समुदाय सम्हल-सम्हलकर, हिसाब-किताब लगाकर, शब्दों को भोथरा कर और नोकों को गोल कर बात कहने में पारंगत है। सभी 'शतरंज का मोहरा' बन कर, 'ताश का जोकर' होकर और 'गाली से पैदा हुई तकलीफ के अहसास को चेहरे की मुस्कान में बदलकर' गौरवान्वित हुए फिर रहे हैं। यह लेख सहगल साहब की कविता के बहाने से हिन्दी कवि व कविता के सपने का जिस साफगोई से बंगला और कार की शक्ल अख्तियार करने का चित्रण करता है, वह हिन्दी कविता में पिछले बरसों में पनपाए गए 'समाज' के चतुर संयोजन का पर्दाफाश करने में सफल है। सहगल साहब की कविता अपनी सपाटबयानी में ही सही, इस बात पर सोचने को बाध्य करती है कि क्या हिन्दी कविता का पिछली आधी शती का कथ्य स्वाधीनता से, विशेष से, कुछ कह पाने के साहस से चतुराई की ओर सिमटने की करुण कथा है? इस सवाल को हिन्दी विमर्श के भूगोल में लाने के लिए गुरचरण सिंह जी को साधुवाद।

चन्दन कुमार
जाकिर हुसैन (सांध्य) महाविद्यालय, दि वि., दिल्ली-2

'संचेतना' का मइ अंक मिला, बहुत अच्छा लगा। अपने संपादकीय में आपने 'संचेतना' के माध्यम से लगभग उन सारी पत्रिकाओं के बारे में दो-टूक बात कही है, जो आज के व्यावसायिक युग में साहित्य और सृजनात्मक रचनाधर्मिता से जुड़ी हैं, बहुत अच्छा लगा।

आपके 'माया महाठगिनी हम जानी' निबंध की जितनी प्रशंसा करूं, कम है। एक ज्वलंत यथार्थ को आपने बड़ी सफलतापूर्वक उजागर किया है।

रमानाथ अवस्थी
सी-4-सी, 14-11, जनकपुरी, दिल्ली-110058

संचेतना का सितम्बर-दिसम्बर '97 अंक डा. के.सी. गुप्त के पास देखने को मिला। 'माया महाठगिनी हम जानी', प्रेमचंद के दो पत्र तथा 'अपनी ओर से' सगहना को आकर्षित करने वाली क्रियाएं हैं। डॉ. कृपाशंकर सिंह व डॉ. गुरचरण सिंह के लेख स्तरीय हैं। संत सिंह सेखों की कहानी 'बच्चे' गजब की कहानी है। सूरजपाल चौहान की 'कब आएगा हैरी' भी ठीक है। कविताएं लचर और सारहीन लगीं। समीक्षाएं, लगता है, पढ़कर लिखी गई हैं। अतः अच्छी बन पड़ी हैं। चक्राचक्र का व्यंग्य अच्छा है। कविताओं का चयन ध्यानपूर्वक किया जाए तो पत्रिका का आकर्षण और बढ़ सकता है।

हरपाल सिंह 'अरुष'
विमल कुंज, आदर्श कालोनी, मुजफ्फर नगर-251001

संचेतना का जून '97 का अंक मिला। आपने साम्प्रदायिकता जैसे ज्वलंत मुद्दे पर महत्त्वपूर्ण सामग्री छापी, इसके लिए बधाई देता हूं। अंक की कहानियां अच्छी हैं। कविताएं कुछ कमज़ोर हैं। समीक्षाएं गंभीर लगीं।

डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन
12-ई महानदी, जे.एन.यू., नई दिल्ली-67

आपका सितम्बर-दिसम्बर '97 का अंक पढ़कर बड़ी खुशी हुई। खासकर डा. ए.जी. खान साहब का 'भारतीय आंग्ल साहित्य में दलित समस्या' लेख पढ़कर और अच्छा लगा। दलित साहित्य महाराष्ट्र प्रदेश से शुरू हुआ मगर उसकी व्याप्ति किस ढंग से बढ़कर बुकर प्राइज तक जा सकी, इसका खान साहब ने अच्छा ग्राफ दिया।

प्रा.मु.बी. अंभोरे
अंग्रेजी विभाग, जे.ई.एस. महाविद्यालय, जालना (महा.)-431203

सितम्बर-दिसम्बर 1998 अंक 3-4 की संचेतना जैसे ही हाथ लगी, आद्योपान्त पढ़ गया।

बहस के अन्तर्गत 'कैसी है [illegible]' विचारोत्तेजक एवं प्रभावकारी रहे। सूरजपाल चौहान की कहानी एवं सुनीता जैन की कविता भी जंची। कुल मिलाकर यह अंक अच्छा था, इसके लिए आपको हार्दिक साधुवाद।

सूरज
किंग्ज़वे कैंप, दिल्ली-9

'संचेतना' का मई '98 का अंक मिला। पूरा अंक पढ़ने के बाद एक संतुष्टि का बोध हुआ। इधर की पत्रिकाओं में जिन कुछ-एक पत्रिकाओं ने साहित्य के साथ-साथ सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी अपने उत्तरदायित्व को समझना शुरू किया है, उनमें संचेतना ने अपनी एक खास जगह बनाई है। इस अंक में भी कहानियों, कविताओं और पुस्तकों की समीक्षाओं के साथ 'बहस' में साधु-संतों के अन्दरूनी हलकों की जो तस्वीर दी गई है, वह इतनी चौंकाने वाली है कि अनेक पाठकों को इस पर सहसा यकीन नहीं होगा।

'माया महाठगिनी हम जानी' बहुत विचारोत्तेजक है। इसमें मठों, आश्रमों और डेरों की अन्दरूनी तस्वीर का जो विरूपित चेहरा है, उसे आपने बहुत अच्छी तरह उभारा है। तथाकथित भक्तों और भगवान (बल्कि भगवानों) के बीच के ये बिचौलिये, जिन्हें हम धर्मगुरु, पण्डे, पुरोहित, मौलवी कहते हैं, हर दृष्टि से ब्लैकमेलर, शोषक और भ्रष्ट होते हैं। वैसे यह कोई बिल्कुल नई समस्या हो, ऐसा नहीं है। बहुत पहले के ज़माने में भी यूरोपीय मुल्कों— जिन्हें हम सर्वोत्तम और सर्वश्रेष्ठ और मानवाधिकारों के पुरोधा का दरजा देने पर तुले हुए हैं— में पादरी स्वर्ग में स्थान आरक्षित करने के नाम पर मोटी रकमें लिया करते थे। हमारे यहां भी धार्मिक अनाचारों और धार्मिक भयादोहन की अनेक किस्में समय-समय पर चलती रहीं। पर आज के वक्त में जितने तरह के धार्मिक कदाचार और धाँधलियाँ हैं उतने तरह की और उस अनुपात में पहले कभी नहीं थीं। धर्म विशुद्ध रूप से बाजार की चीज़ होकर रह गया है। ताज्जुब यह देख कर होता है कि इस बाज़ार में ऐसे लोग भी दिग्भ्रमित घूम रहे हैं जो अपने सामान्य व्यवहार में एक सही, समझदार व्यक्ति की छवि का प्रभाव छोड़ते हैं। मैं बहुत बार अचम्भित होता हूं यह सोचकर कि क्या इन्हें विश्वास और अन्धविश्वास के बीच में जो अन्तर है, वह दिखाई नहीं देता, या कोई निहित प्रयोजन इनके पहलू में छिपा बैठा है।

डॉ. कमलेश सचदेव के लेख—अपराध-केन्द्र हैं साधुओं के डेरे—में साधुओं के मठों और महंतों के पंचतारा डेरों में हो रहे अपराधों के जो आंकड़े हैं उनसे स्थिति की भयावहता का आभास होता है। इससे यह भी जाहिर होता है कि भ्रष्ट नेताओं और मंहतों के बीच कुत्सित गठजोड़ के बग़ैर यह सम्भव नहीं हो सकता।

डॉ. कृष्ण चंद्र गुप्त का (डा. राम विलास शर्मा) संस्मरण अच्छा लगा। अच्छा होता कि विभीषण वाले संवाद में गुप्त जी 'राम की शक्ति पूजा' के अलावा डा. शर्मा से कुछ और भी कहलवाते। यह बात भी काबिले ग़ौर है कि जब तक विदेशी पूंजी है, विदेशी भाषा का वर्चस्व रहेगा। यदि संस्मरण-लेखक विकल्पों के बारे में भी डाक्टर साहब के विचार देता तो पाठकों को इस पर कुछ और सोचने की एक दिशा मिलती।

कहानियों में मुझे संतसिंह सेखों की 'बच्चे', संतोष गोयल की '[illegible]' और हरदर्शन सहगल की 'लपटें' अच्छी लगीं। पंजाबी कहानी 'बच्चे' एक अलग ढंग की कहानी है। इस पर विस्तार से लिखा जा सकता है पर यहां तो आप इजाज़त देंगे नहीं।

कविताओं में मुझे नरेन्द्रमोहन की 'पीछे धुंध में' कविता अच्छी लगी। कविता का दर्द भीतर तक हान्ट करता है।

संचेतना की एक और बात भी मुझे बहुत अच्छी लगती रही है— और वह यह है कि संचेतना ने पुस्तकों की समीक्षा को पत्रिका का एक अनिवार्य और महत्वपूर्ण हिस्सा बनाया है। इस अंक में भी कोई दस-ग्यारह कविता, कहानी, उपन्यास और आलोचना सभी तरह के संग्रहों और पुस्तकों की समीक्षाएं हैं। इससे यह बात साबित होती है कि पत्रिका की जिम्मेदारियों में यह भी है कि वह अपने समय के साहित्यिक क्रियाकलाप और गतिविधियों पर नज़र रखे और उनका आकलन प्रस्तुत करे।

यह अंक हर तरह से सराहनीय है।

डॉ. कृपाशंकर सिंह
सी-4/ 86 /2, सफदरजंग विकास क्षेत्र, हौज़खास, नई दिल्ली-16

'संचेतना' का सितम्बर-दिसम्बर '97 अंक देखकर चमत्कृत हुआ। कारण कि लीक से हटकर इसमें आवृत्तियों का सुचिन्तित संयोजन पाया।

आपके सम्पादकीय के तेवर तीखे लगे। दो-टूक बातें, बेबाक विश्लेषण एवं निर्भीक तथ्य-निदर्शन ने एकबारगी मन को झकझोर दिया। 'संचेतना' की अनिश्चित अवधि की टूटन से मन कसमसा गया। संकल्प की अटलता का आभास तो मिला, किन्तु शृंखलावरोध की बात ने तिलमिला दिया।

संचेतना के पूर्व के अंकों से मेरा वंचित रह जाना, क्षति की बात है मेरे लिए। मन मसोस कर रह जाना पड़ा।

डॉ. वीरेन्द्र कुमार वसु
एल.के. कॉलेज, सीतामढ़ी (बिहार)

संचेतना में इस बार डॉ. महीप सिंह का लेख 'माया महाठगिनी हम जानी' काफी प्रासंगिक रहा है। कहानियों में हरदर्शन सहगल की 'लपटें' आज के समय का द्वन्द्वात्मक दुखांत बाखूबी पेश करती है।

संचेतना को निरंतर निकालने की पूरी कोशिश कीजिए।

महिमा सिंह
गांव व डाक — हलवारा, जिला लुधियाना, पंजाब-141107

संचेतना के अंकों में आप ज्वलन्त मुद्दों को उठा रहे हैं, इससे व्यक्ति की सोच पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है। संचेतना में व्यक्त विचार तर्कपूर्ण, वैज्ञानिक होते हैं। साधु-संतों, तान्त्रिकों का आज भी समाज में बोलबाला है जो भोली-भाली जनता को अपने चंगुल में फंसा अपना उल्लू सीधा करते हैं। ऐसे लोगों की आपने पोल खोली है। संचेतना में आप ऐसे ही मुद्दों को उठाएं। कहानियां तथा लेख स्तरीय हैं। डॉ. गुरचरण सिंह का प्रताप सहगल की कविता पर लेख उनकी कविता की सही समझ तथा पहचान हमारे सामने रखता है। 'मैंने पढ़ा' आपने नया स्तम्भ प्रारम्भ किया है, इसे जारी रखें। संत सिंह सेखों की कहानी मर्म को छूती है। बाल मनोविज्ञान की लेखक को गहरी समझ है।

विमलेश, पटना-1

गुट जब गिरोह बन जाते हैं

मारियो पुज्जो के बहुप्रसिद्ध उपन्यास 'गॉडफादर' ने एक शब्द को सभी भौगोलिक तथा भाषाई सीमाएं तोड़कर संसार-भर में स्वीकृत करा दिया। यह शब्द है 'माफिया'। अमेरिका में जा बसे सिसिली द्वीप, जो इटली का एक भाग है, के लोगों ने वहां अति संगठित ढंग से अपराध-जगत पर जो स्वामित्व प्राप्त किया, उसे माफिया कहा जाने लगा। अब माफिया का कोशीय अर्थ हो गया है—अपराधियों का गुप्त संगठन। पहले यह शब्द अमेरिका में रहने वाले सिसिली मूल के अपराधियों के लिए प्रयुक्त हुआ, फिर सभी अपराधी गिरोहों के लिए होने लगा। अब इस शब्द ने अपनी अर्थ-व्याप्ति बढ़ा ली है और संसार-भर के अपराधी तत्वों के लिए उपयोग में आने लगा है।

कुछ शब्द बहुत तेजी से अपने क्षेत्र का विस्तार करते हैं। इस समय 'माफिया' शब्द केवल अपराध-जगत तक ही सीमित नहीं है। जहां कहीं भी कुछ लोग गिरोह बनाकर सभी प्रकार के सही-गलत साधनों का सहारा लेकर किसी खास क्षेत्र में अपना दबदबा कायम करते हैं और वहां के सभी लाभों को हथियाने की योजनाबद्ध सक्रियता प्रदर्शित करते हैं, वहीं इस शब्द का प्रयोग होने लगता है।

अपराध-जगत से यह शब्द राजनीति में आया। पहले राजनीति का अपराधीकरण हुआ, अब अपराध का राजनीतिकरण होने लग गया है।

यद्यपि साहित्य-क्षेत्र में इस शब्द का प्रयोग हाल में ही शुरू हुआ है किन्तु इसके लक्षण काफी समय पहले से दिखाई देने लगे थे। साहित्य में गुटबाजी सातवें दशक के प्रारम्भ से ही अपने व्यापक रूप में उभरने लग गई थी। इसके पश्चात गुट बनते रहे और टूटते रहे। साहित्य में गुटों का बनना, टूटना अथवा अपने मित्रों के लेखन को चर्चा में लाना, उसे प्रोत्साहित करना, उसकी ओर साहित्य-जगत का ध्यान आकर्षित करना मुझे कभी अवांछित नहीं लगा। यह एक सामूहिक प्रयास है, जिसे जीवन के अनेक क्षेत्रों में स्वीकारा जाता है, बशर्ते यह गुट गिरोह का रूप न धारण कर ले। गुट के अंदर तो साथियों के साथ मिलकर काम करने की भावना होती है किन्तु गिरोह केवल साथियों को लाभ पहुंचाने तक ही सीमित नहीं रहता। वह अपने रास्ते में आने वाले, विरोध का स्वर रखने वाले, असहमति व्यक्त करने वाले लोगों को हानि पहुंचाने, उन्हें लांछित करने, उनकी उपेक्षा करने, उन्हें प्रभावहीन बनाने और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें किसी भी प्रकार रास्ते से हटाने की वांछा रखता है और इस दृष्टि से सदा प्रयत्नशील रहता है। यहीं से 'ग्रुप' की सीमा समाप्त होती है और 'माफिया' की प्रारम्भ होती है।

क्या हिन्दी में साहित्य की गुटबंदी ने आगे बढ़कर माफिया का रूप धारण कर लिया है? शायद विजयदान देथा ने साहित्य के संदर्भ में इस शब्द का प्रयोग करने में पहल की है। 'राष्ट्रीय सहारा' को दिए गए साक्षात्कार में उन्होंने कहा कि साहित्य में कुछ साहित्यकार माफियाओं का कब्ज़ा हो गया है जिन्होंने सही और सार्थक सृजनकर्मियों की उपेक्षा करके चाटुकार और पिछलग्गू साहित्यकारों को जबरन स्थापित कराने का बीड़ा उठा रखा है।

क्या स्थिति सचमुच ऐसी है? संचेतना के पिछले अंक में इस मुद्दे की घोषणा की गई, साथ ही साहित्य के स्वस्थ मूल्यों से गहरा सरोकार अनुभव करने वाले कुछ साहित्यकारों से इस संदर्भ में उनके विचार आमंत्रित किए गए। अपने पत्र की व्यापक प्रतिक्रिया देखकर हमें भी आश्चर्य हुआ। साहित्यिक माफिया की कुत्सित कारगुजारियों के कारण उत्पन्न हुआ असंतोष का धुआं कितने ही मनों में कब से उमड़-घुमड़ रहा था। अभिव्यक्ति का मंच मिलते ही उसे निसृत होने का जैसे मार्ग मिल गया।

मारियो पुज्जो के उपन्यास से माफिया के साथ ही एक और शब्द भी लोगों की जुबान पर चढ़ा—डॉन। माफिया गिरोह का सरगना 'डॉन' कहलाया। वैसे स्पेन में इस शब्द का प्रयोग किसी संभ्रान्त व्यक्ति के लिए किया जाता है, किन्तु 'गॉडफादर' का 'डॉन' सम्पूर्ण संसार में अपराधी गिरोहों का सरगना बन गया।

कितने आश्चर्य की बात है कि हिन्दी में माफिया भी हैं और डॉन भी हैं। डॉन का काम है अच्छे-बुरे का फैसला देना और बुरे के लिए दण्ड निर्धारित करना। साहित्य का डॉन यह तय करता है कि अच्छा लेखक/कवि कौन है और कौन नहीं हैं; साहित्य में किसका नाम लिया जाना चाहिए, किसका नहीं; पुरस्कार किसे मिलना चाहिए, किसे नहीं; विदेश-यात्रा के लिए किसे भेजा जाना चाहिए, किसे नहीं; किन लेखक/लेखिकाओं को पूरी तरह खारिज करके किसे आज का सर्वश्रेष्ठ लेखक/लेखिका घोषित किया जाना चाहिए।

'गॉडफादर' का डॉन सबको अपनी धनशक्ति अथवा गिरोह-शक्ति से परास्त करता था। अमेरिका की बड़ी-बड़ी अदालतों के जजों, पुरस्कार देने वाले प्रभावशाली व्यक्तियों, महत्त्वपूर्ण पदों पर बैठे हुए लोगों को वह सभी प्रकार के हथकण्डों का सहारा लेकर अपने प्रभामण्डल में रखता था। साहित्य का डॉन विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्ष का पद हथियाता है, सरकारी संस्थानों में चेयरमैन या कम

से कम सदस्य बनकर घुसता है, समितियों में अपनी पकड़ मज़बूत करता है, किसी पत्रिका का संपादक बनता है और फिर अपने चहेतों पर अनुकम्पा की वर्षा करता है। उसके चेहरे, हाव-भाव, व्यवहार से किसी पढ़ने-लिखने वाले व्यक्ति की नहीं, 'गॉडफादर' फिल्म के मर्लिन ब्रांडो की पहचान झरती है।

दूर जाने की ज़रूरत नहीं। इस वर्ष (7-9 अगस्त 1998) साहित्य अकादमी की ओर से आयोजित 'काव्यार्धशती' में वही दो-तीन नाम हैं जो किसी भी आयोजन, पुरस्कार-प्राप्ति, पुरस्कार-निर्णय, विदेश-गमन आदि पर वर्षों से छाए हुए हैं। हिन्दी कविता का प्रतिनिधित्व करने वाले नामों में आधे से अधिक नाम ऐसे हैं जिनकी इस क्षेत्र में कोई पहचान नहीं है, जिन्हें कविता लिखते जुम्मा-जुम्मा आठ दिन भी नहीं हुए हैं। इनमें से कुछ नाम तो ऐसे हैं जो कविता-क्षेत्र में पहली बार सुने गए हैं।

प्रश्न यह भी है कि जिन लोगों ने इन नामों का चयन किया, क्या उन्होंने हिन्दी का कुछ हित-साधन किया या केवल गिरोहबाज होने का सबूत दिया? यही कारण है कि इस काव्यार्धशती में हिन्दी कविता का प्रस्तुतीकरण और वाचन सबसे कमज़ोर आंका गया।

इस देश में अपराध-जगत में माफिया और डॉन दोनों ही सरगरम हैं। अब राजनीति पूरी तरह इसकी होड़ में आ गई है। किन्तु क्या संस्कृतिकर्मी भी इस दौड़ में शामिल हो रहे हैं? यदि यह सच है तो किसी देश के लिए, किसी भी भाषा के लिए इससे अधिक लज्जा और व्यथा की कोई बात नहीं हो सकती।

थोड़ी ही अवधि में हमसे कुछ अंतरंग साथी बिछुड़ गये! धर्मवीर भारती, कुलभूषण, रामकुमार भ्रमर, गणपति चंद्र गुप्त, हरिप्रकाश त्यागी, मंजुल भगत, रत्नलाल शर्मा... सभी के साथ संवाद की लम्बी यात्रा तय की गई। सभी हमारी उन साहित्यिक सरगरमियों के सहयात्री थे जिनसे साहित्य-संसार जीवन्त और गतिशील रहता है, सृजनात्मकता मुखर होती है और हम महसूस करते हैं कि इस आपाधापी के युग में हम एक समानान्तर संसार की रचना कर रहे हैं।

ये सहयात्री आज हमारे बीच नहीं हैं किन्तु पीछे-पीछे आने वाली पीढ़ी न केवल इनके पद-चिह्नों की पहचान करती रहेगी बल्कि इनसे अपने मार्ग की प्रशस्ति भी प्राप्त करती रहेगी।

संचेतना-परिवार की ओर से नमनपूर्ण स्मरण।

साहित्य पर भी कुछ साहित्य माफियाओं का कब्जा

महानगर के लगभग सभी कवियों को मैं शब्दों का कारीगर मानता हूं। सबके सब निर्मम, निष्ठुर तथा संवेदनहीन। केवल शब्द कौशल से खेलना ही कवि-कर्म नहीं है। साहित्य में कुछ साहित्यकार माफियाओं का कब्जा हो गया है जिन्होंने सही और सार्थक सृजनकर्मियों की उपेक्षा करके चाटुकार और पिछलग्गू साहित्यकारों को जबरन स्थापित कराने का बीड़ा उठा रखा है। साहित्य अकादमी की ओर से कल आयोजित 'कथासंधि' संध्या के उपरांत 'राष्ट्रीय सहारा' से बातचीत करते हुए लब्ध-प्रतिष्ठ राजस्थानी कथाकार विजयदान देथा ने उक्त बातें कहीं।

साहित्य की मौजूदा स्थिति पर गहरी चिंता व्यक्त करते हुए श्री देथा ने कहा कि एक साहित्यकार की लेखनी ही साहित्य को प्रतिष्ठित एवं स्थापित करती है मगर जब साहित्यकार ही क्षणिक लोभ और प्रतिष्ठा के मद में साहित्य का नुकसान करने लगे तब साहित्य की रस-मर्मज्ञता, ऊर्जा तथा अमर कृतियों का सार्थक सृजन रुक जाता है। आज के माहौल में किसी भी नए तथा भोले रचनाकारों के उभरने पर उन्होंने संदेह व्यक्त किया। उन्होंने कहा कि लोहे का कवच पहनकर ही मैं सच्चाई बयान कर सकता हूं। उन्होंने चुटकी लेते हुए समकालीन रचनाकारों से पिटाई की आशंका व्यक्त की।

साहित्य के बड़े-बड़े साहित्यकारों को हाशिये पर किए जाने की साजिश के खिलाफ श्री देथा ने समकालीन जागरूक रचनाकारों को मुहिम चलाने की सलाह दी। बिना नाम लिए श्री देथा ने कुछ साहित्यकारों को 'मीडिया का दलाल' कहा जिनके प्रभाव से सार्थक रचनाकारों का छपना प्रतिबंधित हो चुका है। कुछ पत्र एवं पत्रिकाओं का भी उन्होंने नाम लिया जिनके माध्यम से एक खास वर्ग के साहित्यकारों को बढ़ावा देने का अभियान जारी है।

(2 मई 1998 के राष्ट्रीय सहारा के अंक में अनामीशरण बबल द्वारा लिए गए साक्षात्कार से उद्धृत)

क्या साहित्य में भी माफिया सरगरम है?

इस अंक में हम सर्वश्री रामदरश मिश्र, सुनीता जैन, हिमांशु जोशी, मृदुला गर्ग, कुसुम अंसल, नासिरा शर्मा, हरदयाल, नरेन्द्र कोहली, चित्रा मुद्गल और प्रताप सहगल की टिप्पणियां दे रहे हैं। संचेतना के आगामी अंक में भी हम इसी मुद्दे को आगे बढ़ाएंगे। उसमें आप पढ़ेंगे कन्हैया लाल नंदन, देवेन्द्र इस्सर, जगदीश चतुर्वेदी, रमेश उपाध्याय, वीरेन्द्र कुमार वसु, कमल कुमार, प्रकाश मनु, गुरुबचन सिंह, रूप सिंह चंदेल तथा अन्य अनेक साहित्यकर्मियों के अभिमत।

वे तो प्रेमचंद को भी अप्रासंगिक करार देना चाहते थे

रामदरश मिश्र

जो बात श्री विजयदान देथा ने आज कही है, वह बात हम कब से अनुभव करते और कहते आ रहे हैं। प्रकाश मनु ने तो अपने उपन्यासों में माफिया समस्या को केन्द्रीय समस्या बनाया है। अच्छा हुआ, आज देथाजी को भी इस बात का अहसास हो गया कि "हिन्दी में माफिया सरगरम है जो लेखकों को छोटा-बड़ा बनाता है, उन्हें बड़े-बड़े पुरस्कार दिलवाता है और उन्हें सभी प्रकार की सरकारी-गैर सरकारी सुविधाओं से सम्पन्न करता है।" श्री देथा का कहना एक अर्थ रखता है क्योंकि वे उन्हीं साहित्यकारों के इलाके में रहते रहे हैं और उनके क्रियाकलापों को बहुत समीप से देखते रहे हैं। हम लोग कब से इस साहित्यिक माफिया-कर्म के विरुद्ध कहते-सुनते रहे हैं किन्तु सगठित माफिया दल पर उसका कोई असर नहीं होता। देथाजी उनके प्रिय लेखक रहे हैं। वे आज यदि यह बात कह रहे हैं तो इसे उनकी आकस्मिक प्रतिक्रिया नहीं कहा जा सकता। काफी दिनों से इस दल के बीच रहते हुए वे इसे बहुत समीप से देख और पहचान रहे होंगे और जब लगा होगा कि सचमुच यह माफिया दल है तो कहे बिना नहीं रह सके। माफिया यानी साहित्य के अभिजन।

मेरे पास जब कोई नया लेखक आता है और मुझसे अपनी रचना पर राय मांगता है तो राय तो दे देता हूं किन्तु उसे यह नई सलाह भी देता हूं कि देखो बंधु, मुझसे जुड़कर कुछ नहीं पाओगे। तुम्हारी अच्छी रचना को मैं लाख अच्छी रचना कहूंगा, कोई नहीं सुनेगा। तुम साहित्य के अभिजनों से जुड़ो, वे तुम्हारी खराब रचना को भी अच्छी कह देंगे तो वह चल निकलेगी। एक कहेगा, दूसरा कहेगा, तीसरा कहेगा, फिर चौथा, पांचवां, छठा....। और उनकी लीक पर चलने वाला अध्यापक और पाठक भी कहेगा। उनके हाथ में महत्त्वपूर्ण सरकारी-गैर सरकारी पत्रिकाएं हैं। तुम वहां छपना शुरू हो जाओगे, तुम्हारी चर्चा भी प्रायोजित हो जाएगी। ये ही अनेक छोटे-बड़े पुरस्कारों के नियंत्रक हैं। वे अनेक सरकारी-गैर सरकारी पुरस्कारदायी संस्थानों पर कुंडली मारे बैठे हुए हैं। पुरस्कार इनके गलियारों से बाहर नहीं झांक सकता। जब भी झांकने की कोशिश करता है, खींचकर गलियारे में पकड़ लिया जाता है। तुम्हें देर-सवेर कोई न कोई महत्त्वपूर्ण पुरस्कार मिल ही जाएगा। और हां, देश से बाहर की दुनिया में ये ही आते-जाते हैं—चाहे साहित्यिक यात्राएं हों, चाहे रचनाओं के विदेशी भाषा में अनुवाद हों, चाहे वहां के पाठ्यक्रम में रचनाओं की शिरकत हो। इन्हीं के संगठित प्रयत्नों से विदेशी विद्वान हमारे देश के हिन्दी साहित्य को जानते हैं। ये विदेशों में हिन्दी पढ़ा रहे हिन्दी शिक्षकों (चाहे उनकी साहित्यिक औकात कुछ भी न हो) के आगे-पीछे घूमते रहते हैं ताकि उनके माध्यम से उनके देश से इनका सम्बन्ध जुड़ सके। वे विदेशी हिन्दी शिक्षक भी समकालीन साहित्य-परिदृश्य में केवल इन्हीं को जानते हैं और फिर भी समग्र हिन्दी-परिदृश्य को जानने का भ्रम पाले रहते हैं। बहरहाल, तुम्हें इससे क्या? तुम इस दल से जुड़ोगे तो हमेशा लाभ में ही रहोगे, मुझसे जुड़कर क्या पाओगे? और यह भी तय है कि तुम यदि आज मुझसे जुड़ भी गए तो कल उन्हीं अभिजनों के इलाके में घूमते पाए जाओगे। अतः बेहतर है, तुम शुरुआत ही वहां से करो।

पहले तो ये नए लेखक कहेंगे—"नहीं-नहीं श्रीमान, हम तो आपकी रचनाएं पढ़ते हैं और उनसे खिंचकर ही आपके पास आते हैं।" किन्तु जल्दी ही उसी दल के गलियारे में चक्कर लगाते दिखाई पड़ेंगे और गांव या कस्बे से लाई हुई अपनी कच्ची और ताज़ा शख्सियत को फेंक-फांककर उस दल के किसी तथाकथित बड़े रचनाकार जैसा लिखने की कोशिश करने लगेंगे। कुछ ऐसा लिखने लगेंगे जिसमें अपना कम हो, दूसरों का ज़्यादा; जिसमें कुछ आधुनिक

मुहावरा-सा दिखाई पड़े; जिसमें से उलझन-भरी गहराई फूटती आभासित हो। कुल मिलाकर वे ऐसा लिखेंगे कि रचना बने या न बने किन्तु वे जो चाहते हैं, वह बात बन जाए। और कौन है ये साहित्य के अभिजन? आपस में मिलजुलकर बड़े बने हुए इन लोगों में से कोई बड़ा कवि है, कोई बड़ा कथाकार है, कोई बड़ा आलोचक है और फिर इनके साथ जुड़े हुए अनेक बड़े कवि, कथाकार और आलोचक हैं। जो इनसे जुड़े नहीं हैं, वे इनकी दृष्टि में कुछ भी नहीं हैं—लिखते रहें अच्छी रचनाएं, होते रहें चर्चित दूसरों की दृष्टि में। इनके बीच के लोगों की कोई रचना आएगी तो आते ही आते ले उड़ेंगे। इनकी पत्र-पत्रिकाएं जैसे तैयार बैठी रहती हैं कि इनकी कोई चीज़ आए तो शोर मचाना शुरू करें। रचनाओं के आते ही समीक्षाएं आना शुरू हो जाती हैं किन्तु दूसरे लोगों की अच्छी से अच्छी पुस्तकों की समीक्षाओं को छपने के लिए लम्बा इंतज़ार करना पड़ता है और यदि छपती हैं तो काफी कट-कुटकर। वे पुस्तकें उनके इलाके में जानी नहीं जातीं। यानी उन्हें न जानने का गहरा स्वांग रचा जाता है।

हिन्दी साहित्य में काफी कुछ अच्छा लिखा जा रहा है किन्तु एक मुहिम के तौर पर चर्चा होती है अभिजन लोगों की पुस्तकों की ही या उनकी, जिन्हें वे चाहते हैं। इस दल के तमाम छोटे-बड़े लोगों ने खुशफहमी पाल ली है कि वे बहुत अच्छा लिख रहे हैं और उनसे इतर आगे-पीछे और अपने समय के अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाकार अप्रासंगिक हो गए हैं। यहां तक कि जयशंकर प्रसाद भी। उनकी कोशिश तो प्रेमचंद को भी अप्रासंगिक करार देने की थी किन्तु प्रेमचंद के साथ जुड़े विशाल पाठक-समुदाय ने यह षड्यंत्र चलने नहीं दिया। इतना ही नहीं, इनका उठना-बैठना, हंसना-बोलना, पीना, खाना सदा अपने दल के लोगों के ही बीच होता है। ये और लोगों से यों मिलते हैं जैसे उन पर कृपा कर रहे हों। किन्तु इनकी औकात क्या है? ये न कोई अविस्मरणीय कविता दे सके हैं, न कथा। आलोचना की तो बात ही न पूछिए। अपनी महत्ता के गर्व में स्वयं ही फूले इनसे पूछा जा सकता है कि तुम्हारे बीच वह कौन है जिसे अखिल भारतीय लेखक कहा जाए? तुम्हारी वे कौन-सी रचनाएं हैं जो तुम्हारी पहचान बनकर पाठकों के मन में वैसे ही गूंज रही हैं जैसे हमारे श्रेष्ठ अग्रज लेखकों की कई-कई रचनाएं गूंजती रही हैं।

अब तक के श्रेष्ठ रचनाकारों के पास बैठकर कोई भी उनकी मुक्त हंसी और प्रीतिकर साहचर्य पा लेता था, उनके स्नेह और हंसी से भीगकर अपने को समृद्ध अनुभव करता था। इसलिए उन रचनाकारों की रचनाओं में उनका मानवीय व्यवहार सहजता तथा गति लाता था। अब लेखकों का व्यवहार जैसा ऐंठा हुआ है, वैसी ही रचनाएं ऐंठी हुई हैं।

आपकी यह चर्चा ही क्या करेगी?

सुनीता जैन

क्या साहित्य में भी माफिया सरगरम है, विषय पर चर्चा के आपके आमन्त्रण ने 'डेज़ा वू' का काम किया। ऐसा लगा कि इंग्लैंड की साम्राज्ञी फिर से लौटकर कह रही हो: दिल्ली एक अति गंदा शहर है। और उसके कहने से दिल्ली वालों को दिल्ली की अपार गन्दगी पहली दफे दिखाई दी हो। क्या विजयदान देथा जैसे भारी-भरकम नामों द्वारा की गई घोषणाएं ही हिन्दी के साहित्यकार को उसके साहित्य जगत में फैले इस कैंसर का बोध करवाएंगी जो पिछले बीस वर्ष से हर दिन दूना बढ़ रहा है, वह भी छुपा-छुपी नहीं, खुल्लमखुल्ला। और यदि हमारा साहित्य-जगत वास्तव में बीमार है तो उसके लिए जिम्मेदार स्वयं बीमारी तो नहीं, न उस बीमारी को फैलाने वाले, बल्कि वे हैं जिन्होंने अपनी चुप्पी से इसे पोसा, सब कुछ जानते हुए भी 'आकाओं' के पीछे अपने-अपने झोले लटकाए चल पड़े, शाम की पानी-वानी व्यवस्था में सक्रिय हुए और मुंह खोला भी तो केवल इसलिए कि हड्डी फेंको नहीं तो भौंकेंगे और पुरस्कार की हड्डी चबाते-चबाते पालतू तो हो ही गए, लेखक के रूप में भी चुक गए।

हमने जब लिखना सीखा था या लिखे को पढ़ते थे तो इस भ्रम में थे कि कोई आलोक ऐसा है जो केवल शब्द उजागर करते हैं, लेखक जिसका खोजी होता है, खनन करता है जीवन भर इस आलोक का, और मिलने पर उसकी रक्षा के जिम्मे का भागीदार होता है। यह भ्रम तो टूटा ही जब एक जमा दो, अधिकाधिक ताउम्र तीन पोथियों के रचयिताओं ने अकादमियों से लेकर पत्र-पत्रिकाओं तक, पुरस्कारों से लेकर विदेश-यात्राओं तक ऐसा फन फैलाया कि मीलों क्या, सुदूर बस्तियों तक साहित्य... क्षार हो गए। साल की, बरगद की क्या बात करें, छोटी-मोटी झाड़ी तक नहीं उगती अब। यह भ्रम केवल इसलिए नहीं टूटा कि अच्छे से अच्छा साहित्य बुहार फेंका गया या पुरस्कारों से नवाज़ा नहीं गया। यह भ्रम तिरस्कार ने अधिक तोड़ा—अपनी भाषा के अपने ही घर में घोर अपमान और अवहेलना ने। ऊब अततः इस बात से होती है कि जब हिन्दी को हमारे घरों में कोई बोलना तक नहीं चाहता, पुस्तकों पर वर्ष में कोई उतना भी नहीं खर्च करता जितना एक सप्ताह में आलू-प्याज पर, और लिखता है तो इस मुद्रा को ओढ़कर कि उससे पहले कुछ लिखा ही नहीं गया—केवल विदेशी साहित्य की तोड़ी-मरोड़ी बातों को जोड़कर साहित्य हो तो हो, और वह भी तुरत-फुरत कैश करने को।

क्या यह विस्मय की बात नहीं कि जिस देश की एक विदेशी भाषा हर दूसरे-तीसरे वर्ष एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त 'पंचसितारा'

भारतीय लेखक संसार को भेंट करता है जिसे देश नहीं, विश्वसाहित्य की कसौटी पर खरा उतरना होता है, उसी देश की सबसे अधिक बोली जाने वाली करोड़ों की भाषा में कवि केवल वही दो, कहानीकार तीन, उपन्यासकार चार—साल-दर-साल-दर-साल? यहां तक कि विमूढ़ पाठक पुरस्कारों के बोझ से कुबड़ाए एक ही लेखक का नाम बार-बार देख पूछने लगता है, 'क्या हिन्दी में अब कोई नहीं लिखता?' पुरस्कारों के पीछे के प्रायोजनों ने इतना चमत्कार तो किया ही कि हिन्दी साहित्य का न अतीत रहा, न वर्तमान, भविष्य की आप जानें।

किन्तु मैं अपनी बात को क्षोभ, आरोप, आक्षेप, वारदातों की किस्सागोई, या सुनी-सुनाई-पे-अटकल-लगाई से हटकर प्रमाण के ठोस धरातल से जोड़ती हूं और एक लेखक के नाते कुछ तथ्यों के प्रकाश में लाए जाने की मांग करती हूं। मेरी-तेरी बात जिससे मात्र कुण्ठा या भड़ास न रहकर, स्वयं अपना स्पष्टीकरण हो जाए और यदि कहीं भ्रष्टाचार है तो उसका एक कच्चा चिट्ठा जनतन्त्र-प्रणाली के नियमानुसार दस्तावेज बनकर छपे—

1. मैं मांग करती हूं कि सरकारी साहित्यिक संस्थाओं में प्रमुख संस्था, केन्द्रीय साहित्य अकादमी द्वारा हिन्दी को दिए गए पुरस्कारों की पिछले बीस वर्ष की सूची छपे जो निम्नलिखित को रेखांकित करे:

(क) पुरस्कृत पुस्तकों के प्रकाशक

(ख) पुरस्कृत पुस्तकों के निर्णायक

(ग) जो पुस्तकें अन्तिम दौर में थीं पर पुरस्कृत नहीं हुईं (कम से कम दो), उनके नाम, उनके प्रकाशक, उनके लेखकों के नाम। यह सूची साहित्य अकादमी हर वर्ष पुरस्कार की घोषणा के समय अपनी पत्रिकाओं में पुनरांकित करे।

(घ) पिछले 15-20 वर्ष में कौन-कौन निर्णायक दोबारा-दोबारा हिन्दी के निर्णायक हुए, कितने समय के लिए; उनमें से कौन उन प्रकाशन संस्थानों से जुड़े हुए थे जिनकी पुस्तकें पुरस्कृत हुईं।

2. निर्णायकों का फैसला अंतिम और सर्वमान्य हो और इस फैसले पर किसी को आपत्ति न हो, इस सन्दर्भ में लेखक के नाते मैं मांग करती हूं कि पुरस्कार के लिए 'शार्ट लिस्टिड' पुस्तकें सभी निर्णायकों द्वारा पढ़ी गई हैं, इसका प्रमाण टिप्पणी के रूप में फाइल में रहे और यह फाइल 'कान्फिडेन्शियल' न होकर पब्लिक हो— एक सबूत की तरह कि पुस्तकें यों ही 'ठेल' या 'निपटा' नहीं दी गईं, कि फैसले मौखिक भर नहीं थे, किसी दबाव में माने गए या किसी एक के मुख से निकले ब्रह्मवाक्य नहीं थे। यह मांग भी इतनी अनुचित तो नहीं कि हिन्दी जगत इसे सहन न कर सके। विदेशों में यही प्रणाली है और यदि यह प्रणाली अपने यहां है तो उसकी पुष्टि सप्रमाण हो। पुरस्कार देने वाली संस्थाएं इसकी 'मानिटरिंग' करें, न कि बस निर्णायकों के महंगे हवाई या 'एसी' टिकटों का भुगतान-भर।

3. सूची मिले कि पिछले दस वर्ष में साहित्य अकादमी ने हिन्दी साहित्यकारों में से किनको विदेश-यात्राओं पर या महंगी देशी यात्राओं पर भेजा—जैसे कि केरल। जिन लेखकों पर 25000 रुपये से अधिक यात्रा-व्यय हुआ, वे कितने थे, और कितने वही-वही थे।

4. उपरोक्त के अतिरिक्त आई सी सी आर द्वारा भी देश और देश के बाहर भेजे गए हिन्दी लेखकों की पिछले दस वर्ष की सूची की मांग की जाए। यह सूची छपे। और सदा इसकी कम्प्यूटर-कापी मिनिस्ट्री में उपलब्ध हो। लेखक, वर्ष, यात्रा का कारण, स्थान, व्यय की राशि। दूध में से पानी यह सूची स्वयं ही निकाल देगी। हमें श्रम न करना होगा। आवश्यकता जानने की है कि इसी मिनिस्ट्री के पदाधिकारियों ने स्वयं अपने 'टर्म' में अपने ऊपर कितना विदेश-व्यय किया जब वे 'साहित्यकार' की हैसियत से बाहर गए। आश्चर्य नहीं होगा यदि यह रकम देश में मिलने वाले बड़े से बड़े पुरस्कार से भी कहीं अधिक हो।

5. मांग यह भी करती हूं कि सरकारी संस्थाओं द्वारा हिन्दी को दिए जाने वाले सभी छोटे-बड़े पुरस्कारों की सूची, राशि, तिथि (जब पुस्तक जमा हो), निर्णय का अनुमानित समय, निर्णायकों के नाम, पिछले पुरस्कारों की सूची और प्रणाली, अन्तिम तीन पुस्तकों के नाम हर वर्ष 'अपडेट' हों। कोई सरकारी संस्था निशुल्क वितरण के लिए, छोटे पैम्पलेट के रूप में इसे छापे या अधिक से अधिक 5-10 रुपये कीमत रखे। इतना होने से 10 प्रतिशत जानकारों की घेराबंदी तो कुछ ढीली होगी ही, 90 प्रतिशत 'अजानों' के दबाव में शायद कभी कोई उत्साहजनक परिवर्तन या सूचना सामने आए। न भी हो तो सिर हिला कर यह कह देने की नौबत तो खत्म हो कि "भई, मुझे तो पता ही नहीं कि यह पुरस्कार की गाज कहां से गिरती है, कौन गिराता है। हम लोग तो बस सुनते रह जाते हैं।"

मैं इन मांगों को केवल सरकारी संस्थाओं के लिए प्रस्तुत कर रही हूं। वे जनता का पैसा व्यय करते हैं। हम उनसे यदि उसका ब्योरा मांगें तो यह मांग न अवैध है, न किसी भी तरह अनुचित। और मांग का डर ही किसी की 'अकाउन्टेबिलिटी' को अक्षुण्ण रख सकता है। सरकारी पुरस्कारों की स्वस्थता सेठों के दिए पुरस्कारों को भी स्वयमेव अधिक विश्वसनीय बनाएगी। तब इस तथाकथित 'माफिया' के चलते ये पुरस्कार ऊपर-ऊपर ही उदरस्थ नहीं हो जाएंगे। और यदि ऐसा होता रहा तो पतन की सीमा गिराने वाले से नहीं, स्वयं गिरने वाले से तय होती है। हिन्दी का लेखक जब अपना पुरस्कारी भिक्षा-कमण्डल लेकर स्वयं घूमेगा; साहित्य की नहीं, केवल अपनी चिंता करेगा, जो न कवि, न कहानीकार, न उपन्यासकार, न निबन्धकार, उनको निर्णायक की पदवी पर सब जगह बैठाएगा या उनके बैठे रहने पर एतराज नहीं करेगा तो आपकी यह चर्चा ही, कहिए, क्या करेगी? फिर भी आपने जो सत्य-उजागर-बीड़ा उठाया है, उसके लिए आप बधाई के पात्र तो हैं ही।

अन्त में यह कहना चाहती हूं, और दावे से, कि पुरस्कारों की

ढुलमुल नीति ने हिन्दी साहित्य का जो अहित पिछले दो दशक में किया है, उसका अनुमान भी कठिन है। पहले हिन्दी साहित्यकार को प्रतिष्ठित करने वाला उसका पाठक था। इसीलिए लिखने वाला अपने लेखन को तपस्या मानता था। छोटे-मोटे सम्मान थे भी तो मीडिया उन्हें ऐसे नहीं उछाल पाता था जैसे आज। पाठक ही पहचान करता चलता था कि कौन कैसा लिख रहा है। पुरस्कार की सूचना पाठक तक पहुंचती ही नहीं थी।

इधर पत्रिकाओं के लगातार बंद होते चले जाने से और पुस्तकें, थोक-खरीद के बाद कहीं भी उपलब्ध न होने से, तथा आलोचक नाम की जन्तु-नस्ल के समूल नाश से, लेखन को प्रतिष्ठित करने वाला माध्यम केवल पुरस्कार रह गया है। इसलिए यह एक बड़ी जिम्मेदारी का काम है। अखाड़ेबाजी की आत्मघाती कलाबाजियां पाठक को साहित्य से विमुख करने में सफल तो हुई ही हैं।

जो इन गिरोहों में नहीं, कहीं भी नहीं

हिमांशु जोशी

समाज में अन्य क्षेत्रों में आज जो हो रहा है, उस से साहित्य/संस्कृति अछूते कैसे रह सकते हैं? पर अब लगने लगा है कि धीरे-धीरे भले-बुरे के बीच की सीमा-रेखा भी धुंधली हो रही है। मूल्यों के नाम पर जो नए 'मूल्य' स्थापित किए जा रहे है, वे स्वयं में कम चिन्ता के विषय नहीं।

गत पचास वर्षों में केन्द्रीयकरण की जो प्रवृत्तियां आरम्भ हुई, वे भी इसके लिए कम जिम्मेदार नहीं। सत्ता या शक्ति जब कुछ हाथों में केन्द्रित हो कर रह जाती है, तब हर तरह के अनर्थ की सम्भावनाएं बढ़ जाती हैं।

पहले साहित्य के केन्द्र-बिन्दु अनेक थे—कलकत्ता, पटना, बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ, दिल्ली, बम्बई आदि। 'ज्ञानोदय', 'नया समाज', 'सुप्रभात', 'नई धारा', 'साहित्यकार', 'संगम', 'कल्पना', 'सारिका' आदि मासिक पत्रिकाओं के अतिरिक्त 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'दिनमान', 'रविवार' आदि साप्ताहिक भी थे। इसी तरह आलोचक और आलोचना के क्षेत्र भी बिखरे हुए थे, व्यापक! तब किसी एक का ही वर्चस्व स्थापित हो पाना कठिन था। हर विचार, हर वर्ग के लिए पर्याप्त सम्भावनाएं थीं, पर धीरे-धीरे साहित्य के अनेक स्रोत सूख गए। आज लगभग रिक्तता की स्थिति है, हां, कुछ अपवाद छोड़कर!

राजस्थान में कहावत है कि वहां अरण्ड का पौधा ही वृक्ष कहलाता है। इधर ऐसे वृक्ष अधिक उग आए हैं, जो हर तरह से बौने होने के बावजूद आज 'महावृक्ष' हैं।

जो दुर्नीति राजनीति में 'राजनीति' के नाम पर स्थापित की जा रही है, कुछ-कुछ वैसा ही इधर साहित्य में भी साहित्य के नाम पर घटित होने लगा है। प्रश्न सरकारी, अर्द्धसरकारी साहित्यिक संस्थानों का, पुरस्कारों या अन्य कुछ भौतिक लाभों का नहीं.. सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के भविष्य का है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात साहित्य का जो इतिहास अब तक लिखा गया है, उसकी प्रामाणिकता एवं निष्पक्षता के आगे अनेक प्रश्न-चिह्न हैं।

कुछ 'समझदार' समीक्षकों, 'समझदार' लेखकों, 'समझदार' सम्पादकों की मिलीभगत के परिणामस्वरूप इस दौर में जो साहित्य चर्चित रहा, यानी दूसरे शब्दों में चर्चित करवाया गया, क्या मात्र वही उल्लेखनीय साहित्य था? जो लेखक अपने तीस-चालीस वर्षों के सृजन-काल में भी नहीं के बराबर से अधिक लिख पाने में असमर्थ रहे, क्या केवल वे ही हिन्दी की सम्पूर्ण मेधा समेटे थे? जो समूहों या गिरोहों में नहीं रहे, क्या उनका कोई वजूद नहीं था?

अनेक आलोचकों की ईमानदारी भी प्रश्नों के घेरे में रही। भीड़ से निकलकर दल, बल, छल के सहारे ऐसे अवसरवादी आलोचक साहित्य के नीति-नियामक बन गए, जिन्होंने ईमानदारी के साथ कभी समग्र समकालीन साहित्य के आकलन की आवश्यकता ही नहीं समझी। पहले से ही तय कर लिया कि किस लेखक-विशेष को चर्चित करना है, किसका विरोध करना है, किसकी घोर उपेक्षा कर उसे साहित्य के हाशिए पर पटक देना है।

ऐसे आलोचक-प्रवरों को खोजने में कुछ विशेष श्रम नहीं करना पड़ेगा, जो बिना पढ़े ही टिप्पणियां देने में प्रवीण हैं और खुलेआम फतवे बांटते हैं।

स्वयं कुछ लेखकों ने भी जब साहित्य के इतिहास पर कुछ लिखने का प्रयास किया, तो उनके आकलन भी सन्देहास्पद रहे। अज्ञेयजी ने साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'कण्टम्पररी इण्डियन लिटरेचर' में हिन्दी साहित्य पर जो लिखा, उससे तब कम तूफान नहीं उमड़ा था! बाद में विवश होकर उसमें आवश्यक संशोधन करने पड़े थे।

पर आज तो लगता है जैसे हम नैतिकता की उन सीमाओं को भी लांघ गए हैं। शासन द्वारा संचालित साहित्यिक संस्थाओं में छापामारों की तरह एक दल आता है, और जी भर कर लूटकर चला जाता है। अपने को तथा अपने लोगों को संस्थापित करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ जाता। सारे पुरस्कार, सारे सम्मान हथियाकर, अपने नैतिक कर्तव्यों की इतिश्री कर, आने वाली पीढ़ी के लिए एक 'आदर्श' छोड़ जाता है।

और इसके बाद जैसे ही प्रशासन बदलता है, लुटेरों का एक और समूह छा जाता है।

जो इन गिरोहों में नहीं, वे कहीं भी नहीं!

यही स्थिति पत्र-पत्रिकाओं एवं अन्य संचार-माध्यमों की भी है। उनके लिए अपने मात्र कुछ लेखक ही सब कुछ हैं। वहां भी माफिया

सक्रिय हैं। अपने गिरोह के लोगों को आगे ले जाने के लिए, दूसरों को परास्त करने के लिए नित नए-नए षड़यंत्र रचे जाते हैं। साहित्य की नहीं, मात्र अपने हितों की चिन्ता विशेष रूप से उभर कर सामने आती है। लेन-देन खूब धड़ल्ले से चलता है।

कौन-सी रचना, किस तरह से चर्चित करनी है? किस पुरस्कार को अपने लोगों को दिलाने के लिए क्या-क्या व्यूह रचने हैं? हर तरह से, हर मंच से, हर माध्यम से यही प्रचारित, प्रसारित किया जाता है कि साहित्य में मात्र ये ही कृतियां श्रेष्ठ हैं। शेष जो लिख रहे हैं, वे सही लेखक की श्रेणी में नहीं आते! यानी वे ही दो-चार तय करेंगे कि कौन लेखक लेखक है, कौन लेखक नहीं है—भले ही कोई कितना ही अच्छा क्यों न लिख रहा हो!

और धीरे-धीरे इसी कसौटी पर परखते हुए साहित्य के इतिहास की संरचना की जाती है। विश्वविद्यालयों में वे ही पढ़ाए जाते हैं। सारे मान-सम्मान उनके लिए ही सुरक्षित किए जाते हैं।

कहीं पौधों को अपनेपन की आड़ में इतने अधिक जल से सींचा जाता है कि पनपने के नाम पर वे उनकी जड़ें ही गला रहे हैं। समय से पहले वे बेचारे मर रहे हैं और कहीं स्थिति सर्वथा इसके विपरीत कर दी जाती है। वहां भी पौधे दम तोड़ते रहे हैं, दो बूंद जल के अभाव में।

ऐसे कितनी ही उभरती प्रतिभाओं की हत्या से हाथ रंगे हैं अनेक स्वनामधन्य आलोचकों और हर तरह से बुढ़ा गए कुछ लेखकों के, जिनका लक्ष्य साहित्य-सृजन नहीं, साहित्य की सौदागरी करना मात्र रह गया है; जो खुलेआम चौराहे पर बैठकर साहित्य की दलाली कर रहे हैं।

ये दृष्टिहीन, दिशाहीन जिस साहित्य के नियन्ता होंगे, उसका भविष्य भला क्या होगा?

अन्ततोगत्वा यदि इस माफिया-संस्कृति से मुक्त होना है तो साहित्यकारों को मिलकर एक रचनात्मक, सार्थक दृष्टिकोण अपनाना होगा। सरकारी-अर्द्धसरकारी साहित्यिक संस्थानों का निष्पक्ष भाव से पुनरवलोकन कर, साहित्य का सही इतिहास रचना होगा।

फलां-फलां का माफ़िया बनना

मृदुला गर्ग

साहित्य में भी माफिया काम कर रहा है, इसमें प्रश्न जैसा क्या है, समझ में नहीं आ रहा। इतना ज़रूर समझ रही हूं कि माफिया की कार्यप्रणाली पर बात करने के लिए मैं एकदम अयोग्य मानी जाऊंगी, खासकर माफिया द्वारा। मैं कभी किसी पुरस्कार-समिति या सरकारी-अर्धसरकारी संस्थान की सदस्या नहीं रही, न मुझे कोई बड़ा पुरस्कार [illegible] ज़रूर की है, पर उनके लिए आमंत्रण से लेकर आतिथ्य तक, विदेशी विश्वविद्यालयों और सांस्कृतिक संस्थानों से मिला है। करीब 23 वर्ष पहले, प्रथम उपन्यास छपने पर, उसे मध्य प्रदेश साहित्य परिषद से अखिल भारतीय नामित पुरस्कार अवश्य मिला था और पांच वर्ष पहले, एक नाटक को। उनके लिए पुरस्कार-समिति के सदस्य कौन थे, मुझे आज तक पता नहीं। पुरस्कार तथा सुविधाएं प्रदान करने की प्रक्रिया मेरे लिए अबूझ बनी हुई है। फिर भी, जब आपने पूछा है तो मैं आपको दो रोचक सत्य-कथाएं सुनाती हूं। वे आपके प्रश्न का अनुभूत व प्रामाणिक उत्तर देंगी। दोनों घटनाएं करीब 17-18 बरस पहले घटी थीं।

पहली घटना यूं थी कि कलकत्ता की एक सांस्कृतिक संस्था ने मुझे लिखा कि उन्होंने मुझे उस वर्ष का साहित्य-सम्मान दिया है और मैं उन्हें अपना कलकत्ता पहुंचने का कार्यक्रम लिखूं। अभी मैं तय करके जवाब देती कि सौभाग्य से, उससे पहले ही, उनका दूसरा पत्र आ गया। लिखा था, 'किन्हीं कारणों से' वह सम्मान मेरे बजाय किसी और को दिया जा रहा है। मुझे वह खासी दिलचस्प घटना मालूम पड़ी थी और मैंने तभी उसका विवरण पत्रों सहित धर्मवीर भारतीजी को, धर्मयुग में छापने के लिए भेज दिया था। शायद हास्य-व्यंग वाले पृष्ठ के लिए। पर भारती जी को लगा कि उस सबको छापना मेरे लिए हितकर नहीं होगा और उन्होंने उसे नहीं छापा। बात आई-गई हो गई। मुझे लगा, किसी और को इस सबके बारे में क्या ही पता होगा। पर 17 वर्ष बाद, 1997 में मैं बंबई गई तो एक गोष्ठी के दौरान सुधा अरोड़ा ने उस घटना का ज़िक्र किया। यानी ज़रूरत हो तो वे इसकी गवाही दे सकती हैं। खैर। उसी गोष्ठी में एक दिलचस्प वाकया और हुआ। सुधा जी ने मेरा परिचय तैयार करते हुए मुझसे पूछा कि मेरे उपन्यास 'अनित्य' को कौन-कौन से पुरस्कार मिले हैं। जब मैंने कहा, कोई नहीं, तो उन्हें काफी अचरज हुआ और इसका ज़िक्र भी उन्होंने गोष्ठी में किया। तब मेरे मन में दूसरी सत्यकथा की याद ताज़ा हो गई। वैसे, भूलने लायक घटना वह थी भी नहीं। उसे सुनाने से पहले इतना कह दूं कि उस गोष्ठी के दौरान मुझे वाकई अहसास हुआ कि पुरस्कार का मिलना-न मिलना पुस्तक के लिए कितना मायने रखता है। यानी पुस्तक के प्रचार व प्रसार, आलोचना और साहित्य के इतिहास में दर्ज होने के लिए। यहां तक कि पुरस्कार का 'न मिलना' भी उल्लेखनीय हो जाता है।

अब दूसरी सत्यकथा सुनिए। वही 17-18 साल पहले की बात है। एक दिन जैनेन्द्रजी ने मुझसे कहा कि अमुक उपन्यास साहित्य अकादमी के पुरस्कार के लिए प्रस्तावित है, और 'अंतिम निर्णायकों' में से एक होने के नाते, उनके पास पढ़ने के लिए भेजा गया है। वे उसे पढ़ नहीं पाए पर पुरस्कार के लिए अनुमोदित कर रहे हैं। 'क्यों' पूछने पर उन्होंने कहा कि 'फलां-फलां' ऐसा चाहते हैं। मेरे लिए वह गहरे

मोहभंग का क्षण था। गवई-गंवार की तरह मैं बार-बार 'तो क्यों?' 'पर क्यों?' कहती चली गई। तब जैनेन्द्रजी ने कहा, "पुरस्कार सामाजिक होता है, साहित्यिक नहीं।"

यह उस समय की बात है, जब साहित्य में, अब के मुकाबले, पुरस्कार दस-फ़ी-सदी होंगे। इसलिए तब के 'फलां-फलां' का अब तक संगठित होकर माफ़िया में विकसित हो जाना सहज संभव ही नहीं, सांस्कृतिक मंडीकरण के तहत एक तर्कसंगत परिणति है।

एक बात और। उन दिनों हम जैसे लेखकों को जैनेन्द्रजी की एक दूसरी उक्ति पर ज़्यादा भरोसा था। उसके अनुसार, लेखक को जितना तिरस्कार मिलता है, वह उतना ही बेहतर लिखता है; पुरस्कार मिले तो लेखन में गिरावट आने लगती है। यह भी कि, लिखा हुआ शब्द अकारथ नहीं जाता और अन्ततः, साहित्यकार का मूल्यांकन उसके लेखन से होता है, उसे मिले पद-प्रतिष्ठा, संस्थानों की सदस्यता या पुरस्कार-सम्मान से नहीं। आज कितने लेखक हैं, जो इस 'आदर्श' में भरोसा करते हैं या कर सकते हैं? देरी से हुए मूल्यांकन के लिए ज़रूरी है कि कम-से-कम पुस्तक का नाम साहित्य के इतिहास में दर्ज तो हो। जब उसके लिए भी पद-पदवी, पुरस्कार की ज़रूरत हो तो लेखक आगत पर विश्वास नहीं रख पाता। उससे भी ज़्यादा आपदजनक स्थिति तब पैदा होती है, जब आप मान-सम्मान उन लोगों को देने लगते हैं, जिनके पास आपका भला-बुरा या फ़ायदा-नुकसान करने की ताकत हो, और वह ताकत सरकारी या तथाकथित सांस्कृतिक संस्थानों ने बख्शी हो। जो थोड़ा-बहुत सम्पर्क मेरा, सम्मानित जनों से हुआ है, उससे मैंने यही देखा-जाना है कि आज साहित्य का इतिहास लिखने का ज़िम्मा और उसमें ऊंचा दर्जा पाना, दोनों एक ही आदमी के हाथ लग रहे हैं। सभी सम्मान-पुरस्कार आदि इस तरह आपसी लेन-देन में सिमट कर रह जाते हैं। माफ़िया और किसे कहेंगे? निजी स्तर पर दूसरों का नफ़ा-नुकसान कर पाने की ताकत का व्यापक इस्तेमाल ही माफ़िया की परिभाषा है।

माफ़िया की सरगर्मी का नतीजा यह हुआ है कि लेखक दो श्रेणियों में बंट गए हैं। एक उनकी, जो अपने लेखन के प्रति उदासीनता से खिन्न हैं। दूसरी उनकी, जो पुरस्कार आदि प्राप्त करने की प्रक्रिया से बखूबी वाकिफ़ हैं और उन्हें पाने के लिए हर मुमकिन, मुनासिब, गैर-मुनासिब कोशिश करते हैं। दूसरी श्रेणी अल्पसंख्यक भले हो, पर हिन्दुस्तान के इलीट की तरह ही ताकतवर है और सब कुछ अपने लिए समेट लेने में चतुर। आज रचना की ईमानदार पहचान तो भस्मीभूत हो ही रही है, रचनाधर्मिता भी संकट में है। हम रचनाकारों का असली मकसद रचनाधर्मिता को बचाना है।

वह तभी बच सकती है, जब पुरस्कार प्रदान करने की पूरी प्रक्रिया पारदर्शी हो। हर पुरस्कार के लिए अंतिम रूप से छांटी गई पांच-दस किताबों की सूची बाकायदा प्रकाशित हो। निर्णायक मंडल में से किसने, किस कृति को, क्यों वोट दिया, वह भी सबको मालूम हो। दुनिया-भर के अन्य देशों में यही परम्परा है। फिर हमारे यहां लुका-छिपी क्यों? छिपाकर काम करने का मतलब है कि छिपाने को कुछ है, बहुत कुछ है, सब कुछ है; कि निर्णायक न्याय नहीं, सत्ता का इस्तेमाल कर रहे हैं। पूरा न्याय तभी होता है, जब वह होता हुआ दिखलाई भी दे। माफ़िया तब पूरी तरह सरगरम होता है, जब अन्याय हो, होता हुआ दिखलाई भी दे, फिर भी लोग पूछते रहें—क्या वाकई अन्याय हो रहा है?

ये सर्कस के हंटरधारी से कम नहीं हैं

कुसुम अंसल

प्रत्येक लेखक अपने चिन्तन के आधार पर लिखता है। प्रायः माना जाता है कि कृति का चिन्तन तत्त्व ही होता है जो उसे विशेषता प्रदान करता है। जीवन का कोई भी पक्ष, घटित घटनाएं-दुर्घटनाएं, अपनी समूची गरिमा या पतन की सच्चाई के साथ ही उसमें उजागर होती हैं। इसी बिंदु पर प्रश्न उठाए जाते हैं और लेखक का वास्तविक मूल्यांकन भी इसी 'सच' के आधार पर होता है। मूल्यांकन किसी भी स्वार्थसिद्धि या दबाव या निजी कारणों से किए जाने पर छोटा पड़ जाता है। परन्तु प्रश्न यह है कि समसामयिक आलोचक क्या कृति को पूरा पढ़ते भी हैं? क्या वे अपने स्वार्थ से उठ पाए हैं? उनकी राय में वास्तविक मनोघटनाओं, प्रत्यक्ष ज्ञान, खोजबीन की ईमानदारी और समझ है? यह प्रश्न मेरा या उन सब लेखक-लेखिकाओं का है जो शालीनता से, लेखन को तपस्या जैसा जानकर, एक सक्रिय जागरूकता के साथ साहित्य को साहित्य के लिए रचते हैं; अपने या अपने आकाओं की शान में कसीदे पढ़ने के लिए नहीं।

जब भी कोई कृति छपकर अस्तित्वमान होती है तो लेखक के सामने दो अहम प्रश्न होते हैं—(1) पुस्तक का वास्तविक मूल्यांकन और (2) पुस्तक की लोकप्रियता।

विदेशों में तो कुछ एजेंसियां होती हैं जो लेखक को 'प्रमोट' करती हैं। यही एजेंसियां पुस्तकें छपने से पहले और फिर बाद में उनकी चर्चा, समीक्षा आदि का बन्दोबस्त करती हैं। समूची पब्लिसिटी—पत्रिका, टेलीविज़न आदि पर साक्षात्कार, चर्चा आदि से लेकर पुरस्कार दिलवाने तक एजेंसियां साथ निभाती हैं। सारी समीक्षाएं और पुस्तक को प्रमोट करने का सिलसिला पुस्तक के साहित्यिक गुणों के आधार पर होता है, किसी भी स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए नहीं। तभी वे पुस्तकें 'बेस्ट सेलर' बन पाती हैं। बाहर के देशों जैसा तकनीकी सिलसिला अभी भारत में प्रचलित नहीं है। परन्तु भारत में (विशेष रूप से दिल्ली में) बहुत-से गुट हैं, अड्डे हैं जो एक

'माफिया नेटवर्क' की तरह काम करता है यह एक जादुई जगत जैसा है। इन अड्डों पर पदासीन बिचौलिये अधिकतर पुराने, मंजे हुए, वयोवृद्ध, (बिना कुछ विशेष लिखे या मात्र एकाध पुस्तक लिखकर) महान लेखक और चिन्तक या आलोचक कहलाते हैं। इनमें से कुछ खास-खास पत्रिकाओं के सम्पादक हैं, जिनके पास किराये के आलोचक हैं, या कुछ, कुछ भी नहीं। हां, मात्र कुशल राजनेता की तरह दांव-पेंच लड़ाकर लेखक-लेखिकाओं की प्रसिद्धि या अ-प्रसिद्धि की डोरी अपने जादुई हाथों में सम्भाले बैठे हैं। यदि आप सुबह-शाम उनके दफ्तरों के चक्कर काटें, हाजिरी दें, गुहार बजाएं तो बस महान होने का ठप्पा आपकी 'साइकी' पर लगाने का निर्वाह वे कर लेते हैं। आपकी अंतःस्थिति की मानवीय प्रस्तुति को यह समूचा नेटवर्क बड़ी कुशल कारीगरी से सम्भालता है। एक ही पत्रिका में आपकी अधकचरी, या कैसी भी; कृति पर तीन-चार लेख/ पत्र एक साथ छपते हैं, अखबारों में सचित्र साक्षात्कार, फिर गुट के अन्य सदस्य यहां-वहां गोष्ठियां करवाकर आपकी रचना को सर्वश्रेष्ठ ठहराते हुए पुरस्कारों के कगार तक ला पहुंचाते हैं। आज के इस उपयोगितावादी संसार में जहां 'समस्त ग्लोबल रंगमंच अनिश्चितता में परिक्रमा कर रहा है... सत्यता एवं तर्क सब 'फ्री-फ्लोटिंग' हैं।' सुप्रसिद्ध चिन्तक जां बोद्रिला के शब्दों में साहित्य के विकृत गुप्त रूप की चिंता, बनावटी और चापलूसी में पगे मूल्यांकन में गुम होते यथार्थ की चिंता आज के युग की चिंता है।

आज के गद्दीधारी आलोचकों में नैतिकता जैसा कुछ नहीं है। उनके पास न तो पुस्तक पढ़ने का समय है, न समझ। साहित्य की शालीनता के मानदण्ड से भी उनका कोई सरोकार नहीं है। प्रलोभनों की लाल-हरी बत्तियाँ उनसे वैसी ही आलोचनाएं (जो कहीं भी फिट की जा सकती हैं) लिखवा लेती हैं जैसी कि अपेक्षा है। सबसे बड़े ताज्जुब की बात तो यह है कि अपनी आत्मा, विवेक या मस्तिष्क पर ज़ोर डाले बिना समूचा पाठक वर्ग हिप्नोटाइज़ भी हो रहा है। तभी तो साहित्य की समूची स्वायत्त हैसियत, गरिमा या साहित्य के वास्तविक अर्थ सबका लोप होता जा रहा है। तभी तो हमारी साइकी पर उत्तर प्रदेशी गंवारू लेखन का या कभी कलकतिया मारवाड़ी लेखन का बोझ लादा जा रहा है। और हम उसे स्वीकार भी रहे हैं। ग्लोबल माडल में सब कुछ 'इमेज्ड, मैनेज्ड तथा मैनिपुलेटिड' है। साहित्य के दावेदार जिसे चाहें आपकी मानसिकता पर लाद दें, आप को मानना ही पड़ेगा, आप चाहें या न चाहें।

ऋषि कहते थे, ''सोने में सोने की तरह, मिट्टी में मिट्टी की तरह, जो समाया है वह एक ही है।'' विज्ञान कहता है, किसी भी वस्तु के स्वरूप को दूसरे में बदला जा सकता है जो समाया है, परिवर्तित किया जा सकता है, वह एक से दूसरा हो सकता है। तभी तो, अल्केमिस्ट (पारस पत्थर के खोजी) इस खोज में ताउम्र लगे रहे कि ऐसा कोई राज़ मिल जाए जिसके स्पर्श से कम कीमती या बेकार पत्थर बहुमूल्य स्वर्ण में बदल जाए। आज के समय में साहित्य के ये अल्केमीनुमा माफिया ग्रुप धड़ाधड़ पत्थरों को सोने में बदलने के प्रयास में जुटे हैं। लेखक, पाठक, वस्तु एवं विचार के साथ-साथ साहित्य की अवहेलना से उनका कोई सरोकार नहीं। साहित्य की सच्चाई और विचार की अंत्येष्टि तथा मैनिपुलेशन के इस युग में हम सब लेखक-लेखिकाएं पता नहीं क्यों लिख रहे हैं, किसलिए? ज्ञानवादी चेतना के न्यूनीकरण में जुटे इस माफिया-नेटवर्क ने पाठक की मानसिकता की ईमानदारी की हत्या ही नहीं की, साहित्य को पतन की उस स्थिति तक पहुंचा दिया है कि अपने आप को लेखन से जोड़ने का अब जी नहीं चाहता। मानव-अस्तित्व और साहित्य के इस पतन के लिए माफिया वर्ग के गद्दीधारी महानुभाव वास्तव में अपने कारनामों में सर्कस के हंटरधारी से कम नहीं हैं। क्या हम लेखक उस कतार में खड़े होने को तैयार हैं? इस स्थिति में लेखक कहलाना कितना शर्मनाक है।

पानी सिर से गुज़र चुका है

नासिरा शर्मा

आज की तारीख में विजयदान देथा का कथन शायद इसलिए साहित्यकारों को उचित लग रहा है क्योंकि पानी अब सिर से गुज़र चुका है। ऐसा नहीं है कि पक्षपात, पसन्द-नापसन्द, द्वेष, ईर्ष्या साहित्यिक परिवार में कभी थी नहीं। हमेशा से इन्सानी कमज़ोरियां मौजूद थीं मगर आज की तरह इतने बिगड़ैल तरीके और दीदा-दिलेरी के साथ मौजूद नहीं थीं। आज कृति छपने से पहले ही चर्चित हो जाती है। पढ़े जाने से पहले ही उसे सनद बख़्श दी जाती है कि यह हिन्दी की पहली और आखिरी रचना है। उसी के हिसाब से एक कृति पर कई-कई पुरस्कार दिए जाते हैं। मेरी चिन्ता केवल पुरस्कार तक सीमित नहीं है बल्कि उस अन्याय और अपमान के प्रति है जो हर दिन, हर पल रचनाकार को सहना पड़ता है।

साहित्य का एक मापदंड होता है जिसमें नैतिकता पहली शर्त होती है मगर आज 'बाज़ार' के पनपने से साबुन की तरह हम कहानियां बेचना चाहते हैं। भूल जाते हैं कि इस्तेमाल में आने वाली वस्तु और साहित्य में काफी फर्क है। इसलिए आज कम समय में 'ठीकठाक' लिखने वालों का जो बोलबाला है, उसके सामने अच्छी कृतियों की आलोचना तो दूर, लोग उनका नाम भी लेते घबराते हैं क्योंकि जो चलन में है, उसी को सब दोहराते हैं। इसका असर यह हुआ कि पाठक उस निष्ठा से साहित्य से जुड़े नहीं रह गए हैं जैसे पहले थे। पहले जो अच्छा है, उसकी सच्ची सूचनाएं पत्रिकाएं उन्हें देती थीं। बिना पक्षपात के समीक्षा एवं आलोचनाएं निकलती थीं। तभी

हिन्दी की जिन कृतियों को साहित्यिक कृति माना गया, उन्हें समय के गुजरने के बाद नकारा नहीं गया बल्कि उन पर शोध, विचार के नए दृष्टिकोण, नाटक, फिल्म इत्यादि बनती रही और वे बार-बार दोहराई जाती रही है। मगर अब लोग कुछ पुस्तकों को ऊपर ले जाते हैं, उनकी चर्चा हर जगह करवाते हैं मगर अफसोस, चन्द वर्षों बाद उस उपन्यास या संग्रह को पढ़ा ही नहीं जाता है। इससे सबसे बड़ा नुकसान यह होता है कि वे साहित्यिक ग्रन्थ लम्बा समय तय करते हुए कभी आगे आते हैं या कभी-कभी डूब जाते हैं या फिर पाठकों तक ही उनकी चर्चा सीमित रह जाती है। आलोचक और पत्रिकाएं उन्हें उठाती भी हैं तो बहुत संकोची मुद्रा में, जैसे उन्हें बड़ा कष्ट पहुंच रहा है। या फिर उनके बारे में ग़लत और बेबुनियाद बातें फैला दी जाती हैं।

यही हाल प्रकाशन का है। बहुत-सी अच्छी पांडुलिपियां लौटा दी जाती हैं और बेहद कमज़ोर पांडुलिपियां न केवल स्वीकृत होती हैं बल्कि उनकी प्रशंसा, समीक्षा, पुरस्कार का न समाप्त होने वाला सिलसिला शुरू हो जाता है। इसका प्रभाव उन लेखकों के लेखन पर पड़ता है। उन्हें बेहतर से बेहतर लिखने पर उद्वेलित करने वाली भावना इस बात का शिकार हो जाती है कि मैं जैसा लिखूंगा, उसे स्वीकार करवा लूंगा क्योंकि मेरे पास वे भौतिक साधन हैं जिनसे मैं कुछ भी खरीद सकता हूं। आज देश का जो हाल है उससे शिक्षा-जगत और लेखक वर्ग कैसे अछूता रह सकता है? सेवाभाव नेताओं के मन से जाता है तो निष्ठा लेखक को क्या देती है? वैसे भी लेखक की स्थिति इस भारतीय समाज में क्या है? सबसे बेकार, जो न किसी का काम करवा सकता है और न ही किसी को कुछ दे सकता है। रहा विचार और भावना का सवाल, उसकी कमी तो इस देश में है नहीं। बात तो रोटी की है या बेहतर खाने की है। सारा संघर्ष यही है। इस मुल्क में जहां फुटपाथ पर आज भी भूखा इन्सान मरता है और दूसरी तरफ साठ व्यंजनों का थाल भी लगता है, वहां यदि एक ही पुस्तक पर हर माह समीक्षा छपे और दूसरी पुस्तकों के लिए स्थान न हो तो फिर न्याय का सवाल ही कहां उठता है?

लेखक के साथ हो रहे किसी भी स्तर के अन्याय में उतना दोष मैं व्यवस्था या सरकार का नहीं मानती हूं बल्कि अपने ही वर्ग को दुश्मन समझती हूं जो अनेक भागों में बंट अपने ही पैरों में कुल्हाड़ी मार, उन तत्त्वों को शक्तिशाली बनाते हैं जिनके खिलाफ़ उन्हें कलम उठाना चाहिए मगर वे किसी माफिया की तरह असामाजिक, गैर-साहित्यिक और अनैतिक मूल्यों को व्यक्तिगत लाभ के चलते बढ़ावा देते हैं। इसका असर उन्हें उस समय महसूस नहीं होता है मगर उनके इस आचरण को पूरा वर्ग किसी न किसी रूप में झेलता है। असाहित्यिक तत्त्व अपने को साहित्यप्रेमी दर्शाकर अपनी कमज़ोर रचनाओं को न केवल मंच दिलवाते हैं बल्कि बड़े-बड़े पुरस्कार रख वे समाज में अपनी एक इमेज खड़ी करना चाहते हैं कि उनके सरोकारों का दायरा कितना विस्तृत है! उनका एप्रोच और हमारा लक्ष्य ऊपर से एक नज़र आता है मगर दोनों वर्गों का नज़रिया बिल्कुल जुदागाना है। इसका फर्क तब समझ में आता है जब किसी जीवंत मुद्दे या फिर किसी महत्त्वपूर्ण घटना या दुर्घटना पर उनके सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। तब पता चलता है कि वे आपको इस्तेमाल करते रहे हैं मगर आप उनसे उचित लगने वाले काम भी नहीं करवा पाते हैं क्योंकि ऐसा करने से उन्हें लाभ नहीं मिलता है और बिना लाभ के कोई भी व्यापारी पूंजी लगाने को तैयार नहीं होता—वह पूंजी चाहे धन के रूप में हो या फिर विचार और सहयोग के रूप में।

सदा से हर दौर में, हर क्षेत्र में, हर विषय में निष्ठावान लोग पूरी गम्भीरता से काम करते रहे हैं जिसके फल की उन्हें आशा नहीं रहती है क्योंकि वे उसके करने में मिले सुख को ही महत्त्व देते हैं। मगर जो लोग मानसिक रूप से इतने चैतन्य और कला-साहित्य में इतने सृजनात्मक नहीं होते, वे ज़रूर वे सारे हथकंडे प्रयोग में लाते हैं जो उन्हें महत्त्वपूर्ण बना उन्हें सत्ता दे सकें। तभी आज जो काम सम्पादक का होना चाहिए, उसे वह अंजाम नहीं देता है बल्कि पत्रिका या समाचार पत्र कैसे निकले, उसके लिए कहां और कैसे समझौता किया जा सकता है, इस ताक में रहता है। उसी तरह के लेखक भी उसके पास जमा होने लगते हैं जिनके पास सरस्वती की कृपा कम और लक्ष्मी की ज्यादा होती है। यहां तक बात पहुंच गई है कि पुरस्कार खरीदे जाने लगे हैं। यदि इन्हें पता होता कि दुनिया के किसी भी बड़े क्लासिक लेखक को कभी कोई पुरस्कार नहीं मिला तो उन्हें पता चलता कि वे किस बचकानी दौड़ में शामिल हो चुके हैं।

माफिया कहना ठीक नहीं है

हरदयाल

कोई साहित्य-सृजन क्यों करता है? जब यह प्रश्न हमारे सामने आता है तो उसके उत्तर में साहित्य-सृजन की अनेक प्रेरणाएं हमारे सामने आती हैं। इनमें से सबसे उदात्त और प्रकृत प्रेरणा तो आत्माभिव्यक्ति है। हर व्यक्ति के मन में अनेक ऐसी बातें, ऐसे अनुभव होते हैं जिन्हें वह दूसरों तक सम्प्रेषित करना चाहता है। ऐसा करने में उसे विशेष प्रकार का आत्मतोष और आनन्द प्राप्त होता है। सामान्य आदमी अपने अन्तरंगों से अपने मन की बात कहकर सन्तुष्ट हो जाता है। साहित्यकार इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए साहित्य की रचना करता है। तुलसीदास का स्वान्तः सुखाय इसी का दूसरा रूप है। जब तक साहित्य-सृजन की प्रेरणा आत्माभिव्यक्ति और 'स्वान्तः सुखाय' रहती है तब तक साहित्य-स्रष्टा छल-कपट, जोड़तोड़, स्वार्थसिद्धि, गुटबाजी इत्यादि से मुक्त रहता है। लेकिन एक सामान्य साहित्य-स्रष्टा के लिए इसी प्रेरणा तक सीमित रहना सम्भव नहीं है। यह तो अत्यन्त उदारचरित् साहित्यकारों

की विशेषता है।

तब सामान्य साहित्य-स्रष्टाओं के लिए कौन-सी प्रेरणाएं काम करती हैं? मम्मट ने साहित्य-सृजन की जो प्रेरणाएं गिनाई हैं उनमें सबसे पहले यश को रखा है और उसके बाद धनार्जन को। यशार्जन मनुष्य की बहुत बड़ी कमजोरी है। मिल्टन ने उसे 'That last infirmity of noble mind' कहा है। हर आदमी चाहता है कि उसकी चर्चा हो। पीटर पिण्डार ने यह ठीक ही कहा है कि 'Better be damned than mentioned not at all.' चर्चित होने के लिए, यश प्राप्त करने के लिए, अमरत्व पाने के लिए आदमी क्या-क्या नहीं करता? यश पाने के लिए एक ओर वह अपने प्राणों की बाजी लगाकर बड़े-बड़े काम करता है और दूसरी ओर तमाम ऊटपटांग और मूर्खतापूर्ण कार्य भी करता है। साहित्यकार भी जब कुछ रचता है तो चाहता है कि लोग उसकी रचना की चर्चा करें, उसे सराहें, उसे महान रचना घोषित करें। जब ऐसा नहीं होता तो उसे दुःख होता हैं। जब कालिदास ने लिखा था—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्तरद्भजन्ते मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

(मालविकाग्निमित्रम्)

तब उन्होंने अपनी स्वीकृत न होने की पीड़ा को ही व्यक्त किया था। भवभूति के इस कथन में भी यही पीड़ा अभिव्यक्ति पाती है जब वे कहते हैं कि "निस्सीम काल और विशाल पृथ्वी पर कभी-न-कभी कोई-न-कोई कहीं-न-कहीं मेरा समानधर्मा उत्पन्न होगा" और मेरी रचना की सराहना करेगा। आधुनिक काल से पूर्व साहित्य-सृजन के द्वारा यश आसानी से अर्जित नहीं किया जा सकता था, लेकिन आजकल यशार्जन अपेक्षाकृत अधिक आसान हो गया है। आजकल किसी रचनाकार को उतना यश उसकी रचना के कारण नहीं मिलता जितना जनसंचार के माध्यमों—पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो, टेलीविजन आदि के द्वारा उसे महत्त्व दिए जाने के कारण मिलता है। अगर किसी रचनाकार की रचनाएं पत्र-पत्रिकाओं में बराबर छपती हैं, रेडियो और दूरदर्शन से प्रसारित होती रहती हैं; इन माध्यमों के द्वारा उसकी और उसकी रचनाओं की बराबर चर्चा होती रहती है; वह पाठकों, श्रोताओं, दर्शकों के सामने बराबर बना रहता है तो उसे बड़ा साहित्यकार और उसकी रचनाओं को बड़ी रचनाएं मान लिया जाता है। विभिन्न साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थान और उनके आयोजन भी उसे आगे रखकर उसे यशस्वी बनाते हैं। हम सब अपने अनुभव और निरीक्षण-परीक्षण से जानते हैं कि यह यश, यह बड़प्पन एकान्त साहित्य-साधना से नहीं मिलता। इसे प्राप्त करने का आसान रास्ता है कि जन-संचार के माध्यमों और संस्थाओं पर अधिकार करो और अपने को तथा अपनों को उछालो। अगर कोई साहित्यकार किसी पत्र-पत्रिका का सम्पादक सरकारी अफसर, राजनेता इत्यादि बन जाता है तो उसकी चाँदी हो जाती है। वह रातोंरात बड़ा साहित्यकार मान लिया जाता है। उसके चारों ओर अनेक समानधर्मा घिर आते हैं और साहित्यकारों का एक गुट या गिरोह बन जाता है। इस गुट या गिरोह का एकमात्र लक्ष्य हो जाता है अपने को स्थापित करना, केवल अपनी चर्चा करना और जो इस गुट या गिरोह में नहीं हैं, उनकी उपेक्षा करना। सम्भव हो तो उन्हें साहित्य-जगत से नेस्तनाबूद कर देना। इस गुट या गिरोह के लोग एक-दूसरे की पीठ खुजलाते हैं और कभी-कभी तो स्थिति यह हो जाती है—

उष्ट्राणां लग्नवेलायां गर्दभाः स्तुतिपाठकाः।
परस्पर प्रशंसन्ति—अहो रूपम् अहो ध्वनिः॥

ऊँटों की बारात में गधे स्तुतिपाठक हैं। वे एक-दूसरे की प्रशंसा करते हैं। गधे ऊँटों के लिए कहते हैं—अहा, कैसा मनोहर रूप है। ऊँट गधों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—अहा, कैसी मधुर आवाज है। इस परस्पर की प्रशंसा से और कोई प्रभावित हो या न हो, लेकिन उस गुट के सदस्य यह अवश्य अनुभव करते हैं कि मैदान मार लिया। हम तो प्रतिष्ठित हो गए, बाकी को मिट्टी में मिला दिया।

जैसे यशार्जन के लिए साहित्यकारों के गुट या गिरोह बनते हैं, उसी प्रकार धनार्जन के लिए भी। आधुनिक काल से पहले साहित्यकार के लिए धनार्जन का साधन या तो राज्याश्रय था या धर्माश्रय। इससे मुश्किल से उसकी जीविका चलती थी। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न जीवन बिताने वाले साहित्यकार अपवादस्वरूप ही थे। राज्याश्रय में रहने वाले साहित्यकारों को अनेक समझौते करने पड़ते थे—कायरों को वीर कहना पड़ता था, सूमों को दानवीर सिद्ध करना पड़ता था, कुरूपों को कामदेव बताना पड़ता था, मूर्खों को ज्ञानीजन की श्रेणी में रखना पड़ता था, इत्यादि। आधुनिक काल में स्थिति बदल गई है। अब साहित्यकार के सामने धनार्जन के अनेक द्वार खुल गए हैं। इनमें एक द्वार सरकार का है। अनेक सरकारी संस्थाएं हैं, जो साहित्यकारों को तरह-तरह से आर्थिक लाभ पहुंचाती हैं। केन्द्र और राज्यों की सरकारें साहित्यकारों को तरह-तरह के पुरस्कार देती हैं। दूसरा द्वार सरकारी सहायता से चलने वाली अनेक स्वायत्त संस्थाएं हैं। ये संस्थाएं पुस्तकों और पत्रिकाओं का प्रकाशन करती हैं; साहित्यकारों को वृत्तियां एवं पुरस्कार प्रदान करती हैं। इसके अतिरिक्त ये और भी ऐसे कार्य करती हैं, जिनसे जुड़कर साहित्यकार अर्थार्जन करते हैं। तीसरा द्वार सेठों की पुरस्कार एवं वृत्ति प्रदान करने वाली संस्थाएं हैं, जिनमें से कुछ तो पुरस्कार के रूप में मोटी रकमें बांटती हैं। प्रकाशन-संस्थानों पर भी कुछ सेठों का अधिकार है। ये संस्थान पुस्तक-प्रकाशन के अतिरिक्त पत्रिकाएं और अखबार भी प्रकाशित करते हैं। इनसे जुड़ना भी लाभकर होता है और साहित्यकार विभिन्न रूपों में इनसे जुड़ते भी हैं। आधुनिक काल में साहित्यकारों के लिए अर्थार्जन के कुछ और भी दरवाजे खुले हैं।

आधुनिक काल में खुले धनार्जन के इन सभी दरवाजों में सभी

साहित्यकारों के लिए प्रवेश करना [illegible] साहित्यकारों के किसी-न-किसी गुट का अधिकार है। कभी-कभी तो एक ही गुट अनेक दरवाजों पर अधिकार जमाए बैठा दिखाई देता है। इन दरवाजों में किसे प्रवेश करने देना है, किसे नहीं, इसका निर्णय यही गुट करते हैं। इसीलिए पुरस्कार हों, लेखकीय वृत्तियां हों, पुस्तकों की थोक खरीद हो, पुस्तकों या रचनाओं का प्रकाशन हो—हर जगह बार-बार वही-वही साहित्यकार दिखाई देते हैं। वही पुरस्कारों और वृत्तियों के निर्णायक हैं और वही पुरस्कार और वृत्तियां पा रहे हैं; प्रकाशकों के यहां वही सलाहकार हैं और उन्हीं की रचनाएं छप रही हैं; सरकारी थोक-खरीद में वही विशेषज्ञ, सलाहकार और निर्णायक हैं और उन्हीं की पुस्तकें खरीदी जा रही हैं। जो साहित्यकार इन गुटों में शामिल नहीं हैं चाहे वे कितना ही अच्छा लिख रहे हों, उनको न कोई पुरस्कार मिलेगा, न कोई वृत्ति; न उन्हें कोई अच्छा माना जाने वाला प्रकाशक छापेगा और न उनकी पुस्तकें थोक में खरीदी जाएंगी। पत्र-पत्रिकाएं उनकी भरपूर उपेक्षा करेंगी। कभी-कभी तो टटपूंजिये लेखक किसी सरकारी-गैरसरकारी संस्था के किसी पद पर आसीन हो जाते हैं या किसी पत्र-पत्रिका के सम्पादक बन जाते हैं तो उन्हें साहित्यकारों से मिलने की फुर्सत नहीं होती। आप बिना पहले से तय किए उनसे मुलाकात नहीं कर सकते। सामान्य साहित्यकार इन सत्ताधारी साहित्यकारों की ओर बड़ी हसरत-भरी निगाहों से देखता है और 'वाह' करके या 'आह' भरकर चुप रह जाता है। क्या यह विडम्बना नहीं है कि आधुनिक काल में हिन्दी के श्रेष्ठ लेखकों को सबसे कम पुरस्कार मिले हैं, उन्हें सबसे कम उपाधियां या सम्मान प्रदान किए गए हैं! इस विडम्बना के लिए यश और धन स्वयं लपक लेने के लिए प्रयत्नशील और अपने प्रयत्न में सफल होने वाले साहित्यकारों के गुट ही उत्तरदायी हैं।

जब विजयदान देथा ने यह कहा है कि साहित्य में भी माफिया तन्त्र उसी प्रकार सरगरम है जैसे अपराध-जगत के विभिन्न क्षेत्रों में, तब उनका संकेत इन्हीं गुटों की ओर है, जिन्होंने साहित्यकारों को मिलने वाले विभिन्न लाभों, सम्मानों और सुविधाओं पर अधिकार किया हुआ है। देथा के कथन में उनकी व्यथा बोलती है, क्योंकि उन्होंने इन गुटबाज साहित्यकारों को निकट से देखा है; वे उनमें से कुछ के अन्तरंग भी रहे हैं। लेकिन मैं इन गुटबाज साहित्यकारों को 'माफिया' कहने के लिए तैयार नहीं हूं। उन्हें माफिया कहना ठीक नहीं होगा। माफिया के अपराधों की तुलना में इन बेचारे साहित्यकारों का अपराध तो नगण्य है। टुच्चे-से-टुच्चा साहित्यकार भी माफिया जैसा क्रूर अपराधी नहीं हो सकता। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए वे जो कुछ करते हैं, वह निन्दनीय है लेकिन उसकी तुलना माफिया के कामों से करना अतिवाद ही होगा। उपमा एकदेशीय होने पर भी हमें अपराध-जगत और साहित्य-जगत का मौलिक अन्तर ध्यान में रखना होगा। माफिया के क्षेत्र में दूसरा अपराधी नहीं घुस सकता; और यदि किसी तरह घुस भी गया और पकड़ा गया तो जीवित नहीं बच सकता; किन्तु साहित्य में साहित्यकार किसी भी गुट के बाहर फल-फूल सकता है। उसके फूलने-फलने में कुछ समय के लिए व्यवधान ही उपस्थित किया जा सकता है। वस्तुतः साहित्य व्यक्तिगत साधना है और उसका मूल लक्ष्य न यशार्जन है, न धनार्जन। जो साहित्य के क्षेत्र में धन या यश की लालसा से प्रवेश करते हैं, वे ही सबसे पहले कुण्ठित होते हैं, उन्हीं का सबसे पहले मोहभंग होता है; और वे जल्दी ही इस क्षेत्र को छोड़कर भाग खड़े होते हैं।

इसलिए मेरी समझ में तो इतना आता है कि साहित्य के क्षेत्र में गुटबाज सरगरम हैं, उन्हें अपराध-जगत के माफिया कहना गलत होगा।

साहित्यिक माफिया को हम कब तक सम्मानित आलोचना मानते रहेंगे?

नरेन्द्र कोहली

डॉ. नगेन्द्र ने प्रेमचंद के विषय में कहा था कि वे अत्यन्त साधारण (नार्मल) व्यक्ति हैं और दूसरी श्रेणी की प्रतिभा हैं। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने भी कहा था कि आज जो कुछ आप समाचारपत्र में पढ़ते हैं, वही कल प्रेमचंद की कहानी में पढ़ सकते हैं। उनके पास अपना कोई चिन्तन नहीं है, बस सामयिकता का प्रवाह मात्र है...और यह बात उन्होंने प्रेमचंद की प्रशंसा में नहीं कही थी।

तुलसीदास की क्या बाध्यता थी कि उन्हें अपनी कृति पर भगवान शिव से हस्ताक्षर करवा (चाहे इसका अर्थ कुछ भी लिया जाए) यह साक्षी उपस्थित करनी पड़ी कि उनकी कृति साहित्यिक कृति है, वह साहित्य में गिनी जा सकती है? आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने इतिहास में अनेक ऐसे कवियों और ग्रंथों की चर्चा की है, जिन्हें सम्मानित आलोचना धार्मिक ग्रंथ कह कर किनारे लगा रही थी। आचार्य द्विवेदी को कहना पड़ा कि यदि धर्म, भक्ति अथवा आध्यात्मिक विषयों से संबंधित होने मात्र से किसी कृति को साहित्य से निष्कासित करने की नीति अपनाई जाएगी तो हमें कबीर, सूर और जायसी को भी साहित्य की परिधि से बाहर कर देना पड़ेगा।

छायावादी युग में भी तथाकथित सम्मानित आलोचना छायावादी कवियों को साहित्य में स्थान देने को प्रस्तुत नहीं थी। पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी तथा अन्य कवियों ने किस प्रकार संघर्ष कर अपने लिए साहित्य-क्षेत्र में स्थान ही नहीं, सम्मान भी प्राप्त किया—यह साहित्य का प्रत्येक छात्र जानता है और यह भी हम सब जानते हैं कि आजकल की वह तथाकथित सम्मानित आलोचना किस प्रकार उन कवियों का अवमूल्यन करने पर कमर कसे हुए है।

क्या है सम्मानित आलोचना, जो प्रत्येक युग में सर्जक साहित्यकार

के लिए संकट बनकर खड़ी [illegible] अपना तथाकथित सम्मान बनाए रखने के लिए साहित्य को अपमानित करती रहती है? क्यों वह सुधी पाठकों को भरमाती और नवयुग के आवाहक साहित्य को अंधकार में धकेलने का काम करती रहती है? क्यों वह शिशुपाल के समान प्रत्येक सभा में श्रीकृष्ण को किरीटधारी राजा न होने के लिए लांछित करती है और न केवल उनकी अग्रपूजा का विरोध करती है, वरन उन्हें राजाओं की सभा में बैठने के भी अयोग्य बताती है? आश्चर्य इसी बात की है कि अंततः उसके इन्हीं कृत्यों के कारण उसका मस्तक सुदर्शनचक्र द्वारा कटकर धरती पर लुढ़कता है।

हम जानते हैं कि सृजन पहले होता है और शास्त्र का निर्माण उसके पश्चात की प्रक्रिया है, जिसका उद्देश्य साहित्य को समझना मात्र है। हम आलोचना को यह अधिकार देते हैं कि वह साहित्यिक कृतियों में अंतर करे तथा पाठक को श्रेष्ठ साहित्य तक पहुंचने का मार्ग दिखाए। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि आलोचक नामधारी जीव साहित्य-संसार का विधाता, उसका परम स्वतंत्र नियंता तथा स्वामी है। न ही इसका यह अर्थ है कि आलोचक के तर्कहीन अराजक पूर्वाग्रहों का अधिनायकत्व, सृजन का वध करने का अधिकार रखता है। जो लोग किन्हीं विधियों से अकादमियों, विश्वविद्यालयों, पत्रिकाओं, और पीठों पर आसीन हो गए हैं, उन्हें यह अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता कि वे धर्माधिकारियों के समान फतवे दे दें तो पाठक को उनकी बात मान ही लेनी होगी और सृजन उनकी संकीर्ण, संकुचित, स्वार्थी और द्वेषी सत्ता की बलि चढ़ जाएगा। हम यह जानते और मानते हैं कि साहित्य में वैविध्य होता है। उसमें रुचिभेद होता है। अनेक बार विविध प्रकार की संस्कृतियों, दर्शनों, सिद्धान्तों और परिस्थितियों के कारण विविध प्रकार के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त पनपते हैं तो फिर यह कैसे संभव है कि एक विशेष राजनीतिक सिद्धान्त को मानने वाले लोगों को यह निर्णय करने का अधिकार दे दिया जाए कि वे केवल अपने राजनीतिक सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक पूर्वाग्रहों के आधार पर किसी कृति के साहित्यिक-असाहित्यिक होने, किसी कृतिकार के लेखक होने और किसी के लेखक न होने के फतवे जारी करते रहें। इसका अर्थ कहीं यह भी है कि संप्रदाय-विशेष के अनुयायी न होने के कारण, अन्य साहित्यकारों की हत्याएं करते रहने का विशेषाधिकार उन्हें दे दिया जाए। लेखकों की साहित्यिक हत्याएं तो वे करते ही रहते हैं, मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि राजनीतिक सत्ता उनके दल के हाथ में आ जाए तो उस दल के बाहर के सारे लेखक ही नहीं, सारे बौद्धिक चिंतक भी कारागारों में ही होंगे। व्यक्तिगत धरातल पर मैं इसको पिछले पच्चीस वर्षों से भुगत रहा हूं। एक विशेष राजनीतिक संप्रदाय के लोग 'दीक्षा' के प्रकाशन के समय से ही मुझे समझा रहे है कि रामकथा लिखने के कारण मेरे लेखन ने एक गलत मोड़ ले लिया है, ही मेरे साहित्यिक जीवन का अवसान है। वे मुझे यह भी समझाते रहे है कि वे मेरी इस रचना से प्रसन्न नहीं है और अब वे क्षमता-भर मेरा, मेरी कृतियों का, मेरे लेखन का और मेरे अस्तित्व का विरोध ही करेंगे। मेरे उपन्यासों से इस आधार पर रुष्ट होना कि वे लिखे ही क्यों गए, वे पढ़े क्यों जा रहे है, लोग उनकी चर्चा क्यों करते हैं, उनसे प्रभावित क्यों हो रहे हैं—मेरी समझ में तब नहीं आया था, क्योंकि उस रोष का कारण साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा सौन्दर्यशास्त्रीय नहीं था। आज समझता हूं कि यह विरोध मेरे प्रति नहीं है, यह तो उनका राजनीतिक कारणों से इस देश की संपूर्ण संस्कृति से ही विरोध है। अब यह निर्णय तो काल पर ही छोड़ना होगा कि किसी देश की राष्ट्रीय संस्कृति से विरोध करने के कारण ही कोई सम्मानित हो सकता है। हां, पद उनके पास है। यदि यह पद और प्रतिभा का विरोध है तो मुझे कुछ नहीं कहना, क्योंकि कलाओं का निर्णय पद नहीं करते, प्रतिभाएं करती हैं।

थोड़ा विचार लोकप्रियता के विषय में भी होना चाहिए। मनुष्य की विकृतियों को उभार कर, उसके अंधविश्वासों और भावुकता का सहारा लेकर विचार से शून्य साहित्य देने वाले लेखक की पुस्तकें भी अनेक बार अधिक संख्या में बिक जाती हैं। किसी सामयिक घटना अथवा किसी लोकापवाद के कारण भी एक बार को पुस्तक बिक जाती है। विवादास्पद अथवा अतिप्रचारित होने से भी कभी-कभी किसी पुस्तक की सामयिक मांग पैदा हो जाती है। किन्तु उससे उन कृतियों और कृतिकारों को साहित्यिक श्रेष्ठता प्राप्त नहीं हो जाती, क्योंकि वह साहित्य समाज को विचार नहीं दे रहा, संस्कार नहीं दे रहा, ऊर्जा नहीं दे रहा। समाज को अफीम देने वाले उस साहित्य की लोकप्रियता का विरोध प्रेमचंद ने भी किया था।

साहित्यिक श्रेष्ठता के अपने प्रतिमान हैं। काव्यशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र और मानवीय चिन्तन की अपनी कसौटियां भी हैं। साहित्य की उत्कृष्टता और समाज के प्रति उसके सरोकार को इन्हीं के आधार पर परखा जाता है। किन्तु वहां कोई क्या करे जहां तथाकथित सम्मानित आलोचकों के स्वार्थ हैं, उनकी संकीर्णताएं और अहंकार हैं, व्यक्तिगत तथा वर्गगत हठधर्मिता भी है; जहां या तो नए प्रकार की कृतियों का महत्व समझने की योग्यता उनमें नहीं है अथवा वे अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए उनको समझना ही नहीं चाहते। इसलिए वे सामान्यजन और उसके साहित्य के मध्य अड़े हैं और लोक के समर्थन का दावा करते हुए भी लोकप्रियता, सुरुचिपूर्ण लोकप्रियता का विरोध करते हैं। उसे अपमानित करते हैं। इससे कुछ लेखकों का मार्ग वे रोक लेते हैं। उनका विकास रुद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।...किन्तु मेरी चिन्ता यह नहीं है। चिन्ता का विषय यह है कि जिस समाज और जनसामान्य के प्रतिनिधित्व का दावा वे करते हैं, अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण वे लोग उसी समाज को उसके साहित्य से विलग कर देने का निरन्तर प्रयत्न कर रहे हैं। उसके स्थान पर उसके सम्मुख अपनी वे अक्षम

कृतियां परोस रहे हैं, जो न इस समाज से उपजी हैं, न इस समाज के लिए हैं, न इस समाज का उनसे कोई हित हो सकता है और न ही इस समाज का उनसे तादात्म्य होना संभव है। सजग, सचेत, सुरुचिपूर्ण तथा स्वतंत्र ढंग से सोचने वाला पाठक उनके इस साहित्यिक वितंडावाद का तिरस्कार करता है तो वे अपनी असफलता से आहत होकर लोकप्रियता का ही अपमान करने लगते हैं। वे समाज को उसके साहित्य से वंचित करने के अपराधी हैं। परिणामतः यह समाज अपने साहित्यिक संस्कारों और उनसे प्राप्त होने वाले जीवन के उच्च मूल्यों तथा जीवन-संघर्ष से प्राप्त होने वाली ऊर्जा से वंचित हो रहा है। यह काम साहित्यकार अथवा आलोचक का नहीं, एक प्रकार के माफिया का है। दुर्भाग्य से हिन्दी साहित्य इस समय उसी दौर से गुजर रहा है।

प्रश्न यह है कि इस साहित्यिक माफिया को हम कब तक सम्मानित आलोचना मानेंगे? मेरी दृढ़ धारणा है कि यह संघर्ष पद और प्रतिभा का है और मुझे पूर्ण विश्वास है कि कोई पद, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, कभी भी प्रतिभा को पराजित नहीं कर सकता।

हिन्दी साहित्य का दलाल स्ट्रीट

चित्रा मुद्गल

हमारी लेखक बिरादरी के कानों का खूंट तभी ढीला होता है जब कंठ को 'ब्लैक लेबल' तर करती है। तो किसी शाम अखाड़ियों को घर पर बुलवाइए, जमावड़ा जमाइए। 'ब्लैक लेबल' खुलवाइए, तकलीफ सुनवाइए! सौ टक्के सुनेंगे। भरोसा करिए, हमारे वादे राजनीतिज्ञों के वादे नहीं जो पांच साल में एक बार आपके दरवाजे कटोरा लेकर आ खड़े होते हैं। हम ठहरे ठस्स-जनवादी। सर्जक! दृष्टा! हम तो रोज दरबार लगाते हैं और अपनी मेज-कुर्सी से चिपके हुए जनता-जनार्दन की तकलीफें सुनते-सुनाते रहते हैं। उनके बुलावे पर छठे-छमासे भेंट-सेंट का कार्यक्रम भी करवा लेते हैं। न भरोसा हो तो न सुनवाइए....

क्यों नहीं कुछ अखरता, सचेष्ट करता कि दूसरों का आंगन झाड़ने-बुहारने का बीड़ा उठाने वाला रचनाकार अपने आंगन के घूरे की ओर भी तनिक गौर कर ले कि जब वह स्वयं जोड़-तोड़ की राजनीति में स्टेपनी बनने या बनाए जाने के भरम में आकंठ ग्रस्त-लस्त हुआ पड़ा हो तो व्यवस्था से लड़ने का ढोंग रचने के लिए उसे कलम की आड़ लेनी जरूरी है? इस परिणति के लिए आखिर कौन-सी विवशता आड़े आई कि उसे भेड़-बकरी के रेवड़ की भांति कोई अति महत्वाकांक्षी खेमेबाज सेही दिखाए और हांक ले जाए जिधर हांक ले [illegible] ले और हद ले? सोचे कि वह अपने से प्रश्न करना क्यों छोड़ चुका है और क्यों नहीं कर पाता। आत्मप्रश्न के बीहड़ जंगलों में भटकना और गुजरना अपने अन्तर्विरोधों की अराजकता से ही संघर्ष करना नहीं, अपितु दमित हुई प्रतिवाद-शक्ति के अन्वेषण और उसकी सकारात्मकता के पक्ष-पोषण का उपक्रम और खनन भी है। कि वह अनेकों भ्रमों और छलावों में जकड़ा हुआ अपनी वास्तविकता से मुंह चुराए अपने मद में भूला हुआ है कि सर्जक, दृष्टा के अलंकरणों से अलंकृत उसका यथार्थ एक मजबूर, शोषित, इस्तेमाल हो रहे आम व्यक्ति से कहीं भिन्न नहीं। भले ही साहित्य का सुधी पाठक अपनी निश्चलता के चलते उसकी अन्तर्कथा से अनभिज्ञ नहीं जानता कि आज का लेखक समुदाय एक ऐसा पहरुआ हो रहा जो अपने घर के थाली, लोटे सेंधमारों से सुरक्षित कर पाने में असमर्थ गली-मोहल्लों में डंडे खड़काता आवाजें लगा रहा– 'जागते रहो', 'सावधान रहो!'....

हमारी इन तकलीफों को मित्र खिसियानी बिल्ली का प्रमाद कहकर उदासीनता का आवरण ओढ़ दरकिनार कर सकते हैं लेकिन ये प्रश्न जब भी उठेंगे, इनकी तीखी चोंचों की चुभन उनके कंधों पर दर्ज हुई मिलेगी। क्योंकि समस्या सिर्फ इस्तेमाल किए जाने की एवज में न उठने वाला असतोष भर नहीं, स्वयं इस्तेमाल होने के अविवेक से भी लाछित है। जरूरी है आंखें खुली होना। आंखें खुली होंगी तो वे आइने में अपने चेहरे को देख सकने में समर्थ होंगी और उनके छल-छद्म को भेद सकने में भी सक्षम जो उनके समय को अपनी फूंक से प्रवाहित, प्राणवान करने-कराने का ठेका लिए अपनी दुकानदारी करने में व्यस्त हैं!

फिर दुकानदारी चलाना कोई आसान काम नहीं। बहुतों ने दुकानें खोलने और चलाने की कोशिश की मगर यदुवंशियों जैसी कूटनीतिज्ञता और कौशल बड़े-से-बड़े पराक्रमी प्रतिद्वन्द्वी को खदेड़ ले। सो मजाल कि कोई उनकी दुकानदारी को खरोंच तक दे ले! बहरहाल मुद्दा कुछ कम गंभीर नहीं कि इन दिनों दुकानदार भैये हमारे आदरणीय वरिष्ठ लेखक-संपादक जो स्वयं मोती चुगने के आदी हैं और अन्यों को कंकरी-पत्थरी चुगाने में सिद्धहस्त, अचानक उनकी जनवादी अन्तरात्मा में नीलकंठ प्रविष्ट हो गए महसूस हो रहे। वे आठवें और नौवें दशक की लिक्खाड़ और थोड़ा लिखा, बहुत समझना वाली गुमान-पीड़ित पीढ़ी की कुंठा, आत्ममुग्धता, आत्मचिन्तन से विरक्ति, आत्मविश्लेषण से परहेज, कहानी कला से अनभिज्ञता, दृष्टि का अभाव, श्लीलता-अश्लीलता में भेद, आत्मकथा-लेखन में पिछड़ापन, दलितों के उत्कर्ष में अरुचि, चोरी और सीनाजोरी में बुनियादी फर्क, आदि-आदि विषयों पर उनकी अनभिज्ञता और अक्षमता से चिन्तित हो तकरीबन अपने प्रत्येक संपादकीय में प्रशिक्षण कार्यशालाओं का आयोजन कर, हौदी भर-भर वैचारिक चारे की व्यवस्था करते हुए उनके ज्ञानवर्धन

और आत्मानुशासन हेतु लेख[illegible] माया-ममता से प्लावित उन्हें सदैव अंदेशा-सा लगा रहता है कि बिना चश्मे के रचनाकार की आंखें अच्छी नहीं लगतीं, भले उन्हें कोई नम्बर हो न हो!

इन मुद्दों पर असहमति की उनसे कोई गुंजाइश नहीं कि उनकी कार्यशालाओं में उठाए गए विषय समसामयिक ही नहीं होते बल्कि वे देशकाल की परिधि का अतिक्रमण कर विश्व-साहित्य, विश्व-दर्शन, विश्व-चिन्तन, विश्व-विवादों से परिचित कराते हुए उनकी देशी खोपड़ी में समाए अल्प ज्ञान-भंडार को परिवर्धित और संशोधित करने के लिए बाध्य करते हैं। आठवें और नौवें दशक पर उनका आत्ममुग्धता का आरोप कहीं से भी दुर्भावना-पीड़ित नहीं महसूस होता। बल्कि हम उनसे शत-प्रतिशत सहमत हैं कि आत्ममुग्धता का दौर्बल्य उनकी रचनात्मक साधना में आत्मघाती प्रवृत्ति के दोष-सा उनकी रीढ़ पर अप्रत्यक्ष सक्रिय आरी की भांति भीतर ही भीतर ध्वस्त कर रहा। लेकिन इस संदर्भ में विचार करने योग्य पक्ष यह भी है कि उनमें छूत से फले-फूले मुगालतों का ग्लैमरीय बीजारोपण किया किसने? आखिर यह संक्रामकता उनके बाद की पीढ़ी में आई कहां से? कहना असंभव न होगा कि नई कहानी के पुरोधाओं में आत्ममुग्धता उनका विशेष गुण था। वे अलग हटकर लिखते थे, मूल्यों की संतुलित प्रतिस्पर्धा करते थे, विचारोत्तेजक बहस-मुबाहसे करते थे, ऊपर से दावा यह कि उनमें आपस में चाहे जितने मतभेद रहे हों, एक दूसरे की जड़ें नहीं काटते थे। मुगालते नहीं पालते थे वगैरा, वगैरा। मगर सच तो यह है कि वे अपने आरंभिक लेखन की पहली सफलता के साथ अपनी परंपरा के प्रति नकार से भर गोल बनाकर सुनियोजित तरीके से इस कदर आत्ममुग्ध हुए कि उन्होंने समकालीनों को किनारे करते हुए आत्ममुग्धता को पहना, ओढ़ा, बिछाया, खाया, चबाया और इतना ही नहीं, अपने को स्थापित, आरूढ़ित करने के लिए साहित्य के मंडी हाउस में जीते ज़ी अपनी प्रतिमाएं स्थापित करने से परहेज़ नहीं किया। मजाल कि उस चौराहे से उनसे अधिक वजनदार रचनाकार गुज़र जाए और उसे अपनी भी गली कह कर दावेदारी प्रस्तुत कर सके?

लिखना और प्रायोजित करके कृति के अपेक्षित मूल्यांकन के लिए प्रवृत्त होना सर्जनात्मक शक्ति का अपंग है। लेकिन इस तृष्णा का क्या कीजिएगा कि हमने अपने प्रयत्नों से अपनी प्रतिमा अपने जीवनकाल में ही स्थापित कर दी, अब अगर वह बिना अक्षत-चंदन के उपेक्षित खड़ी रही तो किए-कराए पर फिर गया न पानी! हम ऐसा नहीं होने देंगे। हमारी औकात को चुनौती देने वाला कोई पैदा नहीं हुआ। और पैदा हो भी गया हो तो परवाह किसे? पैदा होना उसकी नियति थी। उसके धड़ पर खोपड़ी रहे न रहे, यह निर्णय करना हमारा काम है। हम अगर अपने जीते जी अपनी प्रतिमा स्थापित करवा सकते हैं तो मालाएं पहनाने वाली जमात नहीं जुगाड़ सकते?

पिछले दिनों 'इंडियन लिटरेचर' और 'कथा पत्रिका' विशेषांक प्रकाशित हुए। वहां हिन्दी कहानी का प्रतिनिधित्व करने वालों में भीष्मजी, संजीव, राजी और विजयमोहन सिंह को छोड़कर शेष सभी अंधेरगर्दी के रास्ते प्रविष्ट हुए लगे। एक-एक कहानी-संग्रह के बूते पर रेखा और मैत्रेयी प्रतिनिधित्व की जगह घेर बैठीं (कृपा मोती चुगने वाले की)। 'कथा पत्रिका' से संबंधित गीता धर्मराजन बेचारी क्या करें? हिन्दी के लिए उन्होंने किन पर भरोसा किया। एक लेखक की तथागतीय मुद्रा की पोल अब अविदित नहीं। पत्रिकाओं में साहित्यपक्ष देखने वाले रचनाकारों में पत्रिका के मंच का उपयोग अपनी कृतियों का दूसरी भाषाओं में प्रचार-प्रसार के लिए करने की सर्वाधिक जुगत उनके द्वारा हुई। इधर प्रतिभा राय का उपन्यास उन्होंने सीरियलाइज़ किया, उधर उड़िया में प्रतिभा जी ने उनके उपन्यास के प्रकाशन में मदद दी। जिन्हें उनसे पहले उड़िया के पाठकों से परिचित होना चाहिए था, वे अपनी बारी की प्रतीक्षा में स्वर्गवासी हो गए। संपर्कों की महिमा अपरंपार है वरना विनोद भारद्वाज 'इंडियन लिटरेचर' के हिन्दी कथा विशेषांकों में बैठे दिखाई देते! अंग्रेजी पत्रिका की अन्तर्कथा से परिचित हुए तो वहां बैठे हुए विद्वानों पर तरस आया। वहां बैठे हुए लोग करें तो क्या करें? उनके पास हिन्दी कहानी की एकमात्र बच रही पत्रिका और उसके संपादक महोदय। फिर हिन्दी की आपसी सिर फुटौवल्ल और भाई-भतीजावाद से आप हिन्दी वाले होकर परिचित नहीं? हमें जो परोस दिया जाता है, उसे स्वीकार करने की हमारी मजबूरी होती है। अब सिर्फ कहानियां, उपन्यास लिखना ही काफी नहीं है। उनको रेखांकित, स्थापित करने के लिए स्वयं बाजार में झोला लटकाकर चटनी और चूरन की भांति आवाजें लगा-लगा कर बेचना भी जरूरी है। वरना लोग जानेंगे कैसे कि आप ने कुछ धांसू कहानियां लिखी हैं और उन्हें अंग्रेजी के पाठकों के सामने आने की जरूरत है। (बोली-बानी ठेठ मोती चुगने वाले ही जैसी!)

आप हम पर बेवजह दोषारोपण कर रहे कि हिन्दी कहानी का विशेषांक अंग्रेजी में निकालना है तो आप लोगों को अपेक्षित परिश्रम करना चाहिए। सही रचनाओं का चयन कर उन्हें स्वयं अनुवाद कराना चाहिए। मान लीजिए अगर हम ऐसा करते तब क्या हमारा हिन्दी कहानी का विशेषांक इतना चर्चित होता? हिन्दी के लेखक होने हुए भी आप हिन्दी की वर्तमान राजनीति से परिचित नहीं! हिन्दी अकादमी द्वारा प्रकाशित कथा[illegible]क उठाकर देख लीजिए। भीष्म साहनी जैसे प्रतापी लेखक को छोड़ देने का मतलब? नासिरा शर्मा और चित्रा

मुद्गल को छोड़ देने का मतलब? मतलब अपने काम को महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने के लिए कुछ बर्रे, बर्रियां छोड़ने जरूरी होते हैं (ट्रेड-सीक्रेट) जो विशेषांक प्रकाशित होते ही अपने को वहां न पा धज्जियां उड़ाने को झपट पड़ें।

सोचने की बात है। पत्रिका चलाना कोई घास खाना तो नहीं। उसके कोई न कोई आधारस्रोत तो होंगे ही। और उन आधारस्रोतों को उनके मंच के लिए क्या-क्या पापड़ बेलने पड़ते होंगे, उन्हें अनुमान नहीं? वे अपने सिद्धान्तों और निष्काम प्रणों पर अटल रहते हुए स्वयं को प्रलोभनों से विरत किए सरकारी पुरस्कारों और सम्मानों को ठुकराते-दुरियाते अपने से आत्मप्रश्न क्यों नहीं करते कि आखिर उनके कांटों में से यह कौन-सा कांटा है कि सरकारी पुरस्कारों, समितियों में अपनी पैठ के चलते (सरकारी अनुदानों पर निर्भर अकादमियों में) वे अपने पॉकेट बने कृपापात्र लेखकों को पुरस्कार आदि दिलवाने की राजनीति करने से परहेज क्यों नहीं करते? पश्चाताप शायद उन्हें नहीं होगा। न थुक्का-फजीहत से घबराहट, न अन्याय करने का कोई बोध! न वितृष्णा। साहित्य-जगत में हलचल बनाए रखने के उनके ये फिल्मी हथकंडे विचित्र नहीं? कि वे अपनी वटवृक्षी कांख में समूची पीढ़ी को चांपे हुए उन्हें अभय दे, अपनी दीक्षा से उनकी सोचने-समझने, विवेक जागृत करने की मेधा को कुंठित कर पंगु बनाए हुए हैं। एकमात्र ले-दे के बच रही मंच प्रदान करती पत्रिका की अफीम की खुराक नई पीढ़ी के लेखक-समुदाय की कमजोरी बन जाए तो अचरज कैसा! सुना यहां तक गया है कि लेखक अपनी रचनाओं की शुरुआत भर करके भेजने लगे हैं और अन्त और मध्य सम्पादक स्वयं लिख देते हैं।

संपादक हिन्दी में एक से एक धुरन्धर हुए जिनकी परंपरा लोगों के लिए उदाहरण है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, पराड़कर, गणेश शंकर विद्यार्थी, धर्मवीर भारती, अज्ञेय, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, मोहन राकेश, कमलेश्वर, अवधनारायण मुद्गल—जिन्होंने संपादकीय सीमा के अन्तर्गत रचनाकार को अपनी असहमतियों से सुझाव के रूप में अवगत कराया है न कि अपने विचारों और स्थापनाओं को उनकी रचनाओं पर चस्पां करते हुए अपने मुताबिक फेरबदल कर, उनका सुर बदलने की भ्रष्ट कोशिश की।

ज्यां पाल सार्त्र के इस विचार ने हमें सदैव आत्मविश्लेषण के लिए प्रेरित किया है और रचनात्मक आत्मद्वन्द्व के समक्ष कसौटी रख दी है। सार्त्र कहते हैं, "लेखक मनुष्य की उस स्वतंत्रता की भावना की अभिव्यक्ति है जो अपहरण की हुई है। मुखौटों में छिपाई हुई है और हमें अप्राप्य है। अगर लेखक की स्वतंत्रता कलुषित है तो उसे अपनी स्वतंत्रता की मुक्ति के लिए भी लिखना जरूरी है।"

इन्हें सहानुभूति दीजिए

प्रताप सहगल

हिन्दी साहित्य में एक नहीं, एक से अधिक शक्तिशाली माफिया सरगरम हैं। ये माफिया कहीं अलग-अलग दिशाओं में काम करते हैं और कहीं कमरों के पिछवाड़े वाले बरामदे में एक भी हो जाते हैं। यूं सवाल यह भी उठाया जा सकता है कि ये चिंताएं सिर्फ उन्हीं लेखकों की हैं, जिन्हें न तो कोई पुरस्कार मिला है, न विदेश-यात्रा की सुविधा और न ही साहित्यिक हलकों में उनकी कोई पहचान है। 'खिसियानी बिल्ली खंभा नोचे' कहकर बात खत्म भी की जा सकती है।

पुरस्कारों की राजनीति अंदर ही अंदर क्या है? मुझे सचमुच इस बात का ज्ञान नहीं है, लेकिन जब देखता हूं कि चन्द्रशेखर (सिंह) के प्रधानमंत्री बनने पर दिल्ली के उपराज्यपाल बनते हैं मार्कंडेय सिंह, हिन्दी अकादमी पर तभी विजयमोहन सिंह पदासीन होते हैं तो शलाका-सम्मान मिलता है नामवर सिंह को, तब सचमुच यह समझ में नहीं आता कि यह सिंह बिरादरी की यूं शृंखला बनना संयोग है या कि एक समझी हुई शातिराना हरकत। सुनने में तो यह भी आता है कि नामवर सिंह अशोक वाजपेयी एंड कम्पनी यह पहले से ही तय करती है कि इस साल फलां-फलां पुरस्कार किसको दिलवाने हैं और फिर इस दिशा में बिसात बिछाई जाती है, मोहरे फिट किए जाते हैं और वाहवाही के बीच पुरस्कारों की घोषणा होती है। तुम मुझे पुरस्कार दिलवाओ, मैं तुम्हें दिलवाऊंगा या फिर विदेश-यात्रा की व्यवस्था या फिर अपने समय के नहीं, इतिहास के श्रेष्ठतम कवि बनवाने की व्यवस्था भी होने लगती है। पिछले कुछ सालों का आप जायज़ा लें तो देखेंगे कि कोई एक नाम पुरस्कार के लिए उछलता है तो फिर उछलता ही चला जाता है। साहित्य अकादमी हो या उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, सरस्वती सम्मान हो या केडिया या ऐसे कई बड़े-छोटे पुरस्कार, एक के बाद एक दो-तीन व्यक्तियों की झोली में बड़े स्वाभाविक ढंग से गिरते नज़र आते हैं। क्या वास्तव में यह प्रक्रिया इतने स्वाभाविक ढंग से ही होती है?

माफिया तो हैं, एक नहीं एक से ज़्यादा, ये माफिया स्वयं को एक वैचारिक आधार भी देते हैं। वामपंथी, दक्षिणपंथी तो मोटे तौर पर दो रूप हैं। फिर इनकी कई-कई उपधाराएं हैं, इन उपधाराओं में व्यक्तिगत स्तरों पर कुछ गिरोह काम करते हैं, जो वैचारिक समानता का छद्म रखते हुए अपने-अपने व्यक्ति (इसे मोहरा पढ़ें) को पुरस्कार के लिए अनुशंसित करते हैं। हाल ही में उत्तर प्रदेश संस्थान द्वारा घोषित किए गए पुरस्कारों की सूची से साफ ज़ाहिर होता है कि इस बार भी वहां दक्षिणपंथी माफिया सक्रिय है। एक माफिया दिल्ली की हिन्दी अकादमी का है, जो बहुधा विद्यानिवास मिश्र के संकेतों पर ही

चलता है। इसी तरह से आप जिस राज्य में भी चले जाएं वहां माफिया काम करते मिलेंगे। नहीं तो क्या वजह है कि जगदीश गुप्त को भारत-भारती सम्मान इस उम्र में आकर मिलता है? क्या वजह है कि गिरिजाकुमार माथुर जैसे वरिष्ठ एवं महत्त्वपूर्ण कवि को साहित्य अकादमी का पुरस्कार इतनी देर से मिला जब उसका महत्त्व उनके लिए समाप्त हो चुका था? व्यास सम्मान तो वे स्वयं प्राप्त भी नहीं कर सके। क्या वजह है कि आज तक विष्णु प्रभाकर, देवेन्द्र सत्यार्थी, शैलेश मटियानी, रामदरश मिश्र, महीप सिंह, देवेन्द्र इस्सर जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों को याद नहीं किया और खोज-खोजकर लीलाधर जगूड़ी जैसे मझोले कद के लेखक को सम्मानित किया? ऐसे और भी उदाहरण हैं। क्या आपको याद है, पिछले दो-तीन वर्षों में अशोक वाजपेयी और केदारनाथ सिंह को कितने सम्मान प्राप्त हुए? यह ब्राह्मण-ठाकुर का माफ़िया एक अलग तरह का माफिया है, जिनकी बनियों (इसे आप 'लालाओं' भी पढ़ सकते हैं) से एक गहरी सांठगांठ है। तो ब्राह्मण-बनिया-ठाकुर की धुरी है यह। यह नैक्सस वैसा ही है जैसा कि राजनेता, अफ़सरशाह और पूंजीपति का है।

प्रश्न सिर्फ पुरस्कारों का ही नहीं, लेखकों को बड़ा-छोटा करने का भी है। इस खेल में तो अब राजेन्द्र यादव ने नामवर सिंह को पछाड़ दिया है। अरे भाई, लेखक लिख रहा है, अपने दबावों से लिख रहा है। बिना उसे पहचाने, बिना उसे पढ़े कुछ सुविधाजनक और मौक़ापरस्त फतवे दे दिए जाते हैं। इसलिए विजयदान देथा की पीड़ा सही है। साहित्य अकादमी हो या हिन्दी अकादमी, ज़रा पिछले कुछ कार्यक्रमों की जानकारी हासिल कीजिए तो कुछ ही नाम घूम-फिरकर आते दिखेंगे, जैसे हिन्दी का सारा लेखन वहीं पर सिमटा हुआ है। पर ये बेचारे अकादमियों वाले और ये बेचारे अकादमियों की कमेटियों में बैठने वाले लेखक भी क्या करें, किस-किस को पढ़ें, किस-किस की बात करें! उनके पास इतना समय ही कहां है! आखिर किसी भी माफिया या गिरोह को चलाने-जमाने में ही कितना वक्त लग जाता है! कितना वक्त तो उन सुविधाओं को भोगने में लग जाता है, जो सरकार या ग़ैर-सरकारी माध्यमों से प्राप्त होती हैं। ये 'बेचारे' आपकी सहानुभूति के पात्र है, इन्हें अपनी सहानुभूति दीजिए महीप जी! और देथाजी... और... और...।

> ऐ ताहरे-लाहूती उस रिज़्क से मौत अच्छी
> जिस रिज़्क से आती हो परवाज़ में कोताही!
> (ऐ आकाश में उड़नेवाले पक्षी, उस अन्न से मौत अच्छी है, जिस अन्न से उड़ने में बाधा आती है।)
>
> —मोहम्मद इक़बाल

डॉ. कमलेश सचदेव

उसके पास समय नहीं है

विनीता अग्रवाल का नाटक—एक परी कथा और...

आम तौर पर दुःस्वप्न व्यक्ति को बहुत सताते हैं। उनकी दहशत के मारे सोने से भी खौफ आने लगता है लेकिन वे तभी तक ताकतवर होते हैं जब तक व्यक्ति उन्हें किसी दूसरे को बता नहीं देता। किसी अन्य व्यक्ति से कह देने पर दुःस्वप्न से मुक्ति मिल जाती है। हमारे उन अनुभवों के विषय में भी यही सच है जो हमें हॉण्ट करते रहते हैं। उन्हें बांटकर ही उनसे मुक्ति संभव है। विनीता अग्रवाल के सद्यः प्रकाशित नाटक 'एक परीकथा और...' (वैचारिकी प्रकाशन) की नायिका निवेदिता भी अपने दुःस्वप्न जैसे अनुभव को दर्शकों के साथ शेयर करती है। वह उस अनुभव के बार-बार अपने भीतर से गुज़रने को यों बयान करती है—"सारी जहनी तस्वीरें/बार-बार तरतीबवार होती हैं। फिर से धुंधुआने/मिल-पुंछ जाने/ और फिर से होने के लिए/बार-बार/ वह छोटा-सा नाटक/अभी भी रिरियाता हुआ/ घिसट रहा है/ गली के मरियल पिल्ले-सा/ यूं मेरे साल दर साल/ चीथ-चीथ कर/ खाने वाला यह नाटक/ इतना छोटा भी नहीं/फर्क बस इतना है/ कि वह/ दृश्य दर-दृश्य/ समझ में आ रहा है।" और यातना के चरम पल को कह देने के बाद की राहत—"हमने दता दिया जो कुछ बताना था। और हम खुश नहीं, हम मुक्त हैं। कम-अज़-कम जो बीत गया, वह बीत गया।"

निवेदिता दर्शकों को यूं विश्वास में ले लेती है जैसे कोई स्त्री अपनी अंतरंग सहेली से बात करती है। पूरा नाटक निवेदिता का दर्शकों को संबोधित एकालाप है। बीच-बीच में बीत चुके जीवन के कुछ अंशों में अन्य पात्रों का भी समावेश मंच पर होता है पर वहां भी निवेदिता साथ-साथ अपनी वर्तमान प्रतिक्रियाएं देती चलती है। ठीक जीवन की ही तरह गंभीर बात करने से पहले निवेदिता इधर-उधर की बातें करती है, जैसे मुद्दे पर आने के लिए स्वयं को बटोर रही हो। और जब कहना शुरू करती है तो बचपन की मीठी यादें सबसे पहले बयान करती है जैसे आगे आने वाली तल्खियों को बर्दाश्त करने के लिए अपने मन को उन मीठी यादों का कवच पहना रही हो। फिर वह कहती जाती है—प्रेमी का पति में रूपांतरण, पति का डिक्टेटर में बदलते जाना, पत्नी का महज पत्नी की 'भूमिका' निभाते जाना, और अंततः तीसरे व्यक्ति के जीवन में आने के साथ ही परिवार में आई टूटन। वह सारी बातें बड़ी बेबाकी से, मज़े ले-लेकर और अपनी टिप्पणियां जड़ते हुए बताती है—सीधी बातचीत की शैली में। "कोई भी घर घर क्यों होता है (सवाल पूछते हुए, पर भंगिमा पूछने की नहीं खुद से बात करने, खुद को समझने-समझाने की है) हां.. घ...र घर क्या दूसरों के सामने उद्घोषणा के लिए है? (उद्घोषक की तरह) 'भाइयो-बहनो!' नहीं-नहीं, आजकल कहा जाता है—'मित्रो! दोस्तो।' देखो यह घर है... देखो हम लोग कितने सुखी.... कितने कलात्मक हैं... जलन हो रही है न? क्योंकि यदि आप मेरे मित्र! मेरे घर, मेरे पति, मेरी पत्नी को देखकर जले नहीं तो सब बेकार है... हम लोग बहुत सुखी हैं, बड़ा रोमांस करते हैं। (मज़ा लेते हुए) हमको मालूम है इस रोमांस की हकीकत लेकिन... (पूछते हुए) क्या इसलिए घर घर है?...." पति के जीवन में आई दूसरी औरत के बारे में अचानक हुआ रहस्योद्घाटन निवेदिता को बुरी तरह तोड़-फोड़ जाता है। इस टूटन की अभिव्यक्ति वह खिलंदड़े अंदाज मे नहीं कर पाई, वहां उसकी भाषा अमूर्त और काव्यात्मक हो उठी है। उस क्षण के बयान का एक अंश इस प्रकार है—"कोई फुसफुसाता है/ कोई चीखता है/ कोई सुबकता है/ घड़ी फेंकी जाती है/ एक कोने से दूसरे कोने में/ गिरती है झ...न्न/सामान से लदी-फदी/ वह औरत/ रेल में बैठने की इजाज़त/ नहीं पाती/ गाड़ी लौट जाती है/ छुक-छुक-छुक/ उसका उदास लौटना/ फिर से होता है उसी तरह/दीवार से कोई सर पटकता है/ धम्म/ इन सबसे बेखबर/ एक सजी-धजी/निःसंग हस्ती/कमरे को बीचोंबीच चीरती गुज़र जाती है/ बहुत संतुलित/ अभ्यास से सधी/ नाटकीय निगाह/ उस बड़े कमरे में/ पसर जाती है।"

बार-बार चीथ-चीथकर खाने वाले अनुभव को कहकर उससे मुक्त होने के बाद निवेदिता अपने लिए स्वयं राह बनाने, फूल खिलाने और टूटी हुई किर्चियों से मुकम्मल आकाश रचने का सकारात्मक विकल्प चुन पाती है और उसके पास खोने को एक भी पल नहीं है—"आज से...अभी से... इसी लमहे से बनाना है... बनाना ही है...और आपको भी तो बनाना है..."

कहानी चाहे निवेदिता बयान करती है पर वह है हम सबकी कहानी। आज की स्त्री के मन को अपने बहाने खोलती हुई निवेदिता यह जानती है, इसीलिए कहती है—"हम सब किसी न किसी भूमिका में खुद को डालकर खुद ही उसके दर्शक हो जाते हैं और शायद खुद ही सबसे बड़े उसके पॉजिटिव क्रिटिक जो हर स्टेज पर कहता—'वाह क्या पत्नी है!' या फिर अपने उस कहानी वाले अदृश्य आईने से हम जब पूछते हैं—'आईना, आईना, सबसे अच्छी, सबसे सहनशील पत्नी कौन?' तो आईना कहता—'तुम निवेदिता, तुम।' (दर्शकों से) या फिर आपका आईना कहता है—'तुम आशा, तुम कुसुम भार्गव, तुम मीरा आहूजा, तुम उषा सिन्हा, तुम नसीम अहमद, तुम सुरिन्दर भल्ला, तुम शशि तनेजा तुम...'"

अनुभूतियों की सच्चाई, गहराई और अभिव्यक्ति की शैली—जो पल-पल बदलते मूड में पाठक/ दर्शक को बहा ले जाने की क्षमता रखती है—नाटक की शक्ति है। विनीता अग्रवाल ने 'एक परीकथा और...' से हिन्दी साहित्य में अपनी क्षमताओं से भरपूर उपस्थिति का अहसास दिया है।

सी-25, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग, नई दिल्ली-26

डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ

समय की सहचर हैं रामदरश मिश्र की कहानियाँ

''कविता हो या कहानी, मैंने सीधे अपने गांव से, कछार के जीवन से सत्य को खींचा है।'' सुरेन्द्र तिवारी के साथ बातचीत में रामदरश मिश्र का यह स्वीकार न केवल उनकी रचनाधर्मिता के मूल बल्कि उनकी प्रतिबद्धता को भी स्पष्ट करता है। उनकी प्रतिबद्धता जाहिर तौर पर दो नदियों के बीच घिरे ग्रामांचल के भयंकर अभाव, अवमानना और पीड़ा में जी रहे जनसाधारण के प्रति है। अतः यह आकस्मिक नहीं कि अभिशप्तों और अभावग्रस्तों के प्रति पीड़ाबोध मिश्रजी की कहानियों का स्थायी भाव है, जो मार्क्सवादी दृष्टि के सम्पर्क में आकर प्रखर मानवीय और सार्थक व्यवस्था-विरोध में तबदील होता गया है।

हालांकि रामदरश मिश्र ने '50 के आसपास लिखना शुरू कर दिया था, फिर भी मुकम्मल रूप से उनका कहानी-लेखन 60 के बाद शुरू होता है। उनकी प्रारम्भिक कहानियाँ प्रेमचन्द की परम्परा से जुड़ने वाली ग्रामीण परिवेश की कहानियाँ थीं, जो शिवप्रसाद सिंह, रेणु, मार्कण्डेय आदि के जीवन्त कहानी-संसार के मेल में थीं। यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि जब 'नयी कहानी' से जुड़े कुछ कहानीकार मध्यवर्गीय परिवेश में सिर्फ संबंधों के टूटने-बनने की पड़ताल कर रहे थे, मिश्रजी की प्रारम्भिक कहानियों में परिवर्तन का भी मूल्यबोध मुखर था। 'मनोज जी' कहानी के मनोज जी सही अर्थों में उन कवियों के वंशज हैं, जिनके रस का झरना पत्थरों से हार नहीं मानता। पूजापाठ और पौराणिक कथाओं में विश्वास रखने वाले मनोज जी के सोच में कभी-कभी युग बोल उठता है। उन्हें आश्चर्य है कि हम लोग रूस जैसी समाज-व्यवस्था लाने के लिए क्रान्ति क्यों नहीं करते? अन्य कहानियों में 'बदलियाँ' नयी कहानी के शहराती मुहावरे के निकट है, लेकिन 'पड़ोसन', 'एक रात' और 'बेला मर गयी' अलग मिजाज की कहानियाँ हैं। ये मध्यवर्गीय दायरे में होते हुए भी अनुभव के संकरेपन से मुक्त हैं और किसी न किसी सामाजिक असंगति पर चोट करती हैं। 'पड़ोसन' में बहुत सलीके से इस विडम्बना पर अंगुली रखी गई है कि जिन्हें हम अभिजात संस्कारों के चलते नाबदान समझ लेते हैं और गन्दा और अनैतिक करार देते हैं, उनमें एक पवित्र चमक है। 'एक वह' और 'मुर्दा मैदान' से जाहिर है कि 'गरीबी हटाओ' का नारा देने वाली व्यवस्था में गरीब की नियति बस मरण है। दोनों कहानियों की परिणति 'मृत्यु' में हुई है और ये मौतें स्वाभाविक नहीं हैं। ताऊ (एक वह) की मृत्यु 'स्लो प्वायजनिंग' है, जबकि भोला (मुर्दा मैदान) बीच सड़क पर मारा जाता है। ताऊ जब मरता है तब उसके आसपास 'गरीबी हटाओ' के पोस्टर उड़ रहे होते हैं और भोला के बेहोश तन पर हवाई जहाज से गिराए गए पर्चे होते हैं, जिनमें यह सफेद झूठ छपा होता है: ''अब अमीरों का जोर जुल्म नहीं चलने पाएगा। गरीबों को अच्छा खाने-पीने, पहनने, अच्छे मकान में रहने का अधिकार होगा।'' इस समाजवाद के आने का शोर ताऊ ने भी सुना है। लेकिन अनपढ़ ताऊ उसकी हकीकत जान गया है: ''ई आया है लालाजी की दूकान पर जो रोज रोज भाव बढ़ा देता है, ई आया है वो देखो सामने वाले सेठ जी की कोठी पर जो रोज-रोज बढ़ रही है, ई आया है अफसरवन के जेब में घूस बनके, और भइया ई आया है, नेता लोगन के मुंह में जहाँ से थूक की तरह बखत बेबखत जनता के ऊपर झरता जाता है।'' खुशहाली मन्त्रियों के वक्तव्य तक सीमित रह गई है और सामान्य जन आज भी आर्थिक विपन्नता के शिकंजे में कसा हुआ है। 'एक वह' के ताऊ की तरह 'जमीन' का अनुभवी बपई भी समता और समानता के नारों की सत्यता से अनभिज्ञ नहीं है। प्रेमचन्द की कहानी 'सवा सेर गेहूं' का मुख्य चरित्र अब भी वैसा ही है,फर्क बस यह है कि वह शहर में आ गया है। 'कर्ज' का भीखू ठाकुर धरमचन्द के लिए जीवित है और बराबर अपना श्रम और खून बेच रहा है। उधार लिए दो सौ रुपये उसके गले की फांस बन जाते हैं।

यह समूची व्यवस्था सामान्य जन के लिए तकलीफदेह और

अमानवीय इसलिए भी है कि इसका संचालन-सूत्र बहुत खुदगर्ज और आततायी हाथों में है। धरमचन्द जैसे लोग इस व्यवस्था में फूलते-फलते हैं और भीखू जैसे भुखे-प्यासे मर जाने को अभिशप्त हैं। इस व्यवस्था को चलाने वालों के लिए सेवा, त्याग, तपस्या आदि की दरकार नहीं। चालाक, मक्कार, तिकड़मी लोग इसके सूत्रधार हैं। 'सड़क' और 'कहां जाओगे' कहानियां इसी विडम्बना का बयान हैं। गांधीजी की तस्वीर पर पेशाब करने वाला जंगबहादुर विधायक बन कर मौज करता है और तपे-तपाए पुराने कांग्रेसी पाण्डेजी अपने आदर्शों और विश्वासों को खादी की धोती की तरह पर्र-पर्र होते देख रहे हैं। पाण्डेजी का अपने से किया गया हर सवाल पूरी व्यवस्था पर सवालिया निशान है: ''क्यों भाई आदर्शवादी कांग्रेसी, तपे हुए शिक्षक; नशाखोरी के दुश्मन! तुम्हारी यही परिणति होनी थी। जिन्हें तुमने जीवन भर ज्ञान पिलाया, क्या उन्हें अब चाय पकौड़ी खिलाओगे? जिनके सामने नशा के विरुद्ध बोलते रहे, उन्हीं के लिए सुरती तौलोगे?''

जिस तरह सामान्य जन की पक्षधरता की थीम मिश्रजी की कहानियों में बराबर मिलती है, उसी तरह नारी के उत्पीड़न के प्रति वे बराबर क्षुब्ध और क्रुद्ध दिखाई देते हैं। इसका एक कारण यह हो सकता है कि तमाम दावों और सुधारों के बावजूद औसत नारी की स्थिति आज भी दयनीय है और वह दलित वर्ग के अन्तर्गत समाहित हो सकती है। 'बेला मर गयी', 'प्रतीक्षा', 'एक औरत एक जिन्दगी', 'मुक्ति', 'एक अधूरी कहानी', 'अतीत का विष', 'आखिरी चिट्ठी', 'अकेला मकान' और 'लड़की' जैसी कहानियां नारी से जुड़े बहुत-से मुद्दों—अनमेल विवाह, विवशताजन्य देह-व्यापार, हाड़तोड़ श्रम की विवशता, अमानवीय अत्याचार, देहभोग की लालसा, नारी होने का अभिशाप आदि को तर्क के कठघरे में खड़ा करती हैं। जिरह की इस प्रक्रिया के दौरान बहुत-से सवाल उठते हैं। क्या नारी का धर्म अधिकारी पुरुष की अधिकृत पत्नी बन कर रहना है? क्या सारे नियम बंधन स्त्री के लिए हैं? पुरुष परम स्वतंत्र है? क्यों समाज नारी-प्रतिमा को गंदगी से भरपूर मान कर थूकता है और पुरुष के अनाचार को अनदेखा कर देता है? मिश्रजी ने इन सवालों को कोई समाधानात्मक परिणति नहीं दी है, लेकिन वे इस कटु यथार्थ को देखकर निराश या हताश नहीं लगते। 'आखिरी चिट्ठी' के अन्त में व्यक्त आशावाद इस संदर्भ में द्रष्टव्य है: ''नहीं, मुझे इतना निराश नहीं होना चाहिए। प्रभा की बेटी एक विद्रोह की कविता है—उसके प्यार और आग भरे हृदय से फूटी हुई एक मूर्त कविता। वह घूरे पर नहीं फेंकी जा सकती। वह अवरोध पाकर और उठेगी, वह अपनी ही लपटों के झालर में अपनी रक्षा करेगी।''

मिश्र जी के परवर्ती कहानी-संग्रहों—**अपने लिए** और **आज का दिन भी** में नारी की नियति और संघर्ष-क्षमता की गंभीर चर्चा है। 'डर', 'अकेली वह', 'अपने लिए', 'वह औरत', 'धंधा' आदि कहानियों में मुख्यतः नारी से जुड़े हादसे मुखर हैं। इन कहानियों की नारी को न तो किसी तीसरे या तीसरे के प्रवेश से जन्मी उलझन का सामना करना है, न नारी-मुक्ति जैसे आकर्षक बैनरों के नीचे वर्जनाओं, विशेषतः सेक्स संबंधी निषेधों का अतिक्रमण करना है। उनकी समस्याएं घरेलू और मामूली हैं, जिन्हें सहने और झेलने के लिए भारतीय नारी शताब्दियों से अभिशप्त है। 'डर' की युवती पद्मा अविकसित मस्तिष्क के भोलू से ब्याही जाती है। ''तुम्हारा मरद जितना कमाता है, उसी के अनुसार तुम्हें भोजन-कपड़ा मिलेगा—'' यह निर्णय पद्मा को भूखा रखकर मार देने के अभियान का पहला चरण है। इस कहानी में परित्यक्ता रंजना की मौजूदगी और उसका आचरण कहानी को सपाट होने से बचाता है। रंजना ने स्वयं पुरुष-प्रधान व्यवस्था में नारी के प्रति होने वाले अन्याय को भोगा है लेकिन पद्मा को उत्पीड़ित करने में उसका योगदान सर्वाधिक है। नारी द्वारा नारी पर अत्याचार 'अपने लिए' में भी है। दहेज जुटा पाने में असमर्थ पिता समाज-सुधारक शिक्षक के सुन्दर पुत्र से बेटी का विवाह कर देता है। बहू खुश है कि उसे देवता जैसा ससुर और अपनी मां जैसी सास मिली है। लेकिन उसका सुख उस समय असंतोष और दुख में बदल जाता है जब उसे ज्ञात होता है कि पति को पागलपन के दौरे पड़ते हैं। कोई भी आधुनिक कथाकार इस कहानी का समापन नारी के विद्रोह और अन्ततः विवाह-विच्छेद में करना चाहता लेकिन मिश्रजी ने समस्या के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया है। यह दृष्टिकोण सकारात्मक और यथार्थपरक भी है— ''कौन चाहता है पागल होना? लोग पागल बना देते हैं। क्या मैं इन्हें असहाय छोड़ जाऊँ? मेरे भाग जाने से क्या यह व्यक्ति और बरबाद नहीं हो जाएगा? और भागने पर मुझे क्या मिलेगा मौत के सिवाय? मैं कहीं नहीं जाऊँगी। लड़ूँगी इस आदमी के लिए। लड़ूँगी अपने लिए।'' नारी-यातना को बिकाऊ माल बनाने की समस्या 'धंधा' में है। इसमें कहानीकार ने बँधे-बँधाए फार्मूले से मुक्ति का प्रमाण दिया है।

जिन कहानियों में संबंधों के तापमान के उतार-चढ़ाव के बहाने मूल्यों के संक्रमण की पहचान की गई है, उनमें 'एक रात', 'खाली घर', 'घर लौटने के बाद', 'लाल हथेलियाँ, 'ऊँची इमारत', 'पिता', 'चिट्ठियों के बीच', 'घर', 'दूरियाँ' आदि कहानियाँ आश्वस्त करती हैं। इनमें अधिकतर के संदर्भ आर्थिक हैं, संबंधों के बासी पड़ने या भंग होने के कारण आर्थिक हैं। 'घर लौटने के बाद', 'लाल हथेलियाँ' आदि कहानियों में स्थिति संबंधाभाव तक पहुंच गई है। बूढ़ी पीढ़ी की अवज्ञा और अवमानना का हादसा कहानीकार को बुरी तरह छील देता है। दीनू भाई (घर लौटने के बाद) की पीड़ा गजाधर बाबू (वापसी) और हरे कृष्ण (एक शिल्पहीन कहानी) की तकलीफ से कहीं बढ़-चढ़ कर है। गजाधर बाबू पलायन करके और हरे कृष्ण मरकर अपनी पीड़ा से मुक्ति पा लेते हैं, लेकिन दीनू भाई रोज तिल-तिल कर मरने को

अभिशाप्त है। दीनू भाई की [illegible] की पीड़ा है: "इनके जिन अंगों की कमाई से घर महक रहा है, जिन मटमैली आँखों के आशीर्वाद की छाँह में बच्चे बड़े हुए हैं, उन पर कोई प्यार से हाथ नहीं फेरता, घाव कर रहे हैं लोग।" इन कहानियों में यह संकेत बहुत मुखर है कि संबंधों का ध्वंस नगर-महानगर के परिवेश में सम्पन्न परिवारों में हुआ है। गाँव के निम्नवर्गीय परिवार में संबंध हिल गए हैं, लेकिन पूरी तरह टूटे नहीं हैं। गाँव हो या नगर, संबंधों के बिखरने के कारण आर्थिक अधिक हैं, मनोवैज्ञानिक कम। कभी प्रेयसी का नाम लेते ही प्रवीन (एक रात) को लगता था कि हवा सुगन्ध से भर गई है और बाद में उसका आगमन ऐसा लगता है जैसे कोई महाजन अपने दिए हुए कर्ज का हिसाब माँगने आ रहा हो। मधुवन (ऊँची इमारत) की पत्नी उसे छोड़कर नहीं जाती, यदि वह अपाहिज होकर बेकार न हो जाता। लेकिन 'खाली घर' जैसी कुछ कहानियों में सम्बन्धों की आत्मीयता का वह रूप मौजूदा है, जो निरन्तर दुर्लभ होता जा रहा है। बीनू के लिए विमाता न लाने का संकल्प भइया के चरित्र को अतिरिक्त चमक देता है। 'लाल हथेलियाँ' में तुलनात्मक पद्धति अपनाई गई है और स्वार्थसंकुल अभिजात मानसिकता पर प्रश्नचिह्न लगाया गया है। 'पिता' में पीढ़ी-अन्तराल के साथ-साथ मूल्यों के विघटन को तटस्थता के साथ अंकित किया गया है। अखिल का यह सोच वास्तविकता के मेल में है कि मूल्यों की टूटन आज सामाजिक स्वीकृति बन गई है। यौन संबंधों की कहानियाँ मिश्रजी ने कम लिखी हैं। 'मुक्ति' आदि कुछ-एक कहानियाँ हैं, जिनमें उन संदर्भों और कारणों की खोज हुई है, जो उन यौन सम्बन्धों के मूल में विद्यमान हैं।

'आज का दिन भी' कहानी-संग्रह में संकलित 'रहमत मियाँ' कहानी में 'रची हुई' और 'घटित कहानी' के फर्क को रेखांकित करने के साथ-साथ कहानी की रचना-प्रक्रिया और उसके प्रतिपाद्य की चर्चा सहज भाव से हो गई है। संबंधित संवाद इस प्रकार है—

"...देखो, ये कहानियाँ हैं, ये लिखी नहीं गयी हैं, घटित हुई हैं जिन्दगी में, इसलिए लेखक की कलात्मक काट-छाँट के बिना भी जानदार कहानियां हैं। लेखक इन्हीं कहानियों को काट-छांट कर एक उद्देश्य प्रदान करता है, उनके प्रभाव को और तेज करता है।"

"...मेरी कहानियों से समाज का, इंसानियत का कुछ भला हो तो मुझे बेहद चैन मिलेगा बाबूजी।"

भाषिक संस्कार की दृष्टि से वे प्रेमचन्द के निकट पड़ते हैं। जटिल से जटिल संवेदनाओं को सर्जनात्मक अभिव्यक्ति देने में उनकी भाषा सक्षम है। भाषा-प्रयोगों में वैविध्य के साथ-साथ एक लचीलापन भी है, जो अभिव्यंजना को पारदर्शी बनाता है। कहानियों का रूपबन्ध भी पर्याप्त विविधता लिए हुए है। सामाजिक संबंधों और सवालों पर केन्द्रित ये कहानियाँ बहुआयामी अनुभवशीलता, प्रासंगिक मूल्यबोध और कलात्मक परिपक्वता के तालमेल से रची गई हैं।

इस अवतरण में कहानीकार 'सत्य-कथा' लिखने का कायल नहीं है। वह कहानी के सर्जनात्मक और सार्थक होने के लिए सत्य-कथा में वांछित परिष्कार-संस्कार के साथ-साथ उसमें सोद्देश्यता की अनिवार्य उपस्थिति का समर्थक है। कहानी से यह अपेक्षा अप्रासंगिक नहीं है कि वह समाज और मानवता के कल्याण के लिए अपने स्तर पर सकारात्मक भूमिका निभाए। एक अन्य कहानी 'कलाकार' में भी मनोरमा के माध्यम से पूछा गया है कि 'क्या आदमी के ठोस दुख-दर्द में शरीक होकर उसको राहत देना कला नहीं है।' जनधर्मिता और सोद्देश्यता की यह अपेक्षा रामदरश मिश्र की कहानियों में हमेशा साकार हुई है। साम्प्रदायिकता के सवाल पर लिखी गई 'रहमत मियाँ', 'चक्र' आदि कहानियों को इस संदर्भ में खासतौर पर देखा जा सकता है।

गत वर्षों में साम्प्रदायिकता की जो आँधी चली है, उसमें वटवृक्ष धराशायी हो गए हैं। अयोध्या-काण्ड की त्रासदी ने प्रायः प्रत्येक संवेनशील रचनाकार को आंदोलित किया है, झकझोरा है। लेकिन प्रतिकूल परिस्थितियों में भी मनुष्यता निःशेष नहीं हुई है, रमजान मियाँ और शरीफ भाई इसके जीवन्त प्रमाण हैं। रमजान मियाँ ने एक हिन्दू बच्चे को पाला है और उसे नाम दिया है—मोहन अली। रमजान मियां दंगाइयों के सामने छाती तानकर खड़े होते हैं: "मैं न हिन्दू हूं न मुसलमान हूं। मैं इंसान हूं और मेरी दुकान में भी न हिन्दू हैं न मुसलमान। सब मेरे भाई हैं।" इस कहानी के अंत में सिख युवक मोहन अली की परवरिश और शिक्षा की जिम्मदारी लेने के लिए आगे आता है और कहानी निराशा की तंग गली में ठिठक जाने के बजाय संभावना की नई पगडंडी पर चल निकलती है। 'चक्र' में बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद का इतिहास-खंड पृष्ठभूमि में है, जब हिन्दू-मुस्लिम नेता और महंत अपने-अपने महलों में सुरक्षित रहे थे और आम जनता नफरत की आग में जलती रही थी। शरीफ भाई पाकिस्तान-विरोधी हरकतों और मजहबी नेताओं की तकरीरों से सहमति नहीं रखते, इसलिए दंगे में उनका मकान जला दिया जाता है और वे बाध्य होकर एक गंदी मुस्लिम बस्ती में शरण लेते हैं। वहां भी वे पूरी तरह मिसफिट हैं, उनकी बेटी शोहदों की गंदी हरकतों से परेशान होती है। शरीफ भाई जैसे भारतीय और धर्म-निरपेक्ष सोच के मुसलमानों की दुहरी यातना को यह कहानी मार्मिकता के साथ प्रस्तुत करती है। ये दोनों कहानियां इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं कि स्व. शानी जैसे

बहुत-से लेखकों को यह शिकायत रही है कि हिन्दी कथा साहित्य में मुसलमानों का चित्रण नकारात्मक नजरिए से ही अधिक हुआ है। इन कहानियों में पारस्परिक सद्भाव पर बल देने के साथ-साथ यह भी अहसास कराया गया है कि हमारी मूल समस्या मजहब नहीं, भूख और अभाव है। ''मजहब के नाम पर पागलपन फैलाने वाले इन वहशियों को क्या लगता है कि ईश्वर या खुदा उनसे खुश होता है। खुदा ने पेट तो बनाया है, मजहब नहीं। और उसके लिए तो मजहब की निस्बत आदमी का पेट ज्यादा जरूरी और महत्त्वपूर्ण लगता होगा।'' इस तरह के अवतरण जहां कहानी को भावुक होने से बचाते है, वहीं रचनाकार के यथार्थवादी सोच का प्रमाण देते है। हालांकि कुछ पाठकों और आलोचकों को 'रहमत मियां' कहानी में बच्चे का नाम 'मोहन अली' रखना और आखिर में हिन्दू-मुसलमान-सिख की एकजुटता भावुकतापूर्ण और फार्मूलाबद्ध लग सकती है लेकिन 'चक्र' कहानी का कथ्य न केवल नया है अपितु किसी तरह की भावुक आकांक्षा या नाटकीय आशावाद से मुक्त भी है।

डॉ. महावीर सिंह चौहान का विचार है कि मिश्रजी की कहानियों को पढ़कर वे समस्याएँ और प्रश्न हमें उत्तेजित-आंदोलित करते हैं, जिनकी चुभन पहले अनुभव नहीं की गई। पाठक के स्तर पर कहानी की यह सफलता साधारण नहीं है। इन कहानियों में व्यक्त अनुभव कितने सत्य हैं, इसकी जांच मिश्रजी की आत्मकथात्मक कृति **सहचर है समय** और ललित निबन्ध-संग्रह **कितने बजे हैं** को पढ़कर की जा सकती है। उनके जीवन में आए अनेक वास्तविक व्यक्ति कलम की खराद पर चढ़कर अविस्मरणीय चरित्र बन गए हैं। जगरानी बूआ, मनोज जी आदि चरित्र इसी प्रकार के हैं। जिन समस्याओं और सवालों उठाया गया है, वे भी आज के हैं और अधिसंख्यक जनसमुदाय से जुड़े हुए हैं। शिक्षा-जगत की वीभत्सता (मिसफिट, सम्बन्ध), प्रान्तीयता और क्षेत्रीयता की संकीर्णता (पराया शहर), विकलांग की पीड़ा (सीमा), दलित वर्ग की नियति (सर्पदंश, मुर्दा मैदान), रोजगार के नाम पर ठगी (टूटे हुए रास्ते), देह-व्यापार (अतीत का विष), साम्प्रदायिकता (चक्र) आदि बहुत-से ज्वलन्त प्रश्न वैचारिक प्रखरता के साथ उभरे हैं।

बाद के दौर की अपनी कहानियों के संबंध में **इकसठ कहानियाँ** में रामदरश मिश्रजी ने लिखा है कि इन कहानियों में पात्र कुछ अधिक निर्णयात्मक मुद्रा में खड़े हैं। किन्तु मिश्रजी जानते है कि निर्णयात्मक मुद्रा स्वयंसिद्ध रूप में आकर रचना के लिए बोझ बन जाती है, अतः इन कहानियों में निर्णय आरोपित और बोझिल नहीं है। 'वह औरत' में बहन को जलाए जाने पर भाई द्वारा दरिन्दों को न छोड़ने का निर्णय, 'शेष यात्रा' में सुरेन्द्र द्वारा चिट्ठी लौटा देने का निर्णय और 'रोटी' में सेठ से अपना प्राप्य प्राप्त करने का निर्णय—ये सभी अचानक नहीं फूट पड़ते। अनुकूल परिस्थितियों और पात्रों के संदर्भ में निर्णयात्मकता की उपलब्धि का अच्छा प्रमाण 'रोटी' कहानी है। दो कुत्तों के आपसी संघर्ष में मरियल कुत्ते की जीत शोषित युवक को संघर्ष की प्रेरणा देती है। 'अकेली वह', 'नौकरी', 'खोया हुआ दिन', 'एक मामूली आदमी' आदि कहानियों में निर्णयात्मकता की जगह संवेदनात्मक सघनता ले लेती है। एक परवर्ती कहानी 'दिन का साथ' (इण्डिया टुडे, 20 दिसम्बर '96) में यह संवेदनात्मकता अधिक सघन है। इसमें मिश्रजी ने पति-पत्नी के माध्यम से व्यंजित किया है कि न केवल अपना भोगा हुआ सच अपितु दूसरों के दुख में भागीदारी भी उनकी संवेदनशीलता और रचनाधर्मिता में बराबर सकारात्मक भूमिका निभाती रही है—''मैं इस तकलीफ से भागता नहीं हूं, बाहर-बाहर उसकी उपेक्षा करता हुआ भी उसे अपना बना लेता हूं। शायद इसीलिए मैं हूं आदमी भी और लेखक भी। और वे चाहती हैं कि मैं आदमी भी बना रहूं और लेखक भी। इसलिए मैं जो कुछ भोगता हूं, वह तो भोगता ही हूं, वे चाहती हैं कि वे दुनिया का जा दुख भोग रही है, उसमें भी भागीदार बनूं।'' मिश्रजी की प्रमुख कहानियों में यह भागीदारी कभी सामान्य जन के प्रति करुणा के रूप में उभरती है तो कभी आक्रोश-बहुल होकर एक निर्णयात्मक परिणति की ओर बढ़ जाती है।

डॉ. इन्द्रनाथ मदान ने कहीं लिखा था कि इधर की कहानियों में 'कहानी' कही जाने वाली रचनाएं बहुत कम हैं, ज्यादातर 'रिपोर्ताज' हैं। मिश्रजी की 'भागवत कथा', 'गीतू', मंगल यात्रा', 'एक इन्टरव्यू उर्फ कहानी तीन शुतुरमुर्गों की', 'बादलों भरा एक दिन', 'लाल बत्ती के पास', 'आरम्भ' आदि कई कहानियाँ रिपोर्ताज के करीब पड़ती हैं। वर्णनशीलता के बीच प्रतिपाद्य व्यक्त होता है, लेकिन इस अभिव्यक्ति में स्थूलता और स्फीति अधिक है, सांकेतिकता और नुकीलापन कम। शिल्प का कच्चापन कुछ प्रारम्भिक कहानियों में आसानी से लक्षित किया जा सकता है। 'मनोज जी' एक अच्छी कहानी है लेकिन उसके अंत में जिस तरह एक निष्कर्ष चिपकाया गया है, वह अखरता है। इसी तरह 'बदलियों में' शीर्षक को सही सिद्ध करने की कोशिश भी परिपक्वता की सूचक नहीं है: ''पता नहीं किन पाप ग्रहों के कारण मेरे जीवन पर ये बदलियाँ छा गई है।'' बाद की कहानियों में कथ्य कहा नहीं गया है, व्यंजित हुआ है। सड़क, मकान, वसन्त आदि अपने स्थूल अर्थ को छोड़ कर युगीन अन्तर्विरोधों के व्यंजक बन गए हैं। चरित्र-केन्द्रित कहानियाँ कम हैं। स्थितियों के विश्लेषण के प्रमाण बराबर मिलते हैं। 'एक अधूरी कहानी' और 'अतीत का विष' चरित्र-विशेष पर केन्द्रित है लेकिन इनके केन्द्रीय चरित्र विशिष्ट 'केस' न होकर वर्ग-चरित्र हैं।

अनुभव के अतिरंजित बौद्धिकीकरण और भाषा के प्रति गैरजिम्मेदार रवैये का दुष्परिणाम समकालीन लेखन में बहुत मुखर तौर पर लक्षित किया जा सकता है। लेकिन मिश्रजी की कहानियों में भाषा का रचाव पर्याप्त संयमित और यथार्थ से मुठभेड़ की विचारोत्तेजक सम्भावनाओं से युक्त है। बहुत-सी कहानियाँ अंचल-विशेष पर आधारित है, लेकिन भाषा में स्थानीय रंग को लेकर उनमें पर्याप्त सावधानी बरती गई है। शुरू की कहानियों में अप्रस्तुत बार-बार आते हैं। मिश्र जी का

कवि-रूप बार-बार कहानीकार पर हावी होता है और भाषा की [illegible] अप्रस्तुतों, दृष्टान्तों, प्रतीकों और बिम्बों के बगैर सम्पन्न नहीं होती। "वे खूंखार जानवर मुन्नी को घेर कर गाते हैं, नाचते हैं, जैसे बीन के चारों ओर मुग्ध सर्प" (पड़ोसिन); "मैं निस्सहाय मनस्ताप के कुंड में" (बदलियाँ); "चोरी में पहले पहल अपमानित किए गए किसी भले व्यक्ति की तरह" (एक रात) आदि उद्धरणों से स्पष्ट है कि इन कहानियों में शब्द-चयन और अप्रस्तुतों की प्रस्तुति संदर्भ से जुड़ी हुई है। 'रोटी' जैसी कहानियों में प्रतीकात्मकता का तेवर भावात्मक न होकर ठेठ यथार्थ की भूमिका पर टिका हुआ है। स्वयं मिश्रजी के विचार में "सवाल यह है कि रचना का सन्दर्भ किस प्रकार के शब्दों की मांग करता है। रचना ऐसे शब्दों को पाकर धन्य होती है या नंगी होती है और अपना अर्थ खोती है।" मिश्रजी की कोशिश रही है कि भाषा को नग्नता से बचाया जाए। 'खाली घर' की निम्नलिखित पंक्तियों में भाव-विरस और आकुल जिन्दगी के सूनेपन को बहुत घनीभूत रूप में कहा गया है: "आज लग रहा था कि उसके पूरे शरीर को कोल्हू में पेर कर निचोड़ लिया गया हो। आँखों में सर्द स्याही फैली हुई थी। मुझे देख कर मुस्कराई, जैसे श्मशान की चिता की लौ जल उठी हो....।" यहां 'कोल्हू', 'निचोड़', 'सर्द स्याही', 'श्मशान' जैसे पदों का संयोजन द्रष्टव्य है, जिन्होंने परिस्थिति के विश्लेषण में अपनी सार्थकता प्रमाणित की है। यहां गद्य की लय मन्थर है और संवेदना बिम्बधर्मिता से सम्बद्ध है। इसके विपरीत 'हद से हद' तक की निम्नलिखित पंक्तियों में तल्खी और आक्रोश का बोध सीधे प्रहार और ठेठ कथन के रूप में व्यक्त हुआ है: "ये जितने तमाशा देखने वाले हैं न, ये औरत का दुख नहीं समझते। ये केवल मजा लेते हैं। अभी तू इन्हें अकेले में मिल जाय न तो तेरा पांव चाटने लगेंगे। लेकिन खुलेआम कुलटा कहेंगे, छिनाल कहेंगे।"

यह आश्वस्त करने वाला तथ्य है कि कवि होते हुए भी मिश्रजी ने अपना कोई विशिष्ट, निजी और अति सचेत भाषिक मुहावरा नहीं गढ़ा। नरेश मेहता की तरह उनकी काव्य-संवेदना भाषा का वह रूप नहीं गढ़ती, जो सम्प्रेषण के स्तर पर चुनौती बन जाए। भाषिक संस्कार की दृष्टि से वे प्रेमचन्द के निकट पड़ते हैं। जटिल से जटिल संवेदनाओं को सर्जनात्मक अभिव्यक्ति देने में उनकी भाषा सक्षम है। भाषा-प्रयोगों में वैविध्य के साथ-साथ एक लचीलापन भी है, जो अभिव्यंजना को पारदर्शी बनाता है। कहानियों का रूपबन्ध भी पर्याप्त विविधता लिए हुए है। पूर्वदीप्ति, स्वप्न-चित्र, फैन्टेसी, व्यंग्य आदि का उपयोग सीमित है, लेकिन गद्य की बुनावट में पूरी तरह खप गया है। 'बदलियाँ', 'एक रात' आदि प्रारम्भिक कहानियों में पूर्वदीप्ति और स्वप्नचित्र का इस्तेमाल बहुत मुखर तरीके से हुआ है और इधर की 'सर्पदंश', 'इज्जत', 'लड़की', 'पानी' आदि कहानियों में कथन-पद्धति बहुत ऋजु किन्तु बेधक है और व्यंग्य की भंगिमा ने उसे तीखापन प्रदान किया है। जहाँ तक लम्बी कहानियों का प्रश्न है, वे मुख्यतः किसी-न-किसी चरित्र के इर्दगिर्द बुनी गई हैं। 'अकेला मकान', 'एक अधूरी कहानी', 'दिन के साथ' आदि से स्पष्ट है कि इसके केन्द्र में नारी-चरित्र है, अभिशप्त और उत्पीड़ित नारी-चरित्र। इनके बहाने युगीन विसंगतियों को उघाड़ने और उन पर चोट करने में मिश्र जी सफल रहे हैं। लम्बी कहानी के ढांचे में स्फीति का खतरा होता है, लेकिन मार्मिक प्रसंगों के विधान ने स्फीति को गुण बना दिया है। 'एक अधूरी कहानी' में कलपू की हत्या और अदालत से सम्बद्ध प्रसंग और बाद में भाभी की मृत्यु कहानी के प्रभाव को संश्लिष्ट और घनीभूत करने में समर्थ है। 'सर्पदंश' और 'लड़की' जैसी कहानियाँ आकार में लघु हैं, लेकिन प्रभाव की दृष्टि से वे लम्बी कहानियों से इक्कीस ठहरती हैं। मिश्रजी की अधिकतर कहानियाँ लेखकीय सर्वज्ञता के शिल्प में प्रस्तुत की गई हैं, इसलिए पाठक को अपनी ओर से जोड़ने-घटाने के अवसर कम ही मिलते हैं। 'मैं' और 'वह' अवलोकन बिन्दु से लिखी गई कहानियाँ अपेक्षाकृत अधिक चुस्त हैं। कुछ कहानियों में अवलोकन बिन्दु एक से अधिक हैं। 'एक अधूरी कहानी' में कुछ 'नैरेटर' के कोण से कहा गया है और शेष 'भउजी' के अवलोकन बिन्दु से। मिश्रजी दोनों अवलोकन बिन्दुओं में सही तालमेल बिठा पाने में सफल रहे हैं।

हिन्दी में कुछ कहानीकारों की नियति इस माने में बेहद दयनीय है कि उनकी पहचान किसी 'आन्दोलन' तक सीमित है। उनकी चर्चा करते समय 'रचनाधर्मिता' पर कम, सम्बद्ध आन्दोलन पर ज्यादा विचार-विमर्श होता है। इसके ठीक विपरीत रामदरश मिश्र जैसे कुछ कहानीकारों को आन्दोलनों की जलवायु रास नहीं आती। हालांकि रामदरश मिश्र ने नई कहानी के जमाने से लिखना शुरू किया और सक्रिय रहे लेकिन उनकी कहानियां किसी एक सांचे में फिट नहीं बैठतीं। अनुभव, बोध और रूपबंध के स्तर पर उनमें पर्याप्त वैविध्य है। उनकी सभी कहानियों से गुजरते समय यह तथ्य बहुत अच्छी तरह उभर कर सामने आता है कि मुख्यतः सामाजिक संबंधों और सवालों पर केन्द्रित ये कहानियाँ बहुआयामी अनुभवशीलता, प्रासंगिक मूल्यबोध और कलात्मक परिपक्वता के तालमेल से रची गई हैं। मिश्रजी की कहानियों में से 'खाली घर', 'सीमा', 'अनिर्णयों के बीच एक निर्णय', 'सड़क', 'एक वह', 'कर्ज', 'मुर्दा मैदान', 'एक अधूरी कहानी', 'पानी', 'लड़की', 'दिन के साथ' आदि करीब एक दर्जन कहानियां उपलब्धि के तौर पर रेखांकित की जा सकती हैं। इन्हें देखकर लगता है कि मिश्रजी ने कविता और उपन्यास की तरह कहानी-विधा को भी गम्भीरता से लिया है और आज भी कहानी उनके लिए अप्रासंगिक नहीं हुई है।

बापू नगर, बैंक कालोनी, अलीगढ़

डॉ. रवि शर्मा

भाषा आंदोलन के मायने

संघ लोक सेवा आयोग, नई दिल्ली के बाहर 16 अगस्त 1988 को एक धरना शुरू हुआ। उस दिन धरना देने वाले सत्याग्रहियों ने शायद स्वप्न में भी नहीं सोचा होगा कि उन्हें अपनी जायज़ मांग मनवाने के लिए, आज़ाद भारत में, जनता की चुनी हुई सरकार के सामने, इतना लंबा धरना देना पड़ेगा कि वह विश्व का सबसे लंबा धरना घोषित हो जाएगा। ऐसे में, प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह धरना आखिर किस उद्देश्य से दिया जा रहा है? वस्तुतः यह धरना, जिसे भाषा आंदोलन का नाम दिया गया, भारत में अंग्रेजी की अनिवार्यता समाप्त करने और भारतीय भाषाओं को उनका उचित स्थान दिलाने के उद्देश्य से ही किया जा रहा है।

आज़ादी के पचास वर्ष बाद, आज हम पाते हैं कि भारत पर चारों ओर से ज़ोर-शोर से सांस्कृतिक आक्रमण हो रहे हैं। खानपान, पहनावा, रहन-सहन, चाल-ढाल ही नहीं, संपूर्ण शिक्षा प्रणाली, व्यापारिक कारोबार, जीवन-शैली—सब पर पश्चिमी प्रभाव सिर पर चढ़कर बोलने लगा है। इसके अनेक कारण हैं, मगर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण है—अपनी भाषाओं की उपेक्षा। यह कारण उसी प्रकार अनदेखा रह जाता है, जैसे किसी ऊंचे भवन की नींव ज़मीन में दबी होने के कारण दिखाई नहीं देती। इसलिए यदि हम आज अपने देश के नैतिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक पतन से सचमुच चिंतित हैं तथा इस समस्या को हल करना चाहते हैं, तो सबसे पहले भारतीय भाषाओं को उनका उचित स्थान देना होगा। अंग्रेजी के कसते जाल को काटना होगा। वस्तुतः यह कार्य सरकारी स्तर पर ही होना चाहिए था, मगर इस देश का दुर्भाग्य है कि रक्षक ही आज भक्षक बनने लगे हैं, बाड़ ही खेत को खा रही है। इसी का परिणाम है कि संविधान में स्पष्ट निर्देश दिए होने के बावजूद, आज भी भारतीय भाषाएं दासी बनी हुई हैं और एक विदेशी भाषा करोड़ों देशवासियों पर रानी बनकर हुक्म चला रही है।

इन्हीं मुद्दों को लेकर अखिल भारतीय भाषा संरक्षण संगठन पिछले दस वर्षों से आंदोलनरत है। यह आंदोलन संपूर्ण व्यवस्था परिवर्तन का आंदोलन है, जो भारतवर्ष से अंग्रेजी के वर्चस्व को पूर्णतः समाप्त करने एवं हिन्दी सहित अन्य भारतीय भाषाओं को शिक्षा-परीक्षा, संसद, न्यायालय एवं अन्य क्षेत्रों में पूर्ण रूप से लागू कराने तथा समान भारतीय शिक्षा पद्धति को स्थापित करने के लिए चल रहा है। इसी आंदोलन के एक हिस्से के रूप में, पिछले नौ वर्षों से भारत में अंग्रेजी के सबसे बड़े गढ़—संघ लोक सेवा आयोग के बाहर धरना दिया जा रहा है। आयोग भवन के बाहर ही धरना देने का उद्देश्य था—अंग्रेजी रूपी रावण की नाभि पर तीर मारना। भारतीय लोकतांत्रिक ढांचे की धुरी अर्थात् नौकरशाह वर्ग का चयन यहीं से होता है। यही वे नौकरशाह हैं, जो दशकों-दशक तक नीति-निर्माण के प्रमुख पदों पर विराजमान हो, देश के भविष्य को निर्धारित करने वाली नीतियां एवं योजनाएं बनाने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। भारतवर्ष के नाम पर एक महान राष्ट्र के निर्माण की अवधारणा ने ही, शायद इस नौकरशाह वर्ग को इतना शक्तिशाली तथा महत्त्वपूर्ण बनाया होगा, परन्तु दुःख की बात है कि देश की आज़ादी के बाद एक वैभवशाली राष्ट्र के निर्माण की यह परिकल्पना ध्वस्त होकर रह गई।

यह एक कड़वी सच्चाई है कि जब भी मनुष्य पर देश-सेवा और त्याग-बलिदान के स्थान पर भोग-विलास हावी हो जाता है, तो अच्छे-अच्छे लक्ष्य से भटक जाते हैं। आज़ाद भारत के पचास वर्षों के नौकरशाही-तंत्र का सावधानीपूर्वक अवलोकन करने से यह तथ्य प्रकट होता है कि नौकरशाह न केवल स्वयं भटकाव के शिकार हुए, अपितु उन्होंने देश की महत्त्वाकांक्षी योजनाओं के साथ भी वही रवैया अपनाया। यह समय के साथ-साथ न केवल घातक साबित हुआ, बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए एक अभिशाप बनकर रह गया। कारण साफ है। यह जी हजूरी वर्ग, अंग्रेजी एवं कान्वेंट विद्यालयों की पाश्चात्य संस्कृति से उधार ली गई एक अव्यावहारिक शिक्षा-पद्धति के माध्यम से ही, इन नीति-निर्धारक पदों पर पहुंच पाया। परिणामस्वरूप पश्चिमी संस्कृति के इन अंध-भक्तों को, अपने विदेशी आकाओं की संस्कृति, रीति-रिवाजों तथा परंपराओं के वकील की भूमिका निभानी पड़ी, जो इस शताब्दी की सबसे बड़ी त्रासदी बनकर हमारे सामने आ रही है।

अखिल भारतीय भाषा संगठन ने इस सच को समझा तथा समस्या की जड़ को पकड़ा। संगठन के संस्थापक सदस्यों ने महसूस किया कि संघ लोकसेवा आयोग की अधिसंख्य परीक्षाओं में अंग्रेजी का बोलबाला है। परीक्षा का माध्यम अंग्रेजी होना, अनिवार्य रूप से अंग्रेजी का पर्चा पास करना आदि आम भारतीय युवाओं के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। अंग्रेजों के 200 वर्षों के शासन में, उनके अथक प्रयासों के बावजूद, अंग्रेजी भारतीय जनसामान्य की भाषा नहीं बन पाई। केवल दो प्रतिशत भारतीय ही अंग्रेजी सीख पाए और अंग्रेजों ने

ऐसे 'काले अंग्रेजों' को आ[illegible] लिखी मैकाले ने तो 1835 में अपनी शिक्षा नीति के तहत साफ़ तौर पर बता दिया था कि अंग्रेजी के माध्यम से प्रशासन चलाने में सहायता करने वाला एक 'क्लर्क वर्ग' तैयार किया जाएगा, जो तन से भारतीय होते हुए भी मानसिक रूप से अंग्रेजी आचार-व्यवहार तथा जीवन-शैली का भक्त होगा। उन चंद अंग्रेज़ीदां लोगों की सहायता से, अंग्रेज़ों ने भारत पर लंबे समय तक शासन किया और भाषा के आधार पर एक भेद-बीज बो दिया। 1947 में अंग्रेज तो भारत छोड़कर चले गए, मगर उनके अधूरे सपनों, इच्छाओं और इरादों को पूरा करने का जिम्मा इसी अंग्रेज़ीदां वर्ग ने लिया। धीरे-धीरे इस वर्ग ने अपना जाल फैलाना शुरू कर दिया। सत्ता तो इसके पास थी ही, उसी का लाभ उठाकर आज़ाद भारत में ऐसी नीतियों का निर्माण किया जाने लगा, जो जन-जीवन को भारतीय सभ्यता-संस्कृति, जीवन-मूल्य, दर्शन एवं चिंतन से अलग कर दें और ऐसा करने के लिए भाषा को हथियार बनाया गया। कुछ निहित स्वार्थी राजनेताओं को भी अपने स्वार्थ साधने और राजनीति की रोटियां सेंकने का यह आसान तरीका लगा। यहीं से नेता और नौकरशाह का जो गठजोड़ बना, आज उसी का परिणाम है कि पूरे देश में भारतीय भाषाओं की उपेक्षा हो रही है, अंग्रेज़ी के महत्त्व को उल्टे-सीधे तर्क देकर स्थापित किया जा रहा है। आज अंग्रेजी को मान-सम्मान-प्रतिष्ठा की भाषा, सफलता और समृद्धि की भाषा सिद्ध किया जा रहा है। नौकरी पाने या तरक्की पाने के लिए अंग्रेजी की अनिवार्यता महसूस कराई जा रही है। यह काम पग-पग पर पनपते पब्लिक स्कूल जोर-शोर से कर रहे हैं। चिंता की बात यह है कि आम भारतीय इस षड्यंत्र को समझ नहीं पा रहा है और इसी में फंसता जा रहा है। आज एक झोंपड़-पट्टी में रहने वाला मजदूर, रिक्शाचालक भी अपना पेट काटकर अपने बच्चे को अंग्रेजी माध्यम वाले पब्लिक स्कूल में पढ़ाना चाहता है क्योंकि यह मान लिया गया है कि अंग्रेजी बोलने वाला ही 'साहब' होता है और आज हर मां-बाप अपने बच्चे को 'साहब' बनाने पर तुले हैं।

आम आदमी के अंग्रेजी मोहजाल में फंसने का फायदा हमारे नेताओं तथा नौकरशाहों ने उठाया। संविधान में केवल 15 वर्षों तक अर्थात् 1965 तक अंग्रेजी जारी रखने की बात कही गई थी ताकि इस दौरान भारतीय भाषाओं का आवश्यक विकास कर लिया जाए और शिक्षा, ज्ञान, विज्ञान, प्रशासन आदि के कार्य उनमें किए जा सकें। मगर नेता-नौकरशाह के गठजोड़ ने, राजभाषा अधिनियम 1963 के माध्यम से ऐसी व्यवस्था कर दी कि अंग्रेजी आगे भी चलती रहे। 1965 आया तथा गया। अंग्रेजी यथावत चलती रही। भारतीय भाषाएं दबती रहीं। प्राकृतिक नियम भी है कि जो दबता है, उसे और दबाया जाता है। इसी नियम के तहत अब अंग्रेजी तथा अंग्रेजी-भक्तों ने अपना कुचक्र आगे बढ़ाया। हालांकि 18 जनवरी 1968 को हमारी संसद ने सर्वसम्मति से यह संकल्प पारित किया कि संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित सभी भारतीय भाषाओं को संघ लोकसेवा आयोग की परीक्षाओं का माध्यम बनाया जाए और अंग्रेज़ी की अनिवार्यता हर स्तर पर समाप्त की जाए। इस संकल्प का उद्देश्य था—भारतीय भाषाओं की प्रतिष्ठा तथा देश की प्रतिभाशाली युवा पीढ़ी को सरकारी सेवाओं के माध्यम से राष्ट्र की उन्नति में भागीदार बनाना। परन्तु सरकार ने इस संकल्प को लागू करने की इच्छा कभी नहीं दिखाई, उलटे आजाद भारत के प्रधानमंत्री ने कुछ निहित स्वार्थी राजनेताओं को, संसद में आश्वासन दे दिया कि जब तक एक भी राज्य विरोध करेगा, अंग्रेजी नहीं हटाई जाएगी। 'हिन्दी किसी पर थोपी नहीं जाएगी' इस थोथे तर्क की आड़ में, पिछले पचास सालों से, देश की 97 प्रतिशत जनसंख्या पर अंग्रेज़ी थोपी जा रही है। कोई भी दल इसका विरोध नहीं करता। कोई भी राजनीतिक दल भारतीय भाषाओं को महत्त्व देने को अपनी प्राथमिकता नहीं बनाता। कारण साफ़ है कि सभी नेता चाहते हैं कि अंग्रेजी का प्रभाव बना रहे, बढ़ता रहे। कैसी विडंबना है कि जनता की भाषा में उससे वोट की भीख मांगने वाले हमारे ये नेता जनप्रतिनिधियों की सभा, संसद या विदेशी मंचों पर एक विदेशी भाषा को गर्व से बोलते हैं और अपनी मातृभाषा या राष्ट्रभाषा बोलने में उन्हें लज्जा महसूस होती है। क्यों नहीं देश-विदेश की सभा-समितियों में भारतीय भाषाओं या राष्ट्रभाषा का प्रयोग होता? यह सच है कि जहां चाह होती है, वहीं राह होती है यहां तो चाह ही नहीं थी, तो राह कैसे निकलती?

भाषा-आंदोलन के माध्यम से नेता और नौकरशाह, आम जनता तथा प्रचार-तंत्र का ध्यान इस अति महत्त्वपूर्ण मुद्दे की ओर खींचने का एक प्रयास किया गया। इसी उद्देश्य से 11 दिसंबर, 1988 को 175 सांसदों के माध्यम से श्री राजीव गांधी सरकार को भारतीय भाषाओं के संबंध में ज्ञापन दिया गया 26 मई 1989 से आयोग भवन पर आमरण अनशन शुरू किया गया। अनशन के 29वें दिन सरकार द्वारा 1968 के संसदीय संकल्प को लागू करने के आश्वासन के बाद अनशन तुड़वाया गया। सितंबर 1989 में फिर 350 सांसदों के हस्ताक्षरयुक्त एक ज्ञापन प्रधानमंत्री को दिया गया। भाषा आंदोलनकारी तत्कालीन राष्ट्रपति श्री आर. वेंकटरामन से मिलने गए, उन्होंने भी संसदीय संकल्प को लागू कराने का आश्वासन दिया। सितंबर 1990 में पुनः 462 सांसदों द्वारा श्री वी. पी. सिंह सरकार को ज्ञापन दिया गया। इन सबका कोई असर न होता देखकर, भाषा-आंदोलन के संस्थापक श्री पुष्पेंद्र चौहान का खून खौल उठा। मगर उन्होंने कानून हाथ में नहीं लिया बल्कि स्वयं अपनी जान पर खेलते हुए 10 जनवरी 1991 को संसद की दर्शक दीर्घा से लोकसभा में छलांग लगाकर काफी चोटें खाईं, मगर ये शारीरिक चोटें उन मानसिक चोटों से कम पीड़ादायक थीं, जो उन्हें पहले लगती रही थीं। इस घटना का तात्कालिक असर

हुआ। अगले दिन यानी 11 जनवरी 1991 को संसद द्वारा भाषा-नीति संसदीय संकल्प पुनः पारित कर दिया गया। समय का पहिया घूमता रहा। 29 अक्तूबर 1991 तथा 28 जनवरी 1992 को राष्ट्रपति महोदय द्वारा भारतीय भाषाओं को लागू कराने संबंधी आदेश दिए, मगर विश्व के इस सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश में, शासन के सर्वोच्च पद की भी ऐसी उपेक्षा की गई, जिसकी मिसाल दुनिया के इतिहास में भी शायद न मिले। इस लंबे धरने के दौरान 21 बार पुलिस द्वारा भाषा-आंदोलनकारियों के धरना-स्थल से तंबू उखाड़े गए और उन्हें गिरफ्तार किया गया। तीन बार जेल भेजा गया। अदालत ने तीनों बार आंदोलनकारियों को बरी कर दिया। आंदोलनकारियों को हथकड़ी लगाकर अदालत में पेश किया गया जिस पर अदालत ने पांच पुलिसकर्मियों के खिलाफ कार्यवाही करने का आदेश दिया।

भाषा-आंदोलन के इतिहास में 12 मई 1994 का दिन विशेष महत्त्वपूर्ण रहा क्योंकि इसी दिन पूर्व राष्ट्रपति स्वर्गीय ज्ञानी जैल सिंह के नेतृत्व में देश के शीर्ष नेता सर्वश्री वी.पी. सिंह, अटलबिहारी वाजपेयी, लालकृष्ण आडवाणी, रामविलास पासवान, चतुरानन मिश्र, मदनलाल खुराना, बैकुंठ लाल शर्मा 'प्रेम', सैफुद्दीन चौधरी, डॉ. रत्नाकर पांडेय, सोमपाल, सैयद शहाबुद्दीन सहित अनेक राज्यपाल, सांसद, संपादक, साहित्यकार एवं जन आंदोलनों के नेता धरने पर बैठे। उसी दिन दोपहर बाद, संसद में इस मुद्दे को लेकर भारी हंगामा हुआ। मगर परिणाम वही ढाक के तीन पात। अगले दिन यानी 13 मई 1994 को लोकसभा अध्यक्ष शिवराज पाटिल के नेतृत्व में दोनों सदनों के पार्टी नेताओं की बैठक हुई। इस बैठक में सरकार द्वारा भारतीय भाषाओं को लागू करने का पुनः आश्वासन दिया गया। आश्वासन, आश्वासन और आश्वासन। थोथे आश्वासन देने के अतिरिक्त सरकारों ने पिछले नौ साल में और किया ही क्या?

इस आंदोलन का कोई प्रभाव पड़ा ही न हो, ऐसी बात नहीं है। इन जुझारू सत्याग्रहियों के प्रयास से कई प्रवेश परीक्षाओं में भारतीय भाषाओं को माध्यम बनाने की छूट दी गई। दो बार राज्यसभा, पांच बार लोकसभा तथा दो बार राष्ट्रपति महोदय द्वारा सरकार को कार्यवाही का निर्देश दिया गया। समय-समय पर विभिन्न समाचार पत्रों ने इस संबंध में विचारोत्तेजक संपादकीय लिखे। लेकिन इन सबके बावजूद स्थिति जस-की-तस बनी रही। आखिर क्या कारण थे कि इतना कुछ होने पर भी, जनता की चुनी हुई सरकारें इस संबंध में कुछ विशेष नहीं कर पाईं। श्री पुष्पेंद्र चौहान का मानना है कि इसके कई कारण हैं जिनमें सर्वप्रमुख है—राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी। सभी नेताओं तथा दलों ने ऊपर-ऊपर से आश्वासन दिए, धरने में शामिल हुए, समर्थन में तर्क दिए, लेकिन किसी भी नेता या दल ने इस प्रश्न को सुलझाने के लिए ईमानदारी से प्रयास नहीं किया। सभी अपनी राजनीतिक मजबूरियों की दुहाई देते रहे। ये सब केवल सत्ता प्राप्ति से सीधे जुड़े प्रश्न ही [illegible] भाषा के सवाल को जानबूझकर हल नहीं करना चाहते, भ्रम बनाए रखना चाहते हैं, ताकि आवश्यकतानुसार इसका उपयोग कर सकें। नेता, नौकरशाह, पूंजीपति आदि जो नीतियों को प्रभावित करते हैं, अंग्रेजी का वर्चस्व टूटने में अपना व्यक्तिगत तथा सामूहिक अहित देखते हैं, इसलिए वे कभी नहीं चाहेंगे कि अंग्रेजी भारत से हटे। अखिल भारतीय भाषा संरक्षण संगठन के संस्थापक अध्यक्ष डॉ. बलदेव वंशी ने इस प्रश्न पर उत्तेजित होकर कहा कि बड़े-बड़े नेताओं को इस धरने पर बुलाकर हमने अपने समस्त विश्वास और आस्था की सबसे बड़ी आहुति दे दी, मगर इन नेताओं ने वायदे करके धरने की रीढ़ ही तोड़ दी। 12 मई 1994 के बाद आम जनता के ये प्रतिनिधि, भारतीय संस्कृति के हिमायती, किसानों-मज़दूरों के ये तथाकथित पक्षधर, चुप होकर बैठे हैं। इन्होंने न कोई मुद्दा उठाया, न कोई कोशिश की। देश के नेताओं को लज्जा आनी चाहिए, अपने इस आचरण पर। हमें विक्षोभ है देश के सर्वोच्च नेतृत्व पर, जो आम जनता को धोखा दे रहा है, उससे विश्वासघात कर रहा है। इतिहास इन्हें कभी माफ नहीं करेगा। संगठन के महासचिव श्री राजकरण सिंह के अनुसार जनता की निरक्षरता, अधिकार तथा कर्तव्य का अज्ञान, अन्याय तथा अत्याचार को चुपचाप सहने की प्रवृत्ति के कारण ही नेता तथा नौकरशाह इस मुद्दे को नहीं सुलझाते।

आज देश की आज़ादी की पचासवीं सालगिरह मनाने के नाम पर बड़े-बड़े दिखावटी कार्यक्रम करने वाली सरकार के प्रत्येक सदस्य को, सरकारी तंत्र के प्रत्येक कर्मचारी को, जनता के सभी वर्गों के लोगों को, चाहे वे बुद्धिजीवी लेखक-पत्रकार हों या व्यापारी-उद्योगपति, गांव में रहने वाले हों या शहर में, साक्षर हों या निरक्षर—सभी को ईमानदारी से इस विषय पर आत्म-चिंतन करना चाहिए। यदि प्रत्येक अपने-अपने स्तर पर, इस प्रश्न को हल करने का प्रयास करे, भाषा आंदोलनकारियों को नैतिक समर्थन दे, अपने जीवन के दैनिक कामकाज में अपनी भाषा को अपनाना शुरू कर दे, तभी व्यवस्था-परिवर्तन का यह आंदोलन सफल होगा। वस्तुतः आज स्थिति इतनी बिगड़ चुकी है कि छोटे-मोटे एकल प्रयास से काम नहीं चलेगा, एक जनक्रांति, एक 'मेजर ऑप्रेशन' की ज़रूरत है और यह तभी संभव है, जब कोई एक संगठन नेतृत्व दे तथा संपूर्ण देश उसका साथ दे। नेतृत्व देने का कार्य अखिल भारतीय भाषा संगठन कर ही रहा है। इस आंदोलन से जुड़ने के मायने हैं—अपने देश की आज़ादी, अपनी सभ्यता-संस्कृति, जीवन-मूल्यों की रक्षा का प्रयास, प्रत्येक भारतवासी को इस प्रयास में हिस्सा लेना चाहिए, तभी बहुत त्याग-बलिदान से मिली इस आज़ादी की रक्षा हो सकेगी और यही आज़ादी के दीवानों को हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

डब्ल्यू जैड 1987, रानी बाग, दिल्ली-110034

डॉ. वीरेन्द्र सिंह

त्रिलोचन-काव्य में संवेदना के आयाम

समकालीन कविता के व्यापक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर एक तथ्य यह उजागर होता है कि आज की रचनाशीलता में विचार-संवेदन के भिन्न आयाम प्राप्त होते हैं जो यथार्थ के बाह्य और आंतरिक पक्षों के सापेक्ष द्वन्द्व को रेखांकित करते हैं। इसमें राजनीति, इतिहास, समाज आदि के आशय अपनी अर्थवत्ता प्रकट कर रहे हैं, तो दूसरी ओर मिथक, प्रेम, प्रकृति, पारिवारिक बिम्ब आदि के आशय और रूपाकार यथार्थ के आंतरिक पक्ष को, संवेदना के धरातल पर प्रकट कर रहे हैं। त्रिलोचन काव्य के मूल्यांकन में इस तथ्य को स्वीकार करना जरूरी है कि उनकी काव्य-संवेदना में जहां बाह्य यथार्थ अपनी पूरी शिद्दत के साथ आता है, वहीं उनकी काव्य-संवेदना में यथार्थ का आंतरिक पक्ष भिन्न रंग-रूपों में आता है जो कहीं न कहीं हमारे मर्म को स्पर्श करता है, उसे आंदोलित करता है। इस लेख में त्रिलोचन के इसी पक्ष को विवेचित करने का प्रयास किया गया है।

त्रिलोचन की एक कविता 'क्या-क्या नहीं चाहिए' में कवि अपने व्यापक 'तुम' को संबोधित करता हुआ कहता है—"और तुम यह जान सको, तुमने एक जीवित हृदय का स्पर्श किया है, ऐसे हृदय का जो देश काल के प्रभाव लेता है, बिल्कुल जड़ नहीं है। मेरे हृदय को अच्छी तरह जान लो। प्यार, घृणा, उदासीनता, सहानुभूति, मुझे क्या-क्या नहीं चाहिए।" ('अरधान' से)। यदि गहराई से देखा जाए तो त्रिलोचन की संवेदना उस 'सभी कुछ' को समेटने का प्रयत्न करती है जो यथार्थ को संवेदित कर सके। इस यथार्थ में आंतरिक यथार्थ भी है जहां प्यार, घृणा, सहानुभूति, प्रकृति-बिम्ब, परिवार के बिम्ब तथा अंतर को उद्वेलित करने वाले ऐसे चित्र हैं जो हमारी अंतश्चेतना को झकझोरते ही नहीं हैं, कभी-कभी उस राग व अनुभूति को व्याख्या से परे मात्र 'महसूसने' की दशा तक ले जाते हैं। ऐसी अनेक कविताओं में एक कविता 'पास' है जो संक्षिप्त होते हुए भी पूर्ण रूप से अव्याख्येय है, और इसका सौंदर्य मात्र महसूसने में है:—

> और थोड़ा, और आओ पास
> मत कहो अपना कठिन इतिहास
> मत सुनो अनुरोध, बस चुप रहो
> कहेंगे, सब कुछ तुम्हारे श्वास!

यहां पर 'कठिन इतिहास का न कहना' और दूसरे स्तर पर 'सब कुछ तुम्हारे श्वासों का कहना' में जीवन की 'इतनी' त्रासद दशा का जो संकेत है, वह एक सूक्ष्म संवेदना का ही रूप है। यही कारण है कि त्रिलोचन के संवेदनाचित्र एवं दृश्य-चित्र गीतमय हो जाने की स्थिति तक पहुंच जाते हैं। यह गीतमयता लय का एक प्रवाहमय रूप है जो हमें उनके गद्यकाव्य में भी प्राप्त होता है। एक स्थान पर कवि कहता है, "गीतमयी हो तुम, मैंने यह गाते-गाते जान लिया...। तुमको पथ पर पाते पाते रह जाता हूं और अधूरी समाराधना/ प्राणों की पीड़ा बन कर नीरव आंखों से/बहने लगती है, तब मंजुला मूर्ति तुम्हारी और निखर उठती है।" '(उस जनपद का कवि हूं' में से) यहां पर भी मंजुल मूर्ति का संस्पर्श किसी गहरी पीड़ा या संवेदना से है। यह एक आंतरिक सत्य का रूप है जो हमें त्रिलोचन की सृजन-प्रक्रिया में प्राप्त होता है।

त्रिलोचन की यह पीड़ा और संवेदना मात्र व्यक्तिगत नहीं है, वे अपनी वैयक्तिकता को परिवेश में बिछा ही नहीं देते हैं, लेकिन उसमें समो देने की दशा तक आ जाते हैं, और यह तभी होता है जब कवि की पीड़ा इस हद तक बढ़ जाती है कि—

> और/जब भी पीड़ा
> बढ़ जाती है/ बेहिसाब
> तब/जाने अनजाने लोगों में
> जाता हूं/उनका हो जाता हूं
> हंसता, हंसाता हूं।
>
> ('अरधान' से)

कवि के अनुसार यह जीवन जो हमें मिला है, उसका मोल तोल "अकेले कहा नहीं जाता/दुख सुख एक भी/अकेले सहा नहीं जाता/ ('धरती' से)। यहां पर एकांत व्यक्तिवादिता का तिरोभाव है, और व्यक्ति की सार्थकता अकेले में नहीं, अनेक की सापेक्षता में है। यह जीवन का सत्य संवेदना के स्तर पर अर्थ प्राप्त करता है। त्रिलोचन की अनेक कविताओं में यह सह-अस्तित्व या सहकारिता (सामाजिकता)

एक प्रेरक तत्त्व है जिसे वे कभी-कभी कुछ रहस्यमय और व्यंजनामय तरीके से भी कहते हैं—

मैं सबका 'मैं' है
वैसे ही तुम सबका 'तुम' है

आगे चलकर यह रहस्यमयता यथार्थ की कठोर भूमि पर अर्थ प्राप्त करती है—

कभी पूछ कर देखो मुझसे
मैं कहां हूं
मैं तुम्हारे खेत में तुम्हारे साथ रहता हूं...
मैं तुम से, तुम्हीं से बात किया करता हूं
और यह बात मेरी कविता है।

('ताप के ताए हुए दिन' से)

'मैं-तुम' एक लम्बी कविता है, और ऊपर दी गई कुछ पंक्तियां कवि के उस व्यापक सरोकार को व्यक्त करती हैं जो उनकी संवेदना के गठन में एक प्रेरक तत्त्व रही है। यदि गहराई से कवि के मानस (साइकी को देखा जाए तो) एकाकीपन, अकेलेपन, व्यक्तिपरकता, पलायन, मृत्युबोध तथा अलगाव जैसी नयी कविता की आधुनिकतावादी परम्परा से अलग वे अपनी जातीय परम्परा के 'आधुनिक' कवि हैं। असल में, आधुनिकता को जब हम अस्तित्ववादी दृष्टि से देखते हैं तो वह एक सीमित अर्थ देती है, लेकिन जब हम उसे वैज्ञानिक दृष्टि से देखते हैं, तो वह एक व्यापक संप्रत्यय का रूप ग्रहण करती है जो जातीय विवेक के आधार पर अपना रूप प्रकट करता है। त्रिलोचन, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि ऐसे ही कवि हैं जिन्होंने आधुनिकता को ओढ़ा नहीं है, वरन् उसे अपने देशकाल के संदर्भ में जिया है।

त्रिलोचन-काव्य में राग-संवेदन के अनेक चित्र एवं दृश्य प्राप्त होते हैं जिनमें प्रेम-राग के चित्र तथा दूसरी ओर प्रकृति प्रेम के चित्र उनकी रचनाशीलता को एक ऐसा आयाम देते हैं जो अपने में एक अलग पहचान बनाता है और साथ त्रिलोचन की अनेक आयामी सृजनात्मकता के समक्ष रखता है। त्रिलोचन के प्रेम-रंग के चित्रों में संबंधों की सघनता है, स्फूर्ति और कल्पना का संसार है तथा जीवन के कटुतिक्त यथार्थ का स्पन्दन है। कवि की रोमानियत परिवर्तित काल बोध की रोमानियत है। इसमें समूह का, 'तुम' का सन्निवेश है और यथार्थ का त्रासद रूप भी अर्थवत्ता प्राप्त करता है। एक स्थान पर कवि कहता है: "समझाया तुमने मुझे मर्म जीवन का मैंने पाया/ तुम जल हो/मैं निहित बिम्ब हूं।... तार हृदय के खनके/ सांस-सांस में जीवन जगकर आगे आया" ('शब्द' से)। यहां पर प्रेम का रूप सापेक्ष है, जीवन के राग से स्पंदित है। और यदि गहरे में जाएं तो कवि प्रेम के अत्यंत सूक्ष्म भाव को प्राणों की धारा की सापेक्षता में स्वीकार करते हुए प्रेम के अप्रत्याशित आगमन को संकेतित करता है, वह भी कली और भौंरे के माध्यम से—

बिना बुलाए जो आता है प्यार वही है
प्राणों की धारा उसमें चुपचाप बही है।

प्रेम में परिचय, मिलन, विरह, स्मृति, समर्पण, त्याग तथा राग के भिन्न-भिन्न संवेग एक संचारी जीवन को अर्थ प्रदान करते हैं और त्रिलोचन में ये सभी संवेग संचारी यथार्थ की भूमि पर व्यक्त होते हैं। 'परिचय की गांठ' कविता में परिचय, स्मृति तथा जड़ता की पीड़ा को कवि ने एक व्यापक सरोकार के तहत संकेतित किया है—

यों ही कुछ मुसका कर तुमने
परिचय की यह गांठ लगा दी
था पथ पर मैं भूला-भूला
जाने कौन लहर थी उस दिन
तुमने अपनी याद जगा दी।
जड़ता है जीवन की पीड़ा
निस्तरंग पाषाणी क्रीड़ा
तुमने अनजाने वह व्रीड़ा
छवि के शर से दूर भगा दी।

('तुम्हें सौंपता हूं' से)

प्रेम में विरह और आंसू का भी स्थान रहा है पर त्रिलोचन में आंसू वैयक्तिक होते हुए भी 'पर' से भी संबंधित है, तभी कवि अपने एक गीत में आंसू की गठरिया बांधने की बात कहता है—

आंसू बांधे मैंने गठरिया में
अपने भी हैं और पराए भी हैं ये
उपराएं हैं तो तराए भी हैं ये
आप आ गए हैं बौराए भी हैं ये
साधे हैं मैंने कन-कन डगरिया में

('सबका अपना आकाश' से)

यहां पर लोकगीत की सघनता है, तरलता है। त्रिलोचन के काव्य में मूल छंद सॉनेट, गीत तथा गद्य-काव्य के जो काव्य-रूप प्राप्त होते हैं, उनमें लय और गति का विशेष ध्यान रखा गया है क्योंकि छंद चाहे जो भी हो, लय उसका केन्द्रीय तत्त्व है। मेरा विचार है कि बिना छंद-ज्ञान के किसी भी काव्य-रूप को रचनात्मकता नहीं प्राप्त हो सकती है।

त्रिलोचन काव्य में एक अन्य वर्ग उन संवेदनात्मक चित्रों तथा दृश्यों का है जिनका संबंध प्रकृति के जैव और अजैव (प्राणी व वनस्पति संसार) जगत से है। त्रिलोचन के काव्य में जहां परम्परा बोध जातीय रूप को अर्थ देता है, वहीं प्रकृति के प्रति उनका रागात्मक रिश्ता है। प्रकृति-प्रेम, आचार्य शुक्ल के अनुसार एक आदिम प्रवृत्ति है। मनोविश्लेषण की भाषा में, यह मानव मन का एक ऐसा 'आद्यरूप'

(आरकीटाइप) है जो मानव [illegible] जीवनी शक्ति प्रदान करता है। यदि गहराई से देखा जाए तो पूंजीवाद तथा उपभोक्तावाद का जो नया इज़ारेदारी रूप विकसित हो रहा है, वह हमारी संवेदना को, हमारी जीवन-ऊर्जा को तथा हमारे जातीय चरित्र को कुंठित कर रहा है। प्रकृति, परिवार तथा प्रेम की संवेदना क्रमशः हमारे मानस से दूर हो रही है। यही कारण है कि समकालीन कविता में संवेदना के ये क्षेत्र पुनः रचनात्मक अर्थवत्ता प्राप्त कर रहे हैं। इस दृष्टि से त्रिलोचन की अनेक कविताएं महत्त्वपूर्ण हैं। त्रिलोचन की कविता में प्रकृति के जैव एवं अजैव रूपाकार अपने अस्तित्व को दर्ज करते हैं। यहां पर प्रकृति की अपनी एक सत्ता है। वह विविध रूपों में आती है और इन रूपों में सापेक्ष संबंध है। प्रकृति के ये रूप जहां दृश्यों-चित्रों-रूपाकारों की सृष्टि करते हैं, वहीं वे कभी-कभी मानव संदर्भों से भी जुड़ जाते हैं। पहाड़ों के क्रम-बिम्ब द्वारा कवि अपना विक्षोभ प्रकट करता है—

> अपनी कैसे कहूं/यहां कौन कान सुनेगा
> आगे एक है पहाड़ फिर दूसरा पहाड़/ फिर तीसरा पहाड़
> इन्हें घेरे और बांधे हुए/ हरे भरे झाड़
> इनको छोड़ और कौन/मेरी तान सुनेगा।

('ताप के ताए हुए दिन' से)

इस कविता का एक अन्य अर्थ यह भी है कि प्रकृति और कवि में एकात्म भाव है, तभी तो पहाड़ों का छोड़ ऐसा कौन है जो उसकी तान को सुने। यही एकात्म-भाव उसकी एक अन्य कविता 'यह सुगंध मेरी है' में भी व्यंजित होता है कि बौराए आम की सुगंध में आमंत्रण नहीं है फिर भी "मुझे जान पड़ा/जाने क्यों/ यह सुगंध मेरी है।" क्या हम आज इस प्रकृति की सुगंध से दूर नहीं होते जा रहे हैं जिसके समीप कवि जाना चाहता है?

कवि कभी-कभी लोकगीतों के पैटर्न को स्वीकार करता हुआ प्रकृति और मानवीय संबंध को एक रागात्मक सूत्र में बांधता है। कवि के मानस में जनगीतों की गूंज उसे 'जनपद' से जोड़ती है, और यह जुड़ाव त्रिलोचन, नागार्जुन और विश्वनाथ प्रसाद तिवारी आदि कवियों में यदा-कदा दिखाई देता है। त्रिलोचन की एक ऐसी ही कविता है 'फूल मुझे ला दे बेले के' जिसमें एक ग्रामीण बालिका माली के छोकरे से बेले के फूल लाने को कहती है जिससे कि वह गजरे, कंगन बना कर पूनम की रात में शोभित होगी तथा अब उसकी उम्र गुड़ियों से खेलने की नहीं है तभी वह इन फूलों से पूजा की साध पूरी करेगी। यहां पर बढ़ती उम्र का मनोविज्ञान सांकेतिक रूप से प्रकट होता है—

> माली के छोकरे, माली के छोकरे
> फूल मुझे ला दे बेले के।
> चली गयीं मेरी सखियां सहेलियां
> छूटे घरौंदे-छूटा गुड़ियों से प्यार
> छूट गए खेल-खिलौने अपार
> पूजा की साध आज मेरे मन जागी है
> फूल मुझे ला दे बेले के।

('तुम्हें सौंपता हूं' से)

यहां बालिका और बेले के फूल में एक तरह का अभेद है जो परोक्षतः प्रकृति से एक रागात्मक रिश्ते को संकेतित करता है। उपर्युक्त अर्थ-रूपांतरण हमें कभी-कभी जैव जगत के पशु-पक्षियों आदि के द्वारा भी प्राप्त होता है। कवि की एक संवेदनशील कविता 'हम साथी' है जिसमें एक गौरय्या चोंच में तिनका दबाए कवि के कमरे की खिड़की पर बैठकर प्रश्नभरी नज़र से देखने लगी, तभी कवि कहता है—

> मैंने उल्लास से कहा
> तू आ
> घोंसला बना
> जहां पसंद हो
> शरद् के सुहावने दिनों से
> हम साथी हों।

('ताप के ताए हुए दिन' से)

त्रिलोचन काव्य में प्रकृति के स्वतंत्र चित्र एवं दृश्य भी हैं जो ऋतुओं, बादलों, संध्या, प्रातः आदि से संबंधित हैं। यहां पर प्रकृति-दृश्य अपने सहज रूप में आते हैं, उनकी अपनी स्वतंत्र सत्ता है। हल्की वर्षा का यह दृश्य लें—

> आठ पहर की टिप् टिप्
> सड़क भीग गयी है
> पेड़ों के पत्तों से बूंदें
> गिरती हैं—टप् टप्
> हवा सरसराती है
> चिड़िया समेटे पंख यहां वहां बैठी हैं।

('ताप के ताए हुए दिन' से)

दूसरी ओर प्रातः का यह मोहक चित्र जिसने बादलों में आग लगा दी है—

> बढ़ रहीं क्षण-क्षण शिखाएं
> दमकते अब पेड़-पल्लव
> उठ पड़ा देखो विहग-रव
> गए सोते जाग
> बादलों में लग गयी है आग दिन की।

('धरती' से)

धूप और रंग का यह चित्र है
तरुण हरियाली/निराली शान शोभा
लाल, पीले और नीले
वर्ण वर्ण प्रसून सुंदर
धूप सुंदर
धूप से जग-रूप सुंदर।

कवि यहीं नहीं रुकता है, इस सुंदर धूप को वह आदमी में देखना चाहता है—

''यह अनिवर्चनीयता/बस देखता हूं/ सोचता हूं/ क्या कभी/मैं पा सकूंगा/इस तरह/इतना तरंगी/और निर्मल/आदमी का/रूप सुंदर/धूप सुंदर/धूप में जग-रूप सुंदर/सहज सुंदर/'' ('धरती' से)

यदि हम त्रिलोचन के सारे काव्य को लें तो हम पाते हैं कि त्रिलोचन का रचना-संसार प्रकृति के पांच तत्त्वों—रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द—का भौतिक संसार है जिनमें कमोबेश रूप से संवेदना का हल्का-गहरा संस्पर्श है। उनमें रूप, रंग, गंध और स्पर्श बोध के रूप इस तरह प्राप्त होते हैं कि इनके द्वारा कवि प्रकृति के भिन्न रूपों को, प्रकृति, घटनाओं और वस्तुओं को अपनी संवेदना का हिस्सा बनाकर प्रकृति को एक मानवीय सरोकार के दर्जे तक ले जाता है। लगता है कि प्रकृति से संसर्ग का अनुभव त्रिलोचन मानो अपने सारे शरीर से करते है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि त्रिलोचन के लिए इंद्रियबोध का संसार जितना विस्तृत है, उतना ही उनका भाव-संवेदन का संसार। प्रकृति-दृश्यों तथा चित्रों में हमें ये दोनों तत्त्व कमोबेश रूप से प्राप्त होते हैं।

समग्रतः त्रिलोचन का काव्य जहां यथार्थ और वास्तविकता के त्रासद एवं विडम्बित रूप को प्रस्तुत करता है, वहीं संवेदना के सूक्ष्म स्तर पर वे यथार्थ के आंतरिक पक्ष को भी अपने तरीके से अर्थ देते हैं। यहां पर मैंने त्रिलोचन के आंतरिक संवेदन-पक्ष को इसलिए रखा है कि त्रिलोचन का मूल्यांकन इस पक्ष को पूरी तरह, तटस्थ रूप में, निर्धारित किए बिना नहीं हो सकता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि संवेदना का तत्त्व मात्र इन्हीं रचनाओं में है, यथार्थवादी एवं जनवादी रचनाओं में विचार-संवेदन का रूप अधिक उत्तेजक, त्रासद तथा प्रश्नाकुलता उठाने वाला है। यदि हम यथार्थ के इन दोनों रूपों को एक साथ लें, तो हम पाते हैं कि त्रिलोचन की काव्य-संवेदना सरल रेखा की न होकर वक्र रेखा की है। इसी वक्रता में कवि की सहजता भी है। वह जो कुछ भी है, सामने प्रत्यक्ष है—तभी कवि त्रिलोचन की यह स्वीकारोक्ति—

जीवन इसका जो कुछ है, पथ पर बिखरा है—
तप तप कर ही भट्टी में सोना निखरा है।

('उस जनपद का कवि हूं' से)

5 झ 15, जवाहर नगर, जयपुर

लाल चन्द 'राही'

समता-अस्मिता का उन्नायक: दलित साहित्य

दलित साहित्य वर्तमान युग की अनिवार्य आवश्यकता है। यदि दलित साहित्य के युगीन सत्य का वर्तमान समाज व साहित्यकारों ने साक्षात्कार नहीं किया तथा वर्तमान की विसंगतियों और जटिलताओं को अनदेखा कर अतीत के ही मनुवादी संस्कारों के परिप्रेक्ष्य में अपनी कल्पनाओं के घोड़े दौड़ाते रहे तो निस्संदेह यह हमारे जीवन के संघर्षों, घात-प्रतिघात और आकांक्षाओं का चित्रण नहीं कहा जा सकता।

आजकल साहित्यकारों में दलित साहित्य चर्चा का विषय बना हुआ है। अनेक साहित्यकार इसे सामयिक साहित्य मानकर स्वीकार रहे हैं तो अनेक साहित्यकारों को इससे अपच भी होने लगी है। पुरातनवादी साहित्यकारों को इससे अपच होना स्वाभाविक है क्योंकि यह साहित्य मानव-उत्पीड़न का उल्लेख करते हुए उसकी उत्पत्ति के कारणों की खोज कर उसके निदान को भी प्रस्तुत कर रहा है।

साहित्य संस्कृति का संवाहक होकर युगीन परिवेश के साथ साये की तरह चलता रहता है। वह समय के विचारों को वहन करते हुए युग का प्रतिनिधित्व करता है। साहित्य ही भविष्य के बिंबों का अंकन करता है। अतः साहित्यकार को अतीत का गायक ही नहीं बल्कि भविष्य का द्रष्टा भी कहा जा सकता है। यह बात और है कि प्रायः साहित्यकार अपनी जाति-अस्मिता और वर्ण की अभिजात्य वृत्ति के चलते जातिवाद, ऊंच-नीच, अस्पृश्यता और पवित्र-अपवित्र की संस्कारजन्य धारणा के कारण सामाजिक विषमताओं को गौण मान कर केवल आर्थिक विषमता एवम् विद्रूपताओं का ही चित्रण अपने साहित्य में करता है और सौहार्द्र तथा सामंजस्य को ही महत्त्व देता है।

दलित साहित्य वर्तमान युग की अनिवार्य आवश्यकता है। यदि दलित साहित्य के युगीन सत्य का वर्तमान समाज व साहित्यकारों ने साक्षात्कार नहीं किया तथा वर्तमान की विसंगतियों और जटिलताओं को अनदेखा कर अतीत के ही मनुवादी संस्कारों के परिप्रेक्ष्य में अपनी कल्पनाओं के घोड़े दौड़ाते रहे तो निस्संदेह यह हमारे जीवन के संघर्षों, घात-प्रतिघात और आकांक्षाओं का चित्रण नहीं कहा जा सकता।

गैर दलित साहित्यकारों ने अतीत से वर्तमान तक दलितों की अस्मिता, स्वाभिमान और मानवीय अधिकारों को कोई महत्त्व नहीं दिया है। दलित पात्रों को मात्र भोग और विलासिता का माध्यम स्वीकारा गया है। फलस्वरूप नैतिकता और चरित्र को आज धूल-धूसरित होते हुए देखा जा रहा है। आज जिनके पास संपत्ति और सत्ता के साधन हैं, वे समाज की नीति और व्यवस्था पर अपना अधिकार जमाए हुए हैं। सुख-सुविधा और भोग वे अपने ही खाते में लिख रहे हैं।

समता-अस्मिता के उन्नायक दलित साहित्य ने वर्तमान परिवेश में परिवर्तन की लहर पैदा करते हुए सत्ता की सहभागिता हेतु जन-अभियान छेड़ दिया है किन्तु गैर-दलित साहित्यकार जानबूझकर इसकी उपेक्षा करते नहीं अघाते। वे तो आज भी नारी के मुखमंडल पर चन्द्रमा की आभा निहारते हुए चकोर का मन बनाए हुए हैं। सौंदर्य, शृंगार और चाटुकारिता के गीत अलापने वाले अनेक दिग्गज साहित्यकार बदलती हुई परिस्थितियों को नज़रअंदाज कर प्रतिक्रियावादी संकीर्ण मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति को ही साहित्य मान रहे हैं।

अनेक आलोचक, साहित्यकार, संपादक दलित साहित्य के वर्तमान स्वरूप को स्वीकारते हुए भी उसमें खामियां खोज रहे हैं। कला और सौंदर्य के समीक्षकों को दलित साहित्य में कला और सौंदर्य का अभाव नज़र आने लगा है। सावन के अंधों को चाहिए कि वे तीसरी आंख का भी प्रयोग करें। कला और सौंदर्य की कविताएं साहित्य को मनोरंजक अवश्य बना सकती हैं किन्तु मानव को सुन्दर नहीं बना सकतीं। मानवीय समता-अस्मिता से जुड़ा दलित साहित्य मानव को सुन्दरता प्रदान करने वाला है, न कि साहित्य को। दलित साहित्य का तो ध्येय ही विकृतियों के विरुद्ध संघर्षरत रहते हुए लोकमानस को जगाना है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र कहता है—"यदि शूद्र किसी वस्तु को चुराता है तो उसका हाथ काट दिया जाए, उसी वस्तु को वैश्य चुराए तो उसे फटकारा जाए, किन्तु ब्राह्मण चुराए तो उससे प्रार्थना की जाए कि वह दोबारा चोरी न करे।" कौटिल्य का यह कथन निष्पक्ष नहीं है। मनुवादी व्यवस्था ने इसी प्रकार का विधान दलितों के लिए स्थापित किया है जिसका अन्य वर्णों के साहित्यकारों ने कदापि विरोध नहीं किया।

इस प्रकार के अन्याय का विरोध सर्वप्रथम बुद्ध ने किया था। क्षत्रिय और राजकुमार होने के कारण वर्ण-व्यवस्था के पक्षधर इसका खुलकर विरोध नहीं कर सके और बुद्ध का संदेश विश्व के अनेक

देशों तक पहुंच गया। बुद्ध के पश्चात वर्णव्यवस्था के पक्षधरों ने बुद्ध के धम्म-प्रचारकों एवं अनुयायियों पर अमानुषिक अत्याचार किए और बौद्ध धर्म लुप्तप्राय हो गया। बुद्ध को नवम् अवतार घोषित कर बौद्ध धर्म पर ब्राह्मणों ने कब्जा कर लिया। बौद्ध साहित्य को लुप्त कर दिया।

दलित साहित्य हिन्दी साहित्य के विकास की एक धारा नहीं है, बल्कि आवश्यकता के अनुसार एक सामयिक सोच है जो दलितों के जीवन की सच्चाई को बिना किसी पूर्वाग्रह के व्यक्त करती है। दलित साहित्यकार किसी सुने-सुनाए पर विश्वास नहीं करते बल्कि गैर-दलित साहित्य को समय की कसौटी पर कस कर उसमें निहित खोट को नकारते और युग-प्रवर्तनकारी दलित साहित्य के सृजन को स्वीकारते हुए सत्ता-व्यवस्था में परिवर्तन के पक्षधर हैं। इस प्रकार समाज में बिखराव नहीं बल्कि बदलाव आएगा और उसे नई दिशा मिलेगी। यदि हिन्दूवादी साहित्य ने इससे कुछ सीखने की प्रेरणा प्राप्त की तो शायद उसमें जो ठहराव आया है, वह समाप्त हो जाएगा तथा उसे भी एक नई ऊर्जा प्राप्त होगी।

परंपरावादी गैर-दलित साहित्य जातिभेद और ऊंच-नीच के पुरातन संक्रामक रोग से निजात नहीं पा सका है। अब इसमें दलित, शोषित और सर्वहारा वर्ग का जीवन सुधारने की तनिक भी संभावना नहीं है। इसकी मृत्यु पर विलाप करना व्यर्थ है।

दलित साहित्यकार महामहिम राज्यपाल माताप्रसाद के अनुसार– ''दलित साहित्य केवल दलितों का लेखन नहीं है, बल्कि जिन्होंने भी दलित-पीड़ा का अनुभव करके उन पर साहित्य-सृजन किया है, वह सृजन दलित साहित्य की श्रेणी में आता है। अतः जो भी गैर-दलित, दलितों की स्थिति का वास्तविक चित्रण करता है, वह भी दलित साहित्यकार है।'' माताप्रसाद जी के कथन को स्पष्ट करते हुए मेरे विचार में जो साहित्यकार दलन का कारण खोज कर उसके निदान को भी व्यक्त करता है, वही दलित साहित्यकार है तथा उसके द्वारा सृजित साहित्य ही दलित साहित्य है।

डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी के अनुसार–''खून के बारे में लिखने के लिए खून करना आवश्यक नहीं है। साथ ही यह भी उतना ही सच है कि अन्य को अपने में समाहित करके जो अभिव्यक्ति की जाती है, वह उससे भिन्न होती है जो स्वयं अपने ही अंतरंग अनुभव से अर्जित किए गए आत्मबोध से आती है। इसीलिए दलित साहित्य में तिलस्मी, चमत्कारी, उदात्त, लोकोत्तर भाव देखने को नहीं मिलते। इसीलिए इस साहित्य ने दलितों की इंसानी और सामाजिक गरिमा को ही अपना सृजनाधार बनाया है।''

डॉ. अम्बेडकर के निर्देशानुसार दलित साहित्य दलितों को उनके दलित होने का अहसास कराने में लगा हुआ है। इसके कारणों की भी खोज कर रहा है और दलन-मुक्ति का मार्ग भी बता रहा है। डॉ. प्रेमकुमार मणि के अनुसार–''दलितों के लिए दलितों के द्वारा लिखा जा रहा साहित्य, दलित साहित्य है। यह विलास का नहीं, आवश्यकता का साहित्य है। सम्पूर्ण विज्ञान इसकी दृष्टि है और पीड़ित मानवता इसका इष्ट है।'' इस कथन से भले ही कोई पूरी तरह से सहमत न हो किन्तु भोगे हुए यथार्थ में क्रांति की कुलबुलाहट को नकारा नहीं जा सकता।

साहित्यकार बुद्धशरण हंस के अनुसार–''शौर्य और शृंगार-वर्णन से हिन्दी साहित्य की यात्रा प्रारंभ हुई है। राजपूतों के शासनकाल में हिन्दी साहित्य का जन्म हुआ है। जिन राजाओं ने दलितों का जितना अधिक शोषण किया, उनका उतना ही प्रतापी शासनकाल कहा गया। इसी काल को हिन्दी का आदिकाल कहा जाता है। हिन्दी साहित्य का आदिकाल दलित साहित्य का शून्य काल है। हिन्दी साहित्य का मध्यकाल भारतीय राजनीति की पराधीनता का काल है। सूफी सन्त और इस्लाम की शिक्षा–समता, स्वतंत्रता और भाईचारे ने दलितों को आकर्षित किया। सूफियों के प्रभाव से बेशुमार दलित-पीड़ित-उपेक्षित लोग मुसलमान बन गए। जो नहीं बने, उन दलितों के दिलों में हिन्दू व्यवस्था के प्रति घृणा और भी घनीभूत हो गई। फलस्वरूप दलित चेतना मुखरित हुई। सन्त कवि सरहपा, कोणदेव, नामदेव, दादू, पलटू, कबीर, रविदास आदि इसके प्रमाण हैं। मध्यकाल में दलित साहित्यकारों ने ईश्वर का सहारा लेकर दलितों के सम्मान और सुरक्षा की युक्ति निकाली।''

अंग्रेजी राज्य में ब्राह्मणवाद लहूलुहान हो रहा था और दलित जागृति करवटें ले रही थी। ज्योतिबाराव फुले की 'गुलामगीरी', महादेवी वर्मा का 'घीसू', प्रेमचन्द का 'ठाकुर का कुंआ', निराला का 'भिक्षु', डॉ. अम्बेडकर का 'शूद्रों की खोज' इसी आंदोलन का प्रस्फुटन है।

मिट्टी खोदने वाले, गिट्टी तोड़ने वाले, सड़कें और भवन बनाने वाले, खेतिहर मजदूर, रिक्शे, खोमचे और टमटम वाले, चरवाहे-हरवाहे और लकड़हारे, कुली, मेहतर, धान रोपने-बीनने वाले, धोबी, चमार, बंसफोड़, तेली-तम्बोली आदि दलित साहित्य के हीरो-हीरोइन बन गए हैं। आज दलित साहित्य में प्रखर-मुखर साहित्यकार पैदा हो गए हैं। दलित साहित्य की रफ्तार दिनोदिन तेज होती जा रही है। दलित साहित्य साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा बन गई है। बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय समर्पित इस विधा की अपनी पहचान बन गई है। आज दलित साहित्य न केवल लिखा जा रहा है बल्कि प्रशंसित और पुरस्कृत भी हो रहा है। दलित और गैर-दलित साहित्यकार दलन-मुक्ति के लिए निरन्तर दलित साहित्य की रचना कर रहे हैं।

दलित साहित्य दलितों को यह याद दिलाने का प्रयास करता है कि उन्होंने जो संघर्ष किया है और कर रहे हैं, वह अपने वर्ग को शोषण, अत्याचार और अन्याय से मुक्ति दिलाने का जीवंत संघर्ष है। आवश्यकता है दलित साहित्य को समता-अस्मिता के उन्नयन और दलन-मुक्ति के लिए व्यावहारिक बनाने की।

43/1 काव्यकुंज, कृष्णपुरा, मक्सीरोड, उज्जैन

('नयी कविता' के वरिष्ठ कवि डॉ. प्रमोद सिनहा से मजीद अहमद की बातचीत)

मेरे लिए सृजन का अर्थ आत्म-साक्षात्कार है

आजकल आप क्या लिख-पढ़ रहे हैं?

आपने लिखने और पढ़ने के विषय में तो पूछा, लेकिन एक बात तो आपसे छूट ही गई कि आप देखते क्या रहे हैं? इलेक्ट्रानिक मीडिया से जुड़े होने के कारण लिखने-पढ़ने की तरह देखना भी उतना ही अहम है।

जहां तक पढ़ने का ताल्लुक है, पढ़ना मेरे लिए एक हॉबी की तरह है। बिना पढ़े नींद नहीं आती, यह मेरी मजबूरी भी है। पिछले दिनों 'विश्व पुस्तक मेला– 1998' में से चुनी गई पुस्तकों की एक लम्बी कतार लें आया, जिनमें दर्शन, वास्तुकला, पेंटिंग, समाजशास्त्र ही नहीं, वैज्ञानिक अनुसंधान और उसकी प्रगति से भी सम्बन्धित पुस्तकें हैं। एक से थकने पर दूसरी उठा लेता हूं। और कभी बदलाव के लिए कथा, कविता और आलोचना साहित्य के साथ समय गुजारता हूं।

मेरे लिए लिखना मुश्किल काम हुआ करता है। बिना अत्यधिक आन्तरिक दबाव के लिखना सम्भव नहीं हो पाता, इसलिए कभी-कभी एक कविता पर काम करते ही लम्बा समय गुजर जाता है क्योंकि उन्हें लिखकर रखने, बार-बार पढ़ने और काटने-पीटने की आदत-सी हो गई है। तब कहीं निथर कर कोई चीज सामने आ पाती है। और जहां तक देखने की बात है–पिछले दिनों फिल्म फेस्टिवल की बहुत-सी अच्छी फिल्मों के कैसेट उपलब्ध हो गए। आजकल उन्हें भी देख रहा हूं। बचे हुए समय में न्यूज देखना मेरे लिए खाने-पीने की तरह ही जरूरी हुआ करता है। बस इसी तरह ज़िंदगी गुजर रही है।

डॉक्टर साहब, यदि साहित्य जीवन-मूल्यों की सतत् जाँच-प्रक्रिया है तो रचनाधर्मिता के तकाजे और सामयिकता के तकाजे के बीच संतुलन की तुला कहाँ है?

साहित्य जीवन मूल्यों की जाँच प्रक्रिया ही नहीं बल्कि आदमी के जीवित रहने का साधन भी है। इससे हम न केवल अपनी पहचान पाते है बल्कि हम कहाँ, कैसे और किस रूप में आगे आएं? जहां खड़े है, वहीं उन पगडंडियों पर भी सतत् मार्गदर्शन पाते है कि हम जा कहां रहे है? साहित्य ने हमें जीना सिखाया और एक बेहतर सोच की प्रक्रिया को जन्म दिया है, जिस पर चलकर आज हम एक चौराहे पर खड़े हैं। रचनाधर्मिता कोई आरोपित वस्तु नहीं, वरन् एक आन्तरिक प्रक्रिया है जिसका वहन जाने-अनजाने किया जाता है। सामयिकता एक तात्कालिक उपज है जबकि रचनाधर्मिता एक लम्बी प्रक्रिया। यह दूसरी बात है कि कभी-कभी सामयिकता का दबाव भी रचनाधर्मिता को प्रभावित करता है। और उसका संतुलन जीनियस के सोच और उस सोच के घनत्व पर भी निर्भर करता है।

आप 'नयी कहानियां' के सम्पादक भी रहे हैं। लेखक और सम्पादक के बीच आप क्या अन्तर महसूस करते हैं?

सम्पादन मेरा पेशा नहीं रहा है। यह एक समय, एक स्थिति थी कि भैरवप्रसाद गुप्त, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, अमृतराय के बाद 'नयी कहानियां' का सम्पादन मुझे करना पड़ा। यह बहुत सुखद अनुभव इसलिए भी नहीं था, क्योंकि उषा चौधरी के स्वामित्व में निकलने वाली इस पत्रिका का आर्थिक पक्ष भी मुझे ही संयोजित करना पड़ता था। यह दायित्व सम्पादन के एक अतिरिक्त आयाम की तरह था। वे मेरे संघर्ष के दिन थे और मैं लगातार लेखन और सम्पादन के बीच एक टकराहट को महसूस कर रहा था। एक तरफ 'नयी कहानियां' जैसी पत्रिका की बढ़ती हुई साख और उसकी प्रसार संख्या, दूसरी तरफ मैनेजमेण्ट की समस्याओं में लगातार उलझते जाना भी अपने आप में लेखकीय और सम्पादकीय समस्याओं से भी अधिक सिर खपाने की बात हुआ करती थी। लेखन और घर-बार की समस्याओं के बीच मैं लगातार टूटता और टकराता रहा था।

लेखक खुद अपने को प्रस्तुत करता है। लेखक खुद अपनी सोच और अपनी रचनाधर्मिता और सामाजिक सरोकारों से संबद्ध है जबकि सम्पादक का दायित्व लेखक की निजता को सही रूप में प्रस्तुत करना है और उसे सही माध्यम से प्रोजेक्ट करना या उस खाने में रखना है, जिससे उसकी पहचान बन सके और उसकी रचनात्मक धार को हाशिये पर न रखा जा सके। क्योंकि रचनाधर्मिता का छोटा-सा अंश भी स्फोट कर सकता है और पूरी सामाजिकता को गतिशीलता प्रदान करता है। लेकिन ऐसा तभी हो सकता है जब उसे सही ढंग से प्रस्तुत

किया जा सके और यही दायित्व सम्पादक का है। उस रचनाधर्मिता के स्तर पर सम्पादन का कार्य निभाना पड़ता है।

समकालीन समस्याएं ही साहित्य का कच्चा माल बनें, यह कहां तक तर्कसंगत है? क्या पौराणिक और ऐतिहासिक इतिवृत्त आज अप्रासंगिक हैं?

यह बहुत आवश्यक नहीं है, लेकिन आदमी की सोच, उसकी अनुभव-सम्पन्नता, समस्याओं से टकराहट, अनुभव और अभिव्यक्ति की धार समकालीन टकराहट से ही मंजती है। व्यक्ति का जुड़ाव उनसे और उनके नतीजों से हुआ करता है। वही अनुभव की सीधी पकड़ में आते हैं। और आदमी उनके विभिन्न आयामों से परिचित होता है, लेकिन कभी-कभी वर्तमान समस्याओं की प्रासंगिकता अतीत की उलझनों को भी सुलझाने में मदद करती है। और इस तरह समस्या और सवालों से लगातार टकराहट गतिशीलता प्रदान करती है। व्यक्ति यदि अतीत की समस्याओं में ही केवल उलझा रहे तो वर्तमान की बातों को सुलझाना थोड़ा मुश्किल हो जाएगा और वह तर्कहीन सवालों के अकूल दायरे में नष्ट होगा या समा जाएगा।

एक दूसरे नजरिए से देखें तो अतीत की समस्याएं नहीं भी हुआ करतीं, क्योंकि वर्तमान से मुड़कर जब इतिहास की ओर देखेंगे तो पाएंगे कि समय की धार ने अपने तई समस्याओं का निपटारा खुद कर लिया है। यह निपटारा गलत हो या सही, हम चाहकर भी उस अतीत को नहीं बदल सकते। हमारी जिम्मेदारियां अतीत के प्रति अनुभव-सम्पन्नता से लाभ उठा सकती हैं।

यह सच है कि समकालीन समस्याएं ही अपने विभिन्न आयामों में साहित्य और सोच के माध्यम से अपनी क्रियाएं बदलती रहती हैं। व्यक्ति वर्तमान की समस्याओं से अलग भी तो नहीं हो सकता, क्योंकि यह उसके जीने, मरने और आगे बढ़ने के प्रश्नचिह्न से पूरी तरह सम्बन्धित है। संवेदना के इसी धरातल के कारण समकालीन समस्याओं की बुनावट काल-सापेक्ष रूप में उभरकर सामने आती है। वैचारिक धरातल के कारण इनके कई रंग होते हैं। जहां तक पौराणिक और ऐतिहासिक इतिवृत्तों का सवाल है, वे आज भी प्रासंगिक हैं, पर वे उन्हीं अर्थों में प्रासंगिक हैं, जिनमें वे प्रतीक रूप में घटित हुए थे। बदली हुई परिस्थितियों में यदि उन्हें ज्यों का त्यों रख दिया जाए तो इतिहास और उसके द्वारा निर्मित मूल्यों का विकास रुक जाएगा। और पूरे सामाजिक परिदृश्य को सही अर्थों में देखने का नजरिया ही खो जाएगा। जैसे, वाल्मीकि के राम को तुलसीदास ने यथावत् नहीं स्वीकार किया, उसमें अपनी समकालीनता की सम्पूर्ण गरिमा और उसकी सोच को भी प्रतिष्ठा दी। कालान्तर में मैथिलीशरण गुप्त के इसी पौराणिक पात्र का विकास अपनी समकालीनता में हुआ। इसी तरह हम देखते हैं कि पौराणिक वृत्तों को भी प्रतीकात्मक अर्थों में ही सही, लेकिन रचनाकारों ने [illegible] मिता के संदर्भों से ही जोड़कर देखा और उसके चरित्रगत मूल्यों का स्वतः विकास होता गया है। उनमें इतिवृत्त जुड़ते गए हैं। जहां रुके, वहीं उन्होंने अपनी प्रासंगिकता खो दी है।

सृजन का अंतिम लक्ष्य क्या है?

मेरे लिए सृजन का अर्थ आत्म-साक्षात्कार और अपना परिष्कार है। इस रचना-प्रक्रिया के दौरान मैं बेहद सुकून महसूस करता हूं। जैसे किसी भीतरी बेचैनी से निजात पाता हूं। सब कुछ ठीकठाक गुजर जाने के बाद मैं बड़ा रिलैक्स महसूस करता हूं, लेकिन इसे किसी मैकेनिकल तरीके से नापा नहीं जा सकता और न इस आनन्द की सीमा ही बताई जा सकती है। मैंने महसूसा है और मुझे लगा है कि जैसे हर रचना-कर्म के बाद मैं पुनर्जीवित हो गया हूं। यह पुनर्जीवित होना मेरे लिए नए सिरे से पैदा होने की तरह है।

कहा जाता है कि भोगा हुआ यथार्थ ही साहित्य को अधिक प्रभावशाली बना देता है। दूसरों के अनुभव क्या साहित्यकार के लिए नगण्य हैं?

भोगा हुआ यथार्थ एक जार्गन की तरह नयी कहानी आन्दोलन के दौरान इस्तेमाल किया जाने लगा और उन अर्थों में यह शब्द रूढ़ हो गया है। लेकिन उससे अलग हटकर देखें तो यथार्थ शब्द अर्थ-सापेक्ष है। एक ठस आदमी और एक संवेदनशील व्यक्ति के लिए यथार्थ का अर्थ भिन्न-भिन्न स्तर की संवेदना को जन्म देता है, बल्कि यूं कहें कि इसका एक धरातल विभिन्न संवेदनशील व्यक्तियों को भी अलग-अलग तरह से स्पन्दित करता है। व्यक्ति जिस चीज को जीता नहीं या महसूस नहीं करता, उसे वह लिख नहीं सकता। गहराई से महसूसने की शर्त पहली है। कभी-कभी हम दूसरे के अनुभव से भी इतना तादात्म्य कर लेते हैं कि वह संवेदना भी अपनी लगती है और आन्तरिक दबाव की प्रक्रिया भी रचनात्मकता को उसी तरह आन्दोलित करती है, लेकिन सवाल उस अनुभव से गुजरने और उसी स्तर पर महसूसने का है। दूसरों का अनुभव साहित्यकार के लिए नगण्य नहीं बल्कि संवेदना के धरातल पर छीजी हुई पूंजी की तरह रहा है, उनका उपयोग हमेशा से होता रहा है। बात सिर्फ महसूसने और उस स्तर पर बात को उठाने की है।

भावनात्मक रूप से इलाहाबाद को आप कैसे व्याख्यायित करेंगे? जो शहर साहित्य के दिग्गजों की साधना-स्थली रहा है, वहां से अब कोई भी खतरे की घण्टी सुनाई नहीं देती, आखिर क्या सोचते हैं आप?

ऐसे देखें तो किसी शहर को भावनात्मक रूप से व्याख्यायित करना दूसरों के लिए चाहे जैसा भी हो पर मेरे लिए बहुत कठिन है,

क्योंकि व्यक्ति तटस्थ नहीं रह पाता, और उसकी निःसंगता पर सवालिया निशान लग जाता है। मुझे तो महाकाव्यों में महाभारत, और नगरों में प्रयाग जाने क्यों शुरू से ही आकर्षित करता रहा है।

कुछ मिलाकर यह सवाल मुख्य धारा और इसकी पहचान का है जो कि आपको परेशान कर रहा है। ऐसा नहीं है कि दिल्ली आज के साहित्य का गढ़ हो गया है और यहां दूसरी जगहों से आए हुए साहित्यकार अपने को मुख्य धारा में डूबते-उतराते हुए सगवोर पा रहे हैं। मुख्य धारा के सम्बन्ध में डॉ. नामवर सिंह ने एक बड़ी अच्छी बात कही थी। मध्यकाल में अकबर के शासन के समय साहित्य, राजनीति और पूरी संस्कृति के वाहक रूप में आगरा मुख्यधारा के रूप में देखा जाता था और पहचान भी इसी रूप में थी, तब गुसाईं तुलसीदास चित्रकूट जैसी छोटी जगह में रहकर 'रामचरित मानस' की रचना कर रहे थे। वे शोर-शराबे और तथाकथित मुख्यधारा से अलग समझे गए, पर आज रचना के माध्यम से देखा जाए तो तुलसीदास मुख्य धारा में हैं और अकबर के दरबारी साहित्यकार अपनी जगह पर नज़र आते हैं।

आपके सवाल के उत्तर में केवल इलाहाबाद को इस नजरिए से देखना, बातचीत को ओलार कर देना होगा। मैं इलाहाबाद के साथ वाराणसी का नाम लेना चाहूंगा। इन दोनों शहरों की जागरूकता ही कुछ इस तरह रही कि जो बात इसमें है... इलाहाबाद सत्ता-केन्द्र से अलग छायावाद युग से पहले भी साहित्य का केन्द्र रहा, ब्रजभाषा के दिनों में भी यह अपनी गरिमा पर था, लेकिन अपने होश में मैंने छायावाद से अब तक प्रयाग को जितना देखा, उससे मुझे लगा कि आपसी मेल-जोल और विचारों की टकराहट से बातें निखरती गई। इस माहौल को पैदा करने में वहां के लोगों का जबर्दस्त सोच और एका भी रहा है। हां, यह भी बात है कि इतिहास स्वयं में ही निर्णायक होता है। वह अपने अनुकूल पात्र की तलाश कर लेता है। यह महज आकस्मिक घटना नहीं है कि फिराक, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी, निराला प्रयाग में और जयशंकर 'प्रसाद', प्रेमचंद जैसे लोग वाराणसी में स्थापित हो गए। तदनन्तर प्रगतिशील आन्दोलन और 'परिमल' का दौर भी प्रयाग से ही सम्भव हो सका जिसमें आज के सभी शीर्षस्थ लेखक किसी न किसी रूप से यानी सीधे या तिरछे रूप में जुड़े रहे और राष्ट्रीय परिदृश्य पर साहित्यिक आन्दोलनों में अपना योगदान करते रहे, एक दूसरे के लेखक सम्मेलनों में साथ-साथ भाग लेते रहे—चाहे वे बच्चन भाई हों या प्रकाशचन्द्र गुप्त, भैरवप्रसाद गुप्त या अज्ञेय, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, गिरधर गोपाल, केशवचन्द्र वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश, धीरेन्द्र वर्मा, लक्ष्मीनारायण लाल, लक्ष्मीकांत वर्मा हों या उपेन्द्रनाथ अश्क, शेखर जोशी, अमरकांत, दूधनाथ सिंह, शैलेश मटियानी हों या वाचस्पति पाठक। सभी ने मिलकर इसका यानी शहर संस्कृति का रूप निर्धारित किया है और यह एक दिन में नहीं हो सका है।

आज दिल्ली से बाहर भी छोटी-छोटी जगहों में अच्छा और बहुत अच्छा लिखा जा रहा है। और सुदूर ग्रामों में बैठे हुए रचनाकार जिस तटस्थता से सारी बातों को चकाचौंध से दूर रहकर जो लिख-पढ़ रहे हैं या कार्य कर रहे हैं, वह भी नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता है।

अक्सर पत्रकारिता के लिए कहा जाता है कि वह हड़बड़ी में लिखा हुआ साहित्य है?

मैं नहीं मानता कि पत्रकारिता हड़बड़ी में लिखा गया साहित्य है। यदि ऐसा होता तो जितने हड़बड़ी में लिखने वाले हैं, सभी पत्रकार हो गए होते।

मैं मानता हूं कि पत्रकारिता का साहित्य भी सृजनात्मक लेखन की तरह है। उसका खबरची से लेकर संपादक तक—उसी रचनात्मकता से प्रेरित है और उससे होकर गुज़रता है—जैसे कोई साहित्यकार अपनी रचनाओं की प्रसव-पीड़ा महसूस करता है। जितनी बड़ी खबरों को आकार देने की शिद्दत खबरची और सम्पादक में होगी, वह उतना ही मूल मुद्दों को पत्रकारिता में आकार दे सकेगा और उसे प्रभावशाली बना सकेगा। यही कारण है कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, गणेश शंकर विद्यार्थी, धर्मवीर भारती, अज्ञेय, रघुवीर सहाय और राजेन्द्र माथुर की पत्रकारिता ने न केवल एक दूसरा आयाम दिया है बल्कि दूसरों के लिए मानक भी स्थापित किया है और ये एक नजीर की तरह पेश किए जाते हैं। यह रचनात्मक साहित्य से किसी भी तरह कम नहीं है, बल्कि दायित्व की दृष्टि से यह प्रजातन्त्र का चौथा आयाम भी प्रस्तुत करता है। एक पाये की तरह है।

पहले बतकही का अपना एक अलग रोमांस होता था, वह आज लुप्त होता जा रहा है?

बतकही का रोमांस गुमसुम और आत्मलीन रहने वाले लोग क्या जानें! प्रयाग में वे भी क्या दिन थे... केशवचंद्र वर्मा, धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकांत वर्मा जब घण्टों सिविल लाइन्स और चर्च के चारों ओर चक्कर लगाने में निकाल देते और दुनिया-जहान की बातें एक सिरे से दूसरे सिरे तक बहस का मुद्दा बनतीं। जो चीजें छनकर सामने आतीं, उन पर बड़े-बड़े निर्णय लिए जाते थे। गोष्ठियां ही नहीं, लेखक-सम्मेलन आयोजित होते थे। बात जीरो से चलकर सौ तक पहुंचती। बहस के मामले में साही और फिराक को भी सुनने का कई बार मौका मिला। एक बार बातें शुरू हो जातीं तो न समय का भान रहता और न यही कि कौन आया, कौन गया। कभी-कभी नाश्ते पर चली हुई बात खाने के समय तक भी खत्म न होती और उसे दूसरे दिन के लिए भी मुल्तवी कर दिया जाता और दूसरे दिन जहां पहले दिन बात खत्म हुई थी, वहीं से शुरुआत की

जाती, पर न साही अपनी जगह से खिसकते थे और न [illegible]। 'परिमल' की गोष्ठियां और कॉफी-हाउस की बहसें मशहूर हैं। मैं समझता हूं कि उन बहसों को रिकार्ड किया जाता तो अब तक पचासों खण्ड निकले होते और मूर्त या अमूर्त रूप से साहित्य, समाजशास्त्र, शिल्प, राजनीति और न जाने कितनी विधाओं में बहुत कुछ प्रामाणिक जानकारी जुड़ती और दूसरों को मिलती। विजयदेव नारायण साही घूम-घूमकर की गई बहसों को सड़क-साहित्य कहा करते थे। पढ़ने और बहस करने के मामले में वे जितने धारदार थे, लिखने के मामले में उतनी ही अलाली करते थे। बहुत कम लोगों को मालूम होगा कि दस-दस घण्टे लगातार बतकही में बिताने वाले साही ने 'नयी कविता' में छपने वाले 'लघुमानव के बहाने नयी कविता पर एक बहस' को दिन-दिन भर में एक-एक, दो-दो पृष्ठ लिख कर प्रेस में दिया था।

ऐसे हमारे प्राचीन साहित्य में भी बतरस का बड़ा गुणगान है, उसका माहात्म्य है। परनिंदा और उखड़ी, जमी हुई बातों की बिना सींग-पूंछ के शुरुआत किसी भी तरफ से की जाए, लेकिन वे रेखाचित्रों की तरह अपनी जगह बना ही लेती हैं, लेकिन बतरस परनिंदा ही नहीं हुआ करता। दुनिया का कोई ऐसा विषय नहीं है जो उसके अन्तर्गत न आता हो और उसकी समाजशास्त्रीय व्याख्या न की जाती हो।

लेकिन आज बड़े शहरों में समय और दूरी पर ही सारी मियाद केन्द्रित होने के कारण बतरस की गर्मजोशी भी धीरे-धीरे ठण्डी होती जा रही है। और आदमी दहकती स्थिति में भी आत्म-केन्द्रित होता चला जा रहा है। वह बातचीत की जगह स्वगत और एकालाप करता है या फोन पर हुई बातचीत में....। यह बड़े शहरों की अपनी मजबूरी है, जिसमें सामाजिकता कम और निजता भी छीजती जा रही है।

पाठक अपने लेखक के बारे में भी बहुत कुछ जानने को उत्सुक रहता है—उसका स्वभाव, उसका रहन-सहन, व्यक्तिगत रुचियां-अभिरुचियां, अनुभव के दायरे... पर प्रायः होता यह है कि बहुत सारे लेखक अपने व्यक्तिगत जीवन की बहुत-सी बातें बताना नहीं चाहते....

लेखक के विषय में पाठकों की उत्सुकता आज के संदर्भ में नहीं, पहले भी रही। ठीक वैसे ही, लेखक भी यह जानने को उत्सुक रहता है कि पाठकों की उसके प्रति क्या प्रतिक्रिया है। यह सहज है क्योंकि लेखक का अनुभव-संसार ही उसकी रचनाओं में अदल-बदल कर प्रत्यक्ष या परोक्ष कमोबेश रूप से सामने आता रहता है। प्रेमचंद और फणीश्वरनाथ रेणु पर हुए शोध से यह बात भी साबित होती है कि प्रेमचंद और रेणु के बहुत से पात्र उनके मित्र, पड़ोसी, हरवाहे-चरवाहे या गाँव-गिराँवा या उनके अपने जवार के लोग रहे हैं।

देखा जाए तो सवाल का उत्तरार्द्ध अजीब लगता है। लेखक द्वारा अपनी व्यक्तिगत जिंदगी को उघाड़ कर खुद को बताने के सिवा रहता ही क्या है? सब कुछ अभिधा में कहना अच्छा नहीं लगता और ऐसा जरूरी भी नहीं है।

सवाल यह है कि रचनात्मक स्तर पर जो भी साहित्य है, हमें उसी रूप में देखना चाहिए पर इतने से लोगों की जिज्ञासा तो नहीं शान्त होती। वे परदे के भीतर का भी जानना चाहते हैं। यदि ऐसा उत्सुकतावश भी चाहते हैं तो वह उनका अपना हक है। उसके विषय में मुझे कुछ नहीं कहना।

आप डॉ. जगदीश गुप्त के निकट रहे हैं...

डॉ. जगदीश गुप्त मेरे अध्यापक ही नहीं थे, 'परिमल' में मैं उनका सहायक संयोजक था। उनके साथ कई लेखक-सम्मेलनों को संयोजित करने का अवसर मिला और मैंने देखा कि वे वैचारिक भिन्नता के बावजूद लोगों से किस तरह तालमेल बैठाते हैं और उदारतापूर्वक सम्बन्धों का निर्वाह भी करते हैं।

मैं उनके साथ 'नयी कविता—अंक 7' से जुड़ा। अंक-8 तक आते-आते विजयदेव नारायण साही और जगदीश गुप्त ने मुझे 'नयी कविता' का सहयोगी सम्पादक भी बना दिया।

डॉ. जगदीश गुप्त बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी हैं। वे कवि हैं, चित्रकार हैं, पुरातत्ववेत्ता और कविता के आलोचक, संपादक हैं, दूसरी ओर गुजराती और हिन्दी के कृष्ण-साहित्य के शोधकर्ता हैं। उन्होंने न जाने कितनों को शोध की प्रेरणा दी और इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कराए हैं, जो एक मानक की तरह हैं, लेकिन बहुआयामी व्यक्तित्व और इतने विभिन्न आयामों में एक साथ दूर-दूर तक काम करने वाले व्यक्ति के लिए निजता की स्थिति में कुछ छूटने की बारीकियां भी रहीं और अपने कार्यों में अत्यधिक व्यस्तता के कारण परिवार और घर को उतना समय नहीं दे सके, जितना माता जी, घर और बच्चों के लिए अपेक्षित था। प्रायः यह दुखान्त हर बड़े व्यक्तित्व के साथ होता है। फिराक, भारती और लक्ष्मीकांत वर्मा के साथ भी यही हुआ। यदि जीनियस इतना ही संयोजित, संयमी, संतुलित और व्यावहारिक रहे तो...। वह अब तक ऐसा देखने में नहीं आया है। कुल मिलाकर मेरे लिए इस सवाल पर कुछ भी कहना बड़ा मुश्किल हो रहा है और मैं बेचैनी का अनुभव कर रहा हूं। फिलहाल इतने बड़े व्यक्तित्व पर कुछ कहने के लिए इस समय मैं तटस्थता नहीं महसूस कर रहा हूं। पर एक बात निश्चित रूप से कहना चाहता हूं, जो कभी भूल भी नहीं सकता—कि मैं डॉ. जगदीश गुप्त की प्रेरणा से ही प्रयाग में लिख-पढ़ सका... और अपने कठिन संघर्षों से उबर कर जीवित रह सका। उन्होंने मुझे संस्कारित किया और जीवित रहने की प्रेरणा दी, इसके लिए यदि उनका ताउम्र आभारी रहूंगा कहूं तो भी एक छोटी बात होगी।

सम्पर्क—प्रमोद सिनहाः आकाशवाणी भवन, नई दिल्ली-1

कुसुम अंसल

अपना आप

दर्द की गोलियां, पानी का गिलास... निगल लेती है। दर्द की बवंडरी फुंकार के साथ चिंता की लहर बहने लगती है—शरीर का दर्द असह्य क्यों है? उसकी सह जाने की शक्ति का क्या हुआ? देह पीली भी पड़ गई है और कंपकंपी, दर्द के बाद क्या होता है? चीरफाड़ या फिर, मृत्यु। मृत्यु से वह नहीं डरती परन्तु चीरफाड़ वह सहना नहीं चाहती. शरीर और दर्द का यह महाभारत कब तक चलेगा? यह डाक्टर भी कुछ नहीं बताता। जब दर्द शरीर पर ज्यादा हावी हो जाता, वह विवश पलंग पर लेट जाती थी, अपार्थिव शरीर पार्थिव हो जाता था, जब तब। राजीव बाहर गया है, उसके फोटोग्राफी के सैशन, एसाइनमेंट्स उसे व्यस्त रखते हैं। फोटोग्राफी उसके लिए पेशा नहीं, उन्माद जैसा है। यदि घर भी लौटता तो देश के किसी न किसी कोने में घटित घटनाएं, दुर्घटनाएं, हादसे.... मौत उसे खेंच कर ले जाते। बीमारी भी तो एक दुर्घटना ही है, जिसे देख पाने का समय राजीव के हैवी शिड्यूल में कहीं नहीं है। घर की छत एक ही है—प्रवेश का द्वार एक ही है....। परन्तु कमरे ऊपर-नीचे के हैं। नीचे के कमरे में आते हैं—कामकाजी लोग, मॉडल्स या.. परन्तु उसके कमरे में आता है कोने के पॉलिक्लिनिक का एकमात्र डाक्टर। वह पता नहीं क्यों इतनी बीमारी के गहरे अंधेरे में धंसती चली जा रही है। क्या होती है बीमारी? शरीर के भीतरी तारतम्य का अव्यवस्थित हो जाना, भीतर का तारतम्य व्यवस्थित कब था? उसके और राजीव के भीतर का संगीत तो सदा उखड़ा ही रहा, पता नहीं क्यों इस जन्म में अनेक प्रयासों के बावजूद जुड़ा ही नहीं। राजीव फोटोग्राफर था, पूरी तरह अपने पेशे को समर्पित। उसका सरोकार सौन्दर्य से था, सौन्दर्य शरीर का, ऊपरी सतह का या फिर उस भोंडी वास्तविकता का, जो कटे-फटे दुर्घटना-ग्रस्त चेहरों में होती है—फोटोजेनिक स्किल। राजीव का उनसे जुड़ाव जैसा था, उन्हीं के आकर्षण के अदृश्य तारों में बंधा वह घर से बाहर चला जाता था। उसका यों कुछ दिनों या महीने भर को चले जाना, उसकी अनकही वितृष्णा ही तो थी—नीना के प्रति या उनके विवाहित जीवन के प्रति? नीना सोचती तो उसे लगता, उसके भीतर की समूची संवेदनशीलता, उसकी बुद्धिजीविता, उसका विश्वविद्यालय का उन्नतिपूर्ण भविष्य, सब बेरुखी की एक सफेद चादर में ढका रह गया है—राजीव ने उसे कभी देखने का, जानने का प्रयास नहीं किया। कभी वह अपनी नई वैज्ञानिक रिसर्च या उससे जुड़ी कोई बात कहती तो वह डांट कर कहता—"छोड़ो अपनी ये प्रोफेसरी, कम से कम मेरे ऊपर तो मत बघारो।" तो उसकी चुप पर एक और ताला आ लटकता। दीवार पर पुरानी तस्वीर टंगी थी, काली सफेद—समय की मिट्टी से ढकी हुई पुरानी स्मृतियों को उकेरती हुई। यह उसकी पहली तस्वीर थी जो राजीव ने शादी के बाद खेंची थी—साधारण-सा चेहरा, दो लम्बी चोटियाँ। उसे याद है, चित्र को देख कर राजीव के सुदर्शन व्यक्तित्व और भीतर के फोटोग्राफर ने कहा था—"ये चेहरा है या कास्टेड मास्क! नीना, तुम्हारे चेहरे पर कोई भाव ही नहीं है... इतनी स्टिफ क्यों हो, बहुत पढ़े-लिखे होने की अकड़, तो मैं यह कभी बरदाश्त नहीं करूंगा... ओ.के.।" वह झटक कर चला गया था और

नई ब्याहता नीना उस झटके में उलझ कर रह गई थी... उसका चेहरा क्यों है मुखौटे जैसा? बाबूजी कहते थे— चेहरा आत्मा का प्रतीक होता

है—चेहरे के भाव आत्मा के प्रभाव के स्थायीकरण की आवृत्ति होते हैं। चेहरे से आदमी की पहचान बनती है। इसीलिए बाबूजी ने उसे इतना अधिक पढ़ाया और उन्हीं बेहिसाब डिग्रियों के कारण यूनिवर्सिटी के उच्च पद पर आयुक्त वह—मात्र राजीव को ही प्रभावित नहीं कर पाई है। राजीव केवल ऊपरी पहचान तक रुका है—शरीर भर उसका साथी है, चेहरा नहीं। उसे वह बेजान मुखौटे की तरह अनदेखा कर देता है। नीना ने राजीव की फोटोग्राफी की किसी पुस्तक में पढ़ा था—अठारहवीं सदी के लगभग, उस कालखंड के राजा-महाराजाओं या महान जाने-माने व्यक्तियों की मृत्यु के समय चेहरों के मास्क बनाए जाते थे। उस समय की मान्यता थी कि मृत्यु के क्षण मनुष्य के चेहरे पर जो भाव उजागर होते हैं, वे उसकी वास्तविकता के द्योतक होते हैं, अच्छे-बुरे जैसे भी हों। उस स्थायी भाव को मुखौटों की मिट्टी पकड़ लेती थी। नीना जब फैलोशिप पर अमेरिका गई थी तो उसे प्रिंसटन यूनीवर्सिटी में ऐसे बहुत-से मास्क देखने को मिले थे। कैसी फुरफुरी-सी उठी थी शरीर में! ढेर से मरे हुए चेहरे, आखिर क्यों सहेजकर रक्खे हैं? पता चला, ये मास्क उन व्यक्तियों के प्रोर्ट्रेट्स या तैलचित्र बनाने के काम आते थे। राजीव मदर टेरेसा की मृत्यु की फोटोग्राफी के लिए कलकत्ता गया हुआ था। हो सकता है, उनका भी कोई मास्क बना दे। तो? हो सकता है बन गया हो। फिर मौत? नीना मौत के बारे में क्यों सोचे जा रही है—वह जीवित है, यह दर्द जीवित है। पर इस समय शायद भूख लगी है—नौकर को खाना लाने को कह कर नीना पलंग पर पैर सिकोड़ कर बैठ जाती है। मीनल आ धमकती है—"अरे दीदी, ये खा रही है, खिचड़ी, ठीक से कभी तुझे खाते नहीं देखा, कितनी पीली-सी हो गई है—अपना ख्याल क्यों नहीं रखती?"

"बस मुझे तुम्हारा यही जुमला अच्छा नहीं लगता! तुम्हारा अपना आप, व्यक्तित्व, वजूद, कुछ नहीं है? मैं तो बड़े स्टाइल से अच्छे से अच्छा खाती हूं, अच्छा पहनती हूं, आई लिव फार माईसेल्फ।" वह नौकर को बुलाकर समझाती रही, डांटती रही—उसका सरोकार अच्छा लगा नीना को। पूरे संसार में कोई तो है अपना।

वह भी बीमारी नहीं जानती—सगी छोटी बहन, "ठीक है मीनल, अकेला आदमी क्या पकाए, क्या खाए? फिर मेरा क्या है?"

"बस मुझे तुम्हारा यही जुमला अच्छा नहीं लगता। तुम्हारा अपना आप, व्यक्तित्व, वजूद, कुछ नहीं है? मैं तो बड़े स्टाइल से अच्छे से अच्छा खाती हूं, अच्छा पहनती हूं, आई लिव फार माईसेल्फ।" वह नौकर को बुलाकर समझाती रही, डांटती रही—उसका सरोकार अच्छा लगा नीना को। पूरे संसार में कोई तो है अपना। बाबूजी ने मीनल को अलग तरह से पाला था। शायद मीनल का व्यवहार आरम्भ से ही ऐसा था, जितनी वह कम पढ़ाकू थी उतनी अधिक लाड़ली थी। दो बच्चों के बाद भी कितनी सुन्दर है—वैसी की वैसी तराशी हुई देह, स्मार्ट। "इतनी उदास क्यों है दीदी, फिर झड़प हुई, क्या राजीव से? फिर कहा होगा, कोठी बेच दो, मुझे स्टूडियो बनाना है, और फिर तुम्हारी चुप्पी.... दीदी, जीतू भी मुझे बार-बार कह रहा है, कोठी क्यों नहीं बेचती—छोटे शहर में प्रापर्टी की वैल्यू भी क्या है।" राजीव हो या जीतू.. . बस इसी बात पर अड़े हैं, कोठी बेच डालो, उनके हित के लिए... नीना, मीनल, उनका बचपन, बाबूजी, यादों से जुड़ी चौखट, चारदीवारी—उनका अपना आप कुछ नहीं है क्या.. . उनकी इच्छा?

"बहुत सालों से खाली भी तो पड़ी है... पिछले कितने सालों से हम लोग कभी गए भी नहीं है... ताऊजी का पोता विदुर भी तो कई चक्कर लगा चुका है... आप सोच लो, निर्णय आपका होगा, आपको अपने लिए चाहिए तो मेरा हिस्सा आप विदुर को बेच दो, आपका तो फेवरेट है वो।"

मीनल चली जाती है, नीना को 'अपने-आप', 'अपने लिए' जैसे शब्दों के कटघरे में खड़ा करके अपने पास, अपने बहुत निकट छोड़ जाती है... मीनल, क्या प्यार करती है उससे? शायद हाँ, शायद ना! शायद वह केवल 'अपने-आप' को प्यार करती है। जीतू—भोंडा, अमीर, जीनेन्द्र कुमार... आदमी न होता तो भैंस होता। मीनल की, सुन्दर मीनल की, लव-मैरिज है। देश-विदेश घूमता जीतू मीनल को शो-पीस जैसा सजाधजाकर रखता है। नीना उसे भी प्रोफेसर, स्टिफ, स्त्री कम, पागल ज्यादा लगती है—इतना चुप क्यों रहता है कोई? इतनी सख्त बर्फ की दीवार.... किसी को क्या पड़ी है जो फलांगे, किसलिए?

राजीव भी तो प्यार की देहयात्रा के क्षणों में उसे ऐसे लेता जैसे कैमरे को पकड़ रहा हो—वासनामय, उद्दाम पलों में उसकी दो आंखें ऐसे सजग रहती हैं जैसे वह लैंस से मात्र दृश्य को देख रहा हो—प्रेम की उदात्तता वास्तविकता न होकर दृश्य हो जाती—फोकस मात्र उसकी अपनी इच्छाएँ। नीना निरर्थक खण्डहरी उथली ज़मीन पर खड़ी रह जाती है। आश्चर्य, राजीव की इच्छाओं में बच्चे का भी कोई स्थान नहीं था... तब भी अकेली नीना को चुनाव करना था—बच्चा या उसका कैरियर? फैलोशिप पर अमेरिका जाने का ऑफर। एबार्शन के बाद मीनल साथ थी। अपरिभाषित मौन के बीच नीना ने ही कहा था—"मीनल.... मुझे पहले तो कभी लगता था, राजीव के घोड़े दौड़ समाप्त करके अपने अस्तबल में लौट आएंगे परन्तु अब शायद वे दूर निकल गए हैं—मैं ही असमर्थ थी। राजीव को स्वतन्त्रता चाहिए—मेरी बनाई संगति उसे बंधन लगती थी और फिर मेरी ऊर्जा भी तो एक ही

शिखर पर केन्द्रित थी—अब यदि उस शिखर तक पहुँचना है तो... फिर, बच्चे का व्यवधान क्यों...?"

"अपने लिए तुम्हें कुछ नहीं चाहिए... अपना बच्चा, अपने सुख-दुख, बुढ़ापे का साथी... अपना इंटैलिजैंस किसी को तो देती तुम।"

"क्या होता है यह अपना आप? हर बार तू मुझे उसके पास छोड़ जाती है। मीनल, एक वही अस्तित्व है जिसे अपने वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा कभी देख नहीं पाती। बाबू जी कहते थे, अपने आगे देखो, तब से मैं केवल आगे ही आगे देख रही हूँ—आगे ही जाती भी रही हूँ। अब भी तो अमेरिका जाना है मुझे, अपनी पुस्तक पूरी करनी है न।"

अमेरिकन एसोसिएशन फॉर एडवांस स्टडीज की वैज्ञानिक खोजबीन के समय नीना को जो निष्कर्ष हाथ लगा था, वह था शारीरिक रूप से सुन्दर स्त्रियों और हैंडसम या सुदर्शन पुरुषों में सौन्दर्य के अतिरिक्त एक ही वस्तु समान होती है—वह है उनका बुद्धि-तत्व या आई-क्यू। सुडौल और संतुलित शरीर में बुद्धि-तत्व सामान्य से अधिक होता है। ऐसे व्यक्ति के चेहरे, हाथ-पैर और कान के गोल लोब्स की बनावट से यह भी निष्कर्ष निकला था कि चेहरे के बाईं ओर से दाईं ओर के कोशों में अधिक बुद्धि-तत्व संचित होता है, असंतुलित-असुन्दर व्यक्तियों में कम। जहाँ तक गर्भधारण के समय बच्चे के बुद्धितत्व का प्रश्न उठता था, वह उसके वंशनिर्णायक जीन्स पर निर्भर करता है। अच्छा ही हुआ, नीना ने सोचा, उसका बच्चा पता नहीं कैसा होता? राजीव का बुद्धि-तत्व और उसका अपना असौन्दर्य अपनाता तो? क्या पता किसके जीन्स किस पर हावी हो जाएं? अजीब अनुसंधान था। विश्वसुंदरियों का बुद्धि-तत्व और विश्व-प्रसिद्ध वैज्ञानिकों आइन्सटीन, न्यूटन आदि के बुद्धितत्व एक समान कैसे हो सकते हैं? यदि शारीरिक सौन्दर्य, संतुलित, सुडौल शरीर बुद्धिमत्ता का प्रमाण है, तो देह का सौन्दर्य अनुपात में बड़ा हो जाता है। नीना का तर्क था—अगर किसी एक सुंदर व्यक्ति को बीस वर्ष के लिए केवल मुर्गी के दड़बे में बंद कर दो, तो उसका बुद्धि तत्व? एक वैज्ञानिक का विचार था कि उस व्यक्ति-विशेष का बुद्धि-तत्व उसके अपने भीतर के आत्म-विश्वास पर निर्भर करता था। बुद्धितत्व सम्मिश्रण है वंशनिर्णायक जीन्स का और जीवन में उपलब्ध हुए प्रोत्साहन का, और सुन्दर व्यक्ति का आत्मविश्वास असुन्दर व्यक्ति से बड़ा होता है। मीनल में भी कम नहीं है आत्मविश्वास! और नीना? उसका आत्मविश्वास चट्टान जैसा नहीं है क्या? बाबूजी का प्रोत्साहन उसमें जीवित है, बाबूजी की वकालत और बैरिस्ट्री के जीन्स उसमें

धड़क रहे हैं, शरीर का क्या है? है पर, यह दर्द... जब से लौटी है, यह दर्द भीतर ही भीतर उसे खाए जा रहा है। डाक्टर बहुत बार कह चुका है, आपरेशन करना ही पड़ेगा, नहीं तो पेट का अल्सर खराब हो जाएगा। परन्तु समय कहाँ था—नीना को अपनी सारी रिपोर्ट्स पर काम करके पुस्तक तैयार करनी थी, सिलसिलेवार लिखकर छपवाना भी था। बहुत-सा पहले का काम भी मेज़ पर प्रतीक्षारत पड़ा था। नीना को विश्वास था— उसकी पुस्तक अवश्य ही सराही जाएगी। उसकी पूरे जीवन की एकमात्र उपलब्धि यही होगी, उसका अपना कुछ, अपने
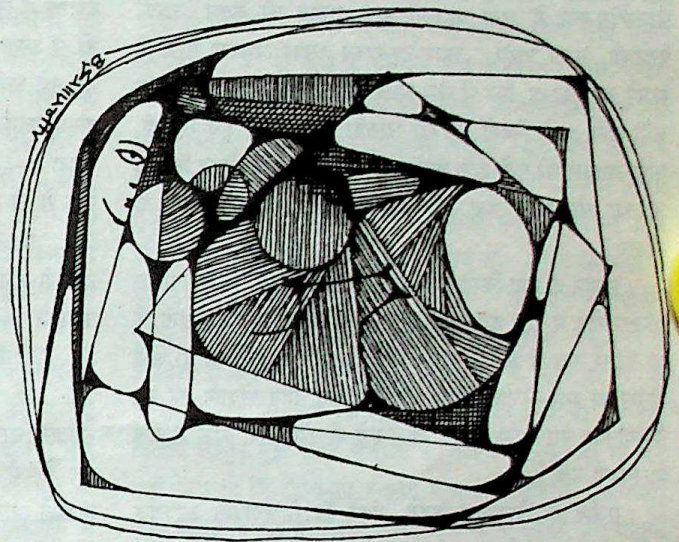
लिए। आई विल ऑलसो लिव फार माईसेल्फ।

जब से अमेरिका से लौट कर आई है, उसे पूरे घर में एक परिवर्तन-सा महसूस हो रहा है। हर कोने में एक अजनबीपन-सा फैला है जिससे वह अपरिचित है। नीचे राजीव के कमरे में ड्रेसिंग टेबल, अलमारियाँ गवाह थीं कि वह सारा सामान राजीव का नहीं हो सकता। गाउन, साड़ियाँ, लिपस्टिकें कम से कम उसकी नहीं थीं। फिल्म डैवलपिंग-रूम में बहुत-से चित्रों का अम्बार लगा था, एक चित्र खूबसूरत न्यूड—अनावृत गठीला शरीर अपने सौन्दर्य से आप गर्वित दीवार पर जड़ा था। अचानक चक्कर नीना के माथे में घुमड़ने लगता है। पेट का दर्द जैसे सिर तक हाथ बढ़ा कर खटखटा रहा था—प्राणों की पूरी शक्ति लगाकर भी सचेतन कहाँ बची थी! अचेतन, अशक्त शरीर दर्द की भेंट चढ़ जाता है। जब होश आया तो डाक्टर इंजेक्शन

लगा रहा था—

"बहुत दर्द है, डाक्टर..." नीना ने पता नहीं कैसे कहा।

"आपने आराम नहीं किया था, एबार्शन के बाद सीधा अमेरिका चली गईं। आप अपना ख्याल बिल्कुल नहीं रखती हैं, खैर, इंजेक्शन दे देता हूँ पर आप निर्णय लें और ऑपरेशन करा लें... अगर कहीं ट्यूमर बर्स्ट हो गया तो आई एम टैलिंग यू, बहुत मुसीबत हो जाएगी. .. बाई द वे, नीना जी, पिछले हफ्ते मैं यहां आया था। आपकी या शायद राजीव की कज़न को देखने, वह जो मॉडलिंग करती है। कैसी है वह? प्रैगनेन्सी में बहुत ख्याल रखना पड़ेगा उसे... वैसे राजीव वाज टेकिंग लाट आफ केअर...ओह व्हाट ए ब्यूटी शी इज़...."

डाक्टर की आंखों का भाव, नीचे के कमरे में परिवर्तन, फिल्म डैवलपिंग-रूम में लगा बड़ा-सा न्यूड—राजीव की कज़न, उसकी प्रैगनेन्सी, सुन्दर शरीर... रहस्य-दर-रहस्य उसका अंधकार सूरज के सामने आ चुका था, फिर भी जैसे अंधकार अपरिवर्तित खड़ा था—प्रकृति कभी-कभी अपने नियमों पर नहीं चलती। वही थी जो डूब रही थी, गहरे अंधकार की पर्तों तले। प्रकृति ने जैसे उसके लिए नियत किए थे अंधकार और दर्द... पता नहीं कौन किससे बड़ा था—बुद्धि-तत्व या सौन्दर्य?

सामान के साथ किसी तरह गाड़ी में बैठ गई थी। रिसर्च पेपर का पुलिंदा गोद में रखा था। वह मात्र उसी के बारे में सोचना चाहती थी पर कितने स्वर थे जो उसे घेर कर उसके दर्द को कोंच रहे थे। कभी मीनल का स्वर—"दीदी कोठी बेच दो, जीतू बहुत परेशान कर रहा है—या फिर मेरा हिस्सा मुझे दे दो... मुझे भी उस पुरानी कोठी में कोई दिलचस्पी नहीं है।"

राजीव के फैशनेबुल कपड़े, मंहगे इत्र में रचाबसा आकर्षक व्यक्तित्व, फोटोग्राफी पर प्राप्त पुरस्कारों से लदा नवीनतम पत्रिका का वह पन्ना, मॉडल-कम-वाइफ का झमझम करता चित्र जहाँ उसे एक ओर हतप्रभ कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर राजीव का ढीठ स्वर दर्द की गहरी खाई में ढकेल रहा था—"नीना, यू नो, मुझे तो हमेशा से ब्यूटी से प्यार रहा है। तुम्हारे साथ, एक डैड-मास्क के साथ, कोई कब तक जी सकता है... मुझे अपने लिए जीता-जागता चेहरा चाहिए था—लुक, शी इज़ सो ब्यूटीफुल। तुमने बच्चा भी नहीं होने दिया और वह आते ही प्रैगनेन्ट हो गई... ऐनी वे, आई नैवर वांटेड योर चाइल्ड... हमारा बच्चा मॉडल जैसा सुन्दर होगा। फिर भी, एक ही रास्ता है, उसे एक ही शर्त पर छोड़ सकता हूँ—अगर तुम कोठी बेच कर मुझे पैसा दे दो. .. अपना स्टूडियो बनाना चाहता हूँ, लैविश, कम्प्यूटराइज़्ड।" राजीव आदमी है या कम्प्यूटर? कहे जा रहा है—ब्यूटी से प्यार है....। दर्द इतना क्यों बढ़ता जा रहा है—घबराकर नीना ने कागज़ पर जल्दी-जल्दी कुछ लिखा। रेलगाड़ी के रुकते ही नीना भागकर रिक्शा में... पेट में दर्द के साथ नाक से कुछ बह निकला था। वह अपने कागज़ों का पुलिंदा छाती से चिपकाए रिक्शा वाले को पता समझाती है... रिक्शावाला उसके रूमाल से ढके चेहरे को देखकर बुदबुदाता है—

"मायापुरी की ऊ कोठी में तो कभी कोई सवारी आता नहीं रहा... चलो...."

नीना बेचैनी से देखती है—पीली कोठी का बड़ा लकड़ी का दरवाज़ा, बहुत वर्षों पुराना दृश्य। परन्तु पता नहीं क्यों सारा दृश्य धुंधला-सा होता जा रहा है—घर आ गया है.... काई जमी हुई ऊँची चहारदीवारी से झाँकता मौलसिरी का पेड़ उचक कर उसे देखता है—बड़बड़ाते ताऊजी दरवाज़ा खोलते हैं। नीना खड़ी कहाँ रह पाती है! हांफती हुई कुर्सी पर बैठ जाती है—पसीने से तरबतर अपने दर्द से जूझती हुई... ताऊजी की धुंधली आंखों में जब तक पहचान बने, नीना बेहोशी में लुढ़क जाती है। वह रिक्शावाला ही दौड़कर किसी डाक्टर को ले आता है। ताऊजी, डाक्टर, रिक्शावाला मिलकर उसके दर्द से मुड़े-तुड़े शरीर को सीधा करके पलंग पर लिटाते हैं... हाथ में कसकर दबाए कागज़ों का पुलिंदा गिर पड़ता है। डाक्टर मुआयना करके कहता है—"लालाजी, यह तो जीवित नहीं है... कौन है यह? इसकी नाक से जो खून बहा है, वह, लगता है अन्दर कुछ फट गया है...।"

"पढ़ तो बेटा, इस कागज़ पर क्या लिखा है..." घबराए से बूढ़े ताऊजी नीना की मुट्ठी में ठुंसे कागज को निकालकर डाक्टर को पकड़ाते हैं—डाक्टर पढ़ता है—

"मैं नीना मंगलदास,"

"हाँ, मंगलदास मेरा छोटा भाई, उसकी बेटी नीना है यह...हे भगवान, मरने को चली आई यहाँ, कितनी बार लिखा, आकर हवेली बेच दे, मैं बूढ़ा हो गया हूँ—और देखभाल नहीं कर सकता..." ताऊजी अलग बड़बड़ाने में लगे थे।

"आगे सुनिए न" डाक्टर इस अजीब स्थिति से वैसे ही परेशान था...

"हाँ पढ़ो बेटा..." ताऊजी अपने पोते को बुलाने के लिए टेलीफोन करवा चुके थे।

"मैं नीना मंगलदास अपनी कोठी अपने ताऊजी के पोते विदुर के नाम करती हूँ। मीनल, मुझे माफ करना। बाबूजी की निशानी को विदुर, संभालकर रखना। विदुर मेरे ये रिसर्च पेपर छपवा देना, प्लीज और मेरी राख राजघाट की गंगा में बहा देना। वहाँ मेरे पुरखे, मेरे बाबूजी जल-प्रपात में मुँह लगाकर पानी पीते हैं... मेरा अपना आप—मेरे न होने में घुल रहा है। बहुत थक गई हूँ—अपने आप के न होने से। मेरा तो कोई नहीं है विदुर, मेरा दर्द मेरा है। विदुर मेरी सभी फोटो जला देना, मैं नहीं चाहती— कोई याद रखे... मुझे, एक डैड-मास्क को... दर्द से बड़ा कुछ नहीं होता, न शरीर न बुद्धि तत्व—नीना..."

विश्रांति, एन—148, पंचशील पार्क, नई दिल्ली

निकोलिया तोकारेवा

सबसे सुखी दिन

हमें क्लास में एक निबंध लिखने को दिया गया, विषय था—'मेरे जीवन का सबसे सुखी दिन'।

कापी खोलकर मैं सोचने लगी—मेरे जीवन का सबसे सुखी दिन कौन-सा है। मैंने रविवार को चुना। चार महीने पहले जब मैं पापा के साथ सिनेमा देखने गई थी और उसके तुरंत बाद हम दादी के यहां गए थे, दोहरा मनोरंजन हो गया था। परन्तु हमारी अध्यापिका मार्या येफ्र्येमोव्ना का कहना है कि मनुष्य को वास्तविक सुख तभी मिलता है, जब वह दूसरों की भलाई करता है। मेरे सिनेमा देखने और वहां से दादी के पास जाने से किसी का क्या भला होता है? मार्या येफ्र्येमोव्ना की बात की ओर मैं ध्यान न भी देती, अगर इस सत्र में मुझे अंक न सुधारने होते। वैसे इस सत्र में कम अंकों से भी काम चल तो जाता, परन्तु उस हालत में मैं नवीं कक्षा में नहीं चढ़ सकती थी। मार्या येफ्र्येमोव्ना ने चेतावनी देते हुए कहा कि देश में बुद्धिजीवी जरूरत से ज्यादा बढ़ गए हैं और मजदूर वर्ग में कमी हो रही है। इसलिए हम लोगों का शिक्षित मजदूरों का दल बनाया जाएगा।

मैंने बगल में बैठी ल्येना कोनालोवा की कापी में झांककर देखा। ल्येना असाधारण गति से कलम चलाने में तल्लीन थी। उसके लिए सबसे सुखी दिन वह था, जब उसे पायोनियर (स्काउट) दल में भर्ती किया गया था।

मैं याद करने लगी, जब सीमा सुरक्षा दल के संग्रहालय में पायोनियर दल में भर्ती के लिए हम गए हुए थे और मेरे पास पायोनियर का बिल्ला नहीं था, अधिकारियों तथा पायोनियर लीडरों ने काफी दौड़-भाग की, परन्तु बिल्ला फिर भी नहीं मिला। मैं बोली, "रहने दो, कोई बात नहीं..." परन्तु मेरा मूड बिगड़ गया था और इसके बाद मेरा ध्यान भी हट गया था। हमें संग्रहालय दिखाया गया और उसका इतिहास बताया गया, परनु मुझे कुछ भी याद नहीं रहा। वैसे भी ऐसी बातें मुझे कम ही याद रहती हैं।

एक दिन अम्मा और मैं नशे में डूबे एक पियक्कड़ को उसके घर पहुंचा आए थे। उसके जूते खो गए थे और वह बर्फ पर केवल मोजे पहने बैठा था। अम्मा ने कहा, "इसे इस तरह बाहर नहीं रहने देना चाहिए। क्या मालूम, इसके साथ कोई दुर्घटना हो गई हो!" हमने पता पूछकर उसे घर पहुंचा दिया। संभवतः यह बहुत भलाई का काम था, क्योंकि वह व्यक्ति बर्फ के ढेर की बजाय अपने घर में जाकर सोया और उसके परिवार को चिंता भी नहीं हुई, परन्तु इसे सबसे सुखी दिन तो नहीं कहा जा सकता—घर पहुंचा दिया और बस...!

मैंने दायीं ओर मुड़कर माशा ग्वोज्देवा की कापी में झांका। वह मेरे आगे बैठती है। मैं ठीक से पढ़ नहीं पाई, परन्तु माशा अवश्य ही यह लिख रही होगी कि उसके लिए सबसे सुखी दिन वह था, जब उनके कमरे का सिंक्रो... जोट्रोन मिल गया था। माशा केवल आरेखों और सूत्रों में डूबी रहती है। उसमें गणित की असाधारण प्रतिभा है और अभी से उसे मालूम है कि वह आगे कहां पढ़ेगी। उसके लिए जीवन निरर्थक नहीं है। मेरे पास तो एकमात्र चीज है विशाल शब्द-भंडार, जिसका मैं सहज ही आश्रय लेती हूं। इसलिए संगीत-विद्यालय में मुझे संगीतकारों के जीवन और कृतित्व का विवरण तैयार करने का काम सौंपा जाता है। संगीत के शिक्षक लिखते हैं और मैं कागज में लिखा हुआ पढ़ देती हूं। उदाहरण के लिए—बेथोवन गंवार था, परन्तु उसने जीवन में जो भी प्राप्त किया, अपनी मेहनत से... संगीत समारोहों में मैं इस प्रकार की उद्घोषणाएं भी करती हूं— "सोनातीना क्लेम्योंती, वादक कात्या शूबिना, शिक्षक रोस्सोलोव्स्की की कक्षा।" यह सुनने में प्रभावशाली लगता है, क्योंकि मेरा कद अच्छा है, चेहरे का रंग भी अच्छा है तथा मेरे पास विदेशी सामान भी है। चेहरे का रंग तथा विदेशी सामान मुझे अम्मा से मिले हैं, कद न मालूम कहां से। मैंने कहीं पढ़ा था कि डिब्बेनुमा हवाबंद मकानों में तापगृहों (कांचघरों) जैसा वातावरण बनाया गया है, इसलिए बच्चे भी कृत्रिम परिस्थितियों में उगाए गए खीरों की तरह तेजी से बढ़ रहे हैं।

माशा ग्वोज्देवा अवश्य ही बुद्धिजीवियों की पंक्ति में शामिल हो जाएगी, क्योंकि उसका मस्तिष्क उसके हाथों की अपेक्षा अधिक भलाई का काम कर सकता है। परन्तु मेरे पास न हाथ हैं, न दिमाग, केवल शब्द-भंडार है। इसे साहित्यिक प्रतिभा भी नहीं कह सकते। बस, मुझे बहुत-से शब्द मालूम हैं, क्योंकि मैं बहुत पढ़ती हूं। यह गुण मुझे पापा से प्राप्त हुआ है, परन्तु अधिक शब्द जानने की ऐसी कोई आवश्यकता नहीं होती। हमारी कक्षा के बच्चे सिर्फ छह शब्दों से काम चला लेते हैं: बिल्कुल सही, ठीक-ठाक, शांति, बुरा नहीं है और रचनात्मकता। ल्येना कोनालोवा तो किसी भी बात के समर्थन में केवल दो ही वाक्य बोलती है, "हां, वैसे तो ऐसा ही है...." और "हां, बात तो ऐसी ही है...." इतना पर्याप्त होता है। इसका एक लाभ तो यही है कि दूसरे वक्ता को बोलने का मौका मिलता है, जो हमेशा अच्छी बात मानी जाती है। इसके अतिरिक्त वक्ता के संदेह को बल

मिलता है, "हां, वैसे तो ऐसा ही है..." "हां, बात तो ऐसी ही है।"

पिछले सप्ताह रेडियो से सुख के विषय पर वार्ता आई थी। उसमें कहा कहा गया था कि सुख तब मिलता है, जब हम कुछ चाहते हैं और प्राप्त कर लेते हैं। हां, बाद में, प्राप्ति के बाद, सुख समाप्त हो जाता है, क्योंकि सुख प्राप्ति के मार्ग को कहते हैं, स्वयं प्राप्ति को नहीं।

मैं क्या चाहती हूं? मैं नवीं कक्षा में जाना चाहती हूं और फर-कोट के बदले खाल का ओवरकोट चाहती हूं। फर-कोट मुझसे बड़ा है और उसमें मैं ऐसे बंद हो जाती हूं, जैसे लकड़ी के चौकोर बक्से में। वैसे तो सामानघर में जमा ओवरकोट के बटन लड़के रेजर से काटकर निकाल लेते हैं। इसलिए खाल का ओवरकोट पहनकर स्कूल जाने में खतरा तो है, परन्तु मैं और कहीं जाती भी तो नहीं।

मैं बहुत अधिक क्या चाहती हूं? नवीं कक्षा में चढ़ने की मेरी बहुत इच्छा है और फिर मास्को विश्वविद्यालय के भाषा-साहित्य संकाय में प्रवेश लेना चाहती हूं तथा व. व. से परिचय करना चाहती हूं। अम्मा कहती हैं कि वे इस उम्र में अभिनेताओं के प्रति प्रेम में पागल थीं, सारी क्लास का यही हाल था। अब वह अभिनेता ऐसा मोटा हो गया है कि हैरानी होती है यह सोचकर कि समय के साथ आदमी कितना बदल जाता है।

परन्तु मेरी बात अम्मा की समझ में नहीं आती। मैं व. व. के प्रेम में बिल्कुल नहीं डूबी हूं। बात यह है कि व. व. ने द अर्तान्यान का अभिनय किया है और इतना अच्छा किया है कि लगता है, व.व. स्वयं अर्तान्यान हो—प्रतिभाशाली, अप्रत्याशित एवं रोमांटिक।

मैंने 'तीन बंदूकधारी' नाटक छह बार देखा है, रीता कियाश्को ने दस बार। उसकी मां बड़ी दूकान (उनिवेरसाम) में नौकरी करती है और कोई भी टिकट ला सकती है। मेरे मां-बाप की तरह नहीं, जो कुछ भी नहीं ला सकते। साधारण लोगों की तरह जीते हैं।

एक दिन मैं और रीता नाटक के बाद व.व. की प्रतीक्षा में खड़े रहे। फिर उसके पीछे-पीछे चल दिए। मेत्रो (भूगर्भ रेल) में एक ही डिब्बे में बैठे और उसे निहारने लगे। जब वह हमारी ओर देखता, हम तुरंत आंखें मोड़ लेतीं और हंस देतीं। रीता ने अपने परिचितों के द्वारा मालूम करवाया कि वह विवाहित है तथा उसके एक छोटा लड़का है। अच्छी बात है कि लड़का है, लड़की नहीं, क्योंकि बेटियों के प्रति प्रेम अधिक होता है, जबकि बेटों पर स्नेहिलता अधिक व्यय नहीं होती, जिसका अर्थ है कि नए प्रेम के लिए आत्मा स्वतंत्र रहती है।

रीता को यह भी पता चला कि व.व. पदलोलुप है। अभी तो नहीं कह सकती कि यह गुण है अथवा अवगुण। उदाहरण के लिए, मेरे पिता पदलोलुप नहीं हैं, परन्तु उनके चेहरे पर मैं अधिक सुख भी नहीं देखती। उनके जीवन में उत्साह नहीं है तथा वे वेतन भी अधिक नहीं पाते। धन तो वयस्क लोगों का मूल्यांकन है। कुछ दिन पहले क्लास में मैंने होंडुरास की राजनीतिक स्थिति के बारे में लिखकर सुनाया था। सच कहूं तो होंडुरास से मुझे क्या लेना-देना था और होंडुरास को मुझसे, परन्तु मार्या येफ्र्येमोव्ना ने कहा है कि अराजनीतिक छात्रों को नवीं कक्षा में चढ़ने से रोक दिया जाएगा। मैंने आज्ञाकारी बालिका की तरह तैयारी की और राजनीतिक ज्ञान में उत्तीर्ण हो गई। एक होंडुरास की वजह से जोखिम क्यों उठाती?

ल्येना कोनालोवा ने पृष्ठ पलटा। आधी कापी भर दी थी और मैं बैठी-बैठी अपना सबसे सुखी दिन ढूंढने में लगी थी। वैसे सच कहूं तो मेरे सबसे सुखी दिन वे होते हैं, जब स्कूल से लौटने पर मैं घर में किसी को नहीं पाती। अम्मा को मैं प्यार करती हूं। वह मुझ पर दबाव नहीं डालती हैं। संगीत सीखने को या डबल रोटी के साथ खाने को मजबूर नहीं करतीं। उनकी उपस्थिति में भी मैं वह सब कर सकती हूं,

जो कि उनकी अनुपस्थिति में। परन्तु फिर भी वह बात तो नहीं है। उदाहरण के लिए, रिकार्ड बजाते समय वह सुई बिल्कुल गलत ढंग से लगाती हैं, जिसके कारण स्पीकरों से बड़ी कर्कश आवाज निकलती है और मुझे ऐसा लगता है कि जैसे सुई मेरे हृदय को छेद रही हो। मैं पूछ बैठती हूं, "क्या तुम सुई ठीक से नहीं लगा सकतीं?" अम्मा उत्तर देती हैं, "मैंने ठीक तो लगाई है।" हर बार ऐसा ही होता है।

जब अम्मा घर पर नहीं होतीं, तब दरवाजे पर पर्ची लगी मिलती है—चाबी पायदान के नीचे है। खाना चूल्हे पर रखा है। छह बजे लौटूंगी। बुद्धू कहीं की, प्यार, अम्मा!

मैंने अखबार में पढ़ा था कि अपराधों की संख्या की दृष्टि से मास्को का स्थान संसार में सबसे पीछे है अर्थात् मास्को सबसे सुरक्षित राजधानी है। यह सच भी है। मैं अपने निजी अनुभव से कह सकती हूं। एकदम नौसिखिया, शौकिया चोर या बुरी भावना वाला जरा-सा भी उत्सुक कोई व्यक्ति यदि हमारी सीढ़ियों से गुजरता तो अम्मा की पर्ची पढ़कर उसे ऐसा निर्देश मिलता—चाबी पायदान के नीचे है, दरवाजा खोलो और प्रवेश करो। भोजन चूल्हे पर रखा है, गरम करके खा लो। मालिक लोग छह बजे लौटेंगे अर्थात् जल्दी करने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि कुर्सी पर आराम से बैठकर अखबार भी पढ़ा जा सकता है और जब छह बजने को आएं, तब पापा की जीन्स, चमड़े का कोट और अम्मा का खाल का ओवरकोट लेकर प्रस्थान कीजिए। और कोई कीमती सामान हमारे घर में नहीं है, क्योंकि हम बुद्धिजीवी वर्ग के हैं और केवल अपने वेतन पर पलते हैं।

अम्मा का कहना है कि जब किसी व्यक्ति को चोरी का भय हो जाता है तो उसके घर चोरी अवश्य होती है। जीवन में हमेशा वह अवश्य घटित होता है, जिसका मनुष्य को भय होता है। इसलिए कभी भय नहीं होना चाहिए। यह ठीक भी है।

लिफ्ट से निकलकर जब मैं अम्मा की पर्ची देखती हूं तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है। अपनी इच्छानुसार रहने का मौका मिला, जिसमें किसी के साथ समझौता करने की आवश्यकता नहीं। मैं अंदर जाती हूं। कुछ गरम नहीं करती। सीधे देग में से खा लेती हूं—हाथ से और ओवरकोट उतारे बिना। ठंडा भोजन अधिक स्वादिष्ट होता है। गरम भोजन से तो स्वाद मर जाता है।

इसके बाद मैं रिकार्ड-प्लेयर को पूरी आवाज में चालू कर देती हूं और ल्येना कोनालोवा को अपने घर बुला लाती हूं। हम दोनों अल्मारी में से अम्मा के सारे फ्राक निकालती और पहनकर देखती है तथा नाचती हैं। लंबे फ्राक पहनकर नाचते हुए 'नील पंछी' का गान फूट पड़ता है—'मुझसे नाराज मत हो मैं तो हूं, दुखी न हो, प्रेम इस तरह नहीं मिलता'। उधर खिड़की पर सूरज की किरणें पड़ रही होती हैं।

इब्राहीम जलीस

जानवर

"कल आधी रात को मौलवी फ़तह अली गोलबाग में एक औरत के साथ पकड़े गए..." हर शख़्स यही कह रहा था और पूछ रहा था कि क्या यह सच है...? मुझे कुछ नहीं मालूम था, गोया सच और झूठ के दरमियान खड़ा था। कभी सोचता, इतने लोग झूठ नहीं बोल सकते; कभी सोचता, आदमी अन्दर कुछ और होता है और ऊपर कुछ और। जो आदमी खोल के अन्दर होता है, वह साधारणतः उस आदमी से अलग होता है जो हमारी नज़रों के सामने होता है। अब यह मौलवी फ़तह अली—जिनके माथे पर सिजदे का दाग़ है, एक बालिश्त गंगा-जमुनी दाढ़ी है। मुहल्ला पुरानी अनारकली के सम्मानित एवं विश्वस्त आदमी कि मुहल्ले वाले अपने झगड़े-टंटे पुलिस थाने में तय करने के बजाय उन्हीं के पास चुकाया करते थे। पेश इमाम की अनुपस्थिति में उनके पीछे नमाज़ अदा करते थे... और तो और घर में एक नेक बीवी, दो जवान लड़के और तीन बालिग़ लड़कियाँ मौजूद थीं। उसके बाद मौलवी फ़तह अली की यह शर्मनाक हरकत... फिर यह कि उनकी उम्र क्या ऐसे कर्मों के लिए उपयुक्त थी। पैंतालीस-पचास के लगभग हो रहे थे। क़ब्र में पांव लटकाए बैठे हैं और यह हरकत ... इलाही तौबा।

बात सारे मुहल्ले में फैल गई थी, बात...बातें बन गई थीं, लोग हंस रहे थे, सुन रहे थे। मुझे यक़ीन नहीं आता था, मगर आज मौलवी फ़तह अली दिन भर दफ़्तर न आये तो यक़ीन में और मुझमें बहुत थोड़ा-सा फ़ासला रह गया था। दफ़्तर के दूसरे क्लर्क साथी कह रहे थे...."अगर यह बात झूठ है तो वे यूं मुंह छुपाए क्यों घर बैठ रहे ...? ज़रूर कोई बात है।" एक क्लर्क ने तो चुपके से सुपरिंटेंडेंट को उनकी जगह अपनी तरक़्की के लिए दरख़्वास्त भी दे दी थी। उसका विचार था कि अब वे कभी दफ़्तर न आएंगे। ऐसे शर्मनाक वाक़ए के बाद उनके पास दफ़्तर आने की क्या सूरत रह गई थी!

दफ़्तर में मौलवी फ़तह अली की वास्तव में बड़ी इज़्ज़त थी। हम सबसे सीनियर क्लर्क थे। काम के इतने मेहनती कि सुबह सात बजे दफ़्तर आते और शाम के आठ बजे दफ़्तर से निकलते। ड्राफ्ट तो इतने अच्छे लिखते कि अंग्रेज़ अफसर तक उनके ड्राफ्ट से एक शब्द न काटता, बस चुपचाप दस्तख़त कर देता था। तनख़्वाह ज़्यादा थी न कम, लेकिन मंहगाई और परेशानी के इस ज़माने में, जबकि हर क्लर्क के सपनों में रिश्वत के रुपयों के चमकीले ढेर लगे होते हैं, मौलवी फ़तह अली ने वेतन के रुपयों के अतिरिक्त रिश्वत का एक पैसा भी नहीं कमाया। ज़रूरतमंद उनकी हथेली चमकाना चाहते तो वे मुस्करा कर उन्हें अपनी हथेली की लकीरें दिखाते... हाथ में कैंची है। रुपया तो मेरे हाथ में है ही नहीं। आपका काम तो अल्लाह पूरा कर देगा। उसके बाद वे खुद ही उसका काम कर देते थे।

इस तरह उनकी शोहरत पुरानी अनारकली के अलावा उस लाहौर में भी फैल गई थी जो डिप्टी कमिश्नर आफिस के इर्दगिर्द फैला हुआ था, मगर यही मौलवी फ़तह अली कल आधी रात को गोलबाग में एक औरत के साथ...

दफ़्तर से घर जाते हुए रास्ते में 'पाकिस्तान टी स्टाल' के पास मुझे गुलाम मुहम्मद मिला जिसने अपनी बड़ी-बड़ी डरावनी मूंछों में बल देते हुए पूरे गुण्डेपन के साथ एक आंख मार कर मुझ से पूछा, "सुनाओ जी, बाबू जी...आपके दोस्त मौलवी फतह अली कहां हैं?"

इससे पहले कि मैं उससे कुछ पूछूं या जवाब दूं, उसने एक ज़ोरदार ठहाका लगाया जैसे उसके सवाल का जवाब एक ऐसा ही भरपूर ठहाका हो सकता है।

मैंने उसे रोक कर कुछ बात करनी चाही मगर उसके साथ कोई आवारा औरत थी जिसे वह साइकिल पर सामने के डंडे पर बिठा कर सवार हो गया और फरार हो गया।

गुलाम मुहम्मद की इस हरकत के बाद ऐसा महसूस हुआ कि मौलवी फ़तह अली की इस शर्मनाक हरकत का गुलाम मुहम्मद से भी निश्चित ही गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि गुलाम मुहम्मद मौलवी का पड़ोसी था और यह पड़ोसीपन बहुत पुराना था। पाकिस्तान बनने या लाहौर आने से पहले जब मौलवी फ़तह अली दिल्ली में फाटक हवश खां में रहते थे, तब भी गुलाम मुहम्मद उनका पड़ोसी था। फसादात के ज़माने में जब दिल्ली लुटने लगी, जलने लगी, मरने लगी, उस वक़्त यह ख़बर किसी ने उड़ा दी थी कि वह सब्ज़ी मंडी के बलवे में मारा गया। मौलवी फ़तह अली उसकी बीवी और बच्चे को अपने बीवी-बच्चों के साथ हुमायूं के मकबरे वाले शरणार्थी शिविर में ले आए, उम्र भर खर्च उठाने का ज़िम्मा लिया लेकिन हुमायूं के मकबरे पहुंच कर उन्होंने बड़े आश्चर्य से देखा कि गुलाम मुहम्मद ज़िन्दा है और मकबरे की सीढ़ियों पर बैठा अपने बीवी-बच्चों के लिए रो रहा है। मौलवी फतह अली और अपने बीवी-बच्चे को देखा तो उनके पैरों पर गिर गया। वह गुंडा जो फाटक हवश खां के अलावा दिल्ली के दूसरे मुहल्लों में भी बदमाशी और गुंडागर्दी में हीरो माना जाता था, जिसने पुलिस के आगे कभी सर न झुकाया था—मौलवी का हमेशा-हमेशा के लिए चाकर हो

गया। फिर दोनों इकट्ठे महाजरीन के आख़िरी काफ़िले के साथ लाहौर पहुंचे और यहां आकर गुलाम मुहम्मद ने एक के बजाय दो मकानों पर कब्जा किया। बड़ा मकान अपने पास रखा और छोटा मकान मौलवी फ़तह अली को दे दिया।

लेकिन लाहौर आ कर दोनों के सम्बन्ध धीरे-धीरे ख़राब होते गए। एक कारण तो यह था कि दोनों पड़ोसी थे, दूसरा कारण यह था कि मौलवी फ़तह अली मस्जिद थे और गुलाम मुहम्मद खुराफ़ात.... गुलाम मुहम्मद ने यहां आ कर भी वही गुंडागर्दी शुरू कर दी जिसकी बदौलत वह दिल्ली में एक बार जेल भी जा चुका था। मौलवी फतह अली उसको हमेशा समझाते, मनाते, डांटते, प्यार करते... गुलाम मुहम्मद उनका थोड़ा-बहुत आदर तो करता था लेकिन एक बार तो उसने एहसानफ़रामोशी की हद कर दी।

एक बार रमज़ानशरीफ़ की रात थी। मौलवी फ़तह अली रात की नमाज़ पढ़ कर आधी रात को घर लौट रहे थे कि गोलबाग़ के करीब एक औरत के चीख़ने और चिल्लाने की आवाज़ आई। मौलवी फ़तह अली दौड़े-दौड़े उसकी ओर गए तो देखा कि गुलाम मुहम्मद और उसके तीन-चार साथी एक चौदह-पन्द्रह वर्ष की लड़की को घेरे खड़े हैं। लड़की ने जैसे ही मौलवी को देखा, दौड़ कर उनसे लिपट गई और चीखने लगी.... ''मुझे बचाओ... खुदा के लिए इन गुंडों से बचाओ... खुदा के लिए इन गुंडों से बचाओ।''

गुलाम मुहम्मद मौलवी का सारा आदर दिल से निकाल फेंक कर गुर्राया, ''मौलवी जी, इधर क्या नमाज़ पढ़ने आए हो? यह बाग है, मस्जिद नहीं है। छोड़ दो इस लड़की को, यह हमारी है।''

मौलवी फ़तह अली ने गुलाम मुहम्मद को खूब डांटा-फटकारा मगर उस पर कोई असर नहीं हुआ। उसने जेब से एक चाकू निकाला लेकिन इसी बीच टाउनहाल की तरफ़ से आती हुई एक कार की रोशनी अंधेरे में फैल गई, गुलाम मुहम्मद और दूसरे गुंडे भाग खड़े हुए। कार जैसे ही पास आई, मौलवी ने आवाज़ दे कर रोक ली। कार में कोई रोमांटिक जोड़ा बैठा था। मौलवी ने सारी बात उन्हें बताई और इसी कार में उस लड़की को बिठा कर उसके घर छोड़ आए।

दूसरे दिन सुबह इसी बात पर मौलवी फ़तह अली का गुलाम मुहम्मद से झगड़ा हुआ कि उन्होंने शेर के सामने से मांस हटा लिया था। मगर मौलवी फ़तह अली कहते थे कि उन्होंने उस लड़की को नहीं बचाया है बल्कि गुलाम मुहम्मद की बीवी और बच्चों को दूसरी बार बचाया है।

इस घटना के बाद से मौलवी फ़तह अली और गुलाम मुहम्मद में ज़ोरों की ठन गई थी और वह मौलवी से बदला लेने की ख़ातिर उनके खिलाफ़ बेसिरपैर की और गन्दी अफ़वाहें उड़ाने लगा था। मैंने समझा कि कल रात को मौलवी साहब का औरत के साथ पकड़ा जाना भी ऐसी ही घटना है जो गोलबाग़ में होने के बदले गुलाम मुहम्मद के गन्दे मस्तिष्क में पनपी है। मैं गुलाम मुहम्मद की—इस गोलबाग़ वाली घटना से पूर्ण परिचित था। इसलिए मुझे यक़ीन हो गया कि गुलाम मुहम्मद ने मौलवी फ़तह अली को बदनाम करने के लिए यह अन्तिम उपाय निकाला है और अपनी ज़िन्दगी की इस अंधेरी और गन्दी रात को जबरन मौलवी फ़तह अली की ज़िन्दगी में दाख़िल कर दिया है और उस रात के दृश्य में अपने स्थान पर मौलवी फ़तह अली को खड़ा किया है।

अब मुझे कुछ संतोष हुआ। मैंने अपने घर जाने के बदले पहले मौलवी फ़तह अली के घर जाना उचित समझा, क्योंकि मेरे दिल से ग़लतफ़हमी बड़ी हद तक दूर हो गई थी और अब उनसे मिलने में न मुझे कोई आपत्ति थी और न उनके संकोच का कोई औचित्य।

रास्ते में औरंगज़ेब होटल के पास मुझे अब्दुल रशीद मिला जो मेरा और फ़तह अली का साझा और गहरा दोस्त था। हम तीनों हर शाम औरंगज़ेब होटल में बैठते, रेडियो पर रात की ख़बरें सुनते, अखबार पढ़ते, चाय पीते और गप्पें हांकते थे। अब्दुल रशीद आज समय के विपरीत शाम से पहले ही होटल में दाख़िल हो रहा था। उसने मुझे देख कर आवाज़ दी,

''ओह—आओ-आओ— तुम्हें एक बड़ी हैरतनाक ख़बर सुनाऊं।''

अन्दर जा कर उसने चाय का आर्डर दिया और इधर-उधर देख

कर बड़े गोपनीय अन्दाज़ में कहा, ''यार अपने मौलवी ने तो रात लुटिया ही डुबो दी। तुमने सुना, रात मौलवी....'' मैंने कहा, ''हां, मैंने सुना है लेकिन मेरा विचार है, यह झूठ है। इसमें मुझे गुलाम मुहम्मद की कोई नापाक साज़िश मालूम होती है।''

अब्दुल रशीद ने कहा, ''नहीं यार, किसी की साज़िश नहीं। मुझे अभी ईदू मिला था जो यहां के थाने का सिपाही है। उसने मुझे बताया कि उसी ने कल रात मौलवी को एक औरत के साथ पकड़ा है। मौलवी और वह औरत रात भर हवालात में रहे।''

मैंने पूछा, ''वह औरत कौन थी?''

रशीद ने जवाब दिया, ''पता नहीं कौन थी, बहरहाल जो थी, बड़ी आवारा मालूम होती है कि एक पैंतालीस-पचास के बूढ़े के साथ चली गई।''

मैंने रशीद से पूछा, ''तुम आज मौलवी से मिले थे?''

रशीद ने जवाब दिया, ''अब उससे क्या मिलना है और क्या वह अब हमसे मिल सकता है?''

मैंने कहा, ''आओ चलो, उससे मिलें। हमें तो कम से कम उससे मिलना ही चाहिए। सच पूछो तो जाने क्या बात है, मुझे यक़ीन ही नहीं आता—मुझे यक़ीन कर लेना चाहिए। सभी कह रहे हैं, तुम भी कह रहे हो। इसके बाद शक रह ही नहीं जाता, मगर... मगर अब भी मेरे दिल में शक और यक़ीन में अंजीब-सी कशमकश है।''

अब्दुल रशीद ने कहा, ''मैं तो अब उससे मिलने को बेकार समझता हूँ, वह नहीं मिलेगा।''

मैंने उसे मजबूर किया, ''तुम चलो तो सही... यह समझ कर मिलेंगे जैसे आखिरी बार मिल रहे हों।''

हम दोनों औरंगज़ेब होटल से बाहर निकले। अमृतसरी भाइयों की तम्बाकू शाप तक पहुंचे ही थे कि मौलवी फ़तह अली का बड़ा लड़का रफ़ी मिला जो दवाइयों का बक्स उठाए जा रहा था और उसके पीछे डा. मुनव्वर अली, एम.बी.बी.एस. चल रहा था। मैंने रफ़ी से पूछा,

''क्यों रफ़ी....? क्या बात है... ख़ैरियत?''

रफ़ी बड़ा घबराया हुआ-सा नज़र आ रहा था। उसने सिर्फ इतना कहा, ''अम्मी...अम्मी जी...'' इतना कह कर वह खामोश हो गया और तेज़-तेज़ क़दमों से चलने लगा। अब्दुल रशीद ने यह सुन कर मुझसे कहा,

''मालूम होता है, बेचारी नेक औरत मौलवी की इस शर्मनाक हरकत का सदमा न सह सकी।''

वह खामोश चलता रहा। हम दोनों मौलवी के घर पहुंचे। दस्तक दी। डाक्टर अन्दर था। राशिद बाहर निकला और बोला...''ठहरिए, अभी अब्बा जी को भेजता हूं।''

हम दोनों को बाहर सड़क पर ठहरना पड़ा, क्योंकि मौलवी के घर कोई बैठक ही नहीं थी, सिर्फ दो कमरों का घर था। इसीलिए मौलवी ने औरंगजेब होटल को अपना ड्राइंगरूम, दीवान-खाना, बैठक सभी कुछ बनाया हुआ था।

बड़ी देर तक मौलवी बाहर न आया। जब डाक्टर बाहर निकला तो हमने डाक्टर से पूछा कि क्या बात है? मालूम हुआ कि मौलवी की बीवी ने खुदकुशी की ख़ातिर डेढ़ तोला अफ़ीम खा ली थी। रफ़ी फिर डाक्टर के साथ शायद दवा लेने चला गया।

हमें यक़ीन हो गया कि मौलवी ने सचमुच लुटिया डुबो दी है। वह अब हमसे मिलना नहीं चाहता। हम वापस जाने ही वाले थे कि अचानक मेरी नज़र दरवाज़े पर पड़ी जो ज़रा-सा खुला हुआ था और जिसमें से मौलवी चोर की तरह झांक रहा था। मैंने उसे पहचान लिया और करीब जाकर कहा, ''मौलवी, दरवाज़ा खोलो, छुपने से क्या फ़ायदा! हम तुम्हारे हमदर्द और दोस्त हैं। अगर तुम्हें अब भी हमारी मदद की ज़रूरत है तो हम तैयार हैं। हम इसीलिए तुम्हारे पास आए हैं।''

मौलवी ने दरवाज़ा खोल दिया। हम अन्दर दाख़िल हुए। वह कमरा नहीं था, बल्कि रसोई, नहानघर, कबाड़खाना सभी कुछ था जिसमें एक तरफ चूल्हा था, दूसरी तरफ नलका था। ट्रंक रखे थे। जूठे बर्तन पानी की बाल्टी के पास पड़े थे। मौलवी ने हमें ट्रंकों पर बैठने के लिए कहा और खुद मैले कपड़ों की बड़ी-सी गठरी पर बैठ गया। उसका सर झुका हुआ था, चेहरा मुरझाया हुआ था... थोड़ी देर हम तीनों खामोश रहे। उसके बाद मैंने पूछा, ''क्यों भाई... भाभी अब खतरे से बाहर हैं न?'' मौलवी ने बुझी हुई आवाज़ में जवाब दिया,

"हां...बच गई।" रशीद ने पूछा, "क्यों भई—यह बात क्या हुई थी?" मैंने गुस्से से रशीद की तरफ देखा। मैं नहीं चाहता था कि रशीद इस वक्त कोई ऐसी बात पूछे जिसका सम्बन्ध कल रात वाली घटना से हो। मौलवी ने रशीद की तरफ देखा और फिर मेरी तरफ... फिर अचानक तेज़ और गुस्से में बोलने लगा, "तुम मेरा घर देख रहे हो... एक बड़े मकान के लिए कोई पन्द्रह-बीस दरख़्वास्तें दे चुका हूं। कुछ नहीं होता। यह... यही दो कमरे... बल्कि एक ही... यह... यह कमरा है? इसे कमरा कहा जा सकता है?"

वह हम दोनों की तरफ घूरने लगा जैसे जवाब चाहता हो। जैसे उसे मालूम हो कि हम कोई जवाब नहीं दे सकते, जैसे हम उससे सम्बोधित नहीं, हम उसके रोज़ाना मिलने वाले दोस्त नहीं बल्कि जनगणना अधिकारी हैं।

उसने फिर कहना शुरू किया, "मुझे पाकिस्तान आए दो साल हो गए हैं। मैं अपनी बीवी, दो जवान लड़कों, और तीन बालिग़ लड़कियों के साथ इस कमरे में कैद हूं... बताओ... मैं कब तक कैद रहूं। मैं भी इन्सान हूं, मैं पागल हो जाऊंगा... जाओ, मुझे इसी कैद में घुट कर मर जाने दो, यहां से चले जाओ।"

और वह खुद ही उठ कर अन्दर चला गया। अन्दर से उसकी बीवी के कराहने की अवाज़ आ रही थी। हम दो-तीन क्षण वहीं बैठे रहे फिर उठ कर बाहर चले गए।

रास्ते भर रशीद बिलकुल खामोश रहा। मेरी समझ में कुछ नहीं आता था कि क्या बात की जाए। हम फिर औरंगज़ेब होटल में गए। वहां मुहल्ले का थानेदार रियाज़ अहमद भी बैठा चाय पी रहा था। उसने हमें देख कर चाय पीने की दावत दी। हम उसकी मेज़ पर बैठ गए तो उसने प्याली से चाय प्लेट में उंडेल कर पी और अपनी बड़ी-बड़ी मूंछों को साफ करते हुए बोला,

"यार रशीद.... तुम्हारा वह दोस्त मौलवी फ़तह अली भी अजीब आदमी निकला.... अपनी बीवी को सैर कराने आधी रात को गोलबाग चला आया.... लाहौल विला कूवत। ऐसे कामों के लिए घर में कोई जगह नहीं थी...."

रशीद और मैंने एक साथ पूछा,

"क्या.... क्या वह उसकी बीवी थी....?

थानेदार अपनी रौ में बोले चला जा रहा था, "तौबा, तौबा.... इन्सान जानवर से भी बद्तर हो गया है। इतनी लम्बी-लम्बी दाढ़ियों वालों को भी पाकिस्तान की इज़्ज़त का ख़्याल नहीं, तो फिर पाकिस्तान का क्या हश्र होगा....क्यों जी?"

लेकिन हम दोनों जनगणना अधिकारी की तरह ख़ामोश बुत बने बैठे रहे।

हिन्दी रूपान्तर : खुर्शीद आलम

वी-213, सैक्टर 12, नौएडा-201301

कमला

लौटना

पिछले कुछ दिनों से गुरमीत मां का चेहरा बड़े ध्यान से देखने लगा है। वह चाहता है कि मां के चेहरे का हर कोण और उतार-चढ़ाव उसके मानस-पटल पर गहरे उतर जाए। फिर जब भी वह चाहे, मां का चेहरा अपनी कल्पना में पूरा का पूरा उतार सके। इस क्रम में उसे इन्हीं दिनों अहसास हुआ है कि मां के चेहरे पर झुर्रियां उभर आई हैं। उनके चेहरे पर सदा खिली रहने वाली शांत, सौम्य-सी मुस्कान तो अब कभी देखने को नहीं मिलती। अब तो मुस्कान की जगह चेहरे पर एक बुझापन, एक उदासी ही मिलती है। शायद इसी कारण मां का उजला चेहरा ज़रा सांवला पड़ गया है।

इस वक्त भी गुरमीत मां के पास ज़रा तिरछा हो कर खड़ा है ताकि मां को पता न चल सके कि वह उन्हें घूर रहा है वरना मां की सवालिया निगाहें उसकी ओर उठ जाएंगी और वह उन्हें कुछ भी स्पष्ट कारण नहीं बता सकेगा। क्या बताए कि क्यों घूरता रहता है?.... कि क्यों इतना भयग्रस्त और आशंकित रहने लग गया है?....कि क्यों यह विचार बार-बार सालता है, दुबारा मां से कब मिल पाएगा?... मिल पाएगा भी या नहीं?.... गुरमीत के लिए सब कुछ इतना अनिश्चित-सा क्यों हो गया है...?

उन हादसों के बाद की घटनाएं कितनी तेज़ी से घटित हुई हैं। नवंबर 1984—कितना आसान है यह तारीख बुदबुदा लेना। मगर उसके बाद तो सारा वजूद कांप उठता है। कितना पीड़ादायक, वीभत्स और अप्रत्याशित था वह सब। उन हिंसक हादसों ने कितने समीकरण तोड़ डाले और कितने नए अनचाहे, अप्रिय समीकरणों को रच डाला है। उन हादसों की रिसती यादें मस्तिष्क में इतना गहरे बैठ चुकी हैं कि खुदबखुद ही स्मृति-तरंगों पर तांडव करने लगती हैं। तब उन्हें स्मृति-तरंगों से दूर ठेलना असंभव हो जाता है और यादों से उत्पन्न पीड़ा को सहने के सिवाय कोई रास्ता नहीं बचता।

जब से यह तय हुआ है कि मां आज के दिन अमृतसर लौट जाएंगी, तभी से यह शंका आतंकित करने की हद तक चुभने लगी कि पुनः कब मां से मिल पाएगा? हर बीतते दिन के साथ यह अहसास भी तीव्र होता गया था कि वह दिन क्रमशः निकट आता जा रहा है जिस दिन मां का जाना तय है। तय तो तभी हो गया था, जब मां अमृतसर से अकेली उनके पास आई थीं।

उनका शहर वाला मकान तो पहले ही बेचा जा चुका था। उन्हीं पैसों से अमृतसर में मकान खरीदा गया था। इस बार तो मां मकान से सटे ज़मीन के उस अंतिम टुकड़े को बिकवाने आई थीं, जो उन्हीं के नाम से खरीदा गया था। कितनी खुश हुई थीं मां, जब मकान से सटा जमीन का वह टुकड़ा खरीदा गया था। 'मैं इस ज़मीन पर ढेर सारे फूल उगाऊंगी,' मां कहतीं और फिर अपनी पसंद के फूलों के नाम गिनाने लगतीं। उनकी सूची में सबसे पहले जूही का नाम होता। जूही के सफेद खुशबूदार फूल मां को बहुत पसंद थे। फिर चमेली, गुलाब, गुलदाऊदी और न जाने क्या-क्या...

गुरमीत ही तो आया था रिजर्वेशन करवाने। मां को 'मूरी एक्सप्रेस' से जाना था।

"अब तो मुझे आए एक महीना हो गया है। जितनी जल्दी हो सके, रिजर्वेशन करा देना। तेरे पापा वहां अकेले हैं। अब तो वह काम भी हो गया है जिसके लिए मैं आई थी।" मां ने कहा था।

यह बात तो सभी समझ रहे थे कि मां को जल्दी जाना है। मगर वे जाएं, ऐसा कोई नहीं चाहता था। लेकिन मां को रोका भी नहीं जा सकता। पापा वहां अकेले हैं... बिल्कुल अकेले। कैसे बिताया होगा उन्होंने पिछला माह? होटलों में खाना खा कर... पौधों को पानी दे कर... अखबार पढ़कर... या फिर बिस्तर पर यूं ही लेट कर। निरुद्देश्य सड़कों पर टहलने की आदत तो उन्हें कभी नहीं रही। आदत तो उन्हें कभी अकेले रहने की भी नहीं रही। चाहते तो शुरू से ही अपने परिवार को गांव में छोड़कर यहां अकेले रह नौकरी करते। मगर उन्होंने हमेशा अपने परिवार को साथ रखा। सब की छोटी से छोटी ज़रूरतों का ख्याल रखा, परिवार के सुख-दुख को हमेशा स्वयं में महसूस किया... अब अपने ही परिवार से दूर होकर कैसे बीत रहा होगा उनका समय? गुरमीत जितना सोचता, उतनी ही बेचैनी बढ़ती जाती।

उसके पापा ने अपनी जिन्दगी का एक बड़ा भाग बिहार के कोयला-क्षेत्र में बिताया था, जहां से वे सेवानिवृत्त भी हुए। अपने परिवार का बड़ा बेटा होने के कारण उन्हें बचपन से ही संघर्ष करना पड़ा था। खेती के नाम पर दादा जी के पास थोड़ी-सी ज़मीन थी, जो चार लड़कों तथा तीन लड़कियों वाले बड़े परिवार के लिए काफी नहीं थी। पापा गांव से बाहर निकलने लगे। कभी मेले में कोई दुकान लगाने तो कभी कारखाने में मजदूरी करने। जब वहां से परिवार की आवश्यकताएं पूरी होती नहीं दिखीं तो वे क्वेटा, बलोचिस्तान चले गए। वहां की कड़कती ठंड और नश्तर-सी चुभती बर्फीली हवाएं भी उनका हौसला पस्त न कर सकीं। उनका हौसला पस्त किया था ज़मीन पर खींची इंसानी सरहद ने। सन् सैंतालीस में आजादी का सपना पूरा हुआ और

साथ ही मिला बंटवारे का विष। सागर-मंथन में भी अमृत के साथ विष मिला था, मगर वहां शंकर ने विष पी लिया। यहां कोई शंकर नहीं था। सभी देवता ही बनने को आतुर रहे। बंटवारे के साथ ही वह तूफान शुरू हो चुका था, जिसमें इंसानों के चेहरे बदल गए थे, धर्म बदल गए थे। नहीं बदला था तो लहू का रंग। एक ही रंग का लहू जिस्मों से बह कर सरहद के दोनों तरफ फैलता रहा था।

पापा भी अपनी जान ही बचा सके थे। ट्रेन के गार्ड ने रुपयों के

लालच में आकर उन्हें जानवरों के साथ मालगाड़ी के एक डिब्बे में बंद कर दिया। तीन-चार दिनों के बाद बचते-बचाते, भूख और प्यास से बेहाल वे अमृतसर स्टेशन पर उतरे थे। शेष सभी कुछ पीछे क्वेटा में ही छूट गया था। लेकिन उस हादसे के बाद भी पापा ने स्वयं को बिखरने से बचाए रखा था। एक बेहतर जीवन और परिवार की खुशहाली के लिए कुछ करने की तीव्र इच्छा उनके भीतर जिंदा रही।

उन्हीं दिनों एक परिचित से बिहार के उस कोयला-क्षेत्र का पता चला और एक नौकरी की तलाश पापा को उस अनजान क्षेत्र में खींच लाई। एक-एक दृश्य गुरमीत के ज़ेहन में चलचित्र की भांति गुजर रहा था। ये सारी बातें उसे पापा ने कभी फुर्सत के क्षणों में बताई थीं। पापा बताते थे, पंजाब के खेत-खलिहानों और दूर तक समतल मैदानों में पला-बढ़ा बचपन अपनी जवानी इन जंगलों-पहाड़ों में बिताएगा, किसने सोचा था? अमृतसर में प्रारंभ हुआ पापा का संघर्ष, जो क्वेटा बलोचिस्तान में भी जारी रहा था, अंततः बिहार के उस कोयला-क्षेत्र में उन्हें अपनी मंजिल तक ले गया।

उन दिनों कोलियरी में रहना और खान में काम करना बहुत कठिन था। कोलियरियां दूर-दूर होती थीं। घर से खान तक की दूरी घने जंगल के बीच से हो कर तय करनी पड़ती। पथरीली जमीन पर काम की भागदौड़ ने गुरमीत के पिता के पांवों के तलवों को भी पत्थर-सा कठोर कर दिया था। बबूल के तीखे और कड़े कांटे पैर के तलवों में लग कर चुभने की जगह टूट कर बिखर जाते थे। जंगल में खूंखार जानवरों का मिल जाना उन दिनों एक सामान्य सी बात थी। कठिन परिस्थितियों के कारण मजदूरों का काम छोड़ कर अपने घर वापस भाग जाना उन दिनों आम बात थी। निश्चय ही, इस पथरीली धरती और घने जंगलों के बीच खानों में कोयला काटते हुए पापा को कितनी बार पंजाब के हरे-भरे खेत, ढोल की थाप पर जमता भंगड़ा, मकई की रोटियां-सरसों का साग, मटकी में भरी लस्सी और अपने बचपन के संगी-साथी याद आते होंगे।

अपनी मेहनत और क्षमताओं के बल पर पापा मजदूर से तरक्की कर अफसर के पद तक पहुंचे। केवल गुरमीत की बड़ी बहन का जन्म अमृतसर में हुआ था। शेष सभी भाई-बहनों का जन्म-स्थान तो वह कोयला-क्षेत्र ही बना। वे सब वहीं पले-बढ़े, वहां के जंगल, मिट्टी और कोयले की महक उनकी सांसों में बस चुकी थी। उनमें से कोई भी अब पंजाब में बसना नहीं चाहता था। सबने अपनी जिंदगी वहीं शुरू की थी। उनकी जड़ें वहां की मिट्टी में गहरे उतर गईं। पापा सेवानिवृत्ति के बाद जब अमृतसर में बसने की बात करते तो सर्वाधिक विरोध गुरमीत ही करता। धीरे-धीरे पापा को मानने के लिए विवश होना पड़ा कि अवकाश-प्राप्ति के बाद भी वहीं बसा जाए। इस निर्णय के पीछे कितना दर्द छुपा था, इसे तो सिर्फ पापा ही जानते थे।

काश... वह हादसा न हुआ होता! वैसे उपद्रवों की तो किसी ने भी कल्पना नहीं की थी। देखते ही देखते वर्षों का विश्वास, वर्षों के संबंध उस हिंसक आग में जल कर राख हो गए थे। हतप्रभ कर देने वाली उस स्थिति में सभी संवेदनाशून्य... गूंगे-बहरे बन गए थे... कितना वीभत्स था उस समय से साक्षात्कार।

गुरमीत भी चुप रह गया था, अमृतसर में मकान खरीदने की उस पूरी प्रक्रिया के दौरान, एक मूक दर्शक-सा।

'अमृतसर में हम जिन्दा तो रहेंगे।'

'वहां गले में टायरों के हार पहना कर कोई जलाएगा तो नहीं।'

'वहां कोई उम्र भर की कमाई और तिनका-तिनका कर जोड़े घर की होली जला, ताली पीट कर तमाशा तो नहीं देखेगा।'

'वहां कोई हमारी ही आंखों के सामने हमारी बहू-बेटियों को निर्वस्त्र...।' प्रत्युत्तर में एक भी तर्क नहीं जुटा पाया था, ज़रा-सा भी

विश्वास नहीं सहेज पाया था गुरमीत [illegible] लेने के बाद मां-पापा दोनों वहां जा कर रहने लगे। पूर्वनिर्धारित होने के बावजूद कोई भी उनके साथ जा कर नहीं रहा था। न ही अपने बीवी-बच्चों को भेज सका था मां-पापा के पास रहने के लिए। वे अपनी नौकरियां नहीं छोड़ सके थे। भूख और भौतिक सुखों के सामने खून के रिश्ते और भावुकताएं किस कदर अर्थहीन हो जाते हैं। वक्त और परिस्थितियों ने बड़ी बेशर्मी से उन्हें समझाया था। गुरमीत का परिवार बिखर गया था। सभी भाई अपने-अपने कारणों के साथ यहां बिहार में और मां-बाप वहां अमृतसर में....

"हाय वे रब्बा, एह दुनियां नूं की होया," गुरमीत ने सुना, मां बुदबुदाई और फिर धीमी आवाज़ में गुरु ग्रंथ साहिब का श्लोक दुहराने लगीं,

"खुरासान खसमाना कीआ हिन्दोस्तान डराया,
आपै दोष न देई करता जम कर मुगल चढ़ाया,
एती मार पई कुरलाने तैं की दरद न आया...."

स्टेशन पर भीड़ कुछ और बढ़ गई। वहां सिख परिवार ही ज्यादा नज़र आ रहे थे। 'मूरी एक्सप्रेस' से अमृतसर की ओर यात्रा करना सुविधाजनक है। रास्ते में ट्रेन नहीं बदलनी पड़ती। एक व्यक्ति अपने सिर पर बड़ा-सा ट्रंक उठाए उनके पास आया।

"भाई सा'ब जरा हाथ लगाना।" उसने गुरमीत को इशारा किया। उसने सहारा दे कर ट्रंक प्लेटफॉर्म पर रखवा दिया।

"आप कहां तक जाएंगे?" उसने गुरमीत से पूछा। पीछे से तब तक उसकी पत्नी भी आ गई।

"मैं नहीं जा रहा हूँ। मां अमृतसर जाएंगी।" उसने उत्तर दिया।

"बड़ी अच्छी बात है। हम लोग भी अमृतसर जा रहे हैं। अच्छा साथ रहेगा।" उसने कहा और अपनी पत्नी की ओर मुड़ गया।

चलो अच्छा है, गुरमीत ने सोचा, उन लोगों का साथ रहने से मां को सफर में कुछ सुविधा होगी। सफर की बात न हो तो इतना-सा परिचय कोई महत्व नहीं रखता। परन्तु सफर में तो गंतव्य-स्थल का एक होना ही परिचय बढ़ाने के लिए काफी होता है। वह थोड़ा-सा तनाव-मुक्त हुआ।

"मां, मैं आपके लिए चाय ले कर आता हूं।" कहता हुआ वह स्टेशन कैंटीन की ओर बढ़ गया। उस स्टेशन पर सिर्फ कैंटीन की चाय ही कुछ पीने लायक होती है। ठेले वाले तो चाय के नाम पर बस गर्म पानी ही बेचते हैं।

'ट्रेन एक घंटा लेट है।' चाय थमाते हुए उसने मां को बताया। तभी वहां वह व्यक्ति भी पहुंच गया।

'ट्रेन तो दिल्ली तक ही जाएगी। आगे कुछ गड़बड़-है। इन्क्वायरी वाले बता रहे थे, अमृतसर के लिए दिल्ली से दूसरी ट्रेन पर बैठना होगा।" उसने कुछ चिन्तित स्वर में कहा।

दिल्ली में ट्रेन बदलने की बात सुन कर गुरमीत को भी चिन्ता हुई। लंबे सफर के बाद तो बस घर पहुंच कर आराम करने के सिवाय कुछ नहीं सूझता। ऐसी हालत में दिल्ली पहुंच कर ट्रेन बदलना.... फिर अगली ट्रेन में जगह खाली मिलेगी या नहीं? वहां से अमृतसर तक जगह न मिली तो सफर कैसे कटेगा? वहां से भी तो रात भर का सफर बाकी रहता है। जगह न मिली तो सारी रात कैसे कटेगी? मां को कितनी कठिनाई होगी, उसने सोचा।

"मां, आप आज न जाएं तो ठीक होगा। मैं आपका रिजर्वेशन
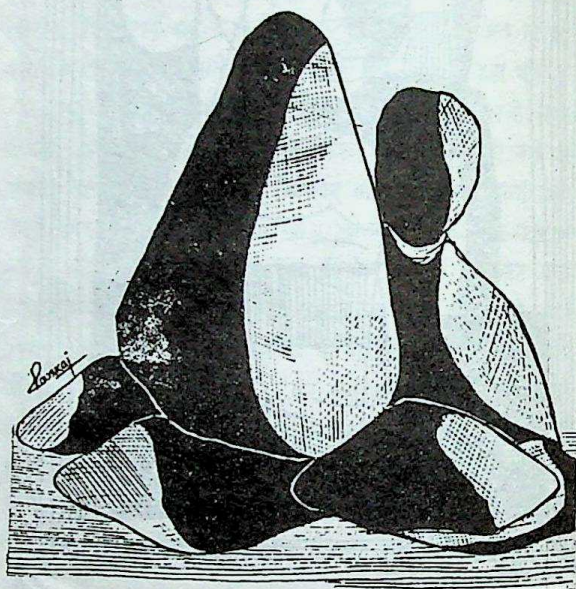
'एक्स्टेंड' करवा लेता हूं। दिल्ली में आप गाड़ी कैसे बदलेंगी?" गुरमीत सोच रहा था, शायद इसी कारण मां रुक जाएं, वह कुछ समय तक और उनके साथ रह सके। "होर लोकां नाल मैं वी पौंच जाणा ए (और लोगों के साथ मैं भी पहुंच जाऊंगी)।" मां के स्वर में दृढ़ता थी, "तुहाडे पापा जी उत्थे कल्ले हन। फेर इन्नां दा साथ वी है—(वहां तुम्हारे पापा जी अकेले हैं। फिर इनका साथ तो है।)" उन्होंने पास खड़े परिवार की तरफ इशारा किया।

"वीरजी, आप फिक्र न करो। हम जो हैं। आप समझें, मां हमारे

साथ जा रही हैं।'' इस बार उनकी [illegible] ''

वह कुछ आश्वस्त हुआ।

क्षितिज पर का सूर्य गुम हो चुका था। शाम का अंधेरा पसर कर कुछ और गहरा हो गया। यात्रियों की नज़रें कभी अपनी घड़ियों पर तो कभी प्लेटफॉर्म के उस छोर की ओर उठ जातीं, जिधर से ट्रेन आने वाली थी। बीतते समय के साथ-साथ यात्रियों की व्यग्रता बढ़ती जा रही थी। तभी स्टेशन का घंटा बजा और 'मूरी एक्सप्रेस' के आगमन की घोषणा हुई। गर्दनें ट्रेन के आगमन की दिशा में मुड़ने और उचकने लगीं। थोड़ी ही देर में भीमकाय इंज़न अपने पीछे डब्बों को खींचता, धड़धड़ाता हुआ प्लेटफार्म पर आ लगा। जो प्लेटफार्म कुछ समय पूर्व तक मानो गहरी नींद सोया पड़ा था, एकाएक ही जाग उठा। कुलियों की भागदौड़। यात्रियों का अपने आरक्षित डिब्बों को ढूंढना। खोमचे, ठेले वालों की आवाज़ें।

मां की बर्थ उस परिवार की बर्थो के पास ही थी। यह बहुत अच्छा हुआ, उसने सोचा। उस स्टेशन पर ट्रेन ज्यादा देर नहीं रुकती। मां का सामान बर्थ पर व्यवस्थित करते-करते इंजन ने सीटी दे दी। उसने मां के पैर छुए। मां से बिछड़ने का क्षण आ पहुंचा है, यह विचार गुरमीत की आंखें भर गया था। वह नहीं चाहता था कि मां उसे रोता देख ले। वह एक झटके में कूपे से बाहर आ गया। बाहर से मां के पास खिड़की पर आने तक वह अपने आंसू पोंछ चुका था। मां खिड़की से हाथ बाहर निकाल कर उसके सिर और चेहरे को सहलाने लगीं। चेहरे पर फिसलती अंगुलियां ढेर सारी इबारतें लिख रही थीं। उसने मां की आंखों में भी कुछ उदास बूंदें देखीं। मां कुछ कहना चाह रही थीं मगर उनके होंठ थोड़ा-सा कांप कर स्थिर हो जाते थे।

ट्रेन के पीछे गार्ड हरी बत्ती हिला रहा था। इंजन ने सीटी दी और ट्रेन पटरियों पर धीरे-धीरे सरकने लगी। उसने देखा, मां के होंठों में एक हरकत हुई थी—''पुत्त तूं कदों आणा ए? (बेटा तुम कब आओगे?)'' मां ने वह प्रश्न पूछ ही लिया, जिसका गुरमीत के पास कोई उत्तर नहीं था, या फिर उत्तर देने का साहस उसमें नहीं था। उसने मां के प्रश्न को अनसुना कर दिया।

''मां, आप अपना ध्यान रखिएगा। पहुंच कर पत्र जल्दी दीजिएगा।'' वह कुछ दूर ट्रेन के साथ दौड़ा था। फिर उसका हाथ खिड़की की सलाखों से हट गया।

ट्रेन की गति तेज़ हो गई थी। वह रुक गया। उसका हाथ कंधे से ऊपर उठ कर हवा में हिलने लगा। प्लेटफार्म के छोर तक ट्रेन के पीछे लगी लाल रोशनी टिमटिमाती रही....धीरे-धीरे वह भी अंधेरे में विलीन हो गई। दूर तक अंधेरा था...सिर्फ अंधेरा....वह अंधेरा गुरमीत के अंदर के अंधेरे से एकाकार हो रहा था। वह बेंच पर ढह गया। उसने अपना चेहरा दोनों हाथों में छुपा लिया।

एफ —9, कदमा बाजार, कदमा,जमशेदपुर—831005

आकाश से सिर्फ कोहरा ही नहीं झरता

युद्धरत है अमेरिकी बाज़ारकर्मी
और अमेरिकी प्रतीक युद्धरत है यहां भारत के बाज़ारों में
भूख/ग़रीबी और विश्व-शान्ति के एक चक्कर की खातिर

जबर्दस्त घेराबंदी है इस बार
पड़ोसियों के बीच पहले से कहीं ज़्यादा ऊंची घृणा है यहां
दोस्तों में पहले से कहीं अधिक लंबे शक का विस्तार है विस्तृत
और पहले से कहीं ज़्यादा घर परिवार में दौड़ रहे है जंगली सुअर
दो हज़ार चार सौ बहत्तर बरस पहले की बृहत्तर चीज़ें हैं सकुशल कि
जिन्हें कभी बनाया था भारत ने और जो अब नहीं रह गई हैं भारत की
अकेला अमेरिका ही है अब तमाम दुनिया का खैरख़्वाह?

तमाम दुनिया में शर्मिंदगी है इस बार
तमाम धर्मों के गर्भगृहों तक घुस गए हैं पेशवर हत्यारे और बलात्कारी
प्रार्थनाएं भटक रही हैं कभी प्लेटफॉर्म पर तो कभी दो पटरियों के बीच
यह नवीनतम तकनीक का कमाल है कि तिलक से छोटा भाल है
जेबें छोटी है चीज़ें बड़ी और कुछ इतनी बड़ी कि ख़िलाफ खड़ी
अब संभावनाएं खेतों से नहीं शिखरवार्ताओं से होती है तय
क्या हुआ गर संवाद करते-करते थोड़ा गुर्राता है अमेरिका?
ज़बरन निंदा करते हैं कम्युनिस्ट अमेरिका की
खाने को देता है पीने को देता है ओढ़ने-बिछाने तक को देता है वह
और तो और थोड़े-बहुत डालर भी दे देता है सभी कंगलों को।

तमाम दुनिया में भटकाव है इस बार
तमाम देशों के जल-जंगलों तक घुस गए हैं पेशेवर संगीतज्ञ और लकड़हारे
अवसाद झांकता है जैसे जवान लड़कियां मां-पिता के पीछे से
आकाश से सिर्फ कोहरा ही नहीं झरता झरते है झर-झर हथियार
कि कस्बों में अब भी अपार-अपार फुरसत है लोगों के पास
और आदर्श कभी जान ही नहीं पाते हैं अपने बिक जाने के अनुबंध
गाय नहीं, सबको काला नाग ही तो बनाता है अमेरिका?

ज़बदस्त शांतिप्रियता है इस बार
भुखमरे तो वहां अमेरिका की सड़कों पर भी बिखरे पड़े है जबर्दस्त
और जबर्दस्त अकाल भी है वहां विचार जैसी कुछ चीज़ों का
आदमी की तस्वीर बनाते-बनाते बन जाती है बिच्छू की तस्वीर
तो इसमें बिच्छू/ब्रश/रंग और कलाकार का क्या कसूर है जी?
वही तो देखेगा दुनिया दूसरी तरफ कैसी है जो बदलेगा करवट
नाहक अमेरिका को ही देते हैं गाली हर कहीं कम्युनिस्ट?

प्रतीक्षारत हैं अमेरिकी मां-बाप नर्सरीकर्मी
और अमेरिकी व्यथाएं प्रतीक्षारत हैं यहां भारत के अखबारों में छुप-छुप
अधिक-अधिक और अधिक संपन्नता के एक चक्कर की खातिर।

टूटता जाता है स्वप्न फिर-फिर

बह रही हैं गर्म हवाएं
इस बार बर्फ के फाहे नहीं हैं कहीं
तीर जैसी चुभती हैं स्मृति में
जुल्म का सिक्का
तुरुप का इक्का
लोकतंत्र का धक्का
कहां से कहां लिए जाते हैं पता नहीं?
ये उमस
ये ताप
ये ताव
ये बढ़ चढ़कर पकती आती
नफ़रतों की नस्लें
मेरे पुश्तैनी सोच को खारिज करती
चरती जाती हैं कोमल स्पर्शों की आशाएं
टूटता जाता है स्वप्न फिर-फिर
देखता हूं स्वप्न फिर-फिर

मैं याद करता हूं

गुमशुदा जिंदगी के सच
शक की सुई के साथ ही हुए गुमशुदा यहां
मैं याद करता हूं अपनी मां और दादी की धुंधली आंखें
बारिश में भीगता हुआ एक कच्चा घर
दर्पण बचाती हुई कुछ हमउम्र लड़कियां
गिरती हुई दीवारें सीती हुई अफसर की नौकरानी
और याद करता हूं कुम्हार के चलते चक्के के साथ
ओंकारनाथ ठाकुर का सदियों की दूरी से पुकारना निरंतर
कि यही है गुमशुदा जिंदगी की अनंत प्यास।

331, जवाहर मार्ग, इन्दौर–452002

शामा की कविता

बादामवारियां

बादामवारियों में
सुगनुगाती हैं
आक्रान्त पुष्प शिखाएं
कहीं उन्हें/ खिलने से पहले ही
बारूद के धुएं में
जला न दिया जाए
बहारों का अभिषेक
करने से पहले ही
बम गोले से
उड़ा न दिया जाए
बादामों के पेड़
हरीपर्वत के नीचे
शारदा भवानी मंदिर के
पार्श्व में शृंगार किए
कब से प्रतीक्षा में हैं
नवरोज के मेले की।
ध्वनियों के शून्य और
विस्फोटों के धमाकों का
मौन विश्लेषण करते हुए
परिस्थितियों को
अनुपस्थितियों का
दोष देते हुए।
अपने शृंगार की
अकारथता पर
दीनहीनता जीते हुए
नवरोज के पखवाड़े में भी
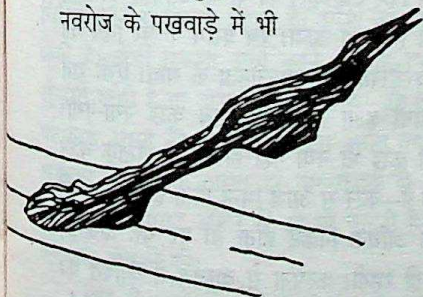
बादामवारियां अब
उजाड़ पड़ी रह जाती हैं।

बी-113, चितरंजन पार्क, नई दिल्ली

जय प्रकाश कर्दम की कविता

संदेश

विहग, तुम उड़ो
और दूर देश तक जाओ
लेकिन, प्रेम की पाती नहीं
इस बार
क्रांति का संदेश लेकर जाओ
उस व्यक्ति के पास
नहीं पहुंचती जिस तक
अखबार की खबरें भी।

सी-538, डी.डी.ए. फ्लैट्स
ईस्ट आफ लोनी, दिल्ली—93

कुसुम भट्ट की कविता

खोज

सत्य की जमीन पर पग बढ़ाती हुई
खुद पर गर्व करने लगती हूं कि
मेरे शब्दों में 'तलाश लेंगी—पीढ़ियां
अपनी इच्छानुकूल दुनिया,
जो मुझे न मिल सकी
लाख कोशिश करने और चाहने के
बाद भी,
हजारों कैक्टस जमीन पर उगते रहते हैं
कुकुरमुत्तों की तरह
नागफनियों से लिपटी मैं
करने लगती हूं तेज
तलवार की धार।
जाने कितने जंगल होंगे
कितने रेगिस्तान
जिन्हें प्रकाश और पानी देने की
मेरी कोशिश कामयाब होगी,
मीरा और सुकरात की पहचानती हूं
परछाईं।
कोलम्बस, तुम्हारी आत्मा मेरे भीतर
धंस रही है!!
आकुल-व्याकुल सी मैं चलती रहूंगी
इसी रास्ते पर
जाने कब खुलेंगे—
नई दुनिया के द्वार?

बी-39, नेहरू कालोनी, देहरादून
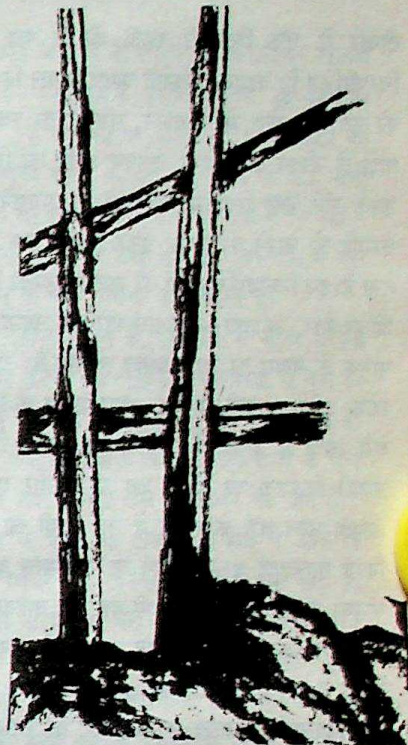
ग़ज़ल

सलीम खां फ़रीद

पानी पर ही पानी बरसे।
अम्बर की नादानी बरसे॥

मंज़र-दर-मंज़र-दर-मंज़र
हैरानी, हैरानी बरसे॥

दुख से तपते एक नगर पर
सुख की आनाकानी बरसे॥

अब भोले-भाले लहजों में
हर एक बात सयानी बरसे॥

मुश्किल से मालूम हुआ है
मुश्किल से आसानी बरसे॥

हसमपुर, सीकर (राजस्थान)

में कम या अधिक भिन्न होता है। अधिक सुरक्षित अनुभव करता है। खिड़की के पार की दुनिया इसी कारण है। औरों के संग होने में उसे अपनी अस्मिता खतरे में लगती है। रघुवर आंशिक रूप से अपनी शारीरिक क्रियाओं से हटकर मानसिक क्रियाओं को महत्त्व देता है। रघुवर का अध्ययन इस दृष्टि से एक साइकिक केस के रूप में भी हो सकता है।

रघुवर में हम दृष्टि तथा श्रवण का भ्रम भी देखते हैं। उसमें सुख-दुख, प्रेम-घृणा सब विलुप्त है। समय का बोध भी उसे अयथार्थ लगता है। वह अपनी क्रियाओं का संचालक नहीं बल्कि दृष्टा मात्र है। रघुवर में इस प्रकार के गुण डिपर्सनैलाइजेशन (व्यक्तित्व-अप्रतीति) के कारण हैं। यह भी एक प्रकार की मनोविक्षिप्ति है।

खिड़की के पार रघुवर नहीं उसका स्व-आत्म (सेल्फ) जाता है। इसलिए वह ऐसी दुनिया का सृजन करता है जिसका वह इच्छुक है। विभागाध्यक्ष स्व और शरीर दोनों को खिड़की के पार ले जाना चाहता है इसी कारण वह उस खिड़की को नहीं ढूढ़ पाता जिसे रघुवर ने ढूंढ़ लिया है। शरीर से आत्म का अलगाव सामान्य व्यक्तियों में सामान्यतः होता है। इसकी अति विकृति का कारण बनती है। रघुवर में यह दशा अति की है। इसका कारण उसके जीवन की एकसारता है जिसने कैद खाने का रूप ले लिया है। इससे छुटकारा फैंटसी में ही सम्भव है। ऐसे व्यक्ति की शारीरिक भौतिक क्रियाएं सामान्य नज़र आती हैं, पर अन्तर में स्वयं परिचालित होती हैं जिन पर व्यक्ति का अधिकार नहीं होता। ऐसी ही स्थिति रघुवर की है। वह काल्पनिक आत्म के साथ अधिक रहता है वास्तविक आत्म के साथ कम। पूरे उपन्यास में रघुवर फैंटसी से बाहर बहुत कम नज़र आता है यहां तक कि काल्पनिक दुनिया को ही वास्तविक समझने का भ्रम पालने लगता है। काल्पनिक और वास्तविक के बीच की विभेदक रेखा को मिटाना सरल नहीं, पर रघुवर ऐसा करता है। इस काम में उसकी पत्नी भी सहायक होती है। काल्पनिक कंगन को वास्तविक समझने का भ्रम उसमें भी है। इस तरह केवल रघुवर ही नहीं उसके परिवार के अन्य सदस्य भी स्कीजाइड हैं। मनोविज्ञान इस रोग को वंशानुगत स्वीकारता है। रघुवर की मां भी सोनसी को कंगन सम्भाल कर रखने के लिए कहती है। सोनसी उसी वंश की नहीं है, पर भ्रम में, कल्पना में जीने से उसे भी सुख मिलता है। इसी तरह जीवन के तनाव, अभाव सीधे-सीधे नहीं उभरते जीवन से सीधा टकराव या संघर्ष भी नज़र नहीं आता।

यह उपन्यास अन्ततः हमें देता क्या है? युग सत्य या दर्शन, महान घटना या संघर्ष! लेखक यह सब देना नहीं चाहता। क्योंकि इस सबको पाकर या खोकर कुछ सार्थक घटित नहीं हुआ है। इस उपन्यास में वह निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति के जीवन के अभावपूर्ण यथार्थ को, उसके वास्तविक तथा सच्चे रूप को परोक्ष रूप में चित्रित करता है ... करता जाता है। उपन्यास के किसी भी पात्र में कृत्रिमता नहीं है—वे सहज, सादे निरीह है। लेखक उनके क्रूर संसार का हमें सिर्फ बोध कराना चाहता है जिसमें वह सफल रहा है।

विषयी या विषय बनना व्यक्ति की स्वतंत्र चेतना का अधिकार है। 'भय या प्रलोभन से किसी पर यह भूमिका लादना अनैतिक तथा अश्लील है। दुर्भाग्य से मानव समाज ने स्त्री को हमेशा विषय के रूप में ही स्वीकार किया, उसे विषयी बनने के अधिकार से वंचित रखा। मस्तराम कपूर का उपन्यास **विषय-पुरुष** 'स्त्री-स्वतंत्रता के दमन की पुरुष-प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया में लिखा गया है।' पर विषयी को जब विषय बनना पड़ता है तो उसके अहं को कितनी चाट लगती है, वह कितना आहत तथा पीड़ित अनुभव करता है, साथ ही कितने गहन मानसिक तनाव को झेलता है, इस पर भी कथाकार ने विचार किया है।

उपन्यास का नायक मन्मथ भास्कर बौद्धिक प्राणी है, प्रतिष्ठित लेखक तथा सम्पादक है। वह वाक्पटु है। विभिन्न विषयों पर धारा-प्रवाह बोल सकता है। अपने विचारों-भावों को प्रभावी ढंग से सम्प्रेषित कर सकता है। इसी कारण संगोष्ठियों, समारोहों, सेमिनारों में उसकी उपस्थिति को अनिवार्य समझा जाता है। उपन्यास के प्रारम्भ में वह चंडीगढ़ में 'नारी-मुक्ति' पर एक सेमिनार में भाग लेने जाता है। हॉल में नारियां अधिक थीं। एक की सम्मोहिनी मुस्कान उसे आकृष्ट कर लेती है। वह सौन्दर्य-प्रेमी है। उसके रूप-सौन्दर्य के वर्णन में लेखक ने कई नये उपमानों का प्रयोग किया है। भास्कर उसके रूप-सौन्दर्य को देख विद्यार्थी-जीवन के अनेक प्रसंगों में उलझ जाता हैं। ये प्रसंग भास्कर के मन की कई ग्रंथियों को खोलते हैं। इन प्रसंगों में स्त्री विषय रूप में है। जहां राजकुमारी का वर्णन तथा उसके साथ सामीप्य का चित्रण हुआ है वहा भास्कर स्वयं में नारीत्व को अनुभव करता है। ऐसा उसके सहपाठी मजाक में उससे कहते भी थे। मन्मथ को अपने शरीर से प्रेम है। अपने शरीर की सुडौलता पर वह स्वयं ही मुग्ध है। पर जब विशू तथा उसके साथ सम्बन्धों का चित्रण करता है तो लगता है कि विद्यार्थी-जीवन में भास्कर के समलैंगिक सम्बन्ध भी रहे हैं।

विद्यार्थी जीवन में मन्मथ ने एक नाटक में पद्मिनी की भूमिका की थी। अभिनय के लिए वह पुरस्कृत भी हुआ था। इससे लड़कियां उसकी ओर आकृष्ट हुई थीं। 'वह अपने रूप पर मुग्ध था और उसे विश्वास होने लगा था कि उसे लेडी किलर का खिताब दोस्तों ने सही ही दिया है।' ऐसे प्रसंग भास्कर के चरित्र को उभारने में सहायक हैं।

भास्कर ने अनेक सेमिनारों में भाग लिया है। उनकी दुर्व्यवस्था से वह परिचित है। पर ऐसे मंच उसे खुलने का अवसर प्रदान करते हैं।

नये लोगों से परिचय होता है तथा पुरानों से भेंट होती है। इससे अहं-तुष्टि भी होती है। उसे अपनी विद्वत्ता की धाक जमाने का अवसर भी मिलता है। नारी-मुक्ति सेमिनार में वह स्वीकारता है कि युगों से स्त्री-भोग की वस्तु रही है और पुरुष भोक्ता। दुनिया का प्रत्येक धर्म स्त्री विरोधी है। उसे नरक की खान तथा पतन की ओर ले जाने वाली बताया गया है। भास्कर भी भोक्ता है। नारी-मुक्ति पर लम्बा भाषण देने के बाद भी वह स्वयं विषय बनने को तत्पर नहीं। सेमिनार के बाद सपना, जिसकी सम्मोहिनी मुस्कान ने उसे आकृष्ट किया था, से वह आत्मा-परमात्मा पर विस्तृत चर्चा करता है। भास्कर जानता है कि किस युवती से किस विषय पर बात करके उसे अपनी ओर आकृष्ट किया जा सकता है। भास्कर कहता है, 'हम एक साथ विषयी और विषय नहीं बन सकते।...प्रेम की चाह वास्तव में किसी की नज़रों में स्वीकृति पाने और इस प्रकार अपने को जानने की चाह है।'

'जीवन में किसी की नज़रों में स्वीकृत न होने का बोध अपने जीवन की व्यर्थता का बोध होता है। और वह अत्यंत कष्टकर तथा आत्महत्या की ओर ले जाने वाला होता है।' सेक्स की अनिवार्यता को स्वीकारते हुए वह कहता है—'संभोग शरीर की भूख है तो प्रेम आत्मा की।'

सपना के कमरे में स्कॉच पीकर बेहोशी की हालत में बड़बड़ाते हुए मन्मथ विशू और राजकुमारी का नाम लेता है। ये दोनों चरित्र मन्मथ को निरन्तर परेशान करते हैं। ऐसी स्थितियों में कथाकार फंतासी का प्रयोग करता है। व्यक्ति की असामान्यावस्था का प्रलाप फंतासी के माध्यम से ही व्यक्त कया जा सकता है। इस प्रलाप की अवस्था में भी वह कहता है—'वह जब भी जहां भी पैदा होगा, असाधारण लेखक या महामानव होगा।' इससे लेखन के प्रति प्रतिबद्धता के साथ-साथ बड़ा लेखक होने का गर्व या दंभ भी उभरता है। जैसे-जैसे उसे होश आता है वह वास्तविक स्थिति को पहचानता है—'बेसुधी की हालत में उस लड़की ने मेरे जिस्म के साथ क्या किया? शायद उसका मनचाहा इस्तेमाल किया, शायद उसे भोगा?' इस स्थिति में स्त्री भोक्ता या विषयी है और वह विषय। यही क्रिया यदि चेतनावस्था में होती तो स्थिति एकदम विपरीत होती।

विवाह के उपरान्त पत्नी से जो प्रेम, सामीप्य, लगाव उसे मिला वह सघन होने के स्थान धीरे-धीरे विरल हुआ है। इसके दो कारण सामने उभरते हैं—महिला पत्रिका 'संगिनी' का सम्पादक होने के कारण वह महिलाओं से घिरा रहता है, दूसरा निर्मला घर के कामों में ही उलझी रहती है। भास्कर के पुत्र सानु के लिए पिता की उपस्थिति शोर और नुइसेंस से अधिक कुछ नहीं है। वह अपने पिता से कहता भी है—'लेखक होने का यह मतलब तो नहीं कि आदमी अपने घर-बार को भूल जाये।'

कुछ दिन मन्मथ बीमार रहा तो उसने पुनः जिंदगी को झांक कर देखा। उसे लगा कि 'आदमी नितांत अकेला है और उसे अकेले ही अपनी यात्रा पूरी करनी है।' यहीं से उसके जीवन में नया मोड़ आता है। उसे लगता है कि वह घर वालों के लिए अनुपयोगी हो गया है। वह टी.वी. सीरियल लिख कर पैसा नहीं कमाता। मित्रों के साथ लम्बी बैठकें घर वालों को पसंद नहीं—'मन्मथ को लगता है कि प्यार उसकी जिंदगी में कुछ ही दिनों के लिए चोर की तरह घुस आया था और फिर चुपचाप चला गया, अपने पीछे लुटे हुए होने का अहसास छोड़ कर।' बच्चे छोटे थे तो घंटों उनके साथ खेलना उसे अच्छा लगता था। बड़े होते ही वे उससे कट गए। ऐसी स्थिति में मन्मथ के सामने एक ही विकल्प है कि वह सभी को स्वतंत्र कर दे और खुद भी स्वतंत्र हो जाए। वह अलग रहने का निर्णय ले लेता है।

नए मकान में साहित्यिक महफ़िलें जमने लगीं। पुस्तकों का सही मूल्यांकन न होने की, अल्पसंख्यक लेखकों की उपेक्षा की, साहित्य में छाए माफिया तथा पुरस्कारों की राजनीति की, प्रकाशकों की धांधलेबाजी की बातें होने लगीं। वह अकेला रहकर अपने जीवन को सार्थक समझने लगा। वह सोचता—'पत्नी तथा बच्चों का मोह हमें इस दुनिया के प्रलोभनों से और उसकी गुलामी से बांधे रखता है।' अब वह इस दासता से मुक्त है।

शफ़ीक मुस्लिम लेखक है। उसकी उपेक्षा हुई है। वह मौत के कगार पर है—'साहित्य की खेमेबाजी से आहत शफ़ीक का इस तरह मन में भयानक कटुता और जलन को लिए चला जाना' मन्मथ के दिल में गहरा घाव कर जाता है। इससे मन्मथ के चिंतन पर भी प्रभाव पड़ता है। एकान्तवास प्रेम नहीं दे सकता, साथ नहीं दे सकता—जीने के लिए ये बुनियादी चीज़ें हैं। स्वतंत्र रहने के लिए, सभी कुछ पाने के लिए लोगों का साथ ज़रूरी है। मन्मथ ने सोचा था, अलग रह कर वह अधिक पढ़-लिख सकेगा, पर ऐसा नहीं हो सका।

ऐसी स्थिति में कई सवाल उभरते हैं—क्या बच्चे जीवन में उसके अकेलेपन को भरेंगे—ऐसा नहीं हुआ। सानु के लिए वह निरर्थक और व्यर्थ है। सानु अपनी इच्छा से विवाह करता है—अलग रहता है। मन्मथ जानता है, समाज में तेजी से परिवर्तन आ रहा है। उसे स्वीकारने के अतिरिक्त उसके पास कोई विकल्प नहीं है। वह सहजता से स्वीकार भी कर लेता है। सानु के विवाह के उपरान्त वह अपनी बेटी के अकेलेपन को अनुभव करता है। इसी कारण वह कहता है—अकेलापन जिंदगी में आना ही है—व्यक्ति को उसे झेलने-सहने के लिए तैयार रहना चाहिए।

ये स्थितियां हैं जिन्हें भोगते-जीते मन्मथ भास्कर का विकास हुआ है। उसके चरित्र, प्रकृति तथा स्वभाव को समझने के लिए उसके सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक परिवेश को समझना ज़रूरी है। उसकी जिंदगी में विशू है, राजकुमारी है, निर्मला है तथा सपना है। और भी बहुत-सी युवतियां, पुरुष तथा साहित्यिक मित्र हैं जिनके साथ

उसका सम्पर्क रहा है और जिन्होंने उसकी जीवन-दिशा को प्रभावित किया है। इसके साथ ही लेखक होने के नाते मन्मथ संवेदनशील है। बाहर की दुनिया की अपेक्षा भीतर की दुनिया उसके लिए अधिक महत्त्व रखती है। लम्बे समय के बाद सपना उसे उसके एकान्त स्थल में मिलने के लिए आती है। आते ही वह मन्मथ के गालों का चुम्बन लेती है, वक्ष पर सिर टिकाती है—वह फिर भोक्ता के रूप में उभरती है। तमाम नए ज्ञान के बावजूद मन्मथ के लिए यह कष्टकर है—'होटल में भी उसने चाहा था कि वह लड़की उसका विषय बने, लेकिन वह स्वयं उस लड़की का विषय बन गया।...स्त्री के द्वारा विषय बनाए जाने की कसक पुरुष के लिए कितनी कष्टकर होती है' इसे मन्मथ समझता है। इसीलिए वह प्रतिशोध लेना चाहता है, सपना को विषय बना कर। मन्मथ के ये विचार उसकी बौद्धिकता तथा बड़प्पन के आड़े आते हैं। शायद इसी कारण वह सपना को बचपन की राजकुमारी के रूप में देखने लगता है जिसकी उंगली पकड़ कर वह कहीं भी जा सकता है। इस क्रिया में सपना फिर विषयी के रूप में सामने आती है। वह उसे देहरादून चलने के लिए कहती है जहां उसकी मां का एक आश्रम है। मन्मथ सपना के आग्रह को ठुकरा नहीं सकता। देहरादून के स्टेशन पर भक्तगण उसके प्रति अपार श्रद्धा तथा सम्मान व्यक्त करते हैं। आश्रम में मन्मथ को गुरु सिंहासन पर बैठाया जाता है। होटल में हुए वार्तालाप के टेप को भक्तजनों को सुनाया जाता है। आश्रम में सात दिन रहकर मन्मथ को लगता है कि उसका कायाकल्प हो गया है। वह मन्मथ से स्वामी भास्करानंद बन गया। भगवान रजनीश के दर्शन से भिन्न प्रकार का दर्शन भास्करानंद भक्तों के सामने-रखते है। वे सम्भोग से मुक्ति के स्थान पर दैहिक स्पर्श से प्राप्त चेतना द्वारा मुक्ति की बात करते हैं—व्यक्ति 'प्रिय को सहलाने की क्रिया में मांसपिंड के माध्यम से प्रिय को चेतना का अनुभव करता है। पर सहलाने की इस क्रिया में जब कामोत्तेजना होती है तो स्पर्श में सहजता नहीं रहती और सहलाने की क्रिया में मर्दन-संघर्षण की यांत्रिक क्रिया बन जाती है।' भक्त को इसी से बचना है।

सपना की मां निशा के मन में यह भ्रम है कि मन्मथ उसका पति है। निशा के पति का एक दुर्घटना में निधन हो चुका है। निशा को यह भ्रम इसलिए है कि मन्मथ की आवाज़ उसके पति जैसी है। पर यह भ्रम मन्मथ से मिलने के बाद भी नहीं टूटता। मन्मथ का यह कथन कि 'हम किसी के लिए हैं और कोई हमारे लिए है इस आश्वासन से ही जिंदगी की सार्थकता बनी रहती है।' उसको मन्मथ के और करीब ले आता है।

स्वामी भास्करानंद के आसन को स्वीकार कर लेने के उपरान्त भी सपना तथा निशा के प्रति उसकी निर्बलता समय-समय पर प्रकट होती है। वह निशा या सपना को विषय नहीं बना सका। वे दैहिक स्पर्श तक ही सीमित रहना चाहता है। निशा तथा सपना के प्रति काम-भाव तथा साथ ही आश्रम का गुरु होना—लगता है, यहां आकर भी मन्मथ दोहरी ज़िंदगी जी रहा है। कभी-कभी मन्मथ को लगता है सपना उसे जानबूझकर विषय बना रही है। उसे गुरु आसन पर बैठाना, जगह-जगह उसके चित्र लगाना, उसकी जयजयकार करवाना—यह सब भी उसे विषय ही बनाता है। मन्मथ इस प्रकार के आश्रमों-मठों का विरोधी रहा है। वही मन्मथ सपना तथा निशा के कहने पर विदेशों से लाखों डालर इकट्ठा करके लाता है।

निशा ने साध्वी का जीवन जिया। साध्वी होने के कारण वह पति की शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति भी नहीं कर सकी। फिर उसे रति रोग (एड्स) कैसे हुआ, उपन्यास में इसका कोई ठोस कारण नहीं मिलता। मरने से पूर्व निशा मन्मथ को आश्रम का परम पिता स्थापित करती है। शायद इसलिए कि वह मन्मथ की निर्बलताओं का शिकार हो चुकी है तथा सपना को उससे बचा लेना चाहती है। निशा जानती है कि मन्मथ भी उससे सम्भोग के कारण एड्स रोग से बच नहीं पाएगा, इसलिए आश्रम की देखभाल का काम वह सपना पर छोड़ जाती है।

मन्मथ के जीवन में आया यह मोड़ स्वाभाविक नहीं लगता। मन्मथ की पत्नी है—वैवाहिक जीवन सुखमय ही चित्रित किया गया है। फिर अन्य नारियों के प्रति वासनाजन्य आकर्षण का कोई ठोस कारण नज़र नहीं आता। बचपन में राजकुमारी या विशू के प्रति असामान्य आकर्षण रहा है जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती—लेखक ने मन्मथ के स्वभाव के पीछे इसी ग्रंथि का कार्यरत सिद्ध करने का प्रयास किया है। पर मन्मथ जैसे विद्वान व्यक्ति के लिए उस पर अधिकार पाना कठिन नहीं था। मन्मथ की विद्वत्ता भाषा को एक नया तेवर देती है। दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए एक खास तरह की भाषा की ज़रूरत होती है। मस्तराम कपूर ने उपन्यास में भाषा के विभिन्न रूपों का प्रयोग सफलता के साथ किया है। उपन्यास स्त्री स्वतंत्रता के दमन की पुरुष-प्रवृत्ति को उभारता है। यहां तक कि नारी-स्वतंत्रता पर भाषण देने वाला मन्मथ भी पुरुष की इस प्रवृत्ति से मुक्त नहीं है। वास्तव में सपना जैसी युवतियों की ज़रूरत है जो पुरुष की इस दमन-प्रवृत्ति से नारी-समाज को मुक्ति दिला सकती हैं।

1. दीवार में एक खिड़की रहती थीः विनोद कुमार शुक्ल; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-110002; संस्करणः 1997; मूल्य : 125 रुपये

2. विषय पुरुष : मस्तराम कपूर ; परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली-92 संस्करणः1997; मूल्य : 100 रुपये

6/15, अशोक नगर, नई दिल्ली 110018

डॉ. रणवीर रांग्रा

बाधाओं और वर्जनाओं से जूझते हुए

क्रम और व्युत्क्रम एक प्रकार से वीरेन्द्र सक्सेना की आत्मकथा है। एक प्रकार से इसलिए कि यह उनकी संपूर्ण आत्मकथा नहीं, बल्कि उनके पंद्रह आत्मकथापरक संस्मरणों का संकलन है। इन संस्मरणों में जो क्रमबद्धता है, वह कालक्रमानुसार ही है और इनमें उनके जीवन के व्यक्तिगत, व्यावसायिक और साहित्यिक तीनों पक्षों को समेटने का प्रयास किया गया है।

आत्मकथा लिखना बड़े ही जोखिम का काम है, विशेषकर उस व्यक्ति के लिए जो स्वयं सर्जनात्मक लेखक हो और उसकी रचनाओं में यत्र-तत्र आत्मकथा स्पष्ट झलकती हो। ऐसे में पाठक को उसके दोनों विधाओं के लेखन में जगह-जगह विरोधाभास की प्रतीति हो सकती है और वह उनमें सामंजस्य बैठाने के प्रयास में भ्रमित भी हो सकता है। इसलिए साहित्यकार प्रायः आत्मकथा लिखने से बचते हैं, क्योंकि आपबीती का प्रयोग वे बेखटके अपनी कृतियों में कर सकते हैं। पर इसके अपवाद भी हैं, यथा हिन्दी-साहित्य में बच्चनजी, और उन पर उंगलियां भी सब तरफ से उठी हैं।

प्रश्न उठ सकता है कि सर्जनात्मक लेखक जब अपनी आत्मकथा की अभिव्यक्ति अपनी रचनाओं में ही भरपूर कर लेते हैं तो उन्हें अलग से आत्मकथा लिखने का जोखिम उठाने की क्या मजबूरी है? फिर, आत्मकथा लिखने के दौरान जिस बेरहमी से अपनी चीर-फाड़ करनी पड़ती है, वह बड़ी यातनाप्रद होती है और उसे झेलना हर किसी के बूते की बात नहीं होती। इस तथ्य को बांग्ला की सुप्रसिद्ध कथाकार आशापूर्ण देवी ने भी स्वीकार किया, जब अपने एक साक्षात्कार के दौरान मैंने उनसे एक ऐसा ही सवाल किया। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'बकुलकथा' के प्रसंग में मैंने उनसे पूछा था, "यह उपन्यास वास्तव में बकुलकथा नहीं, अनामिकाकथा है। अनामिका की हिम्मत ही नहीं होती कि वह अपने भीतर छिपी अनामिका की जीवनी लिखे, क्योंकि यह काम उसे अत्यन्त कष्टप्रद लगता है। कृपया बताएं, अपनी जीवनी लिखने में आपका अपना क्या दृष्टिकोण है।"

उनका उत्तर स्पष्ट था, "अपनी जीवनी लिखने के लिए मुझसे प्रायः अनुरोध किया जाता है, पर मैं समझती हूं कि आत्मकथा लिखने के लिए व्यक्ति को अत्यन्त सत्यप्रिय होना चाहिए। जीवन फूलों की सेज नहीं, उसका दुखद पक्ष भी है। मेरे जीवन में अनेक लोग आए हैं। उन्हें चित्रित करना आसान नहीं हैं और संभव भी नहीं है, बल्कि मैं कहना चाहूंगी कि उचित भी नहीं है। अपनी जीवनी लिखते समय व्यक्ति को जितना ईमानदार होना चाहिए, उतना ईमानदार वह हो नहीं पाता। व्यक्ति-सत्य और सामाजिक सत्य दो अलग चीज़ें हैं और बहुत जटिल हैं। सत्य अपनी पूर्णता में व्यक्त ही नहीं किया जा सकता, यह बात मान लेनी चाहिए। यही कारण है कि अपनी बड़ी बहन के अनुरोध के बावजूद 'बकुलकथा' की नायिका अनामिका आत्मकथा नहीं लिखती। इसमें परिवेश की बात भी है। मेरे जीवन से सबद्ध अनेक ऐसे लोग हैं जिन्हें मैं चित्रित नहीं कर सकती। एक बात और भी है। एक चीज़ है जिसे जीवन-सत्य कहते हैं। उसे कभी भी भ्रामक और विकृत रूप में प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। इसीलिए मैंने अपने जीवन के सत्य को, आंशिक रूप से ही सही, अपनी सर्जनात्मक कृतियों में व्यक्त करना पसंद किया, आत्मकथा के रूप में नहीं।"

यह प्रश्न इस आत्मकथा के लेखक के भीतर भी उठा होगा, बल्कि उसने उसे मथा भी होगा। शायद इसीलिए इस समस्या का उल्लेख उसे ज़रूरी लगा। पुस्तक के 'प्राक्कथन' में वीरेन्द्र सक्सेना लिखते हैं, 'मेरी अनेक कहानियों और तीनों उपन्यासों में भी कई समीक्षकों और मित्रों ने आत्मकथात्मक सूत्र खोजे हैं और उनके बारे में औपचारिक-अनौपचारिक चर्चाएं भी की हैं। इस संबंध में मैं यहां केवल यह तथ्य रेखांकित करना चाहूंगा कि किसी की भी कहानियां या उपन्यास आत्मकथा से भिन्न ही होते हैं, क्योंकि उनमें 'जो हुआ' की बजाए 'जो हो सकता है' या 'जो होना चाहिए' का भी चित्रण होता है। यह बात मेरे इन आत्मकथात्मक संस्मरणों से और भी अधिक स्पष्ट होकर सामने आ जाएगी, क्योंकि इनमें 'जो हुआ' का ही तत्वात्मक चित्रण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। कुल मिला कर यह चित्रण कितना वास्तविक है, उसके बारे में मैं गांधीजी के शब्दों का ही अनुसरण करते हुए कहना चाहूंगा कि मैंने कहने योग्य एक भी बात छिपाई नहीं है।"

लेखक के उपर्युक्त स्पष्टीकरण में 'जो हुआ' के यथार्थ चित्रण पर जो बल है, वह एक सीमा तक ही विश्वसनीय माना जा सकता है। हमारे सारे अनुभवों और अनुभूतियों का मूलाधार हमारी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत जानकारियां ही होती है जो व्यक्ति-केन्द्रित होने के कारण प्रायः भ्रामक सिद्ध होती हैं। शायद इसीलिए एक ही व्यक्ति या घटना का उससे सम्बन्धित लोगों का चित्रण, उनकी ईमानदारी के बावजूद, एकसमान नहीं होता, एक-दूसरे से भिन्न होता है, क्योंकि प्रत्येक में व्यक्ति-सत्य झलकता है, संपूर्ण सत्य नहीं जो ऐन्द्रिक अनुभूति से परे होता है। हमारे यहां इन्द्रियातीत ज्ञान को जो अधिक विश्वसनीय माना जाता है, उसका यही प्रमुख कारण है।

आत्मकथा लेखन में दूसरा [illegible] है। किसी स्मृति से सम्बन्धित व्यक्ति या घटना की मूल स्थिति-परिस्थिति और उसके चित्रण के बीच समय का जो लंबा अन्तराल आ जाता है वह भी हमारी स्मृतियों के रूप और आकृति पर अपना प्रभाव डालता रहता है। इसलिए एक ही घटना के बारे में समय-समय पर प्रकट होने वाली हमारी अपनी स्मृतियां हू-ब-हू एकसी नहीं होतीं, यदि उन्हें बारीकी से जांचें तो। हमारे जीवनानुभवों के विकास के साथ-साथ हमारी अतीतोन्मुखी दृष्टि भी विकसित होती रहती है और इस विकास के प्रभाव से हमारी स्मृतियां भी अछूती नहीं रहतीं। हमारी स्मृतियां आकस्मिक रूप से प्रकट नहीं हो जाया करतीं। उनके पीछे इच्छाशक्ति की प्रेरणा रहती है। जो स्मृतियां अचानक उभर आई प्रतीत होती हैं, वे भी किसी समय की हमारी इच्छा के परिणाम-स्वरूप ही बाद में प्रकट होती हैं। वास्तव में, स्मृतियों की तीव्रता और स्पष्टता उन्हें प्रेरित करने वाली इच्छा की तीव्रता पर निर्भर करती है। इसलिए यह मानना होगा कि हमारी स्मृतियां उतनी तटस्थ और मासूम नहीं होती जितनी वे प्रतीत होती है। और याद रहे इन्हीं स्मृतियों की नींव पर आत्मकथाकार अपना महल खड़ा करता है।

इसलिए स्मृतियों के पंख पर सवार होकर जब एक ही व्यक्ति या घटना किसी लेखक की सर्जनात्मक रचना और आत्मकथा दोनों में अभिव्यक्ति पाती है, भिन्न-भिन्न रूपों में, तो सहज ही यह प्रश्न उठता है कि सच के अधिक निकट इनमें से किसे माना जाए, रचना को या आत्मकथा को, रचनाकार को या आत्मकथाकार को? इस विषय में प्रसिद्ध अंग्रेजी-लेखक डी.एच. लॉरेंस का निश्चित मत है, और टी. एस. इलियट का भी, कि "कथा पर विश्वास करो, कथाकार पर नहीं", यानी इस मामले में उपन्यास पर, उपन्यासकार अथवा आत्मकथाकार पर नहीं।

वीरेन्द्र सक्सेना को इस बात का श्रेय मिलना चाहिए कि उन्होंने इन संस्मरणों में अपने जीवन के कई अत्यन्त अंतरंग पक्षों-स्थलों को उकेरने का प्रयास किया है—यथा माया और विमला के प्रसंग। अपने पांचवें संस्मरण में माया और विमला नामक अपनी दो महिला-मित्रों से अपने सम्बन्धों का खुलासा करने बाद वे लिखते हैं, "मैंने अपने पहले उपन्यास 'खंडित राग' में कैशोरिक निकटता और मित्रता का जो चित्रण किया है, वह संभवतः मेरी और विमला की उन दिनों की निकटता का ही प्रतिफलन है। लेकिन यह उपन्यास तो बाद में लिखा गया और डा. हरदयाल जैसे समीक्षकों ने इस मित्रता और निकटता को साहचर्यजनित प्रेम माना है। किन्तु जहां तक निजी अनुभव का प्रश्न है, मैं उन दिनों विमला के साथ अपनी निकटता और मित्रता को सहज मैत्री ही मानता था और अभी भी मानता हूं। हो सकता है यही सहज मैत्री बाद में अनुकूल वातावरण मिलने पर प्रेम में भी परिवर्तित हो जाती और तब हम दोनों परस्पर विवाह की भी सोच सकते थे। किन्तु ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि हम दोनों की मैत्री को लेकर तरह-तरह की शंकाएं की जाने लगीं और निकट संबंधियों द्वारा भी, जिनमें मेरी बड़ी मामी भी शामिल थीं, तरह-तरह के लांछन लगाए जाने लगे। मेरी तरह विमला ने भी यद्यपि इस दुष्प्रचार का खुलकर विरोध किया, किन्तु अंततः हमें अपनी ईमानदारी सिद्ध करने के लिए अपने मैत्री संबंध को तोड़ ही देना पड़ा। तभी कदाचित् 'एक ही रास्ता' जैसी फिल्म के प्रभाव में आकर मैंने एक बार विमला के सम्मुख विवाह का प्रस्ताव भी रखा, किन्तु उसने उसे स्वीकार नहीं किया।"

किसी भी आत्मकथा के ऐसे स्थल निश्चय ही गहरे मनोविश्लेषण की मांग करते है, पर पुस्तक-समीक्षाओं में इसके लिए अवकाश कहां रहता है? फिर भी, उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर इतना तो समझा ही जा सकता है कि आत्मकथाकार जब आत्मरक्षा पर उतर आता है तो उसके स्पष्टीकरण में परस्पर-विरोधी तत्व सहज ही झलकने लगते हैं। इनमें पाठक को आत्मकथाकार के पिता के, जिनसे वह अत्यन्त प्रभावित रहा है, बचपन से ही, आदर्शों की छाया भी दिख सकती है।

यहां मैं इस आत्मकथा के एक और आत्मरक्षापरक स्पष्टीकरण का उल्लेख करना चाहूंगा जो उनके तेरहवें संस्मरण में उपलब्ध है। सन् 1991 में राष्ट्रीय प्राकृतिक विज्ञान संग्रहालय के सभागार में आयोजित लोकार्पण-कार्यक्रम का ज़िक्र करते हुए वे लिखते हैं, "कार्यक्रम में चूंकि मेरा उपन्यास 'खराब मौसम के बावजूद' चर्चा के केन्द्र में था और 'जिसका कोई दुश्मन नहीं' के संपादक के रूप में सुश्री जानकी भी मेरे साथ मंच पर बैठी थी, इसलिए कुछ लेखक-मित्रों ने इस उपन्यास की एक स्त्री-पात्र वेदेही में सुश्री जानकी को ही ढूंढने की चेष्टा की। अतएव इस बारे में यह स्पष्टीकरण ज़रूरी लग रहा है कि वैदेही का स्त्री-पात्र केवलमात्र उतना ही वास्तविक है, जितने किसी भी उपन्यास के पात्र होते हैं। दूसरे शब्दों में, जिस तरह मेरे उपन्यासों का नायक डा. विनय श्रीवास्तव वास्तविक रूप में स्वयं मैं नहीं हूं, उसी तरह वेदेही या कोई अन्य औपन्यासिक पात्र वास्तविक जीवन का यथावत् पात्र नहीं है, सिवाय उन पात्रों के जिनके जीवन का चित्रण वास्तविक नामों से ही किया गया है, जैसे सुश्री शबाना आज़मी।...यहां यही कहने को विवश हूं कि वास्तविक जीवन की निकटता-अंतरंगता कई बार इतनी आधी-अधूरी, अप्रत्याशित और अतार्किक होती है कि उसे कथा-साहित्य में स्वाभाविक और तार्किक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए अनेक संशोधन-परिवर्तन करने पड़ते हैं।"

किसी भी आत्मकथा के वे स्थल कमज़ोर माने जाते हैं जहां आत्मककथाकार आत्मरक्षा के लिए मजबूर हो जाता है। आत्मकथाकार से प्रायः यह अपेक्षा की जाती है कि वह लेखन-प्रक्रिया के दौरान अपने को प्रत्येक भीतरी और बाहरी चोट के प्रति पूरी तरह खुला छोड़कर अत्यन्त निर्मम होकर अपनी चीर-फाड़ करे। पर यह भी सच है कि यह

सब चाहना जितना आसान है उसे निभाना उससे कई गुना दुष्कर होता है, अपने को स्वयं सूली पर चढ़ाने जैसा होता है। अपने भीतर गहरे से गहरे उतर कर कौन अनगिनत नारकीय यातनाओं से गुज़रना चाहेगा? पर चूंकि इस विधा को अपनाने का निर्णय स्वयं लेखक का अपना होता है, इसलिए शिकायत का हक उससे छिन जाता है।

इस आत्मकथा के लेखक को इस बात का भी श्रेय मिलना चाहिए कि उसके जीवन में जो अनेक महिला-मित्र आई, उनसे अंतरंगता-निकटता की बात वे प्रायः अपनी पत्नी से नहीं छिपाते थे, जो अपने-आपमें बहुत बड़ी बात है, और इसका उल्लेख इन संस्मरणों में बार-बार हुआ है। किसी भी पत्नी के लिए यह स्थिति-परिस्थिति सहज नहीं हो सकती। इस दृष्टि से उनके शोध-प्रबन्ध 'समकालीन हिन्दी-कहानी में चित्रित सेक्ससंबंधों के यथार्थ का पाठकीय विश्लेषण' का समर्पण उल्लेखनीय है: "निकटतम सहयोगी और विकटतम विरोधी विभा सक्सेना के लिए।" पर पत्नी के सहयोग के बिना कोई भी पति जीवन में उन्नति कैसे कर सकता है? इस तथ्य को उन्होंने अपने संस्करणों में बार-बार स्वीकार किया है—"तनाव और टूटन के विकट क्षणों में भी अगर पति-पत्नी परस्पर विश्वास बनाए रख सकें तो तथाकथित विरोध भी अंततः सामंजस्य में रूपांतरित हो जाता है और दुर्दिनों की मार को सहनीय बना देता है।" इस तथ्य को उनकी पत्नी ने भी 'जिसका कोई दुश्मन नहीं' में स्वीकार किया है।

इन संस्मरणों में अनेक ऐसे स्थल हैं जहां लेखक ने लोकापवाद की चिंता छोड़ विभिन्न विषयों-समस्याओं पर अपना बेबाक मत प्रकट किया है—यथा, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नागर विमानन विभाग, साहित्य-जगत, फिल्मी दुनिया आदि की विभिन्न हस्तियों-घटनाओं के बारे में। पर विस्तार के डर से मुझे अब विराम लेना होगा, इस आशा के साथ कि इस आत्मकथा के अन्य पक्षों के विश्लेषण का काम अन्य समीक्षक बन्धु संभाल लेंगे।

फिर भी, अन्त में इतना ज़रूर चाहूंगा कि आत्मकथा-लेखन की आन्तरिक मनोवैज्ञानिक बाधा-विपदाओं और लोकापवाद आदि की अनेक बाहरी वर्जनाओं से निरन्तर जूझते हुए इन संस्मरणों के लेखक ने अपने को उघाड़ने में जान-बूझकर चेतन मन से कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी, इसकी प्रतीति पाठक को अपने-आप हो जाएगी, जो निश्चय ही श्रेयस्कर है। आशा है, साहित्य-जगत में यह पुस्तक बड़ी उत्सुकता और चाव से पढ़ी जाएगी।

क्रम और व्युत्क्रम : डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना; नीलकंठ प्रकाशन, महरोली, नई दिल्ली; संस्करण:1998; पृष्ठ सं. 160; मूल्य: 123 रुपये

सी-7/180, नवीन निकेतन,
एस.डी.ए., नई दिल्ली-110016

अश्विनी पाराशर

पुस्तक प्रकाशन : सन्दर्भ और दृष्टि

ऐतिहासिक दृष्टि से कह सकते हैं कि भारतीय भाषाओं में पुस्तकों का प्रकाशन 1800 ई. में प्रारम्भ हुआ और 18 मार्च 1800 ई. को न्यू टेस्टामेंट के मैथ्यू लिखित समाचार के बंगला अनुवाद की पहली शीट मुद्रण के लिए तैयार हुई। हिन्दी लिपि और उर्दू शैली में 'मिसकीन की मरसिया' नामक पहली पुस्तक 1802 ई. में कलकत्ता के हरकारू प्रेस में छपी। और तब से आज तक पुस्तक व्यवसाय समूचे भारत में पर्याप्त विकसित हो चुका है। इसके साथ-साथ यह भी सच है कि 1947 से पूर्व पुस्तक व्यवसाय शुद्ध व्यवसाय न होकर एक मिशन था। राष्ट्रसेवा का भाव इसमें व्यक्तिगत लाभ के समानान्तर महत्त्वपूर्ण था। हां, आजादी के बाद प्रकाशन की आन्दोलनधर्मी भूमिका समाप्त-सी हो गई। व्यावसायिकता हावी होने लगी। कृष्णचन्द्र बेरी ने अपने पिता निहाल चन्द द्वारा स्थापित प्रकाशन संस्था 'निहाल चन्द एण्ड कम्पनी' का जीर्णोद्धार करके 1940 में 'हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय' की स्थापना की और इस तरह राष्ट्रीय अस्मिता की लड़ाई भाषाई अस्मिता की लड़ाई के रूप में परिवर्तित हो गई। पुस्तक प्रकाशन जगत के अपने अनुभवों को श्री कृष्णचंद्र बेरी ने समय-समय पर संकलित दस्तावेज़ों से संदर्भित करते हुए पुस्तकाकार रूप में 'पुस्तक प्रकाशन : सन्दर्भ और दृष्टि' नाम से प्रस्तुत किया है। वस्तुतः हिन्दी प्रचारक संस्थान के स्वत्वाधिकारी श्री बेरी का नाम प्रकाशन व्यवसाय के पितामहों के रूप में सम्मान से लिया जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक अध्ययन और विषय प्रस्तुति की दृष्टि से प्रशिक्षण, विचार, सरोकार, चुनौती, दृष्टिकोण, पत्रकारिता, स्मृति पाथेय तथा परिशिष्ट के रूप में आठ खण्डों में विभक्त की गई है और प्रत्येक खण्ड स्वयं में एक अलग पुस्तक के स्वरूप की ओर संकेत करता अपने अंतर्निहित विषय का विवेचन प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से पुस्तक प्रकाशन विषय की शोध क्षमता का आभास मिलता है।

श्री बेरी ने प्रकाशन को उद्योग का स्तर प्रदान करते हुए 'प्रशिक्षण' खण्ड में उद्योग, प्रकाशकों की क्षमता और कर्तव्य, उनकी समस्याओं, ग्राहक की पहचान, गांवों में पुस्तक प्रसार, सरकारी खरीद आदि विषयों पर चर्चा के साथ-साथ हिन्दी प्रकाशन के दो सौ वर्षों का इतिहास भी प्रस्तुत किया है और यह एक उपलब्धि है कि बेरीजी ने प्रकाशन संस्कृति के उद्देश्य और परिणति दोनों पर दृष्टिपात करते हुए अपनी अपेक्षाओं का भी उल्लेख किया है। जब प्रकाशन संगठित नहीं

थे तो उद्देश्य उच्चाशयी थे, आज संगठित हो जाने पर उद्देश्य अर्थकेंद्रित होकर रह गए हैं। यह चिन्ता समूचे परिदृश्य पर एक सवालिया निशान लगाती है।

विचार खंड में प्रकाशकों की भूमिका से प्रारम्भ करके बेरीजी ने पुस्तकों के लेखन, प्रकाशन और वितरण की समस्या पर विचार करते हुए उच्च शिक्षा, राष्ट्रहित में हिन्दी, देश की अन्य भाषाओं की स्थिति, वंगीय प्रकाशन आदि से अब तक, कापी राइट कानून आदि पर अपने अनुभव और अपेक्षाओं की चर्चा की है। 'कैसे थे वे दिन, वे लोग और कैसी थी उनकी हिन्दी के प्रति आस्था' शीर्षक के अन्तर्गत लेखक ने स्मृति के सहारे जिस पक्ष को उजागर किया है, वह मिशनरी भाव की अपेक्षा पर बल देता है। इसमें अम्बिका प्रसाद बाजपेई, मूलचन्द अग्रवाल, सकल नारायण शर्मा, गांगेयनरोत्तम शास्त्री, ललिता प्रसाद सुकुल, राजनारायण चतुर्वेदी 'आजाद' आदि कलकत्ते की विभूतियों का स्मरण करते हुए बेरी जी ने राष्ट्रीय आन्दोलन में हिन्दी से उनके जुड़ाव को दर्शाया है।

सरोकार खंड में प्रकाशन की समस्याओं, आन्दोलन और जनसम्पर्क, घटते पाठक तथा आजादी की लड़ाई में प्रकाशकों के योगदान की चर्चा करते हुए समकालीन संदर्भ में प्रकाशकों की भूमिका को चेताने का भी प्रयास किया है और कहा है–''चरखे में राजनीतिक आजादी से अधिक आर्थिक आजादी का सपना था... हम प्रकाशकों का कर्त्तव्य है कि (आर्थिक आजादी की) इस लड़ाई में हाथ बटाएं। हमें घूस, दलाली और कमीशनखोरी के दृष्टिकोण से दूर रहकर कम से कम मूल्य का प्रकाशन करना चाहिए जिसे देश की करोड़ों सामान्य जनता खरीद सके।'' लेकिन वास्तव में हो इसका उल्टा रहा है। सरकारी खरीद के नाम पर सरकारी पुस्तक खरीद के अधीक्षकों द्वारा पुस्तक खरीद पर एक निश्चित राशि कमीशन में प्राप्त करने की प्रवृत्ति ने जहां प्रकाशक और लेखक के बीच दूरी बढ़ाई है, प्रकाशक की नजर में लेखक को कमतर किया है, वहीं पाठक की स्थिति को भी नगण्य कर दिया है और इस तरह प्रकाशन व्यवसाय को मूल लक्ष्य से ही च्युत कर दिया है।

प्रकाशन व्यवसाय की वर्तमान स्थिति, चुनौती और समस्याओं तथा प्रकाशक सम्मेलन का चुनौती खंड में विवेचन करते हुए बेरी जी कुछ सवाल भी उठाते हैं। वह सीधे-सीधे पुस्तक प्रकाशन को व्यवसाय तो मानते है पर सवाल करते हैं–क्या पुस्तक लेखन भी व्यवसाय है? और क्या पुस्तक मनुष्य की बुनियादी जरूरत नहीं है? इस पर विस्तार से चर्चा हो सकती थी लेकिन पुस्तक की आकार सीमा के कारण लेखक ने इसे एक अनुच्छेद में ही समेट दिया। उसने प्रकाशकों के बीच पनपती प्रांतीयता को विष की संज्ञा देते हुए संभावित भीषण खतरों का संकेत भी दिया है और निवेदन भी किया है कि प्रकाशकों को दलगत राजनीति से ऊपर उठकर कार्य करना होगा। यह कार्य नैतिकता के दायरे में आता है और नैतिकता सामूहिक स्तर पर जिस आदर्श को प्रस्तुत करने का उद्यम करती दिखाई देती है, वैयक्तिक स्तर पर वही स्वलाभ में सिमट जाता है।

'दृष्टिकोण' में दायित्व की चर्चा के साथ-साथ बाल साहित्य प्रकाशन की दशा और दिशा की चर्चा है। पत्रकारिता खंड में बंगाल के योगदान की चर्चा करते हुए बेरी जी ने क्रांतिकारी राम रिख सहगल का भी स्मरण किया है जिन्होंने अपने समय के उल्लेखनीय रहे पत्रों–चांद, भविष्य, कर्मयोगी तथा गुलदस्ता का सम्पादन किया। आर्थिक संकटों के बावजूद कलम की लड़ाई लड़ने वाले ऐसे कलम-योगियों की रचनात्मक भूमिका क्या कभी भुलाई जा सकती है!

स्मृति पाथेय खंड में अन्यानेक महत्त्वपूर्ण साहित्य-पत्रकार स्तम्भों के साहसिक कृतित्व की चर्चा करते हुए बेरी जी ने अपने ऐतिहासिक विवेचन में कुछ साक्ष्य भी प्रस्तुत किए हैं। इनमें मदन मोहन मालवीय, बाबू सम्पूर्णानन्द, राम दहिन मिश्र, बाबू मूलचन्द अग्रवाल, बेढब बनारसी, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि के योगदान का स्मरण किया गया है।

वस्तुतः प्रकाशन व्यवसाय का दो सौ वर्ष का यह लेखा-जोखा अपने-अपने खंडों के अलग पुस्तक रूप की मांग करता है। विद्वान लेखक ने इतने बड़े विषय को समेटने में कई स्थलों पर उद्धरणों या उदाहरण संकेतों या साक्ष्यों के अभाव में केवल सर्वेक्षण शैली में वर्णन भर कर दिया है। लेकिन एक व्यक्ति द्वारा किया गया यह दुर्लभ कार्य इसलिए भी उल्लेखनीय है कि पुस्तक प्रकाशन उद्योग आज देश में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के युग में पाठक तक पहुंच कर 'ज्ञान' को वास्तव में प्रसारित करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाह रहा है। इसमें विकास एवं विस्तार की बराबर संभावना है। गुणवत्ता की दृष्टि से भी हम फाउण्ड टाइप से कम्प्यूटर मुद्रण के युग में प्रवेश कर चुके हैं। इलेक्ट्रानिक मीडिया ने इसे प्रभावित किया है। सूचना के अधिकार ने सजगता बढ़ाई है। ऐसे में प्रकाशन व्यवसाय की अनेक पहलुओं से चर्चा-परिचर्चा को बढ़ाती यह पुस्तक महत्त्वपूर्ण बन गई है।

अच्छा हो कि सरकार-प्रकाशक-लेखक के त्रिकोण का लक्ष्य पाठक के लिए ज्ञान-सामग्री प्रस्तुत करना हो–क्योंकि केन्द्र में पाठक के बिना इस पूरे उद्योग की सार्थकता पर प्रश्न-चिह्न लग जाएगा।

पुस्तक प्रकाशनः संदर्भ और दृष्टि; लेखकः कृष्णचन्द्र बेरी; सम्पादनः डॉ. देवी प्रसाद कुंवर; प्रकाशकः प्रचारक ग्रंथावली परियोजना, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशंस प्रा. लि., पिशाच मोचन, वाराणसीः 221010; प्रकाशनः 1997; मूल्यः 200 रुपए

34 कादम्बरी, 19/9 रोहिणी, दिल्ली-85

सुरेन्द्र तिवारी

कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषांक

हिन्दी में साहित्यिक पत्रिकाओं का जहां एक तरफ अभाव बढ़ता जा रहा है वहीं कुछ पत्रिकाएं अपनी विशिष्टता के कारण यह उम्मीद बढ़ाती रहती हैं कि अभी साहित्यिक पत्रिकाओं का समापन युग नहीं आया है। पिछले कुछ महीनों में इस तरह की कई पत्रिकाएं सामने आई है जो रचनात्मक धरातल पर एक नया विश्वास पैदा करती हैं। इनके विशेष अंक निश्चित रूप से अपनी विशिष्टता दर्शाते हैं।

ऐसी पत्रिकाओं में सबसे पहले मैं 'गगनांचल' की चर्चा करूंगा। यद्यपि यह एक सरकारी पत्रिका है, सर्वसाधनसम्पन्न, फिर भी इसका 'स्वर्ण जयंती विशेषांक' अपनी भव्यता, रचना-चयन, विषय-भिन्नता के कारण उल्लेखनीय बन गया है। आजादी की स्वर्ण-जयंती के अवसर पर किसी अन्य पत्रिका ने अभी तक इतना भव्य और विशालकाय अंक निकाला हो, मुझे याद नहीं। जिस काम को कई पत्रिकाओं को मिलकर करना था, उसे अकेले 'गगनांचल' ने कर दिखाया है। निश्चित रूप से कन्हैयालाल नंदन जैसे अनुभवी संपादक के वश की ही बात थी यह। इस विशेषांक को निकालने के पीछे उनका जो उद्देश्य रहा है, वह भी बहुत स्पष्ट है—"आजादी के बाद जिस तेजी से समाज में विसंगतियां बढ़ीं, हताशा, निराशा, कुंठा, मोहभंग आदि की प्रवृत्ति बढ़ी उसका असर रचनाकार की सोच पर भी पड़ा। जैसे स्वतंत्रता के बाद देश के हालात बदले वैसे ही साहित्य के हालात भी बदले। साहित्य ही नहीं, कला, संस्कृति, दर्शन, शिक्षा, फिल्म, संगीत आदि की दुनिया में भी बदलाव आया।" और इसी बदलाव को इस विशेषांक में रचनाओं के माध्यम से दिखाने की कोशिश की गई है। अतीत के पलटते पृष्ठ, सामाजिक चिंतन, साहित्य, कविता, कथा साहित्य, नाटक, हास्य-व्यंग्य, संगीत, पत्रकारिता फिल्म आदि सभी विधाओं और माध्यमों को समेटता यह विशेषांक सचमुच अनूठा है, क्योंकि सिर्फ रचनाएं ही नहीं, आज के विशिष्ट लेखकों और चर्चित रचनाकारों का सहयोग भी संपादक को मिला है। मन्मथनाथ गुप्त, रमानाथ अवस्थी, कृष्णा सोबती, डा. नगेन्द्र, रामदरश मिश्र, राजेन्द्र यादव, केदारनाथ सिंह, सुधीश पचौरी, राजेन्द्र अवस्थी, विजयेंद्र स्नातक, गंगाप्रसाद विमल, कुंवर बेचैन, जगदीश चतुर्वेदी, नरेन्द्र कोहली, पूरनचन्द्र जोशी, चित्रा मुद्गल, हिमांशु जोशी जैसे अनेक रचनाकारों की रचनाओं से यह अंक सजा है। 432 पृष्ठों में फैला यह विशेषांक हर दृष्टि से अनुपम है।

मुंबई से प्रकाशित 'आकल्प' एक लघु पत्रिका है, अनियमित, साधनहीन पर दृष्टिसम्पन्न। समकालीन कविता पर इस पत्रिका ने दो विशेषांक निकाले हैं और तीसरा निकालने की तैयारी में है। समीक्ष्य अंक 'समकालीन कविता-2' अनेक समर्थ कवियों की कविताओं का संकलन होने के साथ-साथ कुछ कवियों की काव्यधारा को समझने में भी सहायक है। 'सरोकार' स्तंभ में लीलाधर जगूड़ी, विजेन्द्र, राजेश जोशी और मंगलेश डबराल की कविताओं पर क्रमशः सरजूप्रसाद मिश्र, जीवन सिंह और हृदयेश मयंक का लेख पठनीय ही नहीं, विचारणीय भी है। आज जब कविता का पाठक समाप्तप्राय है, ऐसे विशेषांक यह विश्वास दिलाते हैं कि कविता कभी खत्म नहीं होती, नहीं हो सकती।

साहित्य की चेतना और जीवंतता बनाए रखने के लिए एक तरफ जहां साहित्यिक लघु पत्रिकाएं चेष्टारत हैं वहीं कुछ संस्थाओं और संस्थानों द्वारा प्रकाशित गृह पत्रिकाएं भी इस कार्य में सहायक सिद्ध हो रही हैं। ऐसी पत्रिकाओं में सेंट्रल माइन प्लानिंग एंड डिज़ाइन इंस्टीट्यूट, रांची द्वारा प्रकाशित 'देशकाल सम्पदा' विशेषरूप से उल्लेखनीय है। नेहरू शती वर्ष में राजभाषा के प्रचार-प्रसार के साथ कर्मचारियों और अधिकारियों में रचनात्मकता के प्रोत्साहन के लिए इस पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ हुआ था और तब से अब तक आकर्षक रूपसज्जा के साथ प्रकाशित होनेवाली इस पत्रिका का स्वरूप विकसित होता रहा है। आज एक गृह पत्रिका से अधिक यह साहित्यिक पत्रिका का स्वरूप ले चुकी है। पिछले कुछ महीनों में इस पत्रिका के तीन विशेषांक आए हैं—नारी विशेषांक, बाल अंक और स्वास्थ्य अंक। इन अंकों में नरेन्द्र कोहली, इंदिरा राय, मंजु सिंह, पुन्नी सिंह, अवधेश शर्मा आदि की कहानियां पढ़ने के बाद तथा इन अंकों का रचना-चयन, प्रस्तुतीकरण देखकर इस पत्रिका के महत्व को स्वीकार करना ही पड़ता है।

इस तरह की एक और गृह पत्रिका है 'अंकुर' जो अपनी रचनात्मक विशिष्टता के कारण हमें प्रभावित करती है। राजभाषा कार्यान्वयन समिति, कार्यालय महालेखाकार पंजाब, द्वारा इस पत्रिका के अब तक चालीस अंक प्रकाशित किए जा चुके हैं। समीक्ष्य अंक उनतालीसवां-चालीसवां (संयुक्त) अंक है जिसमें विभिन्न विषयों पर 18 लेख, 16 कविताएं, नौ कहानियां तथा कई व्यंग्य एवं पुस्तक समीक्षाएं हैं। एक गृह पत्रिका में इतनी सामग्री का होना ही यह सिद्ध करता है कि पत्रिका का प्रकाशन सिर्फ अपने संस्थान को ध्यान में रखकर नहीं किया जाता बल्कि उसका जुड़ाव साहित्य से भी है, विशाल हिन्दी पाठक वर्ग और रचनाकारों से भी है।

आज जब व्यावसायिक संस्थानों द्वारा प्रकाशित पत्रिकाएं साहित्य से अपना नाता तोड़ रही है, साहित्यिक पत्रिकाएं एक-एक कर बंद हो रही हैं, उस स्थिति में भी कुछ व्यक्तियों और संस्थानों द्वारा साहित्य को जिंदा रखने की कोशिश जारी है। अगर इस तरह की पत्रिकाओं में कुछ और रचनात्मक सुधार हो, वे अधिक से अधिक पाठकों तक पहुंचें तो निश्चित रूप से साहित्यिक पत्रिकाओं की कमी बहुत दूर तक दूर हो सकती है।

जी 23/270, सेक्टर-7, रोहिणी, दिल्ली-110085

चक्राचक्र

'तत्काल' पुरस्कार

बिहारीलाल जी को इतना आत्मतुष्ट मैंने कभी नहीं देखा। आते ही बोले–''अपने देश में कुछ काम बहुत अच्छे हो रहे हैं।''

मैंने आँखें मिचमिचाकर उनकी तरफ देखा। बिहारीलाल जी को कभी ऐसा महसूस नहीं हुआ था कि इस देश में कुछ अच्छा हो रहा है। मैंने कहा–''पंडित जी, मैं तो हमेशा ही कहता रहा हूं कि इस देश में कुछ काम अच्छे भी हो रहे हैं, लेकिन आप का रुख तो सदा ही नकारात्मक रहा है। आप को भी कुछ अच्छा लगा, यह कितनी खुशी की बात है।''

बिहारीलाल जी कुछ गंभीर हो गए। बोले–''कुछ ऐसा होता ही नहीं कि जी को अच्छा लगे। अब एक बात ऐसी हो रही है जिससे मेरा मन जुड़ा रहा है।

''ऐसी क्या बात है?''

''तत्काल' योजना...बस अद्भुत है यह बात। संसार में शायद ही कहीं ऐसी योजना हो।''

मैं उजबुक-सा उन्हें देखता रहा।

''तुमने पढ़ा नहीं? अपना रेल विभाग यह योजना बड़ी तेज़ी से लागू कर रहा है।''

''पढ़ा तो है।''

''पर मतलब नहीं समझे? मैं समझाता हूं। आपको कहीं जाना है। रिजर्वेशन नहीं मिल रहा है। आपका एजेंट कहता है कि किसी गाड़ी में, किसी क्लास में उस दिन का टिकट नहीं है। रेलवे के बुकिंग-आफिस के पास घूमते हुए दलाल एक टिकट पर दो सौ से लेकर पांच सौ तक मांगते हैं। आप ऐसा टिकट लेने से डरते हैं। कहीं धोखाधड़ी न हो जाए ...कहीं किसी दूसरे के नाम का टिकट लेकर यात्रा करते हुए रेलवे के स्पेशल स्क्वाड द्वारा पकड़े गए तो बेहिसाब फजीहत होगी। ऐसी स्थिति से आपको निजात दिलाने के लिए रेलवे वालों ने एक तत्काल टिकट योजना लागू की है। ज़्यादा पैसे दीजिए, तत्काल टिकट लीजिए।''

मैंने कहा–''पंडित जी, यह योजना मुझे जंचती नहीं। मुझे लगता है, रेलवे विभाग लोगों की मजबूरी का नाजायज़ फायदा उठा रहा है।''

''जब तुम एक टिकट के लिए सौ-दो सौ रुपये दलाल को या किसी टी.सी. को देने को तैयार हो तो पचास-सौ रुपये रेलवे को देने में क्या एतराज़ है?''

''यह तो ऐसा ही हुआ कि सिनेमा की टिकट-खिड़की पर हाउस फुल का बोर्ड लग गया है और बाहर एक ब्लैकिया ड्योढ़े-दुगने दामों पर टिकट बेच रहा है। यह देख कर सिनेमा का मालिक एक और खिड़की खोल दे जिस पर लिखा हो 'तत्काल टिकट'। मतलब यह कि जो ज़्यादा पैसे आप ब्लैक करने वाले को देते हैं, वह हमें दीजिए और टिकट लीजिए।''

मेरी बात सुन कर बिहारीलाल जी ज़ोर से ताली बजाकर हंसने लगे–''अरे इस तत्काल योजना की शुरुआत तो इसी तरह हुई थी। मारुति कार पर एक समय काफी ब्लैक थी। आप कार बुक करते थे तो कार मिलने में लम्बा समय लग जाता था। कुछ कमाऊ पूत अलग-अलग नामों से दस-दस बीस-बीस कारें बुक कराये रहते थे। जब उनका नम्बर आ जाता था तो अच्छी-खासी ब्लैक लेकर वो ज़रूरतमंद को कार बेच देते थे। ऐसी स्थिति में मारुति वालों ने सोचा कि इस बात का वे खुद ही लाभ क्यों न उठाएं। उन्होंने 'तत्काल' योजना बनाई। कार का जो निर्धारित मूल्य है, उससे पचीस-पचीस हज़ार रुपया ज़्यादा दीजिए और तत्काल कार प्राप्त कीजिए।''

वे पूरे ज़ोर से हंसते हुए बोले–''भैया, अपनी संस्कृति में एक नया अध्याय जुड़ गया है–तत्काल संस्कृति। मुझे सदैव इस बात का गिला रहा है कि इस देश की संस्कृति धीरे-धीरे, ढीले-ढीले

> **''इस देश में ऐसी कितनी ही संस्थाएं हैं जो 'तत्काल' पुरस्कार और सम्मान देती हैं। इसके लिए भी कभी-कभी अंटी ढीली करनी पड़ती है। दिल्ली में ही मैं तुम्हें ऐसी भारी-भरकम नाम वाली संस्था बता सकता हूं जो मोटी रकम लेकर सर्वोच्च शिरोमणि पुरस्कार दे देती है...किसी को भी। आप बड़े चाव से उसके द्वारा दिए गए स्मृति-चिह्न और प्रशस्ति-पत्र को अपने ड्राइंग-रूम में सजा सकते हैं और अपने बायोडेटा में बड़े गौरव से उसका उल्लेख कर सकते हैं।''**

चलने वाली संस्कृति है। मैं सोचता रहा हूं कि इसमें कुछ गति आनी चाहिए... डायनेमिज़्म.... त्वरा...। लगता है, यह बात अब हमारी संस्कृति में आ रही है। भोजन को पीछे छोड़ता हुआ आ गया है... तेज भोजन... फास्ट फूड। पहले भोजन करने से पहले कितने प्रपंच रचने पड़ते थे। हाथ-मुंह धोवो, चौके में घुसो... पालथी मारो... थाली सामने आए तो दायें हाथ में जल लेकर कुछ मंत्र पढ़ते हुए थाली के चारों ओर कुछ जल छिड़को... फिर खाना शुरू करो। खाना न हुआ, पूरी कवायद हो गई। अब फास्ट-फूड के जमाने में कितना सुभीता हो गया है। खड़े-खड़े कुछ भी खाया... रूमाल से मुंह पोंछा और चल मेरे भाई। इसीलिए अब मैं महसूस करने लग गया हूं कि अपने देश में कुछ बातें अच्छी हो रही हैं।''

''साहित्य अकादमी पुरस्कार में तो अघोषित रूप से 'तत्काल' संस्कृति के तत्त्व काफी पहले से चले आ रहे हैं। किसी खास प्रकाशक... किसी खास महंत... किसी खास चौकड़ी के साथ जुड़कर बहुत-से लेखक पहले ही उपकृत हो चुके हैं।''

बिहारीलाल जी ठीक कहते हैं। चीज़ें मेरी समझ में बहुत जल्दी नहीं आती हैं। मैंने पूछा—''पंडित जी, अब तो इस तत्काल संस्कृति के विकास की आपको बहुत संभावनाएं नज़र आती होंगी?''

''बहुत...?'' वे बिल्कुल भविष्यद्रष्टा की तरह बोले—''अपार—अपरंपार संभावनाएं छिपी हैं इस नई संस्कृति में। कुछ ही दिनों में शुरू हो जाएगा... तत्काल टेलीफोन... तत्काल गैस कनेक्शन... तत्काल फ्लैट...।''

वे मुझे अपनी ओर घूरता देखकर बोले—''आगे सुनना चाहते हो?''

मैंने एक जिज्ञासु की तरह सिर हिलाया।

'इसके तत्काल बाद शुरू हो जाएगा... तत्काल यूनिवर्सिटी डिग्री... तत्काल ऊंची नौकरी... तत्काल साहित्यिक पुरस्कार... यहां तक कि तत्काल संतान...।''

''तत्काल संतान...? यह कैसे होगा?''

''होगा नहीं... होना शुरू हो गया है।'' वे बड़े आश्वस्त भाव से बोले—''पहला बच्चा पैदा करने में अभी कुछ समय तक वही ढर्रा चलेगा। उसके बाद तत्काल योजना शुरू हो जाएगी। पहले बच्चे की क्लोनिंग करके दो-तीन-चार, चाहे जितने बच्चे तत्काल प्राप्त कर लो।''

मैंने कहा—'पंडित जी, तत्काल संतान वाली बात तो छोड़ ही दीजिए। वैसे ही दुनिया की आबादी जंगली हिरन की तरह कुलांचे भरती हुई आगे बढ़ रही है। मेरा सरोकार तो साहित्यिक पुरस्कारों से है... उसके बारे में आप क्या सोचते हैं?''

बिहारीलाल जी बड़े कटीले ढंग से मुस्कुराए—''इस विषय में तुम्हारा सरोकार सिर्फ किताबी है। इस बारे में तुम कुछ जानते-बूझते नहीं। अरे, इस देश में ऐसी कितनी ही संस्थाएं हैं जो 'तत्काल' पुरस्कार और सम्मान देती हैं। इसके लिए भी कभी-कभी अंटी ढीली करनी पड़ती है। दिल्ली में ही मैं तुम्हें ऐसी भारी-भरकम नाम वाली संस्था बता सकता हूं जो मोटी रकम लेकर सर्वोच्च शिरोमणि पुरस्कार दे देती है...किसी को भी। आप बड़े चाव से उसके द्वारा दिए गए स्मृति-चिह्न और प्रशस्ति-पत्र को अपने ड्राइंग-रूम में सजा सकते है और अपने बायोडेटा में बड़े गौरव से उसका उल्लेख कर सकते हैं।''

''पंडित जी...मैं ऐसे पुरस्कारों की बात नहीं कर रहा हूं।'' मैंने खीझकर कहा—''आखिर इस देश में साहित्य के ऐसे पुरस्कार भी हैं जिन्हें पाकर कोई भी लेखक गौरवान्वित अनुभव करता है।''

उनके चेहरे पर फिर वही कटीली मुस्कुराहट आई—''ऐसी गौरवानुभूति पाने के लिए कैसे-कैसे पापड़ बेलने पड़ते हैं, यह मालूम है तुम्हें? सारी आयु में केवल एक या डेढ़ पुस्तक लिखने वाला लेखक पुरस्कार पा जाता है और जीवन-भर साधना करने वाला... अच्छा लिखने वाला साहित्यकार वंचित रहता है... क्यों?''

''क्या इसमें भी 'तत्काल' योजना शुरू होनी चाहिए?'' मैंने भी अपनी मुस्कुराहट में कुछ कटीलापन भरने की कोशिश की।

''हां... मुझे आश्चर्य नहीं होगा कि देश के सभी बड़े-बड़े पुरस्कारों की आने वाले वर्षों में दो श्रेणियां बन जाएं—एक भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार, दूसरा—तत्काल भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार। इसी तरह व्यास, सरस्वती, मोदी जैसे बड़े-बड़े पुरस्कारों के भी तत्काल संस्करण सामने आ जाएंगे।''

''साहित्य अकादमी पुरस्कार का भी...?''

''इस पुरस्कार में तो अघोषित रूप से 'तत्काल' संस्कृति के तत्त्व काफी पहले से चले आ रहे हैं। किसी खास प्रकाशक... किसी खास महंत... किसी खास चौकड़ी के साथ जुड़कर बहुत-से लेखक पहले ही उपकृत हो चुके हैं। तुम्हारे शब्दों में गौरवान्वित हो चुके हैं। अब तो इसे सिर्फ औपचारिक वैधता ही देनी शेष है... 'साहित्य अकादमी पुरस्कार'.. 'तत्काल साहित्य अकादमी पुरस्कार'।

वे मेरी पीठ पर करारा धौल जमाते हुए बोले—''आज की दुनिया में जीना चाहते हो तो 'तत्काल संस्कृति' को जियो और उसे जानो।''

फिर वे बड़े दार्शनिक अंदाज़ में बोले—''जीवन केवल जीना ही नहीं है, उसे जानना भी है।''

● ● ●

लेखकोचित ढंग से मनाया गया जन्मदिन

इस बार भारतीय लेखक संगठन ने अपने दो सदस्यों का जन्मदिन नितान्त लेखकोचित ढंग से मनाया। 16 अगस्त को संगठन ने डॉ. रामदरश मिश्र और डॉ. महीप सिंह की ताजा रचनाओं के पाठ का आयोजन कर उन्हें जन्मदिन की बधाई दी।

पहले डॉ. महीप सिंह ने अपनी ताज़ा कहानी 'पति' सुनाई। इस पर हुई जीवन्त चर्चा में भाग लेते हुए श्री जगदीश चतुर्वेदी ने कहा कि 'पति' एक सार्थक सफल कहानी है। डॉ. सादिक का कहना था कि कहानी में मि. मेहता के पुत्र तथा पुत्री बदलते समय को व्यक्त करते हैं। डॉ. सुरेश धींगड़ा का कहना था कि महीप जी की अन्य कहानियों की तरह यह भी संबंधों की कहानी है। कथा का विकास पति के दृष्टिकोण को व्यक्त करता है, पत्नी मालती के दृष्टिकोण को नहीं। इसी पर टिप्पणी करते हुए डॉ. तेजिन्दर कौर सोही ने कहा कि मालती मौन रह कर भी बहुत कुछ कह जाती है। श्री प्रताप सहगल का विचार था कि मुख्य पात्र के रूप में सैनिक अधिकारी का चुनाव सायास है। कथाकार ऐसे व्यक्ति की मानसिकता को खोलना चाहता है जिसका आदेश बाहर तो चलता है, पर घर में नहीं। सुश्री विद्या शर्मा के अनुसार कहानी में सैन्य जीवन के परिवेश का सटीक चित्रण हुआ है। डॉ. रत्नलाल शर्मा का कहना था कि कहानी में समय-सत्य व्यक्त हुआ है। पर उनका मानना था कि कहानी सघन तथा स्तरीय होते हुए भी महीप जी की अन्य श्रेष्ठ कहानियों से आगे नहीं है। उनका सुझाव था कि लेखक को अपने शिल्प को तोड़ना चाहिए। भारतीय लेखक संगठन के अध्यक्ष डॉ. नरेन्द्र मोहन ने पूरी चर्चा को अपने संक्षिप्त वक्तव्य में समेटते हुए कहा कि लेखक ने शिल्प को तोड़ा है तथा यह कहानी लेखक की अन्य कहानियों से हट कर है। ब्यौरे, स्थितियां तथा चरित्र आपस में गुंथे हुए हैं। छोटी-छोटी स्थितियों-घटनाओं के माध्यम से लेखक चरित्र को खोलता है। यहां तक कि मग से बियर का गिरना भी कर्नल मेहता की मानसिक अवस्था को व्यक्त करता है। डॉ. रामदरश मिश्र ने भी इस कहानी को सार्थक तथा सफल बताया जो आज के टूटते परिवारों तथा मूल्यों का यथार्थ चित्रण करती है।

इसके बाद डॉ. रामदरश मिश्र ने अपनी कुछ ताजा कविताओं का पाठ किया। सहजता और संप्रेष्यता के अतिरिक्त चुटीले व्यंग्य के कारण इन कविताओं को श्रोताओं की भरपूर सराहना प्राप्त हुई।

गोष्ठी में सर्वश्री अश्विनी पाराशर, वीरेन्द्र सक्सेना, शशि सहगल, कामिनी बाली, डॉ. कुश, राजकुमार मलिक, गुरचरण सिंह, अलका सिन्हा, कमलेश सचदेव आदि भी उपस्थित थे। गोष्ठी का संचालन सुश्री विद्या शर्मा ने किया।

प्रस्तुति—अजीत कौर

कुसुम अंसल के कविता-संग्रह 'मेरा होना' का विमोचन

पिछले दिनों पोएट्री सोसायटी आफ इंडिया एवं अभिव्यंजना प्रकाशन के संयुक्त तत्वावधान में इंडिया इंटरनेशनल सेंटर (दिल्ली) में कुसुम अंसल के सद्यः प्रकाशित कविता-संग्रह 'मेरा होना' का विमोचन सुप्रसिद्ध लेखक कमलेश्वर के हाथों सम्पन्न हुआ। श्री कमलेश्वर ने कुसुम अंसल की कविताओं को अकेलेपन की कविताओं की संज्ञा दी और कहा कि इन कविताओं का अकेलापन पाठक को एक तरह का सुकून देता है, उसमें बेचैनी नहीं जगाता। उन्होंने यह भी कहा कि कुसुम अंसल की कविताएं मन में उगने वाली कोमल संवेदनाओं को चित्रित करती हैं। ये हमारे भीतर बैठी सुन्दर तितलियों का अंकन हैं।

सुप्रसिद्ध कवि-कथाकार श्री जगदीश चतुर्वेदी ने कुसुम अंसल की कविताओं के वैशिष्ट्य की चर्चा करते हुए कहा कि ये मूलतः एक दार्शनिक कवयित्री की कविताएं हैं। इनकी जिज्ञासा मनुष्य की मूल जिज्ञासा के निकट पड़ती है।

सुप्रसिद्ध कवयित्री-कथाकार डॉ. सुनीता जैन ने सुश्री कुसुम अंसल के व्यक्तित्व और कृतित्व के कई पक्षों पर प्रकाश डाला। उनका कहना था कि कुसुम अंसल की बेचैनी मनुष्य की नितान्त भीतरी बेचैनी है। वे इस बेचैनी में निरन्तर स्वयं को परिपक्व बनाती गई हैं। उन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, यात्रा-वृत्त सभी विधाओं में स्वयं को अभिव्यक्त किया है। डॉ. सुनीता जैन ने हिन्दी साहित्य जगत में व्याप्त आपाधापी की ओर संकेत करते हुए कहा कि आज साहित्यकारों को एक दूसरे का सही आकलन करने की ओर प्रवृत्त होना होगा वरना वे सभी अनदेखे छूट सकते हैं।

इस अवसर पर 'मेरा होना' के प्रकाशक अभिव्यंजना प्रकाशन की ओर से डॉ. कमलेश सचदेव ने सुश्री कुसुम अंसल और अभिव्यंजना के लम्बे साहचर्य का जिक्र करते हुए उनके साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया। समारोह में उपस्थित कुछ प्रमुख प्रकाशकों और साहित्यकारों में सर्वश्री विश्वनाथ, कन्हैयालाल नन्दन, महीप सिंह, देवेन्द्र इस्सर, शीला गुजराल, प्रताप सहगल, कमलकिशोर गोयनका, शामा, मणिका मोहिनी, जयरतन, गुरचरण सिंह, दिनेश नंदिनी डालमिया, मंजु गुप्ता, शशि सहगल, मीरा सीकरी, दयानंद वर्मा, खुर्शीद आलम आदि की उपस्थिति उल्लेखनीय थी।

कार्यक्रम का संचालन पोयट्री सोसायटी आफ इंडिया के सेक्रेटरी श्री एच.के. कौल ने किया।

प्रस्तुति—जय सिंह